पातञ्जल योगदर्शनम्



तृतीय खण्ड

तत्त्ववैशारदी-योगवार्त्तिकेति टीकाद्वयोपेतं व्यासभाष्यम्, हिन्दीव्याख्यया विभूषितम्

विस्तृत विषयानुक्रमणी
तृतीयो विभूतिपादः



पातञ्जलयोगदर्शनम्

तत्त्ववैशारदी-योगवार्त्तिकितिटीकाद्वयोपेतं व्यासभाष्यम्

(सपाठभेदबालप्रियाऽऽख्यहिन्दीव्याख्यया विभूषितम्)

तृतीयो विभूतिपादः

व्यासभाष्यम्

उक्तानि पञ्च [1]बहिरङ्गाणि साधनानि। धारणा वक्तव्या।

योग के पांच 'बहिरङ्ग' साधनों का निरूपण हो चुका है। सम्प्रति ('अन्तरङ्ग' साधनों में) 'धारणा' का लक्षण करना चाहिये–

योगसूत्रम्

[2]देशबन्धश्चित्तस्य धारणा॥१॥

चित्त को (बाहरी या भीतरी किसी) प्रदेश में बाँधना (एकाग्र करना) 'धारणा' (कहलाता) है॥१॥

व्यासभाष्यम्

नाभिचक्रे, हृदयपुण्डरीके, [3]मूर्ध्नि ज्योतिषि, नासिकाग्रे, जिह्वाग्र इत्येवमादिषु देशेषु बाह्ये वा विषये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति धारणा ॥१॥

नाभिचक्र, हृदयकमल, मस्तक पर स्थित प्रकाशपुञ्ज, नासिकाग्र, जिह्वाग्र इत्यादि (शरीरवर्ती) प्रदेशों में अथवा (सूर्य, चन्द्रादि) बाह्य विषय में चित्त को वृत्तिमात्र से बन्ध करना अर्थात् एकाग्र करना 'धारणा' है॥१॥

प्रथम तथा द्वितीय पाद से तृतीय पाद की अन्तःसंगति बैठाते हुए तत्त्ववैशारदीकार अष्टाङ्गयोग के द्विखण्ड को प्रतिपादित करते हुए अग्रिम सूत्र को प्रस्तुत करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

प्रथमद्वितीयपादाभ्यां समाधिस्तत्साधनं चोक्तम्। तृतीयपादे तत्प्रवृत्त्यनुगुणाः श्रद्धोत्पादहेतवो विभूतयो वक्तव्याः। ताश्च संयमसाध्याः। संयमश्च धारणाध्यानसमाधिसमुदाय इति

---

1. क ग घ ध न प फ म य र–**बहिरङ्गाणि**, ख च छ ज झ त थ द ब भ–**बहिरङ्ग॰**।
2. **देव॰**–इति पाठान्तरम्।
3. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न प फ भ म य र–**मूर्ध्नि** त ब–**मूर्ध॰**।

विभूतिसाधनतया, पञ्चभ्यश्च योगाङ्गेभ्यो बहिरङ्गेभ्योऽस्याङ्गत्रयस्यान्तरङ्गतया विशेषज्ञापनार्थमत्र त्रयस्योपन्यासः। तत्रापि च धारणाध्यानसमाधीनां कार्यकारणभावेन नियत[1]पौर्वापर्यत्वात्तदनुरोधेनोपन्यासक्रम इति प्रथमं धारणा लक्षणीयेत्याह—उक्तानीति। देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। [2]बन्धः सम्बन्धः।

प्रथम तथा द्वितीय पाद के द्वारा समाधि और उसके साधन का निरूपण किया गया। तृतीय पाद में योग के साधन की प्रवृत्ति के अनुरूप श्रद्धा-उत्पादन करने वाली विभूतियाँ कही जानी हैं। ये वक्ष्यमाण विभूतियाँ संयमसाध्य हैं। विभूति के साधन रूप में धारणा, ध्यान तथा समाधि का समुच्चय '**संयम**' पदवाच्य है। अर्थात् धारणादित्रय की समवेत संज्ञा '**संयम**' **है**। योग के पाँच '**बहिरंग**' साधनों (यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार) की अपेक्षा प्रस्तूयमान अङ्गत्रय (धारणा, ध्यान तथा समाधि) की विभूति के साधन (उपाय) रूप से '**अन्तरङ्गता**' होने से इस तृतीय विभूतिपाद में अङ्गत्रय का उल्लेख उसके वैशिष्ट्य को प्रतिपादित करने के लिये किया गया है। 'किञ्च' धारणा, ध्यान तथा समाधि इन तीन में भी कार्यकारणभाव से सुनिश्चित पौर्वापर्य है—इसी नियम से इनके प्रस्तुतीकरण के क्रम में प्रथमतः '**धारणा**' का लक्षण किया जाना चाहिये, ऐसा भाष्यकार कहते हैं—'**उक्तानीति**।' तदर्थ सूत्र है—'**देशेति**।' यहाँ '**बन्ध**' शब्द का अर्थ है—'**सम्बन्ध**'।

तत्त्ववैशारदी

आध्यात्मिकदेशमाह—**नाभिचक्र इति। आदिशब्देन ताल्वादयो ग्राह्याः। बाह्यदेशमाह—बाह्य इति। बाह्ये च न स्वरूपेण चित्तस्य संबन्धः संभवतीत्युक्तं वृत्तिमात्रेण ज्ञानमात्रेणेत्यर्थः।**

भाष्यकार धारणा के आध्यात्मिक (आन्तरिक) देश को बताते हैं—'**नाभिचक्र इति**।' भाष्यगत '**आदि**' शब्द से ताल्वादि आध्यात्मिक देश का ग्रहण होता है। भाष्यकार धारणा के बाह्य प्रदेश को कहते हैं—'**बाह्य इति**।' चित्त का बाह्य (इसी प्रकार आन्तर) देश के साथ स्वरूपतः सम्बन्ध नहीं हो सकता है। उसका देश के साथ होने वाला बन्धरूप सम्बन्ध '**वृत्तिरूपात्मक**' अर्थात् ज्ञानरूपात्मक है।

बालप्रिया—

'**ताल्वादयो ग्राह्या**':—वाचस्पति मिश्र ने '**आदि**' पद के द्वारा ताल्वादि का ग्रहण मैत्र्युपनिषद् के अनुसार किया है। मैत्र्युपनिषद् का वाक्य है—'**अतः पराऽस्य धारणा**

---

1. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न—**पौर्वापर्यत्वात्**, त—**पौर्वापर्यात्**।
2. क ख ग थ द ध—**बन्धः सम्बन्धः** (**ग्राह्याः**—पश्चात्) उपलभ्यते, घ च छ ज झ त न—**बन्धः सम्बन्धः** (**धारणा**—पश्चात्) उ[illegible]यते।

तालुरसनाग्रनिपीडनात्।' इस वाक्य में 'तालु' को धारणा का विषय बताया गया है। किन्तु गरुडपुराण में 'धारणा' के निर्दिष्ट देशों में 'तालु' को नहीं लिया गया है। गरुडपुराण का वाक्य है—**प्राङ्नाभ्यां हृदये वाऽथ तृतीये च तथोरसि। कण्ठे मुखे नासिकाग्रे भ्रूमध्यमूर्द्धसु॥ किञ्चित्तस्मात्परस्मिंश्च धारणा दश कीर्त्तिताः**।

तत्त्ववैशारदीकार '**धारणा**' के स्वरूप की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिये विष्णुपुराण से अनेक श्लोकों को उद्धृत करते हैं—

तत्त्ववैशारदी

अत्रापि पुराणम्—

प्राणायामेन पवनं प्रत्याहारेण चेन्द्रियम्।
वशीकृत्य ततः कुर्याच्चित्तस्थानं शुभाश्रये॥

शुभाश्रयाः बाह्या हिरण्यगर्भवासवप्रजापतिप्रभृतयः। इदं च तत्रोक्तम्—

मूर्तं भगवतो रूपं सर्वोपाश्रयनिःस्पृहम्।
एषा वै धारणा ज्ञेया यच्चित्तं तत्र धार्यते॥
[1]तच्च मूर्तं हरे रूपं यद्विचिन्त्यं नराधिप।
तच्छ्रूयतामनाधारा धारणा नोपपद्यते॥
प्रसन्नवदनं चारुपद्मपत्रनिभेक्षणम्।
सुकपोलं सुविस्तीर्णललाटफलकोज्ज्वलम्॥
समकर्णान्तविन्यस्तचारुकुण्डलभूषणम्।
कम्बुग्रीवं सुविस्तीर्णश्रीवत्साङ्कितवक्षसम्॥
वलीविभङ्गिना मग्ननाभिना चोदरेण च
प्रलम्बाष्टभुजं विष्णुमथ वापि चतुर्भुजम्॥
समस्थितोरुजङ्घं च स्वस्तिकाङ्घ्रिकराम्बुजम्।
चिन्तयेद् ब्रह्मभूते तं पीतनिर्मलवाससम्॥
किरीटचारुकेयूरकटकादिविभूषितम्॥
शार्ङ्गचक्रगदाखड्गशङ्खाक्षवलयान्वितम्॥
चिन्तयेत्तन्मयो योगी समाधायात्ममानसम्।
तावद्यावद् दृढीभूता तत्रैव नृप धारणा॥
व्रजतस्तिष्ठतोऽन्यद्वा स्वेच्छया कर्म कुर्वतः।
नापयाति यदा चित्तं मन्येत तां तदा ॥ इति॥१॥

---

1. क ख ग घ च छ ज झ द न—तत्, त थ ध—यत्।

इसमें विष्णुपुराण का वाक्य प्रमाण है—'**प्राणायामेन...शुभाश्रये**' (६/७/४५) अर्थात् 'इस प्रकार प्राणायाम से प्राणवायु तथा प्रत्याहार से इन्द्रियों को वश में कर चित्त को शुभाश्रय में स्थित करना चाहिये।' हिरण्यगर्भ, वासव (इन्द्र) और प्रजापति प्रभृति देवता बाह्य शुभाश्रय हैं। विष्णुपुराण में आगे कहा गया है—'**मूर्त्तं भगवतो...तां तदा**' (६/७/७८) अर्थात् 'भगवान् के इस मूर्त्तरूप से चित्त अन्य आश्रयों से हट जाता है। इस प्रकार चित्त के उन्हीं में स्थिर होने को 'धारणा' कहते हैं। हे नरेन्द्र! विना किसी आधार के धारणा नहीं हो सकती है। इसलिये जो भगवान् प्रसन्न मुख, सुन्दर पद्मदल जैसे लोचन वाले, श्रेष्ठ कपोल, विशाल ललाट, कानों में कुण्डल धारण किये हुए शंख जैसी ग्रीवा वाले, विस्तृत एवं श्रीवत्स चिह्नयुक्त वक्षस्थल वाले, तरङ्गाकार त्रिवली और गंभीर नाभि वाले, उदर से सुशोभित, आठ लम्बी-लम्बी भुजाओं वाले, जिनके जंघा और उरु कमानरूप से स्थित हैं, सुघड़ और मनोहर चरणकमलों में बैठे हुए उन श्रीविष्णु का ध्यान करना चाहिये। हे राजन्। किरीट, हार, केयूर, कटक आदि धारण किये शार्ङ्गधनु, शंख, चक्र, गदा, खड्ग और अक्षमाला से युक्त हैं, ऐसे भगवान् के दिव्यरूप को एकाग्र मन से धारण करके दृढ़ न होने तक चिन्तन करते रहना चाहिये। जब चलते, उठते, बैठते या अन्य कोई कार्य करने में भी वह रूप अपने चित्त से विस्मृत न हो, तब सिद्धि की प्राप्ति हुई समझो॥१॥

योगवार्त्तिकम्

योगाङ्गेषु मध्ये कियन्ति पूर्वपादे प्रोक्तानि कियन्ति चात्र पाद इत्यत्र नियामकं वदन्नेव क्रमप्राप्तं धारणासूत्रमवतारयति—उक्तानीति। बहिरङ्गान्तरङ्गत्वे अपि पादभेदेन निरूपणे नियामके इत्यर्थः। देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। यत्र देशे ध्येयं चिन्तनीयं तत्र ध्यानाधार-देश[1]विषये चित्तस्य स्थापनं तदैकाग्र्यं धारणेत्यर्थः। तदेतद्व्याचष्टे—नाभीति। मूर्ध्नि मूर्द्धस्थे ज्योतिषि। आदिशब्देन गारुडाद्युक्तदेशान्तराणि ग्राह्याणि। यथा गारुडे—

प्राङ् नाभ्यां हृदये वाऽथ तृतीये च तथोरसि।
कण्ठे मुखे नासिकाऽग्रे नेत्रभ्रूमध्यमूर्द्धसु॥
किंचित्तस्मात्परस्मिंश्च धारणा दश कीर्त्तिताः।

मुखे जिह्वाऽग्रे। किंचित्तस्मात्परस्मिन्निति=मूर्ध्नि उपरि द्वादशाङ्गुलपरिमिते देशे लिङ्ग-शरीरस्य सप्राणस्य तावत्पर्यन्तं प्रदीपशिखावदवस्थानादवहितैस्तावत्पर्यन्तमेव लिङ्गशरीरानुग-तोष्मोपलभ्यते, वाक्यानामुपलम्भाच्च। तदुक्तं कौर्मे—

शिखाऽग्रे द्वादशाङ्गुल्ये कल्पयित्वाऽथ पङ्कजम्।

---

1. क ग घ च छ—**विषये**, ख—**विशेषे**।

इत्यादिनेति। एतानि च नाभ्यादीनि जीवेश्वरयोर्मुख्यस्थानान्येव राज्ञः सिंहासनवत्, जीवेश्वरव्यञ्जकस्य लिङ्गशरीरस्य मुख्यस्थानत्वात्। अत एतानि धारणायाः प्रकृष्टदेशा उक्ताः।

योग के यमादि आठ अंगों में से कितने अंग द्वितीय पाद में प्रतिपादित हो चुके हैं और कितने प्रकृत पाद में प्रतिपादित किये जाने हैं इस विषय के विभाजक तथ्य को बताते हुए ही भाष्यकार क्रमप्राप्त '**धारणा**' के सूत्र को अवतरित करते हैं– '**उक्तानीति।**' यमादि योगाङ्गों का पादभेद से निरूपण होने में अङ्गों का '**बहिरङ्गत्त्व**' और '**अन्तरङ्गत्त्व**' नियामक (मर्यादक) है, यह भाष्यकार के कथन का अभिप्राय है। सूत्र है–'**देशेति।**' जिस देश में ध्येय पदार्थ का चिन्तन किया जाता है, उस ध्यान (चिन्तन) के आधारभूत देशविशेष में चित्त को स्थापित कर एकाग्र बनाना '**धारणा**' है। भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं–'**नाभीति।**' '**मूर्ध्नि**' शब्द से 'मूर्द्धस्थ ज्योति' में धारणा अभिप्रेत है। '**आदि**' शब्द से गरुडादि पुराणों में प्रतिपादित अन्य देश ग्राह्य हैं। जैसा कि गरुडपुराण में कहा गया है–**प्राङ्नाभ्यां...दश कीर्त्तिताः** (१/२१८/२१-२२) अर्थात् 'नाभि, हृदय, तृतीय स्थान पर वक्षस्थल, कण्ठ, मुख, नासिका के अग्रभाग, नेत्र, भ्रू के मध्यभाग, मूर्धा और इनसे भिन्न किसी दूसरे प्रदेश में साधने वाली '**धारणा**' दस प्रकार की कही गई है।'

यहाँ '**मुख**' शब्द का अर्थ जिह्वा का अग्रभाग है। '**किंचित्तस्मात्परस्मिन्**' का अर्थ है–'मूर्द्धा से ऊपर द्वादश अंगुल परिमित प्रदेशपर्यन्त प्राणसहित लिङ्गशरीर दीप-शिखा की भाँति अवस्थित रहता है, क्योंकि योगियों को द्वादश अंगुल परिमित प्रदेशपर्यन्त लिङ्गशरीरनिष्ठ ऊष्मा (गर्मी) की अनुभूति होती है और आगमप्रमाण से भी ऐसा सिद्ध होता है। जैसा कि कूर्मपुराण में कहा गया है–'**शिखाऽग्रे...पङ्कजम्**' अर्थात् 'शिखा के अग्रभाग में द्वादश अंगुल वाले एक पङ्कज की कल्पना करे (जो कि धर्म के केन्द्र से समुद्भूत हुआ है और ज्ञान की नाल से परम शोभा वाला है')। किञ्च ये नाभ्यादि प्रदेश जीव और ईश्वर के रहने के मुख्य स्थान उसी प्रकार हैं जिस प्रकार सिंहासन राजा का मुख्य स्थान होता है। क्योंकि यहाँ जीव और ईश्वर की अभिव्यक्ति होती है। अतः नाभ्यादि धारणा के प्रकृष्ट (मुख्यतम) देश कहे गये हैं।

सम्प्रति '**धारणा**' के ब्राह्य देशों पर विचार किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

आध्यात्मिकान् ध्यानदेशानुक्त्वा बाह्यानपि संक्षेपत आह–बाह्ये वा विषय इति। चन्द्रसूर्याग्न्यादावीश्वरदेवताऽऽदिध्यानदेश इत्यर्थः। वृत्तिमात्रेणेति। वृत्तिमात्रेण न तु ध्येयकल्पनयेत्यर्थः। तेन ध्यानादिव्यावृत्तिः। तदुक्तमीश्वरगीतायाम्–

हृत्पुण्डरीके नाभ्यां वा मूर्ध्नि पर्वतमस्तके।
एवमादिप्रदेशेषु धारणा चित्तबन्धनम्॥
देशावस्थितमा[1]लक्ष्य बुद्धेर्या वृत्तिसन्ततिः।
वृत्त्यन्तरैरसंस्पृष्टा तद्ध्यानं सूरयो विदुः॥
एकाकारसमाधिः स्याद्देशालम्बनवर्जितः।
प्रत्ययो ह्यर्थमात्रेण योगसाधनमुत्तमम् ॥इति।

इस प्रकार धारणा के आध्यात्मिक अर्थात् आन्तरिक देशों को बतलाकर सम्प्रति, भाष्यकार उसके बाह्य देशों को भी संक्षेपतः कहते हैं–'**बाह्ये वा विषय इति।**' चन्द्र, सूर्य, अग्नि आदि (बाह्यदेशरूप विषय) ईश्वर, देवतादि के ध्यान के देश हैं। वार्त्तिककार '**चित्तबन्ध**' का स्वरूप स्पष्ट करने के लिये भाष्य को उठाते हैं– '**वृत्तिमात्रेणेति।**' इन आभ्यन्तर तथा बाह्य देशों में चित्त को वृत्तिमात्र से न कि ध्येयादि की कल्पना से स्थापित किया जाता है। इससे धारणा की ध्यानादि से व्यावृत्ति हो जाती है। जैसा कि ईश्वरगीता में कहा गया है–'**हृत्पुण्डरीके... योगसाधनमुत्तमम्**' (११/२९) अर्थात् 'हृदयकमल, नाभि, मूर्द्धा, ललाट आदि प्रदेशों में निष्पादित चित्तबन्ध को '**धारणा**' कहते हैं। इन्हीं नाभि आदि देशों में ईश्वरादि ध्येय को लक्षित कर चित्त का होने वाला जो वृत्त्यन्तरशून्यसदृश ध्येयात्मक वृत्तिप्रवाह है, उसी को विद्वानों ने '**ध्यान**' कहा है। इन्हीं देशादि आलम्बन से रहित चित्त को ध्येयाकार '**समाधि**' होती है और यह केवल पदार्थमात्रविषयिणी होती है। अर्थात् शब्द और ज्ञान इसमें भासित नहीं होते हैं। यह 'समाधि' योगप्राप्ति का सर्वोत्कृष्ट साधन है।'

वार्त्तिककार धारणाविषयक वैयासिक वाक्य को उपसंहृत करते हुए कहते हैं–

योगवार्त्तिकम्

बन्ध इतीत्यन्तेन देशबन्धशब्दं व्याख्याय सूत्रवाक्यार्थमुपसंहरति–बन्ध इति। ईदृशो बन्धो धारणेत्यर्थः। इदं च धारणालक्षणं प्राथमिकपरिच्छिन्नयोगाभिप्रायेण सूचितम्, यत्र प्रथमत एवेश्वरानुग्रहाद् अपरिच्छिन्नतया जीवब्रह्मयोगो भवति तत्र देशालम्बनधारणाऽनुपयोगात्। अतो धारणाया अन्यदपि लक्षणं गारुडादावप्युक्तम्। यथा गारुडे–

प्राणायामैर्द्वादशभिर्यावत्कालः कृतो भवेत्।
स तावत्कालपर्यन्तं मनो ब्रह्मणि धारयेत्॥

इत्यादि। एतदेव तु धारणासामान्यलक्षणम्, अन्यथा क्षणमात्रेणापि धारणाऽऽपत्तेः। अतः सूत्रोक्तं विशेषलक्षणमपि प्राणायामद्वादशकालावच्छिन्नत्वेन विशेषणीयमिति॥१॥

---

1. क ग घ च छ–आलक्ष्य, ख–आलम्ब्य।

'देशबन्ध' शब्द की व्याख्या करने के लिये भाष्यकार **'बन्ध इति'** यहाँ तक के भाष्य से सूत्रवाक्य के अर्थ को उपसंहृत करते हैं–**'बन्ध इति।'** उपरिवर्णित बन्ध ही **'धारणा'** है। धारणा का यह लक्षण प्राथमिक परिच्छिन्न योगाभिप्राय (योगानुष्ठान में प्रवृत्त प्राथमिक योगी के धारणाविषयक अभ्यास के अभिप्राय) से सूचित (अभिहित) किया गया है, क्योंकि जहाँ ईश्वर की कृपा से ही सर्वप्रथम व्यापक स्तर पर अर्थात् अपरिच्छिन्नरूप से जीव और ब्रह्म का योग हो जाता है अर्थात् साधक का चित्त अपरिच्छिन्न ईश्वर में लवलीन हो चुका रहता है, वहाँ **'देश'** को आलम्बन बनाकर की जाने वाली धारणा अनुपयोगी है। अतः गरुडादि पुराणों में धारणा का अन्य लक्षण भी किया गया है। यथा गरुडपुराण में–**'प्राणायामैः..धारयेत्'** (१/२२७/ २४) अर्थात् 'बारह बार प्राणायाम करने में जितना समय व्यतीत होता है उतने समय तक मन को ब्रह्म में स्थापित करे अर्थात् धारणा करे।' यही धारणा-सामान्य का लक्षण है। अन्यथा क्षणपर्यन्त होने वाले **'चित्तबन्ध'** को भी धारणा कहने का प्रसंग प्राप्त होगा। अतः सूत्र द्वारा प्रतिपादित धारणाविषयक लक्षणविशेष को भी **'प्राणायामद्वादशकालावच्छिन्न'** (बारह बार अनुष्ठित प्राणायाम में व्यतीत होने वाले काल की न्यूनतम अवधि से परिच्छिन्न) इस विशेषण से युक्त करना चाहिये॥१॥

बालप्रिया–

'प्राणायामद्वादशकालावच्छिन्नत्वेन विशेषणीयम्'–अभिप्राय यह है कि द्वादश-प्राणायाम के निश्चित समय तक की जाने वाली चित्तस्थिति ही **'धारणा'** है। इससे कम समय के लिये सम्पादित चित्त का देश-बन्ध धारणा नहीं कहा जाता है। इस सीमित काल की भी उत्तरोत्तर वृद्धि होनी चाहिये, जिससे **'धारणा'** परिपुष्ट होकर **'ध्यान'** की सुदृढ साधिका बन सके॥१॥

योगसूत्रम्

[1]तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥२॥

उस विषय में ज्ञान की एकतानता ही 'ध्यान' है॥२॥

व्यासभाष्यम्

तस्मिन्देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यै[2]कतानता सदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम्॥२॥

---

1. तत्र–नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज थ द ध न प फ ब भ म य र–एकतानता सदृशः, झ त–एकतानतासदृशप्रत्यय०।

उस (नाभिचक्रादि) देशरूप विषय में ध्येयरूप आलम्बन वाले प्रत्यय की एकतानता अर्थात् विजातीय वृत्तियों से शून्य सजातीय वृत्तियों की ही होने वाली प्रवहणशीलता को 'ध्यान' कहते हैं॥२॥

तत्त्ववैशारदी

धारणासाध्यं ध्यानं लक्षयति—तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। एकतानतैकाग्रता। सुगमं भाष्यम्। अत्रापि **पुराणम्—**

तद्रूपप्रत्ययैकाग्र्यसंततिश्चान्यनिःस्पृहा।
तद्ध्यानं प्रथमैरङ्गैः षड्भिर्निष्पाद्यते नृप इति ॥२॥

सूत्रकार धारणासाध्य (धारणा से सिद्ध होने वाले) '**ध्यान**' का लक्षण करते हैं—'**तत्रेति**।' सूत्र में प्रयुक्त '**एकतानता**' पद का अर्थ है—एकाग्रता। अर्थात् एकाग्रभूमिक चित्त के सदृश ध्येयाकारवृत्तिप्रवाह को '**एकतानता**' कहते हैं। भाष्य सरल है। सुगम भाष्यार्थ पीछे द्रष्टव्य है। '**ध्यान**' के स्वरूप के विषय में भी पुराण का वचन (प्रमाण) है—'**तद्रूप...नृप**' (वि. पु. ६/७/९०) अर्थात् 'हे राजन्! जिसमें परमेश्वर के रूप की प्रतीति हो, उस निःस्पृह (विषयान्तर की स्पृहा से रहित) एवं अनवरत धारा को ही 'ध्यान' कहते हैं, जो अपने से पूर्ववर्त्ती छह अङ्गों द्वारा निष्पन्न होता है'॥२॥

बालप्रिया—

'**एकतानता**'—यद्यपि सूत्रकार ने कालविशेष को न लेते हुए ही धारणादि का लक्षण किया है तथापि क्षणमात्र के लिये होने वाली एकतानता को ध्यान नहीं समझना चाहिये। धारणादि के न्यूनतम काल का संकेत स्कन्दपुराण तथा गरुडपुराण में उपलब्ध होता है। वहाँ पञ्चघटिकावच्छिन्न एकाग्रता को '**धारणा**', षष्ठिघटिकावच्छिन्न चित्तैकाग्रता को '**ध्यान**' तथा बारह दिन की एकाग्रमनःस्थिति को '**समाधि**' बताया गया है। स्कन्दपुराण का वचन है—

'धारणा पञ्चनाडीका ध्यानं स्यात् षडिकम्।
दिनद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते॥'

गरुडपुराण का वचन है—

'प्राणायामैर्द्वादशभिर्यावत्कालः कृतो भवेत।
स तावत्कालपर्यन्तं मनो ब्रह्मणि धारयेत्॥
तस्यैव ब्रह्मणि प्रोक्तं ध्यानं द्वादश धारणा।
ध्यानद्वादशपर्यन्तं मनो ब्रह्मणि योजयेत्॥
तिष्ठेत्तल्लयतो युक्तः समाधिः सोऽभिधीयते।'

निष्कर्षतः धारणादि को तत्तत्कालावच्छिन्न समझना चाहिये। अतः 'एकतानता' पद को **'षष्ठिघटिकावच्छिन्ना'** विशेषण प्रदान करना पुराणसम्मत है॥२॥

योगवार्त्तिकम्

धारणासाध्यं ध्यानमा[1]ह—तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। भाष्यं सुगमम्। इदमपि ध्यानलक्षणं प्राथमिकौत्सर्गिकध्यानाभिप्रायेण, सर्वत्र ध्याने देशानियमात्। अतोऽस्य गारुडे लक्षणान्तरमुक्तम्—

तस्यैव ब्रह्मणि प्रोक्तं ध्यानं द्वादशधारणा॥

इत्यनेन। तस्यैव द्वादशप्राणायामकालेन धारितचित्तस्य द्वादशधारणाकालावच्छिन्नं चिन्तनं ध्यानं प्रोक्तमित्यर्थः। अनेन च पूर्ववत्सूत्रोक्तं विशेषलक्षणं विशेषणीयम्॥२॥

सूत्रकार **'धारणा'** से सिद्ध होने वाले **'ध्यान'** का स्वरूप बताते हैं—**तत्रेति**।' ध्यान-विषयक भाष्यार्थ सुकर है। ध्यान का यह लक्षण भी **'प्राथमिक ध्यान'** के अभिप्राय से कहा गया है, क्योंकि ध्यान में सर्वत्र देश का प्रतिबन्ध अर्थात् नियम नहीं रहता है। अतः गरुडपुराण में ध्यान का अन्य लक्षण भी किया गया है—**'तस्यैव...द्वादश-धारणा'** अर्थात् 'द्वादशधारणापर्यन्त मन को ब्रह्म में लगाये रखने को 'ध्यान' कहते हैं।' भाव यह है कि द्वादशप्राणायाम की अवधिपर्यन्त 'धारणा' किये हुए चित्त का ही द्वादशधारणा के काल से मर्यादित (परिच्छिन्न, सीमित) होकर चिन्तन करना 'ध्यान' है। अर्थात् द्वादशधारणापरिच्छिन्न काल **'ध्यान'** की न्यूनतम अवधि है। अर्थात् पूर्वकथित काल से मर्यादित होकर बारह बार की गई 'धारणा' 'ध्यान' योगाङ्ग के नाम से अभिहित है। अतः **'द्वादशधारणाकालावच्छिन्न'** इतने अंश को **'ध्यान'** के सूत्रोक्त लक्षणविशेष में विशेषणरूप से संयोजित करना चाहिये॥२॥

अवतरणिका के विना अगला सूत्र उपस्थित हो रहा है—

योगसूत्रम्

तदे[2]वार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः॥३॥

अर्थमात्र (ध्येयमात्र) को निर्भासित करने वाला अपने (ज्ञानात्मक) रूप से भी रहित सदृश ध्यान ही 'समाधि' है॥३॥

व्यासभाष्यम्

[3]**ध्यानमेव ध्येयाकारनिर्भासं प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण शून्यमिव यदा भवति**

---

1. क घ च छ—**आह**, ख ग—**लक्षयति**।
2. **इव, इति**—इति पाठान्तरे।
3. अ. द—**इदमत्र बोध्यम्—ध्यातृध्येयध्यानकलनावत् ध्यानं तद्रहितं समाधिरिति ध्यानसमाध्योर्विभागः। अस्य च समाधिरूपस्याङ्गस्याङ्गिसंप्रयोगादयं भेदो यदत्र चिन्तारूपतया निःशेषतो ध्येयस्य स्वरूपं न**

ध्येयस्वभावावेशात्तदा समाधिरित्युच्यते॥३॥

जब ध्यान केवल ध्येयाकाररूप से भासित होता हुआ ध्येय के स्वरूप को धारण करने से अपने ज्ञानात्मक स्वभाव से शून्य के समान हो जाता है, तब उस ध्यान को ही 'समाधि' कहते हैं॥३॥

तत्त्ववैशारदी

ध्यानसाध्यं समाधिं लक्षयति–तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। व्याचष्टे–ध्यानमेवेति। ध्येयाकारनिर्भासमिति। ध्येयाकारस्यैव निर्भासो न ध्यानाकारस्येति। अत एवाह–शून्यमिति। ननु शून्यं चेत्कथं ध्येयं प्रकाशेतेत्यत आह–इवेति। अत्रैव हेतुमाह–ध्येयस्वभावावेशादिति। अत्रापि पुराणम्–

तस्यैव कल्पना[1]हीनं स्वरूपग्रहणं हि यत्।
मनसा ध्याननिष्पाद्यं समाधिः सोऽभिधीयते॥

इति। ध्येयाद्ध्यानस्य भेदः कल्पना, तद्धीनमित्यर्थः। अष्टाङ्गयोगमुक्त्वा खाण्डिक्याय केशिध्वज उपसंजहार–

क्षेत्रज्ञः करणी ज्ञानं करणं तदचेतनम्।
निष्पाद्य मुक्तिकार्यं वै कृतकृत्यं निवर्तते॥ इति ॥३॥

सूत्रकार ध्यानसाध्य (ध्यान के फल) '**समाधि**' का लक्षण करते हैं–'**तदिति**।' भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं–'**ध्यानमेवेति**।' '**ध्येयाकारनिर्भासमिति**।' समाधि में ध्येयाकार का ही निर्भास होता है, ध्यानाकार का नहीं–यह बतलाने के लिये भाष्यकार ने (सूत्रगत '**अर्थमात्रनिर्भासम्**' पद के व्याख्यानार्थ) '**ध्येयाकारनिर्भासम्**' पद का प्रयोग किया है। इसीलिये सूत्र में आगे कहा गया है–'**शून्यमिति**।' अर्थात् समाधि में ध्येय चित्तवृत्त्यात्मक ध्यानस्वरूप से शून्य होता है।

शङ्का–यदि समाधिकाल में ध्यान अर्थात् ज्ञान की शून्यता रहती है अर्थात् ज्ञान विद्यमान नहीं रहता है, तो समाधि में '**ध्येय**' पदार्थ का प्रकाश कौन करेगा? अर्थात् किस प्रकार ध्येय पदार्थ का ज्ञान होगा?

समाधान–इसीलिये (सूत्र में) कहा गया है–'**इवेति**।' समाधिकाल में विद्यमान रहता हुआ भी '**ध्यान**' प्रतीत न होने के कारण '**स्वरूपशून्य**' के समान हो जाता है। भाष्यकार ध्यान की स्वरूपशून्यसदृश स्थिति के लिये हेतु बताते हैं–'**ध्येयस्वभावावेशादिति**।'

भासत इति। तथा च साक्षात्कारयुक्तैकाग्र्यकाले संप्रज्ञातयोगः। अन्यदा ते समाधिमात्रमिति विभागः (**ध्यानं**–पूर्वम्) उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न प फ ब भ म य र–**इदं**...**समाधिः** नोपलभ्यते।

आ. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–**ध्यानमेव**, ब–**तदेव ध्यानम्**।

1. क ख ग घ च छ थ द ध न–**हीनम्**, ज झ त–**हीन०**।

क्योंकि ध्येयस्वरूपाकारता को ध्यान प्राप्त हो जाता है, इसलिये उसके अपने रूप की प्रतीति नहीं होती है। अर्थात् ध्येयार्थ के रूप में ही निर्भासित अपने ज्ञानात्मक रूप से रहित होकर प्रतीयमान ध्यान ही **'समाधि'** संज्ञा को प्राप्त करता है। इस विषय में विष्णुपुराण का वाक्य प्रमाण है–**'तस्यैव...सोऽभिधीयते'**–(६/७/९२) अर्थात् 'ध्यान द्वारा सिद्धि के योग्य उस ध्येय का जो स्वरूप मन के द्वारा ग्रहण होता है, वही समाधि कहा जाता है।'

ध्यान से समाधि में यही अन्तर है कि ध्यानकाल में ध्येय से ध्यान की भेद-कल्पना विद्यमान रहती है अर्थात् ध्याता को ध्येय पदार्थ से अतिरिक्त ध्यानरूप वृत्ति (ज्ञान) का बोध रहता है। अर्थात् ध्याता-ध्यान-ध्येय का भेदज्ञान रहता है, जब कि समाधि में तथाकथित भेद-कल्पना (ध्येय से भिन्न ध्यान का अस्तित्वबोध) समाप्त हो जाता है। अर्थात् ध्यान अभ्यासवश अपनी ध्यानाकारता को त्यागकर केवल ध्येयरूप से स्थिर होता हुआ प्रतिभासित होता है। इस प्रकार खाण्डिक्य के प्रति अष्टाङ्गयोग का उपदेश कर केशिध्वज विषय को उपसंहृत करते हुए कहते हैं–**'क्षेत्रज्ञः...निवर्तते'** (वि. पु. ६/७/९४) अर्थात् 'मोक्षलाभ में क्षेत्रज्ञ कर्त्ता और ज्ञान कारण हैं। मोक्षरूपी कार्य को सिद्ध करने से धन्य हुआ वह विज्ञान-निवृत्ति को प्राप्त होता है'॥३॥

योगवार्त्तिकम्

ध्यानसाध्यं समाधिं लक्षयति–तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। मात्रपदस्यार्थः स्वरूपशून्यमिवेत्यनेन स्वयं [1]विवृतः, तदेतद्व्याचष्टे–ध्यानमेवेति। [2]यदा तदेव ध्यानं ध्येयस्याकारेणैव साक्षिणि निर्भासते न तु प्रत्ययाकारनिर्भासम्, चित्तस्य ध्येयस्व-रूपावेशेनाहमिदं चिन्तयामीत्येवं प्रत्ययाकारवृत्त्यन्तरानुदयात् तदा ध्यानमेव समाधिरुच्यत इत्यर्थः। ध्यानस्वरूपस्य वस्तुतः सत्त्वादिवशब्दप्रयोगः, तथा ध्यातृध्येयध्यान[3]कलनावद् ध्यानं तद्रहितं च समाधिरिति ध्यानसमाध्योर्विभागः। इदं च समाधिलक्षणं पूर्वसूत्रोक्तध्यानविशेष-तया देशघटितत्वेनापरिच्छिन्नसमाध्यव्यापकम्। अतोऽर्थमात्रावभासनं चिन्तनमित्येव समाधि-सामान्यलक्षणम्, [4]उदाहृतेश्वरगीतावाक्ये तल्लक्षणसिद्धेः। अथ वा गारुडोक्तं यथा–

ध्यानं द्वादशपर्यन्तं मनो ब्रह्मणि योजयेत्।
तिष्ठेत्तल्लयतो युक्तः समाधिः सोऽभिधीयते ॥ इति।

---

1. क ग घ च छ–**विवृतः**, ख–**निवृत्तः**।
2. क ग घ च–**तदा**, ख छ–**यदा**।
3. क ग घ च छ–**कलनावत्**, ख–**विभागकल्पना**।
4. क ग घ च छ–**उदाहृतेश्वरगीतावाक्ये तल्लक्षणसिद्धेः** उपलभ्यते, ख–**उदाहृत...सिद्धेः** नोपलभ्यते।

अत्रापि सूत्रोक्तं विशेषलक्षणं ध्यानद्वादशगुणितकालावच्छिन्नत्वेन [1]विशेषणीयमिति।

सूत्रकार ध्यानसाध्य समाधि का लक्षण करते हैं–'**तदिति**।' सूत्रकार ने '**स्वरूप-शून्यम्**' पद के द्वारा सूत्रगत '**मात्र**' शब्द का अर्थ भी स्वतः स्पष्ट किया है। भाष्यकार उसी ध्यान का विश्लेषण करते हैं–'**ध्यानमेवेति**।' जब ध्यान ध्येय के आकार से ही साक्षी में भासित होता है, न कि प्रत्ययाकार (ध्यानाकार) रूप से भासित होता है, तब वही ध्यान '**समाधि**' कहलाता है। इसमें चित्त प्रत्ययाकाररूप से इसलिये भासित नहीं होता है, क्योंकि ध्येयस्वरूपावेश के कारण चित्त में '**अहमिदं चिन्तयामि**' अर्थात् 'मैं इसका चिन्तन कर रहा हूँ'–इत्याकारक ज्ञानाकारवृत्ति का उदय नहीं होता है। सूत्र में '**इव**' शब्द के प्रयोग का प्रयोजन बतलाया जा रहा है कि समाधिकाल में ध्यान (ज्ञान) की सत्ता पारमार्थिक रूप से रहने के कारण '**इव**' शब्द का प्रयोग किया गया है। अर्थात् ध्यान (ज्ञान) की सत्ता रहते हुए भी उसकी प्रतीति न होने के कारण सूत्र में '**इव**' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार ध्यातृ-ध्येय-ध्यान के आकलन (परिकलन) से युक्त '**ध्यान**' होता है और तद्राहित्ययुक्त '**समाधि**' होती है। अर्थात् ध्यान में परिलक्षित ध्यातृ-ध्येय-ध्यान का त्रिपुटीभान '**समाधि**' में समाप्त हो जाता है। यही ध्यान और समाधि में पार्थक्य है। समाधि का यह लक्षण पूर्व सूत्र में कहे हुए ध्यान के देश से घटित होने के कारण अपरिच्छिन्न समाधि में व्याप्त नहीं होता है। अर्थात् सीमित समाधि का सीमित लक्षण अपरिच्छिन्न (व्यापक) समाधि में घटित नहीं होता है। अत एव '**अर्थमात्रावभासनं चिन्तनं समाधिः**' अर्थात् 'ध्येयमात्र के अवभास से युक्त चिन्तन को '**समाधि**' कहते हैं'–यही समाधि का सामान्यलक्षण है, क्योंकि ईश्वरगीता के पूर्वोदाहृत वाक्य से समाधि का इत्याकारक लक्षण सिद्ध होता है। अथवा गरुडपुराण में समाधि का लक्षण इस प्रकार किया गया है–'**ध्यानं...सोऽभिधीयते**' (१/२२७/२५) अर्थात् 'मन को द्वादशध्यान के कालपर्यन्त ब्रह्म में नियोजित करे। ब्रह्म में लयता को प्राप्त होता हुआ मन तब अवस्थित रहे तो, उसी को 'समाधि' कहते हैं।' (धारणा और ध्यान की भाँति) यहाँ भी '**समाधि**' के सूत्रात्मक विशेष लक्षण को 'ध्यान के द्वादशगुणित काल से अवच्छिन्न' इत्याकारक विशेषण से युक्त समझना चाहिये। अर्थात् समाधि का अल्पतम काल द्वादश ध्यान के काल से अवश्य ही मर्यादित (सीमित, अवच्छिन्न) होना चाहिये।

---

1. ख–**यत्तु** 'एकाकारः समाधिः **स्याद्देशालम्बनवर्जितः**'–**इत्युक्तगीतावाक्ये समाधौ देशस्यापि त्याग उक्तः सोऽपि प्रकारान्तरेमेव न त्वत्र सूत्रे विवक्षितम्। उत्तरसूत्रे वक्ष्यमाणस्य धारणादित्रयैकविषय-त्वस्यानुपपत्तेरिति** (**विशेषणीयमिति**–पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ–**यत्तु...नुपपत्तेरिति** नोपलभ्यते।

धारणा, ध्यान तथा समाधि में अन्तर बताने के पश्चात् वार्त्तिककार समाधि तथा योग के अन्तर को भी स्पष्ट करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

अस्य च समाधिरूपस्याङ्गस्याङ्गियोगसंप्रज्ञातयोगादयं भेदो यदत्र चिन्तारूपतया [1]विशेषतो ध्येयस्वरूपं न भासते; अङ्गिनि तु संप्रज्ञाते साक्षात्कारोदये समाध्यविषया अपि विषया भासन्त इति। तथा च साक्षात्कारयुक्तैकाग्र्यकाले संप्रज्ञातयोगोऽन्यदा तु समाधिमात्रमिति विभागः। अष्टानां चाङ्गानां फलद्वयं संप्रज्ञातयोगस्तद्द्वाराऽसंप्रज्ञातयोगश्चेति॥३॥

अङ्गी **सम्प्रज्ञात** योग से अष्टाङ्गयोगवर्ती '**समाधि**' अङ्ग (उपाय) का अन्तर यह है कि चिन्तनरूप होने से समाध्यङ्ग में ध्येय का स्वरूप विशेषरूप से भासित नहीं होता है जब कि अङ्गी सम्प्रज्ञातयोग में (ध्येय के) साक्षात्कार का उदय होने पर अर्थात् ऋतम्भरा प्रज्ञारूप शक्तिविशेष का आविर्भाव होने पर समाधि के आविषयीभूत पदार्थ भी भासित होने लगते हैं अर्थात् अकल्पित और अचिन्त्य पदार्थ भी अवभासित होते हैं। इस प्रकार चित्त के साक्षात्कारयुक्त एकाग्रताकाल में 'सम्प्रज्ञात' योग होता है और तदतिरिक्त अवस्था में चित्त केवल 'समाधि' वाला होता है। उपायभूत '**समाधि**' और '**सम्प्रज्ञात**' योग में यही अन्तर है। योग के इन आठ अङ्गों के दो फल हैं–पहला सम्प्रज्ञात योग तथा दूसरा (तद्विधया) असम्प्रज्ञात योग॥३॥

व्यासभाष्यम्

[2]तदेतद्धारणाध्यानसमाधित्रयमेकत्र संयमः।

धारणा, ध्यान तथा समाधि ये तीनों संयुक्त रूप में 'संयम' कहे जाते हैं–ऐसा सूत्रकार बतलाते हैं–

योगसूत्रम्

[3]त्रयमेकत्र संयमः ॥४॥

एक विषय में धारणा-ध्यान-समाधि-त्रय की सहावस्थिति को 'संयम' कहते हैं॥४॥

व्यासभाष्यम्

एकविषयाणि त्रीणि साधनानि संयम इत्युच्यते। तदस्य त्रयस्य तान्त्रिकी परिभाषा संयम इति॥४॥

---

1. क ख ग घ–**निशेषतः**, च छ–**विशेषतः**।
2. घ प फ य–**तदेतद्धारणाध्यानसमाधित्रयमेकत्र संयमः** ३/४ सूत्रस्य अवतरणिका, क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म र–**तदेतत्...संयमः** ३/४ सूत्रस्य अवतरणिका।
3. **तत्**–(**त्रयम्**-प्राक्) उपलभ्यते।

धारणा, ध्यान और समाधि–ये तीनों साधन एक ध्येयनिष्ठ अर्थात् ध्येयातिरिक्त अन्य विषयक न होने पर 'संयम' कहे जाते हैं। इसलिये इन तीनों की (सम्मिलित रूप में) शास्त्रीय परिभाषा 'संयम' है॥४॥

तत्त्ववैशारदी

धारणा ध्यानं समाधिरित्येतत्त्रयस्य तत्र तत्र नियुज्यमानस्य प्रातिस्विकसंज्ञोच्चारणे गौरवं स्यादिति लाघवार्थं परिभाषासूत्रमवतारयति–[1]तदेतदिति। त्रयमेकत्र संयमः। व्याचष्टे–एकविषयाणीति। वाचकत्वशङ्कामपनयति–तदस्येति। तन्त्र्यते व्युत्पाद्यते योगो येन शास्त्रेण तत्तन्त्रम्। तद्भवा तान्त्रिकी। संयमप्रदेशाः परिणामत्रयसंयमात् इत्येवमादयः॥४॥

धारणा, ध्यान तथा समाधिजन्य सिद्धियों के प्रसंग में स्थल-स्थल पर प्रयुज्यमान धारणादित्रय का '**प्रातिस्विक**' अर्थात् पृथक्-पृथक् निर्देश करने में गौरवदोष उपस्थित होगा, अतः (इसके निवारणपूर्वक) लाघवगुण की प्रतिष्ठापना के लिये भाष्यकार इनके परिभाषा सूत्र को अवतरित करते हैं–'**तदेतदिति।**' सूत्र है–'**त्रयमिति।**' भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं–'**एकविषयाणीति।**' जब ये धारणा, ध्यान तथा समाधि तीनों साधन एक ध्येयविषयक होते हैं, तब '**संयम**' शब्द से व्यवहृत होते हैं। '**संयम**' शब्द धारणा, ध्यान तथा समाधि इन तीन 'वाच्य' का 'वाचक' है–इत्याकारक भ्रम के निवारणार्थ भाष्यकार 'संयम' शब्द के वाचकत्व का खण्डन करते हैं–'**तदस्येति।**' तत्त्ववैशारदीकार भाष्य में प्रयुक्त '**तान्त्रिकी**' पद की व्युत्पत्ति करते हैं–'**तन्त्र्यते व्युत्पाद्यते योगो येन शास्त्रेण तत्तन्त्रम्**' अर्थात् जिस शास्त्र के द्वारा योग को व्युत्पादित अर्थात् प्रतिपादित किया जाता है, उस शास्त्रविशेष को '**तन्त्र**' कहते हैं और '**तद्भवा तान्त्रिकी**' अर्थात् उस तन्त्र से सम्बन्धित परिभाषा को '**तान्त्रिकी**' कहते हैं। इस प्रकार '**संयम**' शब्द का जो धारणादि अर्थ है, वह योगशास्त्र की परिभाषा के अनुसार है, न कि शब्दवृत्ति के अनुसार। '**परिणामत्रयसंयमात्**' इत्यादि सूत्रों द्वारा संयम के प्रदेश कहे गये हैं। अर्थात् संयम का विनियोग जिस-जिस सिद्धि के प्राप्त्यर्थ किया जाता है–संयम के वे प्रदेश आगे स्पष्ट किये जायेंगे॥४॥

बालप्रिया–

'**तान्त्रिकी**' (तन्त्+अच्+ठक्)–'**तत्र भवः**' इस अर्थ में 'तन्त्र' शब्द से 'ठक्' प्रत्यय करने पर '**तान्त्रिकी**' पद निष्पन्न होता है॥४॥

योगवार्त्तिकम्

ध्यानादित्रयस्य परिभाषासूत्रम्–त्रयमेकत्र संयमः। अस्मिन्नेव पादे प्रोक्ततया त्रयशब्देन धारणादित्रयमेव लभ्यते। भाष्यं सुगमम्। धारणाध्यानसमाधीनां मिलितानां तत्र तत्र

---

1. थ द ध–तदेतदिति उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न–तदेतदिति नोपलभ्यते।

सूत्रेऽ[1]नया संज्ञया ग्रहणं भविष्यति, तेषु च प्रातिस्विकरूपैस्त्रयाणामुच्चारणे ग्रन्थबाहुल्यं स्यादित्याशयेन तन्त्रान्तरसिद्धसंज्ञाप्रतिपादकमिदं सूत्रम्॥४॥

पतञ्जलि धारणा, ध्यान तथा समाधि इन तीन के परिभाषा-सूत्र को सूत्रित करते हैं–**'त्रयमिति।'** भाष्यार्थ सुकर है। समुदित धारणा-ध्यान-समाधित्रय को **'संयम'** शब्द द्वारा तत्-तत् आगामी सूत्रों में गृहीत किया जायेगा अर्थात् धारणादित्रिक के लिये **'संयम'** शब्द का प्रयोग किया जायेगा, क्योंकि प्रातिस्विकरूप से (पृथक्-पृथक् रूप से) धारणादि तीन का उच्चारण करने पर ग्रन्थविस्तर होगा। इस अभिप्राय से अन्य शास्त्र (तन्त्रान्तर) में सुप्रतिष्ठित **'संयम'** संज्ञा को बतलाने वाला यह सूत्र है॥४॥

बालप्रिया–

'धारणादित्रयस्य परिभाषासूत्रम्'–परिभाषा और लक्षण का अन्तर यहाँ ज्ञातव्य है। परिभाषा–(1) **आधुनिकसंकेतः। यथा शाब्दिकमते वृद्धिपदस्याकारैकारौकारेषु** पाणिनि-**संकेतः।** (2) **अनियमे नियमकारिणी परिभाषा**-(न्यायकोश पृ. ४८०); लक्षण–(1) **उद्दिष्टस्यातत्त्वव्यवच्छेदको धर्मः। यथा इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। त्रिविधा शास्त्रस्य प्रवृत्तिः। उद्देशः लक्षणं परीक्षा चेति।** (2) **दूषणत्रयरहितो धर्मः। यथा गोर्लक्षणं सास्नादिमत्त्वम्।** (3) **वेदान्तिनस्तु यो धर्मो लक्ष्ये व्याप्त्या वर्तते न वर्तते चान्यत्र स धर्मः।** (4) **सजातीयविजातीयव्यावर्तको लक्ष्यगतः कश्चिल्लोकप्रसिद्धः आकारो लक्षणम्।** (5) **व्यावर्तकम्** (6) **स्वरूपम्** (7) **प्रतिपाद्यो विषयः। यथा जैमिनिर्द्वादशलक्षणीं प्रणिनाय इत्यादौ** (8) **आलोचनम्** (9) **अन्यदीयधर्मराहित्यम्** (10) **शाब्दिकास्तु शब्दसाधुता-प्रतिपादकं प्रमाणम्** (11) **व्यवहारज्ञास्तु व्यवहारोपयोगि नाम इत्याहुः।** (12) **चिह्नम् इति काव्यज्ञा वदन्ति**–(न्यायकोष पृ. ६९६) ॥४॥

योगसूत्रम्

तज्जयात्प्रज्ञालोकः॥५॥

संयमजय से (साधक के अन्तःकरण में) प्रज्ञा का प्रकाश होता है ॥५॥

व्यासभाष्यम्

तस्य संयमस्य जयात्समाधि[2]प्रज्ञाया भवत्यालोकः, यथा यथा संयमः स्थिर-

1. क ग घ च छ–अनया, ख–तया।
2. क ग घ च छ त थ द ध न प फ ब भ म य र–प्रज्ञायाः, ख ज झ–प्रज्ञया।

पदो भवति तथा [1]**तथा समाधिप्रज्ञा** [2]**विशारदीभवति ॥५॥**

उस संयम के जय से समाधिप्रज्ञा का प्रकाश होता है। जैसे-जैसे संयम दृढ़तर होता जाता है, वैसे-वैसे समाधिजन्य बुद्धि निर्मलतर होती जाती है॥५॥

तत्त्ववैशारदी

संयमविजयस्याभ्याससाधनस्य फलमाह—तज्जयात्प्रज्ञालोकः। प्रत्ययान्तरानभिभूतस्य निर्मलप्रवाहेऽवस्थानमालोकः प्रज्ञायाः। सुगमं भाष्यम्॥५॥

सूत्रकार '**अभ्यास**' साधन से विजित '**संयम**' के फल को कहते हैं—'**तदिति**।' प्रत्ययान्तर से अतिरस्कृत (एकाग्रातिरिक्त व्युत्थित वृत्ति से रहित) ध्येय वृत्ति के निर्मल प्रवाह में प्रज्ञा का आलोक (प्रकाश) स्थिर (दीप्त) होता है। भाष्यार्थ सुगम है॥५॥

योगवार्त्तिकम्

संयमसिद्धयोऽग्रे विस्तरतो वक्ष्यन्ते, सांप्रतं संयमस्य योगाङ्गताप्रयोजकं द्वारमाह— तज्जयात्प्रज्ञाऽऽलोकः। तज्जयः संयमस्य जयः स्थैर्यं सात्म्यमिति यावत्। तस्मात्प्रज्ञाया आलोको दीप्तिर्वृद्धिः क्रमेण भवतीत्यर्थः। तदेतद् व्याचष्टे—तस्येति। स्वोक्तं विवृणोति—यथेति। वैशारद्यं चा[3]**तिसूक्ष्मव्यवहिताद्यर्थानां परप्रत्यक्षीकरणसामर्थ्यमिति॥५॥**

संयमजन्य सिद्धियाँ आगे के सूत्रों में विस्तारपूर्वक कही जायेंगी। सम्प्रति, संयम के योगाङ्गताप्रयोजक (जिस माध्यम से धारणादि 'योग' के अङ्ग बनते हैं, उस) द्वार (मध्यवर्ती व्यापार) को सूत्रकार बतलाते हैं—'**तदिति**।' सूत्रगत '**तज्जय**' शब्द का अर्थ 'संयमजय' है और '**संयमजय**' धारणादि की स्थिरता को कहते हैं। इस संयमजय से 'प्रज्ञालोक' अर्थात् ज्ञान का आलोक अर्थात् दीप्ति क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होती है। भाष्यकार सूत्र के इसी अर्थ को बतलाते हैं—'**तस्येति**।' भाष्यकार स्वकथित सूत्रार्थ को पुनः स्पष्ट करते हैं—'**यथेति**।' (परमाण्वादि) अतिसूक्ष्म, (भूगर्भादि) व्यवहितादि पदार्थों के प्रकृष्ट प्रत्यक्षीकरण के सामर्थ्य को '**वैशारद्य**' कहते हैं। अर्थात् सूक्ष्मादि पदार्थों के निर्भ्रान्त प्रत्यक्ष के सामर्थ्यविशेष को '**वैशारद्य**' कहा गया है॥५॥

योगसूत्रम्

तस्य [4]भूमिषु विनियोगः॥६॥

---

1. द—**ईश्वरप्रसादात्** (**तथा**—पश्चात्) उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न प फ ब भ म य र—**ईश्वरप्रसादात्** नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**विशारदी०**, ब—**स्थिरपदी०**।
3. क ख घ च छ—**अति**, ग—**प्रति**।
4. **भूमि०**—इति पाठान्तरम्।

उस संयम का (उत्तरोत्तर) भूमियों में विनियोग (प्रयोग) करना चाहिये ॥६॥

व्यासभाष्यम्

तस्य संयमस्य जितभूमेर्यानन्तरा भूमिस्तत्र विनियोगः। न ह्यजिताधरभूमिरनन्तरभूमिं विलङ्घ्य प्रान्तभूमिषु संयमं लभते तदभावाच्च कुतस्[1]तस्य प्रज्ञालोकः? ईश्वर[2]प्रसादाज्जितोत्तरभूमिकस्य च नाधरभूमिषु परचित्तज्ञानादिषु संयमो युक्तः। कस्मात्? तदर्थस्या[3]न्यत एवा[4]वगतत्वात्। भूमेरस्या इयमनन्तरा भूमिरित्यत्र योग एवोपाध्यायः। कथम्? एवं [5]ह्युक्तम्—

योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्तते ।
[6]योऽप्रमत्तस्तु योगेन [7]स योगे रमते चिरम् ॥ इति॥६॥

जितभूमिक संयम का अव्यवहित अजितभूमि में विनियोग (प्रयोग) करना चाहिये। पूर्व की भूमि को जीते विना कोई भी योगी, उसके बाद वाली बीच की भूमि को लांघकर, अन्तिम भूमियों में संयम की स्थापना नहीं कर सकता है। अतः क्रमशः सम्पूर्ण भूमियों में संयम का अभाव होने से उस अजित भूमि वाले योगी को कैसे 'प्रज्ञालोक' हो सकता है? किन्तु ईश्वर के प्रसाद (कृपा) से जिसने उत्तरभूमि को जीत लिया है, उसके लिये परचित्तादिज्ञानरूप नीचे की भूमियों में संयम करना उचित नहीं है। क्योंकि उसे अन्तिम भूमि का फल अन्य (ईश्वरप्रणिधान) उपाय से प्राप्त हो चुका रहता है। इस पूर्व भूमि की अपेक्षा यह उत्तर भूमि है—इस प्रकार का विशेष ज्ञान तो योगाभ्यासरूप उपाध्याय अर्थात् गुरु से ही हो सकता है। योगाभ्यास कैसे प्रमाण है? क्योंकि शास्त्रों में ऐसा ही कहा गया है—'योग को योग के द्वारा ही जानना चाहिये, क्योंकि योग से ही योग सिद्ध होता है। जो योगी योग का अभ्यास तत्परता के साथ करता है, वह दीर्घ काल तक योग में रमण करता है' ॥६॥

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**तस्य**, ब—**तत्र**।
2. क ग छ थ न—**प्रणिधानात्**, घ च ज झ त द ध प फ भ म य र—**प्रसादात्**, ख ब—**प्रणिधानात्/प्रसादात्** नोपलभ्यते।
3. क ख ग छ थ ब—**अन्यथा**, घ च ज झ त द ध न प फ भ म य र—**अन्यतः**।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**अवगतत्वात्**, ब—**अनधिगतत्वात्**।
5. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म य—**हि** उपलभ्यते, घ प फ र—**हि** नोपलभ्यते।
6. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**यः** उपलभ्यते, ब—**यः** नोपलभ्यते।
7. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**स योगे**, ब—**योगेषु**।

तत्त्ववैशारदीकार प्रस्तुत सूत्र को प्रश्नपरक अवंतरणिका के साथ उपस्थित करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

क्व पुनर्विनियुक्तस्य संयमस्य फलमेतदित्यत आह–तस्य भूमिषु विनियोगः। भूमिं विशेषयति भाष्यकारः–तस्येति। जिताया भूमेर्यानन्तरा भूमिरवस्थाऽजिता तत्र विनियोगः। स्थूलविषये सवितर्के समाधौ वशीकृते संयमेन संयमस्या[1]विजिते निर्वितर्के विनियोगः। तस्मिन्नपि वशीकृते सविचारे विनियोगः। एवं निर्विचारे विनियोग इत्यर्थः। [2]अत एव स्थूलविषयसमापत्तिसिद्धौ सत्यां पुराणे तत्तदायुधभूषणापनयेन सूक्ष्मविषयः समाधिरवतारितः–

ततः शङ्खगदाचक्रशार्ङ्गादि[3]रहितं बुधः।
चिन्तयेद्भगवद्रूपं प्रशान्तं साक्षसूत्रकम्॥
यदा च धारणा तस्मिन्नवस्थानवती ततः।
किरीटकेयूरमुखैर्भूषणै रहितं स्मरेत्॥
[4]तदेकावयवं देवं सोऽहं चेति पुनर्बुधः।
कुर्यात्ततो ह्यहमिति प्रणिधानपरो भवेत्॥

शङ्का–किस विषय में प्रयुक्त किये गये संयम से यह **'प्रज्ञालोक'** रूप फल योगी को प्राप्त होता है अर्थात् प्रकृत संयम के विनियोग का क्षेत्र क्या है?

समाधान–उक्त शंका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं–**'तस्येति'**। भाष्यकार भूमि के विषय में विशेष व्याख्यान करते हैं–**'तस्येति'**। संयमित अर्थात् विजित भूमि की पश्चाद्वर्ती जो अव्यवहित अजित भूमि होती है, उसमें संयम का उपयोग (विनियोग) किया जाता है। अर्थात् योग की उत्तरोत्तर भूमि पर विजय प्राप्त करने के लिये योगी को तत्तद् भूमियों में क्रमशः **'संयम'** का विनियोग करना चाहिये।

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार योगभूमि के विषय में क्रम-सम्बन्धी मान्यता को सुस्पष्ट करते हैं–संयम द्वारा स्थूलविषयक **'सवितर्क'** समाधि के हस्तगत (विजित) हो जाने पर संयम का अनधीन अर्थात् अविजित **'निर्वितर्क'** समाधि में विनियोग किया जाता है। **'निर्वितर्क'** के वशीकृत होने पर **'सविचार'** में **'संयम'** का विनियोग किया जाता है और तत्पश्चात् **निर्विचार'** में। अत एव विष्णुपुराण में तत्तद् आयुध, भूषणादि सहित **'स्थूल'** (भगवद्विग्रह) विषयक समापत्ति सिद्ध होने पर उक्त

---

1. ग घ च छ ज झ थ द ध न–**अविजिते** उपलभ्यते, क ख त–**अविजिते** नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त ध न–**अत एव**, थ द–**एवम्**।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध–**रहितम्**, न–**सहितम्**।
4. क ख ग घ च त न–**तत्**, छ ज झ थ द ध–**तदा**।

आयुध- भूषणादि के परित्यागपूर्वक '**सूक्ष्म**' विषयक समापत्ति की अवतारणा हुई है— '**ततः...भवेत्**' अर्थात् 'सबसे पहले योगी शंख, चक्रादि आयुध तथा किरीट, केयूरादि भूषण सहित भगवान् के रूप का चिन्तन करे। तत्पश्चात् शंख, चक्र, गदा तथा शार्ङ्ग आदि आयुधरहित केवल अक्ष, सूत्रादि भूषण सहित ही प्रशान्त भगवान् के रूप का चिन्तन करे। और जब उस रूप में धारणा स्थिरता को प्राप्त हो जाय तब उसको त्यागकर किरीट, केयूर आदि प्रधान भूषणों से रहित केवल भगवान् के शरीर मात्र का चिन्तन करे। तत्पश्चात् उसको भी त्यागकर भगवान् के केवल मुखारविन्द रूप एक अवयव का ही चिन्तन करे। फिर उस स्थूलरूप को भी त्यागकर 'सोऽहम्' 'सोऽहम्'—इस प्रकार की सूक्ष्मविषयक भावना करते हुए योगी ईश्वरप्रणिधान में तत्पर रहे।'

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार भूमिजय के लिये निर्दिष्ट क्रम-निर्वाह के औचित्य को स्पप्ट करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

कस्मात्पुनरधरां भूमिं विजित्योत्तरां विजयते, विपर्ययः कस्मान्न भवतीत्यत आह—**न ह्यजिताधरभूमिरिति। न हि शिलाह्रदाद् गङ्गां प्रति प्रस्थितोऽप्राप्य मेघवनं गङ्गां प्राप्नोति।**

शङ्का—किस कारण से अधर (पूर्ववर्ती) भूमि को जीतकर उत्तर (पश्चाद्वर्ती) भूमि पर विजय प्राप्त की जाती है। क्रम का उल्लंघन करके उत्तरभूमि को जीतकर पूर्व भूमि को क्यों नहीं जीता जाता है?

समाधान—उक्त शंका को ध्यान में रखकर भाष्यकार कहते हैं–'**न ह्यजिताधर-भूमिरिति**।' (पूर्व भूमि पर सफलता प्राप्त किये विना कोई भी योगी, मध्य की भूमि का तिरस्कार कर, '**प्रान्त**' अर्थात् अन्तिम भूमि में संयम का सफल विनियोग नहीं कर सकता है। अतः उत्तरोत्तर भूमि में संयमलाभ न होने पर तज्जन्य '**प्रज्ञालोक**' की प्रत्याशा करना व्यर्थ है। जैसे शिलाह्रद (हिमालय) से गंगा की प्राप्ति के लिये निकला व्यक्ति मेघवन तक पहुँचे विना गंगा को प्राप्त नहीं कर पाता है।

बालप्रिया—

'**अधरां भूमिं...**'— भूमिक्रम इस प्रकार है—'**ग्राह्य**' समापत्ति अधरभूमि है, '**ग्रहण**' समापत्ति मध्यभूमि है और '**ग्रहीतृ**' समापत्ति प्रान्तभूमि है। अलब्धप्रान्तभूमि की निष्फलता है—योगी के अन्तःकरण में '**प्रज्ञालोक**' का समग्र रूप प्रादुर्भूत न हो पाना।

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार भूमियों पर विजय प्राप्त करने की उपरिवर्णित सामान्य प्रक्रिया के अपवाद को उठाते हैं–

तत्त्ववैशारदी

ईश्वरप्रसादाज्जितोत्तरभूमिकस्य चेति। कस्मात्? तदर्थस्योत्तरभूमि[1]विजयस्य प्रत्यासन्नस्यान्यत एवेश्वरप्रणिधानादेवावगतत्वात्। निष्पादितक्रिये कर्मण्य[2]विशेषाधायिनः साधनस्य [3]साधनन्यायातिपातादिति।

(ईश्वरानुग्रह से कृतकृत्य योगी भूमिक्रम का अतिक्रमण कर सहजतया अन्तिम भूमि को प्राप्त करने में सक्षम होता है, इसे अपवादस्वरूप बतलाते हुए भाष्यकार ईश्वराराधन को योगसाधना का उत्कृष्टतम साधन घोषित करते हैं)–'**ईश्वर-प्रसादाज्जितोत्तरभूमिकस्य चेति**।' ईश्वर की कृपा से विजित उत्तरभूमिक साधक को परचित्तज्ञानादि अधर भूमियों के जय के लिये '**संयम**' की अपेक्षा नहीं रहती है।

शङ्का–किस कारण से जितोत्तरभूमिक साधक को पूर्ववर्त्तिनी अजित भूमियो में सफलता प्राप्त करने के लिये संयम की अपेक्षा नहीं रहती है?

समाधान–'**अधरभूमि**' के जय के क्रम से प्राप्त होने वाली '**उत्तरभूमि**' का विजयरूप प्रयोजन '**संयम**' से भिन्न ईश्वरप्रणिधानजन्य ईश्वर-प्रसाद से ही जिस योगी को सिद्ध हो जाता है, उसे पूर्व भूमियों को लेकर संयम नहीं करना पड़ता है। क्योंकि क्रिया के निष्पन्न हो जाने पर निष्पादित कर्म में विशेष का आधान न करने वाले साधन का साधनन्याय अतिक्रमित हो जाता है। (क्योंकि अनिष्पन्न को निष्पन्न करने वाले को '**साधन**' कहते हैं, न कि निष्पन्न को सिद्ध करने वाला '**साधन**' कहा जाता है। अतः क्रिया-निष्पत्ति के पश्चात् सिद्ध के प्रति साधन का साधनत्व समाप्त हो जाता है–इसी तथ्य को तत्त्ववैशारदीकार ने '**साधनन्यायाऽतिपातात्**' पद के द्वारा कहा है। प्रकृत में यह सिद्धान्तित हुआ कि उत्तरभूमिजयी के लिये संयमसाध्य पूर्वभूमि-जय साधन नहीं बनता है, क्योंकि उत्तरभूमिजयरूप क्रिया के निष्पन्न हो जाने से अनिष्पन्न उत्तरभूमि में साधन बनने वाला–पूर्वभूमिजय अपने साधनत्व की शक्ति से च्युत हो जाता है)।

सम्प्रति, भूमिक्रम की प्रामाणिकता पर विचार किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

स्यादेतत्–आगमतः सामान्यतोऽवगतानामप्य[4]वान्तरभूमिभेदानां कुतः पौर्वापर्याव-गतिरित्यत आह–भूमेरस्या इति। जितः पूर्वो योग उत्तरस्य योगस्य ज्ञानप्रवृत्त्यधिगमहेतुः। अवस्थैवावस्थावानित्यभिप्रेत्यैतद् द्रष्टव्यम्॥६॥

---

1. क ख ग ज त थ द ध–**विजय०**, घ च छ न–**विजयस्य**, झ–**विजयाय**।
2. क ख ग घ च छ ज झ त न–**अविशेषाधायिनः**, थ द ध–**विशेषानाधायिनः**।
3. क ख ग थ द ध–**साधन०**, घ च छ ज झ त न–**असाधन०**।
4. क ख ग घ च छ ज झ त द ध न–**अवान्तरभूमिभेदानां**, थ–**अवान्तरविभेदानाम्**।

शङ्का—यद्यपि आगम प्रमाण से योग की समस्त अवान्तरभूमियों का सामान्यरूप से अवबोध हो जाता है तथापि भूमियों के पौर्वापर्य (यह प्रथम भूमि है तथा यह द्वितीय भूमि है– इस क्रम) का विशेष ज्ञान कैसे होता है?

समाधान—इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**भूमेरस्या इति**' विजित पूर्व योग (पहली भूमि) ही उत्तर योग (दूसरी भूमि) की ज्ञानप्रवृत्ति का अधिगमहेतु (प्रत्ययकारण) होता है। इसीलिये भाष्यकार ने यह कहा है कि इस पूर्व भूमि की यह अनन्तरा भूमि है, इसके परिज्ञान में योगाभ्यास ही '**उपाध्याय**' अर्थात् गुरु है। इस विषय में यौगिक अनुभव को प्रमाणरूप से स्वीकार करते हुए भाष्यकार द्वारा उद्धृत श्लोक में प्रयुक्त '**योगेन योगः**'–में निहित गूढाभिसन्धि को स्पष्ट करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं–'अवस्था ही अवस्थावान् होता है'–इस अभिप्राय से (अवस्था-अवस्थावान् में अभेदविवक्षया) अवस्था=भूमि को ही अवस्थावान् (योग) समझकर '**भूमि**' के लिये '**योग**' शब्द का प्रयोग हुआ है अर्थात् भूमियों का योगत्व अभिहित हुआ है। शब्दान्तर में 'उत्तरोत्तर भूमिजय से योग प्राप्त होता है'– ऐसा न कहकर श्लोक में 'योग से योग प्राप्त होता है'– यह कथन अवस्था-अवस्थावान् के अभेद की विवक्षा से है॥६॥

बालप्रिया—

'**उपाध्यायः**'—**गुरुः। योगबलेन स्वयमेव जानातीत्यर्थः।**

'**योगेनाप्रमत्तः**'—इस पद का अर्थ है—सिद्धिलिप्साशून्य व्यक्ति॥६॥

योगवार्त्तिकम्

संयमस्यानुष्ठाने विशेषमाह—तस्य भूमिषु विनियोगः। तस्य संयमस्य स्थूलादिपूर्वपूर्वभूमिकाजयानन्तरं सूक्ष्मादिषूत्तरोत्तरभूमिकासु नियोजनं योगिना कर्त्तव्यमित्यर्थः। एतदेव व्याचष्टे भाष्यकारः—तस्येति। अनन्तरा अव्यवहिता। क्रमेण भूमिकाऽऽरोहे युक्तिमाह—न हीति। प्रान्तभूम्यपेक्षयाऽधराऽधःस्था भूमिरजिता येन सोऽजिताधरभूमिर्योगी। नहि अनन्तरभूमिमव्यवहितभूमिं विलङ्घ्य[1]प्रान्तभूमिषु व्यवहितोत्तरभूमिषु संयमं लभते, धनुर्धरादिषु स्थूलवेधाद्यनन्तरमेवं सूक्ष्मे वेधादिदर्शनात्सोपानारोहणादिषु च क्रमेणै[2]वारोहादिदर्शनात्, अन्यथाऽधःपातात् तदभावाच्चेति। ततश्च संयमालाभात् कुतः प्रज्ञाऽऽलोकस्तत्तद्भूमिषु स्यादित्यर्थः। तथा चोक्तं गारुडे—

स्थित्यर्थं मनसः पूर्वं स्थूलरूपं विचिन्तयेत्।
तत्र तन्निश्चलीभूतं सूक्ष्मेऽपि स्थिरतां व्रजेत्॥ इति।

1. क ग—**अप्रान्त०**, ख घ—**प्रान्त०**, च छ—**अप्राप्त०**।
2. ख ग—**सोपान०** (एव—पश्चात्) उपलभ्यते, क घ च छ—**सोपान०** नोपलभ्यते।

धारणादि संयम के अनुष्ठान के विषय में एक विशेष तथ्य को सूत्रकार कहते हैं–'**तस्येति।**' स्थूलादि (स्थूलविषयक) पूर्व-पूर्व भूमि को जीतने के पश्चात् योगी को सूक्ष्मादि (सूक्ष्मविषयक) उत्तरोत्तर भूमियों में '**संयम**' का '**विनियोग**' करना चाहिये। भाष्यकार सूत्र के इसी अर्थ को बतलाते हैं–'**तस्येति।**' भाष्य में प्रयुक्त '**अनन्तरा**' शब्द का अर्थ '**अव्यवहित**' है। अर्थात् जितभूमि के अव्यवहित बाद की अजितभूमि में संयम का विनियोग किया जाता है। भूमिकारोहण के विषय में क्रम की युक्तियुक्तता पर भाष्यकार प्रकाश डालते हैं–'**न हीति।**' जिसके द्वारा प्रान्त भूमि (अन्तिम भूमि) की अपेक्षा पूर्व-पूर्व भूमि (अधरोधर भूमि) विजित नहीं की गई है, वह '**अजिताधरभूमिक योगी**' कहलाता है। अनन्तर भूमि अर्थात् अव्यवहित पूर्व भूमि को लांघकर (जीते विना) '**प्रान्त भूमियों**' में अर्थात् व्यवहित उत्तरोत्तर भूमियों में '**संयम**' नहीं किया जा सकता है, क्योंकि धनुर्धारियों में स्थूल लक्ष्य (पदार्थ) के भेदन के पश्चात् ही सूक्ष्म पदार्थविषयक भेदन-क्रिया परिलक्षित होती है तथा सोपानारोहण (सीढ़ी चढ़ने की) क्रिया में भी क्रमशः आरोहणव्यापार परिलक्षित होता है। क्योंकि आरोहण-क्रम का उल्लंघन करने पर अधःपतन होता है तथा प्रान्त भूमि का लाभ भी योगी को नहीं होता है। परिणामस्वरूप '**संयम**' के अविनियुक्त रहने से तत्तत् सूक्ष्मादिविषयक भूमियों में ज्ञान का प्रकाश कैसे हो सकता है? अर्थात् योगी को सूक्ष्म पदार्थ का स्फुरण नहीं हो पाता है। जैसा कि गरुडपुराण में कहा गया है– '**स्थित्यर्थं...व्रजेत्**' (१/१२७/३३) अर्थात् 'मन की स्थिति अर्थात् एकाग्रता के लिये पहले पदार्थ के स्थूलरूप का चिन्तन करना चाहिये। तत्पश्चात् स्थूलरूप में एकाग्रीभूत मन को सूक्ष्मरूप में भी स्थिरता प्राप्त करानी चाहिये।'

सम्प्रति, भूमिकारोहण के विषय में विशेष विचार प्रस्तुत हो रहा है–

योगवार्त्तिकम्

अयं च भूमिकारोहे क्रमश्चौत्सर्गिकः कदाचिदपोद्यतेऽपीत्याह–[1]जितोत्तरेति। ईश्वरप्रसादादादावेव वशीकृतप्रकृतिपुरुषविवेकादिभूमिकस्य योगिनो नाधोभूमिषु परचित्तज्ञानादिषु परचित्तप्रत्ययादिषु प्रत्यये परचित्तज्ञानमित्याद्यागामिसूत्र[2]वाच्येषु विराडादिस्थूलेषु वा संयमो युक्त इत्यर्थः। पृच्छति–कस्मादिति। उत्तरम्–तदर्थस्येति। अधरभूमिसंयमप्रयोजनस्योत्तरभूम्यारोहणस्येश्वरानुग्रहादेवावगतत्वात् प्राप्तत्वादित्यर्थः। ननू[3]त्सर्गात्सिद्धं क्रममुल्लङ्घ्य

---

1. क घ–**जितोत्तरेति**, ख ग च छ–**जितान्तरेति।**
2. क ग घ च छ–**वाच्येषु**, ख–**वाक्येषु।**
3. क ख घ–**उत्सर्ग०**, ग–**उत्सर्गिक**, च छ–**उत्सर्गात्०।**

प्रथममुत्तरभूमिकासु संयमारम्भ एव न युक्तः, तत्कथमादौ तज्जयो घटेतेति चेत्? न; युञ्जमानेनादावेव सर्वोत्कृष्टभूमिकायां स्वचित्तस्य परीक्षणीयत्वात्, तत्संयमायोग्यतां स्वस्यानुभूयैवाधरभूमिषु स्वयोग्यतामवधार्य चित्तस्य धारणीयत्वादिति। नन्वेवमधिकारिपुरुषभेदेन भूमिकाक्रमभेदात् कथं स्वयोग्यो भूमिकाक्रमो योगिभिरवधारणीय इति? तत्राह—भूमेरस्या इति। उपाध्यायो गुरुः, योगबलादेव स्वयं जानातीत्यर्थः। अत्र प्रमाणं पृच्छति—कथमिति। उत्तरम्—एवमुक्तमिति। अप्रमत्तः सिद्ध्यलम्पटः॥६॥

वितर्क, विचारादि भूमिकारोहण के विषय में औत्सर्गिक = सामान्य क्रम ही है। कभी-कभी इस क्रमसामान्य का अपवाद भी होता है। इसी तथ्य को भाष्यकार बतलाते हैं—'**जितोत्तरेति**।' ईश्वर की महती कृपा से योग-साधना के प्रारम्भ काल में ही जिसने प्रकृति-पुरुष की भेदज्ञानविषयिणी भूमि को जीत लिया है, ऐसे साधक को '**प्रत्यये परचित्तज्ञानम्**'(३/१९) इत्याकारक आगामी योग सूत्र में अभिहित अधोभूमिक परचित्तादि के साक्षात्कार के विषय में अथवा विराडादि (विराज्=शरीर आदि) स्थूल पदार्थों के साक्षात्कार के विषय में '**संयम**' करना युक्तियुक्त नहीं है।

शङ्का—प्रान्तभूमिजयी को अधोभूमि के स्थूलादि पदार्थों के विषय में संयम क्यों नहीं करना पड़ता है?

समाधान—भाष्यकार उत्तर देते हैं—'**तदर्थस्येति**।' अधर भूमि में संयम करने का प्रयोजन जो उत्तरभूमिजय है, वह जिसे ईश्वर के अनुग्रह से ही प्राप्त हो गया है, वह अधर भूमियों में निष्प्रयोजन संयम क्यों करेगा? उसके लिये '**संयम**' करना व्यर्थ है।

शङ्का—सामान्यनियम से सुनिश्चित क्रम का अतिक्रमण करके प्रारम्भ में ही उत्तरभूमिकाओं के विषयों को लेकर संयमारम्भ ही साधक द्वारा संभव नहीं है, तो फिर कैसे प्रारंभ में ही प्रान्तभूमिजय निष्पादित हो सकता है?

समाधान—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि '**युञ्जान**' योगी को (साधना के) आरंभ में ही सर्वोत्कृष्ट (प्रान्त) भूमि के विषय में अपने चित्त-सामर्थ्य का परीक्षण कर लेना चाहिये और फिर उस उत्तरभूमि में '**संयम**' करने की अपनी अयोग्यता को समझकर स्वयोग्यतानुसार अधर भूमियों में ही चित्त को लगाना चाहिये।

शङ्का—इस प्रकार तो योग-साधना के अधिकारिपुरुष के भेद से प्रत्येक साधक की साधना का भूमि-क्रम भिन्न-भिन्न होगा तो फिर कैसे योगी अपने लिये उपयुक्त भूमिका-क्रम का निश्चय करेगा?

समाधान—इस पर भाष्यकार कहते हैं—'**भूमेरस्या इति**।' भाष्य में प्रयुक्त '**उपाध्याय**' शब्द का अर्थ गुरु है। योगबल से ही योगी स्वतः जान लेता है कि इस पूर्व भूमि की यह अन्तरा भूमि है।

शङ्का—ऐसा योगबल होने में ही क्या प्रमाण है—'**कथमिति**।'

समाधान—भाष्यकार उत्तर देते हैं—'**एवमुक्तमिति**।' जो योगसिद्धि में प्रमादहीन है उसे यहाँ "अप्रमत्त' कहा गया ॥६॥

अगला सूत्र है—

योगसूत्रम्

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥७॥ ॥

पूर्ववर्ती (यमादि पांच) साधनों की अपेक्षा धारणादि तीन साधन 'अन्तरङ्ग' हैं ॥७॥

व्यासभाष्यम्

तदेतद्धारणाध्यानसमाधित्रयमन्तरङ्गं संप्रज्ञातस्य समाधेः पूर्वेभ्यो [1]यमादिभ्यः पञ्चभ्यः साधनेभ्य इति ॥७॥

पहले वाले यमादि (यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार) पाँच साधनों की अपेक्षा धारणा, ध्यान तथा समाधि ये तीन सम्प्रज्ञात योग के 'अन्तरङ्ग' साधन हैं ॥७॥

तत्त्ववैशारदी

कस्मात्पुनर्योगाङ्गत्वाविशेषेऽपि संयमस्य तत्र तत्र विनियोगो नेतरेषां पञ्चानामित्यत आह—त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः। तदिदं साधनत्रयं साध्यसमानविषयत्वेनान्तरङ्गम्, न त्वेवं यमादयः। तस्मात्ते बहिरङ्गा इत्यर्थः॥७॥

शङ्का—यम, नियमादि आठों साधनों का योगाङ्गत्व समान (अविशेष) रूप से कथित होने पर भी किस कारण से '**संयम**' (धारणा-ध्यान-समाधि तीन अंगों) का ही तत्तद् भूमियों में विनियोग प्रतिपादित हो रहा है, तदतिरिक्त अन्य पाँच योगाङ्गों का नहीं?

समाधान—इस पर सूत्रकार कहते हैं—'**त्रयमिति**।' धारणादि तीन साधन साध्यभूत सम्प्रज्ञात के समान विषय वाले होने से '**अन्तरङ्ग**' कहे जाते हैं। यमादि पाँच अङ्गों में सम्प्रज्ञात के प्रति ऐसी समानविषयता न होने से 'अन्तरङ्गता' नहीं है। इसलिये ये '**बहिरङ्ग**' कहे जाते हैं॥७॥

बालप्रिया—

'**साध्यसमानविषयत्वेन**'—विचारणीय है कि '**अन्तरङ्ग**' साधन किसे कहते हैं?

---

1. क ख ग च छ झ त थ द ध न ब भ म य र—**यमादिभ्यः पञ्चभ्यः साधनेभ्यः**, घ ज प फ—**यमादिसाधनेभ्यः**।

'यदनन्तरं यद् भवति तत् तस्यान्तरङ्गं साधनम्'—अर्थात् जिसके अनन्तर जो होता है, वह पूर्ववर्ती अपने उत्तरवर्ती का **'अन्तरङ्ग'** साधन कहा जाता है—ऐसा कहना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि इसमें नियमाभाव है। **'अन्तरङ्गत्व'** का यह लक्षण सूत्रकार को मान्य भी नहीं है। अन्यथा—**'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'**—सूत्र से ईश्वरप्रणिधान को सम्प्रज्ञात समाधि का साधन माना गया है, जब कि वह बहिरङ्ग साधन ही है, क्योंकि **'त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः'** सूत्र द्वारा धारणादित्रय का ही अन्तरङ्गत्व विहित है, ईश्वरप्रणिधान का नहीं—ईश्वरप्रणिधान में अन्तरङ्गत्व की अतिप्रसक्ति होगी। अतः **'अनन्तरत्व'** को **'अन्तरङ्ग'** साधनत्व का प्रयोजक मानना प्रकृत प्रसंग में दोषपूर्ण है।

सूत्रकार ने साध्य के समान साधन की समानविषयता को ही अन्तरङ्गसाधन का प्रयोजक माना है—**'यस्य साधनस्य साध्यसमानविषयत्वं तस्याऽन्तरङ्गत्वम्'** अर्थात् जिस साधन में साध्यसमानविषयत्व है, उसमें **'अन्तरङ्गत्व'** है। इस न्याय से धारणादित्रय में सम्प्रज्ञात के प्रति **'साध्यसमानविषयत्व'** रूप अन्तरङ्गता इस प्रकार है—सम्प्रज्ञात समाधि में चित्त की वृत्त्यन्तरशून्य ध्येयाकाराकारित वृत्ति विद्यमान रहती है और धारणादि में भी चित्त की ध्येयविषयोन्मुखता सघन, सघनतर तथा सघनतम होती जाती है। धारणादित्रय में निरन्तर बढ़ती हुई ध्येयविषयोन्मुखता एकाग्रीभूत चित्त को वितर्कादि क्रम से तत्त्वसाक्षात्कारवती प्रज्ञा उत्पन्न कराने में समर्थ होती है। अतः ध्येय साक्षात्कार की तुल्यविषयता धारणादित्रय साधन और सम्प्रज्ञात समाधिरूप साध्य में साध्यसाधनभाव के **'अन्तरङ्गत्व'** को सिद्ध करती है। इस प्रकार की अन्तरङ्गता यमादि पाँच साधनों में सम्प्रज्ञात के लिये नहीं बनती है, क्योंकि यमादि पाँच साधन शरीर और मन की एकाग्रता में सहायकीभूत होते हैं। ये नियन्त्रणप्रधान हैं, न कि ज्ञानप्रधान। अतः असमानविषयक होने से यमादि पाँच साधन **'बहिरङ्ग'** कहे गये हैं।

असम्प्रज्ञात समाधि के प्रति पूर्वकथित साधनों की अन्तरङ्गता और बहिरङ्गता में अन्तर आता है। न तो धारणादित्रय और न ही सम्प्रज्ञात समाधि को असम्प्रज्ञात का अन्तरङ्ग साधन माना जाता है। असम्प्रज्ञात का अन्तरङ्ग साधन है—परवैराग्य। इस प्रकार सम्प्रज्ञात के धारणादि अन्तरङ्ग साधन असम्प्रज्ञात के बहिरङ्ग साधन हैं। तब यमादि की बहिरंगता तो और दूर चली जाती है। किञ्च सबीज सम्प्रज्ञात निर्बीज असम्प्रज्ञात का साधन नहीं बन सकता है॥७॥

योगवार्त्तिकम्

आवश्यकत्वाद्यवधारणार्थं योगाङ्गेष्ववान्तरविशेषमाह सूत्राभ्याम्—त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः।

आगामिसूत्रानुरोधादत्र [1]सम्प्रज्ञातसमाधेरिति पूरयित्वा व्याचष्टे—तदेतदिति। अत्र संप्रज्ञातस्येत्यत्र प्रज्ञाया विशेषणतया ज्ञानस्याप्यन्तरङ्गत्वमेतत्त्रये विवक्षितम्, बीजसाम्यात् ज्ञानप्रकरणपाठाच्च। अन्तरङ्गत्वे च बीजमिदं यद्ध[2]येयातिरिक्तवृत्तिनिरोधरूपे संप्रज्ञाते ध्येयसंयमः साक्षादेव कारणं विषयान्तरा[3]संचाररूपत्वात्, एवं ध्येयसाक्षात्कारेऽपि साक्षादेव विषयान्तरसंचाराख्यप्रतिबन्धनिवृत्तिद्वारा कारणमिति। प्रत्याहारान्तं त्वङ्गपञ्चकं चित्तस्थैर्यद्वारेण परम्परयैवोभयोः कारणमिति। अत एव यस्य जडभरतादेः स्वत एव प्राचीनकर्मवशाच्चित्तं संयमयोग्यं भवति तस्य नास्तीतराङ्गावश्यकत्वमित्युक्तं गारुडादिषु—

आसनस्थानविधयो न योगस्य प्रसाधकाः।
विलम्बजननाः सर्वे विस्ताराः परिकीर्त्तिताः॥
शिशुपालः सिद्धिमाप स्मरणाभ्यासगौरवात्।

इत्यादिना। अत एव जडभरतादीनां समाधिविघ्नतया बाह्यकर्मत्यागोऽपि श्रूयते। अत एव गीतायां संयमासक्तायैवाभ्यासकर्मादीनि विशेषत उपदिष्टानि—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥
अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय!॥
अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।

इत्यादिना। अभ्यासश्चात्रैव सूत्रितः—स्थितौ यत्नोऽभ्यास इति। तथा ब्रह्ममीमांसायामपि समाधिविरोधे सति—गुणलोपेन गुणिन इति न्यायसिद्धा बाह्यकर्मानपेक्षोक्ता— अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षेति सूत्रेण,

यच्च विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह, अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते, इति श्रुत्या ज्ञानकर्मणोः साहित्यमुक्तं तत्राङ्गाङ्गिनोरौत्सर्गिकं सहानुष्ठानमेवाभिप्रेतं न तु मोक्षाख्यफले तयोः तुल्यवत्समुच्चयः, अविद्यया मृत्युं तीर्त्वेत्यनेन ज्ञानविप्लवनिवृत्त्याख्यमृत्युतरणद्वारेण विद्यायामेव मोक्षदायिन्यां कर्मण उपयोगावगमात्,

न केवलेन योगेन प्राप्यते परमं पदम्।
ज्ञानं तु केवलं सम्यगपवर्ग[4]प्रदायकम्॥

---

1. क ख ग घ च—संप्रज्ञातसमाधेरिति पूरयित्वा व्याचष्टे—तदेतदिति उपलभ्यते, छ—संप्रज्ञात.... तदेतदिति नोपलभ्यते।
2. क ग च छ—हेय०, ख घ—ध्येय०।
3. क ख ग घ च छ—संचार०।
4. क घ च छ- प्रदायकं, ख ग—फलप्रदम्।

इत्यादिवाक्यैर्योगशब्दोक्तकर्मनिरपेक्षात् ज्ञानयोगादपि मोक्षसिद्धेः। अङ्गत्वं च पूर्वजन्मन्यनुष्ठितानामपि कर्मणां जडभरतादिषु सिद्धमिति। एतेन–

[1]उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः।
तथैव ज्ञानकर्मभ्यां लभते परमं पदम्॥

इत्यादिवाक्यानि अङ्गाङ्गिनोरौत्सर्गिकसहानुष्ठानपराण्येव, न मोक्षं प्रति समुच्चय-[2]साधकानीति दिक्॥७॥

यमादि योगाङ्गों में (साक्षात् अथवा परम्परया साधनत्वरूप स्थिति की) सापेक्ष अनिवार्यता आदि का अवबोध कराने के लिये उनके पारस्परिक अन्तर (वैशिष्ट्य) को अग्रिम दो सूत्रों द्वारा पतञ्जलि बतलाते हैं–'**त्रयमिति।**' '**तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य**' (३/८) इस आगामी सूत्र के अनुरोध (अर्थानुसन्धान) से भाष्यकार '**सम्प्रज्ञातस्य समाधेः**' इस पद के ग्रहणपूर्वक सूत्र की व्याख्या करते हैं–'**तदेतदिति।**' यहाँ '**सम्प्रज्ञात**' पद प्रज्ञा का विशेषण होने से धारणादित्रय का 'ज्ञान' के प्रति भी 'अन्तरङ्गत्व' प्रतिपादित करना अभिप्रेत है, क्योंकि धारणादित्रय और सम्प्रज्ञात में ध्येयरूप बीज की स्थिति तुल्य है और (चिन्तनप्रधान होने से) धारणादित्रय ज्ञान के प्रकरण में विवेचित हुए हैं। सम्प्रज्ञात के प्रति धारणादित्रय को '**अन्तरङ्ग**' कारण इसलिये कहा गया है कि ध्येयातिरिक्त व्युत्थित वृत्ति के निरोधरूप सम्प्रज्ञात योग की सिद्धि में ध्येयविषयक धारणादित्रयरूप '**संयम**' साक्षात् कारण ही होता है, क्योंकि ध्येय में धारणा, ध्यान तथा समाधि करने से चित्त का विषयान्तर (ध्येयान्तर) में गमन नहीं होता है। इस प्रकार '**संयम**' विषयान्तरसंचाराख्य प्रतिबन्ध की निवृत्ति द्वारा ध्येय विषय का साक्षात्कार करानें में साक्षात् कारण ही होता है। जब कि प्रत्याहारान्त अङ्गपञ्चक चित्त को स्थिरता प्रदान करते हुए सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दोनों योगों के प्रति परम्परया कारण होते हैं। अत एव जिन जडभरतादि का चित्त प्राचीन पूर्वजन्मीय योग-साधना के कारण वर्तमान जन्म में स्वतः ही धारणादि संयमानुष्ठान के लिये समर्थ (सामर्थ्यविशिष्ट) रहता है उस स्थिर चित्त को अन्य यमादि पूर्वाङ्गों के अभ्यास की अपरिहार्यता नहीं रहती है, ऐसा गरुडादि पुराणों में उक्त है–"**आसनस्थान...गौरवात्**' (२७/४४-४५) अर्थात् 'योग के तृतीय अङ्ग आसन को लेकर की जाने वाली क्रियाएँ= योगविधियाँ योग को त्वरित सिद्ध करने वाली नहीं होती हैं, ये सभी क्रियाएँ विलम्बकारी (योग-सिद्धि में विलम्ब उत्पन्न करने वाली) होती हैं। अतः ये क्रियाएँ अधम अधिकारी के लिये ही उपयुक्त हैं। ऐसा शास्त्रों में विस्तार से बतलाया गया है। उत्तम

1. क ख ग घ च–**उभाभ्यां**, छ–**समाभ्याम्**।
2. क ख ग घ च–**बोधकानि**, छ–**साधकानि**।

अधिकारी शिशुपाल ने तो स्मरणाभ्यास के गौरव से ही सिद्धि को प्राप्त किया था।' इसलिये पुराणों में ऐसा सुना जाता है कि जडभरतादि योगियों ने समाधि के विघ्न कारक बाह्य कर्म का त्याग किया था। अतः गीता में साधक को संयमाभिमुख करने के लिये ही अभ्यासादि क्रियाएँ विशेषरूप से उपदिष्ट हुई हैं–**'मय्येव...भव'** (१२/८) अर्थात् 'हे अर्जुन, विश्वरूप मुझ में ही तुम अपना मन लगाओ। यह सब ब्रह्म ही है। यों मेरा अनुसन्धान करो। तदनन्तर निर्विशेष परब्रह्म का परिज्ञान कर निर्विशेषस्वरूप मुझ में ही स्थित हो जाओगे, इसमें तनिक भी संशय नहीं है। हे धनञ्जय! यदि विश्वात्मक मुझ ईश्वर में मन को निश्चलरूप से स्थिर करने में असमर्थ हो तो अभ्यासरूप योग से पहले मन को स्थिर कर तदनन्तर मेरी उपासना करो। हे अर्जुन! यदि तुम मेरे उद्देश्य से कर्म करने में भी असमर्थ हो तो केवल मेरे लिये सम्पूर्ण कर्मों को करने में परायण बनो।' सूत्रकार ने अभ्यास का स्वरूप **'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः'**(१/१३) सूत्र द्वारा सूत्रित किया है। इसलिये ब्रह्ममीमांसा (वेदान्त) में समाधि का विरोध होने पर भी **'गुणलोपेन गुणिनः'** इत्याकारक न्यायसिद्ध बाह्य कर्म की अनपेक्षता **'अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा'** (ब्र. सू. ३/४/२५) सूत्र द्वारा बतलाई गई है। सूत्र का अर्थ है–'इस प्रकार ब्रह्मविद्यारूप यज्ञ को अग्नि, इन्धन आदि किसी प्रकार की सामग्री की अपेक्षा नहीं है।' भावार्थ यह है कि ब्रह्मविद्या स्वतन्त्र होने से कर्माङ्गरूप नहीं है।

और जो **'विद्यां अश्नुते'** (ईशोप. ११) इत्याकारक श्रुति के द्वारा ज्ञान और कर्म का साहित्य विवक्षित है, वह तो अङ्गाङ्गी के औत्सर्गिक सहानुष्ठान के अभिप्राय से ही है। अर्थात् अङ्ग और अङ्गी का एक साथ अनुष्ठान किया जाता है, इस सामान्य नियम के ख्यापनार्थ है। श्रुति का उद्देश्य मोक्षाख्य फल के प्रति दोनों का (साधनत्वेन) तुल्यसमुच्चय बतलाना नहीं है, क्योंकि **'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा'** इत्याकारक श्रुत्यंश द्वारा ज्ञान के विप्लवभूत मिथ्याज्ञान की निवृत्तिरूप मृत्यु के निस्तारण द्वारा मोक्षप्रदायिनी विद्या के प्रति ही कर्म के उपयोग का ज्ञान कराया गया है। किञ्च **'न केवलेन...प्रदायकम्'** अर्थात् 'केवल योग से परम पद की प्राप्ति नहीं होती है, किन्तु केवल ज्ञान अच्छी प्रकार से मोक्ष दिलाने वाला होता है'– इत्याकारक वाक्यों द्वारा **'योग'** शब्द से कथित **'कर्म'** की अपेक्षा किये विना भी केवल **'ज्ञानयोग'** से मोक्ष-प्राप्ति कही गई है। और पूर्वजन्म में अनुष्ठित जडभरतादि के कर्मों का (मोक्ष के प्रति) अङ्गत्व (गौण साधनत्व)भी सिद्ध हो जाता है। इससे यह सिद्धान्तित होता है कि **'उभाभ्यामेव...परमं पदम्'** अर्थात् 'जिस प्रकार (समान रूप से) दोनों पक्षों (पंखों) के द्वारा ही पक्षियों का आकाश में ऊर्ध्वगमन (उड़ना) होता है उसी प्रकार योगी ज्ञान और कर्म दोनों से मोक्षरूप परम पद को प्राप्त

करता है'—इत्यादि वाक्य अङ्गाङ्गी के औत्सर्गिक सहानुष्ठानपरक ही हैं, न कि ज्ञान और कर्म का मोक्ष के प्रति समुच्चित साधनत्व है। अर्थात् समवेतरूप से ज्ञान और कर्म मोक्ष के साधक नहीं हैं, ऐसा सिद्ध होता है॥७॥

योगसूत्रम्

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य॥८॥

यह संयम (धारणादित्रय) भी निर्बीज समाधि के लिये 'बहिरङ्ग' है ॥८॥

व्यासभाष्यम्

तदप्यन्तरङ्गं साधनत्रयं निर्बीजस्य योगस्य बहिरङ्गं [1]भवति। कस्मात्? तदभावे भावादिति॥८॥

धारणादि तीन साधन सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तरङ्ग साधन होते हुए भी निर्बीज (विषयशून्य) असम्प्रज्ञात के बहिरंग साधन ही हैं। क्योंकि धारणादित्रय का अभाव हो जाने पर ही निर्बीज योग होता है॥८॥

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार विस्तृत अवतरणिका के साथ सूत्र की व्याख्या करते हैं—

तत्त्ववैशारदी

[2]साधनत्रयस्य संप्रज्ञात एवान्तरङ्गत्वं न त्वसंप्रज्ञाते, तस्य निर्बीजतया तैः सह समानविषयत्वाभावात्तेषु चिरनिरुद्धेषु संप्रज्ञातपरमकाष्ठापरनामज्ञानप्रसादरूपपरवैराग्यानन्तरमुत्पादाच्चेत्याह—तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य। समानविषयत्वमन्तरङ्गत्वप्रयोजकमिह, न तु तदनन्तरभावस्तस्य बहिरङ्गेश्वरप्रणिधानवर्तितया सव्यभिचारत्वादिति स्थिते सव्यभिचारमप्यन्तरङ्गलक्षणं तदनन्तरभावित्वमस्य नास्ति। तस्माद् दूरापेतान्तरङ्गता संयमस्यासंप्रज्ञात इति दर्शयितुं तदभावे भावादित्युक्तम्॥८॥

'**धारणादि**' साधनत्रय का '**सम्प्रज्ञात**' के प्रति ही अन्तरङ्गत्व है, न कि असम्प्रज्ञात के प्रति भी, क्योंकि असम्प्रज्ञात योग के '**निर्बीज**' अर्थात् निर्विषयक होने से धारणादि के साथ असम्प्रज्ञात में समानविषयत्व का अभाव है अर्थात् साधन में

---

1. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म य र—**भवति** उपलभ्यते, घ प फ—**भवति** नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त न—**साधनत्रयस्य संप्रज्ञात एवान्तरङ्गत्वं न त्वसंप्रज्ञाते, तस्य निर्बीजतया तैः सह समानविषयत्वाभावात्तेषु चिरनिरुद्धेषु संप्रज्ञातपरमकाष्ठापरनामज्ञानप्रसादरूपपरवैराग्यानन्तरमुत्पादाच्चेत्याह** ३/८ सूत्रस्य अवतरणिका, थ द ध—**साधनत्रयस्य...चेत्याह** ३/७ सूत्रस्य टीका।

साध्यसमानविषयत्व नहीं है। और धारणादि के निरुद्ध होने के बहुत समय पश्चात् सम्प्रज्ञात की पराकाष्ठा, जिसका अपर पर्याय ज्ञानप्रसादरूप परवैराग्य है, के अनन्तर असम्प्रज्ञात योग का उदय होता है। इन दो कारणों से सूत्रकार कहते हैं– '**तदिति**।' यहाँ पर '**समानविषयत्व**' को ही '**अन्तरङ्ग**' का प्रयोजन माना गया है। अर्थात् साधन की साध्यसमानविषयता को ही अर्थात् साध्य के समानविषयक साधन को ही '**अन्तरङ्ग**' कहा गया हैं, न कि आनन्तर्यभाव को। अर्थात् जिस अङ्ग के पश्चात् जो सिद्ध होता है, वह (पूर्ववर्ती साधन) उसका (पश्चाद्भावी साध्य का) साधन होता है–ऐसा अनन्तरत्व '**अन्तरङ्गत्व**' का प्रयोजक नहीं है। यदि अनन्तरत्व को अन्तरङ्ग का प्रयोजक माना जायेगा तो '**समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्**' सूत्र के अनुसार ईश्वरप्रणिधान के पश्चात् होने वाली समाधिसिद्धि का अन्तरङ्ग साधन ईश्वरप्रणिधान को कहना पड़ेगा। इस प्रकार बहिरङ्गान्तर्वर्ती ईश्वरप्रणिधान में '**अन्तरङ्गत्व**' की अतिव्याप्ति होगी। किञ्च इस प्रकार का व्यभिचारयुक्त 'अनन्तर-भावित्व' रूप 'अन्तरङ्गत्व' तो असम्प्रज्ञात के प्रति धारणादि में घटित भी नहीं होता है। इस प्रकार '**साध्यसमानविषयत्व**' और '**अनन्तरभावित्व**' रूप दोनों प्रकार का साधनगत अन्तरङ्गत्व धारणादि (संयम) में, असम्प्रज्ञात साध्य के प्रति, सर्वथा अनुपपन्न है अर्थात् असम्भव है–ऐसा प्रदर्शित करने के लिये भाष्यकार कहते हैं– '**तदभावे भावादिति**'। अर्थात् धारणादि साधनत्रय का अभाव होने पर भी असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है। अतः धारणादि साधनत्रय असम्प्रज्ञात समाधि का अन्तरंग साधन नहीं हैं। असम्प्रज्ञात का अन्तरङ्ग साधन है–परवैराग्य ॥८॥

बालप्रिया–

'**तदभावे भावात्**'–इसका तात्पर्य यह है–ज्ञानप्रसादरूप परवैराग्य के द्वारा संयम का विलय (निरोध) हो जाने पर असम्प्रज्ञात की उत्पत्ति होती है अर्थात् '**निर्बीज योग**' निष्पन्न होता है। इस प्रकार जब धारणादि साधनत्रय 'असम्प्रज्ञात' समाधि के साधन ही नहीं हैं, तब उनमें 'अन्तरङ्गत्व' का निषेध करना हास्यास्पद है।

'**तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्**'–परवैराग्य के प्रतिपादक इस सूत्र में ज्ञान के सर्वोत्कृष्ट रूप 'प्रकृति-पुरुष-भेदज्ञान' के प्रति जागरित वैतृष्ण्यभाव चित्त को वृत्ति-मात्र के निरोध की ओर अभिमुख करता है। अतः '**निर्बीज**' (निर्वृत्तिक) असम्प्रज्ञात की निर्बीजता का सफल अभियान (प्रयास) '**परवैराग्य**' से प्रारम्भ होता है। अतः '**परवैराग्य**' को असम्प्रज्ञात का '**समानविषयत्व**' और '**अनन्तरत्व**' रूप अन्तरङ्ग साधन मानना युक्तिसंगत है॥८॥

योगवार्तिकम्

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य। निर्बीजयोगस्यासंप्रज्ञातस्य तदपि त्रयं बहिरङ्गमेव, विवेकख्यातिपरवैराग्यद्वारा परम्परया हेतुत्वेनावश्यकत्वाभावादित्यर्थः। एतदेवाह—तदभावे भावादिति। पूर्वोक्तविदेहप्रकृतिलयानां देवविशेषाणामौत्पत्तिकज्ञानवैराग्याणां संयमनैरपेक्ष्येणैव दैनंदिनप्रलयादावसम्प्रज्ञातोदयादित्यर्थः। तथा च स्मृतिः—

योगनिद्रां यदा विष्णुर्जगत्येकार्णवीकृते।
आस्तीर्य शेषमभजत् कल्पान्ते भगवान् प्रभुः॥ इति।

तदेतत्प्रागुक्तं भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानामिति सूत्रेणेति ॥८॥

सूत्र है—'**तदिति**।' '**निर्बीजयोग**' अर्थात् असम्प्रज्ञात योग के प्रति ये तीन धारणादि भी बहिरङ्ग साधन ही हैं, क्योंकि विवेकख्याति और परवैराग्य के द्वारा परम्परया धारणादित्रय असम्प्रज्ञात के प्रति हेतु (साधन) होने से उनमें साक्षात् साधनत्व का अभाव है अर्थात् धारणादि को असम्प्रज्ञात का अन्तरङ्ग साधन मानने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है। इसी तथ्य को भाष्यकार कहते हैं—'**तदभावे भावादिति**।' पूर्वोल्लिखित औत्पत्तिक (जन्मतः) ज्ञानवैराग्यसम्पन्न विदेह और प्रकृतिलय देवविशेषों को दैनन्दिन प्रलयादि में संयम-निरपेक्ष रह कर ही अर्थात् संयमानुष्ठान किये विना ही असम्प्रज्ञात योग प्राप्त होता है अर्थात् असम्प्रज्ञात योग का उदय होता है। ऐसा ही स्मृतिवाक्य है—'**योगनिद्रां...प्रभुः**' (मार्कण्डेय पु. ८१/४९) अर्थात् 'कल्प के अन्त में जब जगत् महासमुद्राकार (सदृश) हो गया, तब भगवान् विष्णु शेषनाग को शय्या बनाकर योगनिद्रा को प्राप्त हुए।' यह तथ्य '**भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्**' (१/१९) सूत्र द्वारा पीछे प्रतिपादित हो चुका है॥८॥

सम्प्रति, भाष्यकार अगले सूत्र की प्रश्नपरक अवतरणिका रचते हैं—

व्यासभाष्यम्

अथ निरोधचित्तक्षणेषु चलं गुणवृत्तमिति कीदृशस्तदा चित्तपरिणामः—

'गुण स्वभावतः चञ्चल हैं'—इस न्याय से चित्त के निरोधकाल में किस प्रकार का चित्त-परिणाम होता है? (तदर्थ सूत्र है)—

योगसूत्रम्

व्युत्थाननिरोध[1]संस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोध[2]क्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥९॥

---

1. **संकरयोः**—इति पाठान्तरम्
2. **लक्षणचिरान्वयः**—इति पाठान्तरम्।

व्युत्थानसंस्कार का दमन और निरोधसंस्कार का प्रकटीकरण यह निरोधकालिक चित्त से सम्बन्धित 'निरोधपरिणाम' (कहा जाता) है ॥९॥

व्यासभाष्यम्

[1]**व्युत्थानसंस्काराश्चित्तधर्मा न ते प्रत्ययात्मका इति प्रत्ययनिरोधे न निरुद्धाः। निरोधसंस्कारा अपि चित्तधर्माः। तयोरभिभवप्रादुर्भावौ। व्युत्थान[2]संस्कारा हीयन्ते, निरोधसंस्कारा आधीयन्ते। निरोधक्षणं चित्तमन्वेति। तदेकस्य चित्तस्य प्रतिक्षणमिदं संस्कारान्यथात्वं निरोधपरिणामः। तदा संस्कारशेषं चित्तमिति निरोधसमाधौ व्याख्यातम्॥९॥**

(व्युत्थानकालिक चित्त के तात्कालिक) व्युत्थानात्मक संस्कार चित्त के धर्म हैं अर्थात् चित्तनिष्ठ हैं किन्तु ये ज्ञानरूप नहीं हैं—इसलिये वृत्ति (प्रत्यय) के निरुद्ध होने पर भी व्युत्थानकालिक संस्कार निरुद्ध नहीं होते हैं। (व्युत्थानसंस्कार की भाँति) निरोधसंस्कार भी चित्त के धर्म हैं अर्थात् चित्ताश्रित हैं। इन दोनों प्रकार के संस्कारों का (क्रमशः) अभिभव और प्रादुर्भाव होता है, अर्थात् व्युत्थानसंस्कार धूमिल पड़ते जाते हैं और निरोधसंस्कार स्फुट होते जाते हैं। इस प्रकार चित्त निरोधकाल (निरुद्धभूमि, निरोधावस्था) से अन्वित (संयुक्त) होता है। अतः एक चित्त के संस्कार का प्रतिक्षण होने वाला अन्यथाभाव ही 'निरोधपरिणाम' कहा जाता है। निरोधपरिणाम के समय चित्त संस्कारशेषरूप से ही अवस्थित रहता है—ऐसा निरोधसमाधि के प्रकरण में पीछे बतलाया जा चुका है॥९॥

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार सूत्र को अवतरित करने के लिये वैयासिकी अवतरणिका को प्रस्तुत करते हैं—

तत्त्ववैशारदी

परिणामत्रयसंयमाद् इत्यत्रोपयोक्ष्यमाणपरिणामत्रयं प्रतिपिपादयिषुर्निर्बीजप्रसङ्गेन पृच्छति—अथेति। व्युत्थानसंप्रज्ञातयोश्चित्तस्य स्फुटतरपरिणामभेदप्रचयानुभवान्न प्रश्नावतारः। निरोधे तु नानुभूयते परिणामः, न चाननुभूयमानो नास्ति, चित्तस्य त्रिगुणतया चलत्वेन

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**व्युत्थानसंस्काराश्चित्तधर्मा न ते प्रत्ययात्मका इति प्रत्ययनिरोधे न निरुद्धाः। निरोधसंस्कारा अपि चित्तधर्माः**, ब—**व्युत्थानसंस्कारः चित्तधर्मो न स प्रत्ययात्मक इति प्रत्ययनिरोधे न निरुद्धः। निरोधसंस्कारोऽपि चित्तधर्मः।**
2. छ—**चित्तधर्माः** (संस्काराः—पश्चात्) उपलभ्यते, क ख ग घ च ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—**चित्तधर्माः** नोपलभ्यते।

गुणानां क्षणमप्यपरिणामस्यासंभवादित्यर्थः। प्रश्नोत्तरं सूत्रम्—व्युत्थाननिरोधसंस्कार-योरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः।

शङ्का—'परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्' (३/१६) इस आगामी सूत्र में बतलाये जाने वाले 'परिणामत्रय' के प्रतिपादन की इच्छा से भाष्यकार निर्बीज समाधि की प्रासंगिकता के विषय में प्रश्न करते हैं—'**अथेति**।' चित्त की व्युत्थानावस्था और सम्प्रज्ञातावस्था में तो उसका परिणामभेद अत्यन्त स्फुट है। अतः इन दोनों अवस्थाओं में होने वाले चित्तपरिणाम के विषय में सन्देहावकाश ही नहीं है। किन्तु चित्त की निरुद्धभूमि (निरोधावस्था) में होने वाले परिणाम की अनुभूति नहीं हो पाती है। किन्तु इससे तात्कालिक-चित्त में परिणामाभाव नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि चित्त के त्रिगुणात्मक होने से और गुणों के परिणामशील होने से चित्त में क्षण भर के लिये भी अपरिणाम की स्थिति संभव नहीं है—इस दृष्टि से भाष्यकार पूछते हैं कि गुणवृत्त के चलायमान होने से निरोधकालिक चित्त के परिणाम का स्वरूप क्या है?

समाधान—उक्त प्रश्न का उत्तरपरक सूत्र है—'**व्युत्थानेति**।'

तत्त्ववैशारदी

असंप्रज्ञातं समाधिमपेक्ष्य संप्रज्ञातो व्युत्थानम्। निरुध्यतेऽनेनेति निरोधो ज्ञानप्रसादः परं वैराग्यम्। तयोर्व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ। [1]तत्र व्युत्थानसंस्कारस्याभिभवो निरोधसंस्कारस्याविर्भावश्चित्तस्य धर्मिणो निरोध[2]क्षणस्य निरोधावसरस्य द्वयोरवस्थ-योरन्वयः। न हि चित्तं धर्मि संप्रज्ञातावस्थायामसंप्रज्ञातावस्थायां च संस्काराभिभव-प्रादुर्भावयोः स्वरूपेण भिद्यत इति।

सूत्रगत '**व्युत्थान**' और '**निरोध**' शब्द के प्रासंगिक अर्थ को उद्घाटित करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं कि असम्प्रज्ञात समाधि की तुलना में सम्प्रज्ञात समाधि व्युत्थानरूप है। अतः सूत्र में प्रयुक्त '**व्युत्थान**' शब्द का अर्थ है—सम्प्रज्ञात। '**निरुध्यतेऽनेनेति निरोधः**'—इस व्युत्पत्ति के अनुसार '**निरोध**' शब्द का अर्थ ज्ञानप्रसाद-रूप परवैराग्य है। शब्दान्तर में '**निरोध**' शब्द का अर्थ है—असम्प्रज्ञात। इन दो प्रकार के संस्कारों में व्युत्थानसंस्कार का अभिभव तथा निरोधसंस्कार का प्रादुर्भाव होता है। '**निरोधक्षण**' अर्थात् निरोधकालिक चित्त-धर्मी व्युत्थानसंस्कार का अभिभवरूप और निरोधसंस्कार का प्रादुर्भावरूप वाली दोनों अवस्थाओं से अन्वित रहता है। चित्त-धर्मी सम्प्रज्ञातावस्था और असम्प्रज्ञातावस्था में व्युत्थानात्मक और

---

1. क ख घ च छ ज झ त न—**तत्र** उपलभ्यते, ग थ द ध—**तत्र** नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज त द न—**क्षणस्य**, झ थ ध—**लक्षणस्य**।

निरोधात्मक संस्काररूप धर्म के अभिभव और प्रादुर्भाव से स्वरूपतः (धर्मित्वेन) भिन्न नहीं हो जाता है।

बालप्रिया–

'**निरोधः ज्ञानप्रसादः परवैराग्यम्**'–भाव यह है–सूत्र में '**निरोध**' शब्द से असम्प्रज्ञात का ही ग्रहण होता है, न कि सम्प्रज्ञात का भी। क्योंकि '**निर्बीज**' समाधि के प्रकरण में ही भाष्यकार द्वारा '**कीदृशः चित्तपरिणामः**' इत्याकारक प्रश्न किया गया है। यह प्रश्न सम्प्रज्ञातसमाधिकालिक चित्त के परिणाम का स्वरूप जानने के विषय में संभव भी नहीं है, क्योंकि '**ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा**' सूत्र द्वारा सम्प्रज्ञात में स्पष्टतया होने वाले परिणाम का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। इसी अभिप्राय से तत्त्ववैशारदीकार ने '**निरोध**' शब्द का अर्थ ज्ञानप्रसादरूप परवैराग्य किया है।

'**न हि...स्वरूपेण भिद्यत इति**'–भाव यह है–धर्म के अन्यथात्व से धर्मी का अन्यथात्व नहीं होता है। जैसे कटक, कुण्डल, केयूरादिरूप धर्मान्यथात्व से सुवर्ण-धर्मी का अन्यथात्व अर्थात् भेद नहीं होता है। अर्थात् सुवर्ण की सुवर्णता (धर्मी की धर्मिता) बनी रहती है। इसी प्रकार चित्त-धर्मी के व्युत्थानात्मक और निरोधात्मक संस्काररूप धर्मों के उतार-चढ़ाव से चित्त का भी अन्यथात्व अर्थात् भेद नहीं होता है। अर्थात् चित्त-धर्मी की धर्मिता अक्षुण्ण रहती है। अतः चित्त-धर्मी को दोनों अवस्थाओं से अन्वित बतलाया गया है।

'**कीदृशः परिणामः**'– '**चित्तवृत्ति**' की तुलना में तज्जन्य '**संस्कार**' के अपरिदृष्ट होने से वृत्तिशून्य निरोधावस्था में चित्त के परिणाम का स्वरूप जानने के विषय में जिज्ञासा होना सहज है, क्योंकि तात्कालिक निर्वृत्तिक चित्त परिणामरहित प्रतीत होता है।

सूत्र की व्याख्या के पश्चात् तत्त्ववैशारदीकार शंका के साथ भाष्य को उठाते हैं–

तत्त्ववैशारदी

ननु यथोत्तरे क्लेशा अविद्यामूला अविद्यानिवृत्तौ निवर्तन्त [1]इति न तन्निवृत्तौ पृथक्प्रयत्नान्तरमास्थीयते, एवं व्युत्थानप्रत्ययमूलाः संस्कारा व्युत्थाननिवृत्तावेव निवर्तन्त इति तन्निवृत्तौ न निरोधसंस्कारोऽपेक्षितव्य इत्यत आह–व्युत्थानसंस्कारा इति। न कारणमात्र-निवृत्तिः कार्यनिवृत्तिहेतुः। मा भूत्कुविन्दनिवृत्तावपि पटस्य निवृत्तिः। अपि तु यत्कारणात्मकं यत्कार्यं तत्कारणनिवृत्तौ तत्कार्यनिवृत्तिः। उत्तरे च क्लेशा अविद्यात्मान इत्युक्तम्।

1. क घ छ ज झ त–**न तु तन्निवृत्तौ**, च–**इति न तु तन्निवृत्तौ**, ख न–**इति न तन्निवृत्तौ**, थ द ध–**इति तन्निवृत्तौ न**, ग–किञ्चिदपि नोपलभ्यते।

अतस्तन्निवृत्तौ तेषां निवृत्तिरुपपन्ना। न त्वेवं [1]प्रत्ययात्मानः संस्काराः, चिरनिरुद्धे प्रत्यये संप्रति स्मरणदर्शनात्। तस्मात्प्रत्ययनिवृत्तावपि तन्निवृत्तौ निरोधसंस्कारप्रचय एवोपासनीय इत्यर्थः। सुगममन्यत्॥९॥

शङ्का—जिस प्रकार अविद्यामूलक रागादि क्लेश अविद्या के निवृत्त होने से ही निवृत्त हो जाते हैं। रागादि क्लेशों की निवृत्ति के लिये अविद्या-निवृत्ति से अतिरिक्त अन्य साधन अर्थात् प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रहती है। उसी प्रकार प्रकृत में व्युत्थान- वृत्तिमूलक व्युत्थानसंस्कार भी व्युत्थानवृत्ति के निरुद्ध होने पर ही स्वतः निवृत्त हो जाते हैं। अतः व्युत्थानसंस्कारों के निरोध के लिये तथाकथित निरोधसंस्कारों की अपेक्षा नहीं होनी चाहिये?

समाधान—इस पर भाष्यकार कहते हैं—'**व्युत्थानसंस्कारा इति**' कारणमात्र की निवृत्ति, कार्य-निवृत्ति का हेतु नहीं है। जैसे कुविन्द अर्थात् तन्तुवाय की निवृत्ति होने पर भी पट की निवृत्ति नहीं होती है। अपितु जिस कारणात्मक वाला जो कार्य होता है, उस कारण के निवृत्त होने पर तदात्मक कार्य भी निवृत्त हो जाता है। अविद्या के पश्चाद्वर्ती रागादि क्लेश अविद्यात्मक अर्थात् अविद्यामूलक हैं—यह पूर्वकथित है। अतः अविद्या के नितृत्त होने पर तन्मूलक रागादि क्लेशों की निवृत्ति औचित्यपूर्ण है। किन्तु ज्ञानात्मक संस्कार ऐसे नहीं होते हैं। ज्ञानात्मक वृत्ति के दीर्घकाल से निरुद्ध रहने पर भी वर्तमानकाल में स्मृतिज्ञान देखा जाता है। इसलिये व्युत्थान-प्रत्यय की निवृत्ति हो जाने पर भी व्युत्थान-संस्कारों की निवृत्ति (क्षय, अभिभव) के लिये निरोधसंस्कारपुञ्ज ही आराधनीय (प्राप्तव्य) रहता है। आगे का भाष्य सरल है॥९॥

बालप्रिया—

'**न कारणमात्रनिवृत्तिः कार्यनिवृत्तिहेतुः**'—इसका स्पष्टीकरण यह है—कारण दो प्रकार का होता है—उपादानकारण और निमित्तकारण। उपादान अथवा निमित्त इन दोनों में से किसी भी कारण की निवृत्ति से कार्य की निवृत्ति नहीं होती है। अपितु उपादानकारण की निवृत्ति से ही कार्य की निवृत्ति होती है। ऐसा क्यों? उत्तर है कि कार्य उपादानकारणात्मक होता है, न कि निमित्तकारणात्मक। कार्य के निमित्त-कारणात्मक न होने से ही कार्य की निवृत्ति के प्रति निमित्तकारण की निवृत्ति प्रयोजक नहीं है। उदाहरणार्थ तन्तु पट का उपादानकारण है और तन्तुवाय पट का निमित्तकारण है। पट कार्य तन्त्वात्मक है, न कि तन्तुवायात्मक। अतः पट की

1. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न—**प्रत्ययात्मानः**, ज—**प्रत्ययात्मनः**।

निवृत्ति में तन्तु की निवृत्ति प्रयोजक है, न कि तन्तुवाय की। इससे यह नियम बनता है कि कारणमात्र की निवृत्ति कार्यनिवृत्ति का हेतु नहीं होता है।

'उत्तरे च क्लेशा अविद्यात्मानः'– अविद्याक्षेत्र में अंकुरित होने वाले अस्मितादि क्लेश अविद्यात्मक हैं। अस्मितादि का उपादानकारण अविद्या है। अतः अस्मितादि अविद्यात्मक हैं। ऐसी स्थिति में उपादानकारणभूता अविद्या के निवृत्त होने पर उत्तरवर्ती रागादि की निवृत्ति न्यायसंगत है।

'न त्वेवं प्रत्ययात्मानः संस्काराः'–**'अविद्या'** की निवृत्ति से होने वाली **'रागादि'** की निवृत्ति के दृष्टान्त को **'वृत्ति'** की निवृत्ति से **'संस्कार'** की निवृत्ति के स्थल में समायोजित नहीं किया जा सकता है। क्योंकि ज्ञानरूप वृत्ति, संस्कार का **'उपादान-कारण'** नहीं, अपितु **'निमित्तकारण'** होती है। चित्त संस्कार का उपादानकारण है। अतः संस्कार चित्तात्मक हैं, वे ज्ञानात्मक नहीं हैं। अतः संस्कार के प्रत्ययात्मक न होने से ज्ञान की निवृत्ति संस्कार की निवृत्ति का प्रयोजक नहीं है। अन्यथा प्रत्यय के निरुद्ध हो जाने पर स्मृतिदर्शन उपपन्न न हो सकेगा।

इस प्रकार व्युत्थानसंस्कार के निरोध की समस्या तद्वत् है। तथाकथित समस्या का निदान है–

'तन्निवृत्तौ निरोधसंस्कारप्रचय एवोपासनीयः'–**'प्रत्यय'** के निवृत्त हो जाने पर भी व्युत्थानसंस्कार की निवृत्ति के लिये निरोधसंस्कारपुञ्ज ही अपेक्षणीय है। इस प्रकार प्रयत्ननिरपेक्ष रागादि-निवृत्ति में अविद्या-निवृत्ति की भाँति व्युत्थानसंस्कार की निवृत्ति में प्रत्यय-निवृत्ति कारण नहीं है, अपितु निरोधसंस्कार ही कारण है, ऐसा सिद्ध होता है॥९॥

योगवार्त्तिकम्

ज्ञानोपायप्रसङ्गेन योगाङ्गानि विस्तरतः प्रोक्तानि। इदानीमङ्गभूतस्य समाधेरङ्गिनोश्च योगयोः स्वरूपभेदावधारणाय तत्तदवस्थागता विशेषा वक्तव्याः, तावतैव तयोरङ्गाङ्गिनोः प्रयोजनमपि प्रतिपादितं भविष्यति। तत्राङ्गसमाधिनो योगद्वयस्य विशेषावधारकसूत्रमुत्थापयति प्रश्नमुखेन–अथेति। निरोधचित्तक्षणेषु निरोधावस्थचित्तक्षणेषु [1]योगद्वयक्षणेष्विति यावत्। गुणव्यापारस्यास्थिरत्वात् त्रिगुणात्मकस्य चित्तस्य निरोधक्षणेष्वपि परिणामधाराऽऽवश्यकी, स च परिणामः कीदृश इति प्रश्नः– व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोध-क्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः।

ज्ञान के साधन का विवेचन करते समय योगाङ्गों का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया जा चुका है। सम्प्रति, अङ्गिरूप सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात योगों से अङ्गरूप

1. क ख ग घ च–**योगद्वयक्षणेषु** उपलभ्यते, छ–**योगद्वयक्षणेषु** नोपलभ्यते।

समाधि का स्वरूपतः अन्तर (भेद) सुनिश्चित करने के लिये समाधि आदि तत्तद् अवस्थाओं से संबंधित वैशिष्ट्य को प्रतिपादित किया जाना है। इससे उन दोनों '**अङ्ग**' और '**अङ्गी**' समाधियों का प्रयोजन भी उपपादित हो जायेगा। सम्प्रति, भाष्यकार अङ्गभूत समाधि से सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात योगद्वय के भेदप्रतिपादक सूत्र को प्रश्नात्मक शैली (प्रश्नमुख) से उठाते हैं–'**अथेति**।' यहाँ '**निरोधचित्तक्षणेषु**' पद का अर्थ है–निरोधावस्थ चित्तक्षणों में अर्थात् योगद्वयक्षणान्वित चित्त में। अर्थात् जिस काल में चित्त सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात योग को प्राप्त कर चुकता है, उस समय में भी। गुणपरिणाम के अस्थिर होने से अर्थात् गुणों के परिणामशील होने से निरोधक्षणों में भी त्रिगुणात्मक चित्त की परिणामधारा का प्रवाहित होना अवश्यं-भावी है। अतः प्रश्न है कि निरुद्धभूमिक चित्त के परिणाम का स्वरूप क्या है? सूत्र से उत्तर दिया जा रहा है–'**व्युत्थानेति**।'

योगवार्त्तिकम्

असम्प्रज्ञातापेक्षया सम्प्रज्ञातोऽपि व्युत्थानम्। तथा च व्युत्थानं निरोधश्च योगद्वय-साधारण एवात्र ग्राह्यः, केवलस्यासम्प्रज्ञातरूपस्य निरोधस्यात्र ग्रहणे सम्प्रज्ञाताख्यनिरोधस्य परिणामाकथनान्न्यूनताऽपत्तेः। व्युत्थानसंस्काराभिभवश्च क्रमेण ह्रासो [1]न तु दाहः, निरोध-संस्कारप्रादुर्भावश्च क्रमेण वृद्धिः तौ निरोधपरिणामौ निरोधकालीनपरिणामः, स च निरोधक्षणचित्तान्वयः प्रत्येकं निरोधक्षणेषु एकस्मिन् स्थिरे चित्तेऽन्वित इत्यर्थः। एतच्च विशेषणं योगकाले प्रतिक्षणमेतादृशपरिणामलाभाय चित्तस्थैर्यलाभाय चोक्तम्। अत्र निरोध-काले जायमानः संस्कार एव निरोधसंस्कार इत्युक्तः, तेन सम्प्रज्ञातरूपनिरोधस्य संस्काराजन-कत्वेऽपि तत्कालीनप्रज्ञाजन्यसंस्कारस्यैव निरोधसंस्कारत्वमुपपन्नमिति। [2]चित्तैकधर्मिणो धर्मपरिणामोऽयमिति प्रतिपादनाय भाष्यकार आह–व्युत्थानसंस्काराश्चित्तधर्मा इति। ननु वृत्तिनिरोधेनैव तत्कार्यतया तत्संस्काराणामपि निरोधो भवतु तन्तुनिरोधेन पटनिरोधवत्, अतो न पृथग् व्युत्थानसंस्काराभिभवापेक्षेत्याशङ्कां समाधत्ते–न ते प्रत्ययात्मका इति। न प्रत्ययोपादानकाः, अतो न व्युत्थानसंस्काराः प्रत्ययनिरोधेऽपि निरुद्धा भवन्तीत्यर्थः, निमित्त-कारणत्वादेव प्रत्ययस्येति भावः। तस्मात्प्रत्ययनिवृत्तावपि तत्संस्कारनिवृत्तिकारणं पृथगेवा-पेक्ष्यत इति। शेषं भाष्यं सूत्रव्याख्ययैव व्याख्यातप्रायम्॥९॥

असम्प्रज्ञात योग की तुलना में सम्प्रज्ञात योग भी व्युत्थानरूप है। अतः प्रकृत सूत्र में व्युत्थानरूप '**सम्प्रज्ञात**' और निरोधरूप '**असम्प्रज्ञात**' योगद्वय का ही सामान्यरूप से ग्रहण होता है, क्योंकि प्रकृत सूत्र द्वारा यदि असम्प्रज्ञातरूप निरोध का ही ग्रहण

---

1. क ग घ च छ–न तु उपलभ्यते, ख–न तु नोपलभ्यते।
2. क ग घ च छ–**चित्तैकधर्मिणो धर्मपरिणामोऽयमिति प्रतिपादनाय**, ख–**चित्तधर्मिणोऽवस्था-परिणामोऽयमिति वक्ष्यमाणस्योपपादनाय।**

किया जाय तो सम्प्रज्ञातसंज्ञक निरोध के परिणाम का स्वरूप अप्रतिपादित रहने की न्यूनता प्रसक्त होगी। अर्थात् योगभूमिक चित्त की परिणाम-चर्चा अपूर्ण मानी जायेगी। इसमें व्युत्थानात्मक संस्कार का '**अभिभव**' अर्थात् क्रमशः ह्रास होता है, न कि नाश और निरोधात्मक संस्कार का '**प्रादुर्भाव**' अर्थात् क्रमशः वृद्धि होती है। यह दोनों प्रकार का '**निरोधपरिणाम**' निरोधकालिक चित्त का परिणाम कहा जाता है। और यह निरोधकालीन परिणाम '**निरोधक्षणचित्तान्वय**' होता है अर्थात् निरोध-क्षणात्मक परिणाम एक स्थिर चित्त से अन्वित (युक्त) रहता है। '**निरोधपरिणामः**' का विशेषणभूत '**निरोधक्षणचित्तान्वयः**' यह पद इसलिये प्रयुक्त हुआ है, जिससे योग-काल में चित्त के प्रतिक्षण होने वाले परिणाम की उपपत्ति तथा चित्त का स्थैर्य सिद्ध हो सके। यहाँ निरोधकाल में उत्पन्न होने वाले संस्कार को ही '**निरोधसंस्कार**' कहा गया है। इससे सम्प्रज्ञातरूप निरोध में संस्कारजनकता न होने पर भी उस समय के प्रज्ञाजन्य संस्कार में ही निरोधसंस्कारत्व उपपन्न होता है। यह '**निरोध-परिणाम**' चित्त-धर्मी का '**धर्मपरिणाम**' है, ऐसा बतलाने के लिये भाष्यकार कहते हैं— '**व्युत्थानसंस्काराश्चित्तधर्मा इति।**'

शङ्का—वृत्ति के निरोध से ही उसके कार्यभूत संस्कार का भी निरोध उसी प्रकार माना जाय जिस प्रकार (कारणभूत) तन्तु के नाश से (उसके कार्यभूत) पट का नाश माना जाता है। अतः (व्युत्थानात्मक वृत्ति का निरोध हो जाने पर) व्युत्थानात्मक संस्कार के निरोधार्थ पृथक् उपाय की अपेक्षा नहीं रह जाती है?

समाधान—उक्त शंका का समाधान भाष्यकार करते हैं—'**न ते प्रत्ययात्मका इति।**' व्युत्थानसंस्कार प्रत्ययोपादानक नहीं है अर्थात् '**प्रत्यय**' (ज्ञान) व्युत्थानसंस्कार का '**उपादानकारण**' नहीं है। अतः '**प्रत्यय**' के निरुद्ध होने पर भी '**व्युत्थान संस्कार**' का निरोध नहीं होता है, क्योंकि प्रत्यय तो व्युत्थानसंस्कार का निमित्तकारण होता है। अतः प्रत्यय (चित्तवृत्ति) के निवृत्त होने पर भी व्युत्थानसंस्कार की निवृत्ति के लिये साधन की अपेक्षा रहती है। शेष भाष्य सूत्र की व्याख्या से ही व्याख्यातप्राय हो जाता है॥९॥

योगसूत्रम्

तस्य [1]प्रशान्तवाहिता संस्कारात्॥१०॥

उस निरोध अवस्था वाले चित्त की निरोधसंस्कार (के अभ्यास) से बाधाशून्य स्थिरता होती है॥१०॥

1. शान्त०—इति पाठान्तरम्।

व्यासभाष्यम्

[1]निरोधसंस्कारात् निरोधसंस्कारा[2]भ्यासपाटवापेक्षा प्रशान्तवाहिता चित्तस्य भवति। [3]तत्संस्कारमान्द्ये व्युत्थानधर्मिणा संस्कारेण निरोधधर्मः संस्कारोऽ[4]भिभूयत इति॥१०॥

निरोध-संस्कारों के कारण निरोध-संस्कारों के अभ्यास की पटुता की अपेक्षा रखने वाले चित्त की प्रशान्तवाहिता होती है। उन निरोध-संस्कारों के मन्द पड़ जाने पर व्युत्थानजन्य संस्कारों से निरोधात्मक संस्कार अभिभूत हो जाते हैं॥१०॥

तत्त्ववैशारदीकार अगले सूत्र को प्रश्नपरक अवतरणिका के साथ उपस्थित करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

सर्वथा व्युत्थानसंस्काराभिभवे तु बलवता निरोधसंस्कारेण [5]चित्तस्य कीदृशः परिणाम इत्यत आह–तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्। व्युत्थानसंस्कारमलरहितनिरोध[6]संस्कार-परम्परामात्रवाहिता प्रशान्तवाहिता। कस्मात्पुनः संस्कारपाटवमपेक्षते न तु संस्कारमात्रमित्यत आह–तत्संस्कारमान्द्य इति। तदिति निरोधं परामृशति। **ये तु नाभिभूयत इति पठन्ति ते तदा व्युत्थानं परामृशन्ति॥१०॥**

शङ्का–बलवान् '**निरोध**' संस्कार (के अभ्यास) से '**व्युत्थान**' संस्कार के सर्वथा अभिभूत हो जाने पर किस प्रकार का '**चित्तपरिणाम**' होता है?

समाधान–उक्त निहित शंका के निवारणार्थ सूत्रकार कहते हैं–'**तस्येति**।' तत्त्ववैशारदीकार सूत्रगत '**प्रशान्तवाहिता**' पद का अर्थ बतलाते हैं– व्युत्थानसंस्काररूप मल से रहित निरोधसंस्कारपुञ्ज की निरवच्छिन्न प्रवहणशीलता को '**प्रशान्तवाहिता**' कहते हैं।

शङ्का–योगी को क्यों (प्रकृष्टरूप से शान्त बने रहने के लिये) निरोधसंस्कार की पटुता ही अपेक्षित है, संस्कारसामान्य की अपेक्षा क्यों नहीं रहती है?

---

1. क ख ग घ प फ भ म य र–**निरोधसंस्कारात्** उपलभ्यते, च छ ज झ त थ द ध न ब–**निरोधसंस्कारात्** नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–**अभ्यास०** उपलभ्यते, ब–अभ्यास० नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–**तत्संस्कारमान्द्ये**, ब–**तं संस्कारमारभ्य यावत्।**
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–**अभिभूयते**, ब–**नाभिभूयते**।
5. क घ च छ ज झ त न–**चित्तस्य** उपलभ्यते, ख ग थ द ध–**चित्तस्य** नोपलभ्यते।
6. क ख घ च छ ज झ त न–**संस्कार०** उपलभ्यते, ग थ द ध–**संस्कार०** नोपलभ्यते।

समाधान—इस पर भाष्यकार कहते हैं—'**तत्संस्कारमान्द्य इति।**' भाष्य में '**तत्**' पद से '**निरोध**' का परामर्श (ज्ञान अथवा ग्रहण) होता है। ऐसी स्थिति में भाष्यार्थ इस प्रकार होगा—अभ्यास की मन्दता से निरोधसंस्कार की मन्दता होने पर अनादिकाल से निष्पादित व्युत्थानावस्था के प्रबल संस्कारों द्वारा निरोधावस्था के दुर्बल संस्कार तिरस्कृत (नष्ट) हो जाते हैं। अतः इस अवस्था में भी निरोधसंस्कार की पटुता के लिये योगी को प्रबल अभ्यास करते रहना चाहिये। भाष्य में कहीं-कहीं '**अभिभूयते**' के स्थान पर "**नाभिभूयते**' ऐसा पाठभेद मिलता है। तब '**तत्**' शब्द का '**व्युत्थान**' अर्थ किया जाता है। इस स्थिति में भाष्य का अर्थ यह होगा—'**व्युत्थान**' संस्कार के मन्द पड़ जाने पर व्युत्थानधर्मक संस्कार से '**निरोध**' अवस्था के प्रबल संस्कार अभिभूत नहीं होते हैं॥१०॥

बालप्रिया—

'**कस्मात्पुनः संस्कारपाटवमपेक्षते**'—तत्त्ववैशारदीकार द्वारा उठाई गई यह शंका तभी संभव है, जब '**अभिभूयते**' पाठ किया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि तत्त्ववैशारदीकार को '**अभिभूयते**' पाठ ही प्रिय रहा। उनकी दृष्टि में '**नाभिभूयते**' का संकेत तो पाठभेद का संग्रहमात्र प्रतीत होता है॥१०॥

योगवार्त्तिकम्

[1]ननु किमर्थं [2]निरोधसंस्काराः कल्प्यन्त इत्याकाङ्क्षायां निरोधसंस्कारप्रमाणमाह—तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्। तस्य निरोधावस्थचित्तस्य प्रशान्तवाहिता निश्चलनिरोध-धारया वहनं निरोधसंस्कारबलादेव भवतीत्यर्थः। अतो निरोधसंस्कारस्तत्प्रादुर्भावश्चावश्य-मेष्टव्य इति भावः। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां कार्यकारणभावं प्रतिपादयति—निरोधेत्यादि। भाष्यं सुगमम्॥१०॥

शङ्का—निरोधसंस्कारों की कल्पना क्यों की जाती है?

समाधान—ऐसी आकांक्षा होने पर सूत्रकार निरोधसंस्कार को प्रमाणित करते हैं—'**तस्येति।**' '**तस्य**' = निरोधावस्थ चित्त की '**प्रशान्तवाहिता**' = निश्चल (स्थिर) निरोध-धारा के रूप से प्रवाहमयगति निरोध-संस्कार के सामर्थ्य (पाटव) से होती है। अतः चित्तनिष्ठ निरोधसंस्कार और उसका प्रादुर्भाव अवश्यंभाविरूप से मानने (अनुमान करने) योग्य है। भाष्यकार अन्वय-व्यतिरेक से निरोधसंस्कार और उसके प्रशान्त-

---

1. क ग घ च छ—ननु **किमर्थं निरोधसंस्काराः...निरोधस्त्रिलक्षण इति** उपलभ्यते, ख—**ननु... त्रिलक्षण इति** नोपलभ्यते।
2. क ग घ—**निरोधसंस्कारः कल्प्यते**, च छ—**निरोधसंस्काराः कल्प्यन्ते।**

वाहित्वरूप में कार्यकारणभाव को उपपादित करते हैं—'**विरोधेत्यादि**।' भाष्य सरल है॥१०॥

योगसूत्रम्

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य [1]समाधिपरिणामः॥११॥

चित्त की सर्वार्थता और एकाग्रता का (क्रमशः) तिरोभाव और आविर्भाव होना (चित्त का) 'समाधिपरिणाम' है॥११॥

व्यासभाष्यम्

सर्वार्थता चित्तधर्मः। एकाग्रता[2]पि चित्तधर्मः। सर्वार्थतायाः क्षयस्तिरोभाव इत्यर्थः। एकाग्रताया उदय आविर्भाव इत्यर्थः। तयोर्धर्मित्वेनानुगतं चित्तम्। तदिदं चित्तमपायो[3]पजनयोः स्वात्मभूतयोर्धर्मयोर[4]नुगतं समाधीयते स चित्तस्य समाधि[5]परिणामः॥११॥

सर्वार्थता (सर्वविषयग्राहिता अथवा विक्षिप्तता) चित्त का धर्म है। इसी प्रकार एकाग्रता (ध्येयमात्रग्राहिता) भी चित्त का धर्म है। इनमें से सर्वार्थता का क्षय अर्थात् तिरोभाव होता है और एकाग्रता का उदय अर्थात् आविर्भाव होता है। चित्त धर्मिरूप से इन दोनों अवस्थाओं से संयुक्त (सम्बद्ध) रहता है। यह जो चित्त अपने कार्यभूत सर्वार्थता और एकाग्रतारूप धर्मों से अन्वित रहता हुआ समाहित होता है, वही चित्त का 'समाधिपरिणाम' कहा जाता है॥११॥

चित्त की निरोधावस्था में होने वाले परिणाम के स्वरूपप्रतिपादन के उपरान्त तत्त्ववैशारदीकार चित्त की एकाग्रावस्था के परिणाम की व्याख्या करते हैं—

तत्त्ववैशारदी

सम्प्रज्ञातसमाधिपरिणामावस्थां चित्तस्य दर्शयति—सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः। विक्षिप्तता सर्वार्थता। [6]सन्न विनश्यतीति क्षयस्तिरोभावः।

---

1. **समाधिः**—इति पाठान्तरम्।
2. **क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म य—अपि** उपलभ्यते, घ प फ र—**अपि** नोपलभ्यते।
3. **क ख ग च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म** र—**उपजनयोः**, घ य—**उपजननयोः**।
4. **क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य** र—**अनुगतं**, ब—**अनुगमात्**।
5. **छ थ—धर्ममेवोपमं भवति (परिणामः—**पश्चात्) उपलभ्यते, **क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—धर्म...भवति** नोपलभ्यते।
6. **क छ त—सा न, ख ग घ च ज थ द ध न—सन्न, झ—स नः**।

नासदुत्पद्यत इत्युदय आविर्भावः। [1]आत्मभूतयोः सर्वार्थतै[2]काग्रतयोर्धर्मयोर्यावपायोपजनौ सर्वार्थताया अपाय एकाग्रताया [3]उपजनस्तयोरनुगतं चित्तं समाधीयते पूर्वापरीभूतसाध्यमान-समाधिविशेषणं भवतीति॥११॥

चित्त की सम्प्रज्ञातसमाधिकालिक परिणामदशा को सूत्रकार प्रदर्शित करते हैं– **'सर्वार्थतेति।'** सूत्रगत **'सर्वार्थता'** पद का अर्थ है–**'विक्षिप्तता।' 'सत्'** पदार्थ का कभी आत्यन्तिक नाश नहीं होता है, इसलिये सूत्रगत **'क्षय'** शब्द का अर्थ है–**'तिरोभाव'।** **'असत्'** पदार्थ की कभी उत्पत्ति नहीं होती है, इस न्याय से **'उदय'** शब्द का अर्थ **'आविर्भाव'** है। चित्त-धर्मी के आत्मभूत अर्थात् स्वरूपभूत **'सर्वार्थता'** धर्म एवं **'एकाग्रता'** धर्म की जो ह्रास और वृद्धिरूप स्थिति है, उनमें सर्वार्थता के तिरोभाव और एकाग्रता के आविर्भाव से संयुक्त (सम्बद्ध) चित्त समाधियुक्त होता है। इस प्रकार प्रकृत में पूर्वापरीभूत **'सर्वार्थता'** एवं **'एकाग्रता'** साध्यभूत **'समाधि'** का विशेषण है। इस प्रकार सम्प्रज्ञातसमाधियुक्त चित्त-धर्मी का **'समाधिपरिणाम'** उस परिणाम को लक्षित करता है जिसमें चित्त के सर्वार्थतारूप तथा एकाग्रतारूप धर्मों की उथल-पुथल क्रमशः क्षय और वृद्धि के रूप में अनुभूत होती है॥११॥

योगवार्त्तिकम्

निरोधरूपयोगद्वयकार्यः परिणामो **व्याख्यातः, इदानीं तद्विलक्षणं योगाङ्गसमाधिकार्यं** परिणामं [4]दर्शयति–सर्वार्थतैकाग्रतयोः **क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः। सर्वार्थता** =विक्षिप्तता, एकाग्रता=एकमात्रविषयता, **तयोर्यथाक्रमं क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिकालीन-परिणाम इत्यर्थः। अत्रापि प्रतिक्षणमित्यनुषञ्जनीयं युक्तिसाम्यात्। तदेतद्व्याचष्टे–सर्वार्थतेति। सर्वार्थताया अत्यन्तोच्छेद एकदा न भवति, नापि एकाग्रताया निष्पत्तिरेकदा भवति, किं तु क्षणक्रमेणैवातः क्षयोदयौ तिरोभावाविर्भावार्थकतया व्याचष्टे–क्षय इत्यादिना तिरोभाव इत्यर्थ इत्यन्तेन। अत्र तिरोभावाविर्भावौ ह्रासवृद्धी। ननु सर्वार्थतैकाग्रतयोर्धर्मौ कथं चित्तस्येत्युच्येते? तत्राह–तयोर्धर्मित्वेनानुगतं चित्तमिति। तयोः सर्वार्थतैकाग्रतयोः। तथा च धर्मपरिणामोऽपि धर्मद्वारा धर्मिण एव भवतीत्यर्थः। उत्तरसूत्रवक्ष्यमाणपरिणामाद् व्यावर्त्य प्रकृतसूत्रवाक्यार्थभूतं परिणामं व्याचष्टे–तदिदमिति। तदिदमित्यस्य विवरणम् अनुगत-मित्यन्तम्। तथा च चित्तं स्वात्मभूतयोः स्वकार्ययोः सर्वार्थतैकाग्रतयोर्धर्मयोरपायकाल उपजनकाले चानुगतं यत्समाधीयते स समाधिपरिणाम इत्यर्थः। समाहितचित्तस्य तु परिणामः शेषसूत्रेण वक्ष्यत इति भावः॥११॥**

---

1. क ख ग घ ङ ज झ त थ द ध न–आत्म०, च–स्वात्म०।
2. क ख ग घ च ङ ज झ त न–एकाग्रतयोः, थ द ध–एकाग्रता०।
3. क ख ग घ च ङ ज झ त द ध न–उपजनः, प–उपचयः।
4. क–दर्शयते, ग घ च ङ–दर्शयति।

सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञातरूप दो प्रकार के निरोधात्मक योग की **'परिणाम'** **क्रिया** प्रतिपादित हुई। अधुना **'योग'** से भिन्न योगाङ्गभूत **'समाधि'** की परिणाम-क्रिया का स्वरूप प्रदर्शित किया जा रहा है—**'सर्वार्थतेति।'** यहाँ **'सर्वार्थता'** पद का अर्थ विक्षिप्तता तथा **'एकाग्रता'** पद का अर्थ एकमात्रविषयता है। इन दोनों का यथाक्रम **'क्षय'** और **'उदय'** होना चित्त का **'समाधिकालीन'** परिणाम कहलाता है। प्रकृत सूत्र में भी (त्रिगुणात्मक चित्त के परिणामशील होने की) तुल्य युक्ति से **'प्रतिक्षणम्'** पद का अध्याहार कर लेना चाहिये। अर्थात् विगत सूत्र से प्रकृत सूत्र में **'प्रतिक्षणम्'** पद को (चित्त की परिणाम-धारा के कालांश के बोधरूप में) अनुवर्त्तनीय समझना चाहिये। भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं—**'सर्वार्थतेति।'** न तो चित्त की **'विक्षिप्तता'** का सहसा आत्यन्तिक (पूर्णतः) नाश हो सकता है और न ही **'एकाग्रता'** की अकस्मात् (सकृत् प्रयत्न से) सिद्धि (निष्पत्ति) हो सकती है। चित्त की उभयस्थिति क्षण-क्रमावलम्बित ही होती है। भाष्यकार चित्त की विक्षिप्तता के **'क्षय'** और एकाग्रता के **'उदय'** को **'तिरोभाव'** और **'आविर्भाव'** के अर्थ में बतलाते हैं—**'क्षय इत्यादिना तिरोभाव इत्यर्थ इत्यन्तेन।'** यहाँ **'तिरोभाव'** और **'आविर्भाव'** यथाक्रम **'ह्रास'** और **'वृद्धिपरक'** हैं। **शङ्का**—सर्वार्थता (अनेकविषयता) और एकाग्रता (एकविषयता) ये दोनों चित्त के धर्म कैसे कहे जाते हैं?

समाधान—इस पर भाष्यकार कहते हैं—**'तयोर्धर्मित्वेनानुगतं चित्तमिति।'** चित्त धर्मिरूप से सर्वार्थता और एकाग्रतारूप दोनों प्रकार के धर्मों से अनुगत अर्थात् युक्त रहता है। अतः सर्वार्थता एवं एकाग्रता दोनों चित्त के धर्म हैं। इस प्रकार धर्मिरूप चित्त का ही धर्म द्वारा **'धर्मपरिणाम'** होता है। आगामी सूत्र में प्रतिपादित किये जाने वाले **'एकाग्रता परिणाम'** से पृथक् करके भाष्यकार प्रकृत सूत्रवाक्य के अर्थभूत (विषयभूत) **'परिणाम'** की व्याख्या करते हैं—**'तदिदमिति।'** **'तदिदम्'** का विवरण पद **'अनुगतम्'** पर्यन्त है। इसका अर्थ यह है—जो चित्त **'स्वात्मभूत'** अर्थात् स्वकार्यरूप सर्वार्थता एवं एकाग्रतारूप धर्मों के यथाक्रम ह्रास और वृद्धिरूप क्षण से अनुगत रहता हुआ समाहित होता है, वही **'समाधिपरिणाम'** वाला कहा जाता है। सूत्र के शेष भाग द्वारा समाहित चित्त के परिणाम को बतलाया गया है॥११॥

वैयासिकी अवतरणिका के विना अगला सूत्र उपस्थित हो रहा है—

योगसूत्रम्

[1]ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः॥१२॥

---

1. **तत्र**—इति पाठान्तरम्।

विक्षिप्तता के निःशेष क्षयोपरान्त चित्त का समानविषयक अतीत और वर्तमानवृत्ति वाला होना 'एकाग्रतापरिणाम' कहलाता है॥१२॥

व्यासभाष्यम्

समाहितचित्तस्य पूर्वप्रत्ययः शान्त उत्तरस्तत्सदृश उदितः। [1]समाधिचित्तमुभयोरनुगतं पुनस्तथैवा समाधिभ्रेषादिति। स खल्वयं धर्मिणश्चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः॥१२॥

समाहित चित्त का पूर्व प्रत्यय (वृत्ति) उदित होकर शान्त हो जाता है तथा उसके सदृश ही बाद का तुल्य प्रत्यय उत्पन्न होता है। समाधि में आरूढ चित्तरूपी धर्मी फिर उसी प्रकार धारावाहिक रूप से उन शान्त तथा उदित दोनों प्रकार के प्रत्ययरूप धर्मों के साथ समाधि टूटने तक अनुगत अर्थात् अन्वित रहता है। यही चित्त-धर्मी का 'एकाग्रता-परिणाम' कहा जाता है॥१२॥

तत्त्ववैशारदी

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः। ततः पुनः समाधेः पूर्वापरीभूताया अवस्थायाः [2]समाधिनिष्पत्तौ सत्यां शान्तोदितावतीतवर्तमानौ, तुल्यौ च तौ प्रत्ययौ चेति तुल्यप्रत्ययौ। एकाग्रतायां तु द्वयोः [3]सादृश्यम्। समाहितचित्तस्येति समाधिनिष्पत्तिर्दर्शिता, तथैवै[4]काग्रमेव। अवधिमाह—आ समाधिभ्रेषादिति। भ्रंशादिति॥१२॥

'तत इति।' 'ततः' अर्थात् **'पूर्वापरीभूत'** अर्थात् पूर्ववर्ती एवं परवर्ती अवस्थावाली समाधि के सिद्ध होने पर अर्थात् विक्षिप्तता के निःशेष क्षयोपरान्त एकाग्रता की वर्तमान निरवच्छिन्न धारा में तुल्य (ध्येय) विषयक वृत्ति का (ही) शान्तत्व (अतीतत्व) और उदयत्व (वर्तमानत्व) रूप आविर्भाव और तिरोभाव होता है। चित्त की एकाग्रावस्था का यह वैशिष्ट्य है कि उसमें उदय और अस्त होने वाला वृत्त्यात्मक प्रत्यय तुल्यविषयक (एक विषय वाला) ही होता है। **'समाहितचित्तस्य'** इस पद के प्रयोग द्वारा भाष्यकार ने समाधि की निष्पत्ति प्रदर्शित की है। अर्थात् जिस समय चित्त समाधि अवस्था को प्राप्त कर लेता है उसी अवस्था में चित्त का सदृशप्रत्ययप्रवाहरूप परिणाम होता है। चित्त के इस सदृशप्रत्ययप्रवाहरूप परिणाम

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब म र—**समाधि०**, भ य—**समाहित०**।
2. क ख ग घ च छ ज झ त—**समाधि०** उपलभ्यते, थ द ध न—**समाधि०** नोपलभ्यते।
3. क ख घ च छ ज झ त थ द ध न—**सादृश्यं**, ग—**समादृश्यम्**।
4. क छ ज—**ऐकाग्र्यम्**, ख ग घ च झ थ द ध न—**एकाग्रं**, त—**एकाग्रतायाम्**।

की अवधि को भाष्यकार बतलाते हैं–'**आ समाधिभ्रेषादिति**।' '**भ्रेष**' शब्द का अर्थ '**भ्रंश**' है। अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि के टूटने तक यह क्रम चलता रहता है॥१२॥

योगवार्त्तिकम्

इदानीमङ्गसमाधावेव परिणामान्तरमुक्तपरिणामकालीनमाह–ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः। ततः सर्वार्थतायाः निःशेषतः क्षये सति, शान्तोदितावतीतोत्पद्यमानौ तुल्यप्रत्ययावेकाकारप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रताकालीनः पुनः परिणामो भवति–सजातीय एकैकः प्रत्ययो नश्यति अन्योऽन्य उत्पद्यत इत्येवं परिणामो भवतीत्यर्थः। तदेतद्व्याचष्टे–समाहितेति। समाध्यारूढस्य चित्तस्येत्यर्थः। अनेन पूर्वसूत्रोक्तचित्ताद् व्यवच्छेदः कृतः, तत्र समाधीयमानचित्तस्यैव परिणामस्योक्तत्वादिति। पुनस्तथेत्यनेन धारावाहिक एकाग्रतासन्तान उक्तः। अवधिमाह–आसमाधीति। भ्रेषः=भ्रंशः॥१२॥

सम्प्रति, सूत्रकार योगाङ्गभूत '**समाधि**' में ही समाधिपरिणामकालिक परिणाम-विशेष को बतलाते हैं–'**तत इति**।' इस क्रम से ('**समाधिपरिणाम**' कालिक) '**सर्वार्थता**' अर्थात् विक्षिप्तता का पूर्णरूप से क्षय (तिरोभाव) हो जाने पर चित्त का '**शान्तोदित**' अर्थात् अतीत और वर्तमान क्रम को प्राप्त '**तुल्यप्रत्यय**' अर्थात् एकाकार- प्रत्यय वाला '**एकाग्रतापरिणाम**' चलता है। अर्थात् समाहित चित्त का सजातीय एक-एक एकाग्र प्रत्यय नष्ट होता जाता है और दूसरा सजातीय एकाग्र प्रत्यय उत्पन्न होता रहता है–इस प्रकार का यह '**एकाग्रतापरिणाम**' होता है। भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं–'**समाहितेति**।' यहाँ '**समाहितचित्तस्य**' पद का अर्थ है–समाध्यारूढ चित्त का। इससे विगत सूत्र में वर्णित '**समाधिपरिणामकालिक**' चित्त से '**एकाग्रतापरिणामकालिक**' चित्त को पृथक् किया गया है, क्योंकि वहाँ '**समाधीयमान**' चित्त का ही परिणाम बतलाया गया है और यहाँ '**समाध्यारूढ**' चित्त का परिणाम। भाष्यकार ने '**पुनस्तथा**' के द्वारा चित्त के धारावाहिक '**एकाग्रतासन्तान**' को इंगित किया है। अर्थात् एकाग्रता-परिणाम में चित्त का अखण्ड एकाग्रप्रत्यय ही आविर्भाव और तिरोभाव की क्रमिक द्विधात्मक स्थिति वाला होता है। भाष्यकार चित्त के धारावाहिक '**एकाग्रतापरिणाम**' की अवधि बतलाते हैं–'**आ समाधीति**।' '**भ्रेष**' शब्द का अर्थ है– भ्रंश अर्थात् पतन। समाधिभंग न होने तक ही चित्त का एकाग्रतापरिणाम होता है, समाधिभ्रंश के पश्चात् नहीं॥१२॥

योगसूत्रम्

एतेन [1]भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्था[2]परिणामा व्याख्याताः॥१३॥

---

1. **भूतेषु**–इति पाठान्तरम्।
2. **परिणामो व्याख्यातः, परिणामा ख्याताः, परिणामा व्यापारच्युताः**–इति पाठान्तराणि।

इस (चित्तपरिणाम के निरूपण) से भूत और इन्द्रियों में धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम तथा अवस्थापरिणाम व्याख्यात हो जाते हैं॥१३॥

व्यासभाष्यम्

एतेन पूर्वोक्तेन चित्तपरिणामेन धर्मलक्षणा[1]वस्थारूपेण भूतेन्द्रियेषु धर्मपरिणामो लक्षणपरिणामोऽवस्थापरिणामश्चोक्तो वेदितव्यः। तत्र व्युत्थाननिरोधयो[2]र्धर्मयोरभिभवप्रादुर्भावौ धर्मिणि धर्मपरिणामः। लक्षण[3]परिणामश्च निरोधस्त्रिलक्षणस्त्रिभिरध्वभिर्युक्तः। स खल्वनागतलक्षणमध्वानं [4]प्रथमं हित्वा धर्मत्वम[5]नतिक्रान्तो वर्तमानलक्षणं प्रतिपन्नो यत्रास्य स्वरूपेणाभिव्यक्तिः। एषोऽस्य द्वितीयोऽध्वा। न चातीतानागताभ्यां लक्षणाभ्यां वियुक्तः। तथा व्युत्थानं त्रिलक्षणं त्रिभिरध्वभिर्युक्तं [6]वर्तमानं लक्षणं हित्वा धर्मत्वमनतिक्रान्तमतीतलक्षणं प्रतिपन्नम्। एषोऽस्य [7]तृतीयोऽध्वा। न चानागतवर्तमानाभ्यां लक्षणाभ्यां [8]वियुक्तम्। [9]एवं पुनर्व्युत्थानमुपसंपद्यमानम[10]नागतं लक्षणं हित्वा धर्मत्वमनतिक्रान्तं [11]वर्तमानं लक्षणं प्रतिपन्नम्। यत्रास्य स्वरूपाभिव्यक्तौ सत्यां व्यापारः। एषोऽस्य द्वितीयोऽध्वा। न चातीतानागताभ्यां [12]लक्षणाभ्यां वियुक्तमिति। एवं पुनर्निरोध

---

1. ज–**परिणाम०** (**अवस्था**–पश्चात्) उपलभ्यते, क ख ग घ च छ झ त थ द ध न प फ ब भ म य र–**परिणाम०** नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म र–**धर्मयोः** उपलभ्यते, ब य–**धर्मयोः** नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ य र–**परिणामश्च**, छ थ–**परिणामस्य**।
4. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–**प्रथमं** उपलभ्यते, ख ब–**प्रथमं** नोपलभ्यते।
5. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न प फ ब भ म य र–**अनतिक्रान्तः**, त–**अतिक्रान्तः**।
6. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ य–**वर्तमानः**, घ प फ म र–**वर्तमानम्**।
7. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–**तृतीयः**, ब–**द्वितीयः**।
8. क ग–**विमुक्तम्**, ख घ च ज द ध न प फ ब भ म य र–**वियुक्तम्**, छ थ–**अवियुक्तः**, झ त–**अपि युक्तः**।
9. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–**एवम्** उपलभ्यते, ब–**एवं** नोपलभ्यते।
10. क ग छ थ–**अतीत०**, ख च छ ज झ त थ द ध न य–**अनागत०**, घ प फ म र–**अनागतम्**।
11. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ य–**वर्तमान०**, घ प फ म र–**वर्तमानम्**।
12. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प ब भ म य र–**लक्षणाभ्याम्** उपलभ्यते, फ–**लक्षणाभ्यां** नोपलभ्यते।

एवं पुनर्व्युत्थानमिति। तथावस्थापरिणामः। [1]तत्र निरोध[2]क्षणेषु निरोधसंस्कारा बलवन्तो भवन्ति दुर्बला व्युत्थानसंस्कारा इति। [3]एष धर्माणामवस्थापरिणामः। [4]तत्र धर्मिणो धर्मैः परिणामो धर्माणां [5]त्र्यध्वनां लक्षणैः परिणामो लक्षणानामप्यवस्थाभिः परिणाम इति। एवं धर्मलक्षणावस्थापरिणामैः [6]शून्यं न क्षणमपि गुणवृत्तमवतिष्ठते। चलं [7]च गुणवृत्तम्। गुणस्वाभाव्यं तु प्रवृत्तिकारणमुक्तं गुणानामिति। एतेन [8]भूतेन्द्रियेषु धर्मधर्मिभेदात्त्रिविधः परिणामो वेदितव्यः। परमार्थतस्त्वेक एव परिणामः। धर्मिस्वरूपमात्रो हि धर्मो धर्मिविक्रियैवैषा धर्मद्वारा प्रपञ्च्यत इति।

तत्र धर्मस्य [9]धर्मिणि वर्तमानस्यैवाध्वस्वतीतानागतवर्तमानेषु भावान्यथात्वं भवति, न [10]तु द्रव्यान्यथात्वम्। यथा सुवर्णभाजनस्य भित्त्वान्यथा क्रियमाणस्य भावान्यथात्वं भवति न सुवर्णान्यथात्वमिति। अपर आह—[11]धर्मानभ्यधिको धर्मी पूर्व[12]तत्त्वानतिक्रमात्। पूर्वापरावस्थाभेदमनुपतितः कौटस्थ्येनै[13]व परिवर्तेत यद्यन्वयी स्यादिति। अयमदोषः। कस्मात्? [14]एकान्तानभ्युपगमात्। तदेतत्त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति। [15]कस्मात्? नित्यत्वप्रतिषेधात्। अपेतमप्यस्ति, विनाशप्रतिषेधात्।

---

1. घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**तत्र** उपलभ्यते, क ख ग ब-**तत्र** नोपलभ्यते।
2. क ख ग छ ज—**लक्षणेषु**, घ च झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—**क्षणेषु**।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य—**एषः**, ब र-**एवम्**।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**तत्र** उपलभ्यते, ब—**तत्र** नोपलभ्यते।
5. क छ थ—**अध्वनां**, ख ग च ज झ त द ध न ब भ म—**त्र्यध्वनां**, घ प फ म र—**अध्वनां/त्र्यध्वनां** नोपलभ्यते।
6. क—**शून्यं क्षणमपि**, ख ग घ च ज झ त द ध न प फ भ म य र—**शून्यं न क्षणमपि**, ब—**अशून्यलक्षणम्** छ थ—**शून्यं लक्षणमपि**।
7. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**च** उपलभ्यते, ख ब—**च** नोपलभ्यते।
8. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब म य र—**भूतेन्द्रियेषु**, भ—**भूतेन्द्रियादिषु**।
9. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न प फ ब भ म य र—**धर्मिणि**, द—**धर्मिणः**।
10. क ग च छ ज झ त थ द ध न भ म य—**तु** उपलभ्यते, ख घ प फ ब र—**तु** नोपलभ्यते।
11. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**धर्मान्**, ब—**धर्म०**।
12. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**तत्त्व०**, ब—**तत्त्वात्**।
13. क ख ग घ छ ज थ द प फ य र—**विपरिवर्तेत**, च झ त ध न भ म—**एव परिवर्तेत**, ब—**अपि परिवर्तेत**।
14. क ग च छ ज झ त द न भ य—**एकान्तता**, ख घ त ध प फ ब म र—**एकान्त०**।
15. घ प फ म य र—**कस्मात्** उपलभ्यते, क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ—**कस्मात्** नोपलभ्यते।

संसर्गाच्[1]चास्य सौक्ष्म्यम्, [2]सौक्ष्म्याच्चानुपलब्धिरिति।

लक्षणपरिणामो धर्मोऽध्वसु वर्तमानोऽ[3]तीतोऽतीतलक्षणयुक्तोऽनागतवर्तमानाभ्यां लक्षणाभ्यामवियुक्तः। तथानागतोऽनागतलक्षणयुक्तो वर्तमानातीताभ्यां लक्षणाभ्यामवियुक्तः। तथा वर्तमानो वर्तमानलक्षणयुक्तोऽतीतानागताभ्यां लक्षणाभ्यामवियुक्त इति। यथा पुरुष एकस्यां स्त्रियां रक्तो न शेषासु विरक्तो भवतीति। अत्र लक्षणपरिणामे सर्वस्य सर्वलक्षणयोगादध्वसंकरः [4]प्राप्नोतीति परैर्दोषश्चो[5]द्यत इति। तस्य परिहारः—[6]धर्माणां धर्मत्वम[7]प्रसाध्यम्। सति च धर्मत्वे लक्षणभेदोऽपि वाच्यः, न वर्तमानसमय एवास्य [8]धर्मत्वम्। एवं हि न [9]चित्तं रागधर्मकं [10]स्यात्, क्रोधकाले रागस्यासमुदाचारादिति। किञ्च त्रयाणां लक्षणानां युगपदेकस्यां [11]व्यक्तौ नास्ति संभवः। क्रमेण तु स्वव्यञ्जकाञ्जनस्य [12]भावो भवेदिति। उक्तं च—रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च [13]परस्परेण विरुध्यन्ते, सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्तन्ते तस्मादसंकरः। यथा रागस्यैव क्वचित्समुदाचार इति न तदानीमन्यत्राभावः, किं तु केवलं सामान्येन समन्वागत इत्यस्ति तदा [14]तत्र तस्य भावः, तथा लक्षणस्येति। न [15]धर्मी त्र्यध्वा। धर्मास्तु त्र्यध्वानः।

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**च** उपलभ्यते, ब—**च** नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**सौक्ष्म्यात्**, ब—**अतः**।
3. क छ त थ न म—**अतीत०**, ख ग घ च ज झ द ध प फ ब भ य र—**अतीतोऽतीत०**।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**प्राप्नोति** उपलभ्यते, ब—**प्राप्नोति** नोपलभ्यते।
5. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—**उद्यते**, ख—**आपाद्यते**।
6. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—**धर्माणां**, ख—**धर्मिणाम्**।
7. क ख ग घ च ज त द ध न प फ ब भ म य र—**अप्रसाध्यं**, छ॰ थ—**अप्रतिसाध्यं**, झ—**अत्र साध्यम्**।
8. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न प फ भ म य र—**धर्मत्वं**, द—**धर्मः**, ब—**धर्मत्वं/धर्मः** नोपलभ्यते।
9. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—**चित्तम्**, छ थ—**चित्तत्वम्**।
10. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**स्यात्** उपलभ्यते, ब—**स्यात्** नोपलभ्यते।
11. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**व्यक्तौ**, ब—**वृत्तौ**।
12. क ख ग घ च छ ज थ द ध न प फ ब भ म य र—**भावः**, झ त—**भावे**।
13. घ प फ ब भ म य र—**परस्परेण** उपलभ्यते, क ख ग च छ ज झ त थ द ध न—**परस्परेण** नोपलभ्यते।
14. ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**तत्र** उपलभ्यते, क ब—**तत्र** नोपलभ्यते।
15. क ख ग घ च छ ज थ द ध न प फ ब भ म य र—**धर्मी त्र्यध्वा। धर्मास्तु**, झ त—**धर्मिणि धर्माः**।

ते लक्षिता अलक्षिताश्च तां तामवस्थां प्राप्नुवन्तोऽ[1]न्यत्वेन प्रतिनिर्दिश्यन्तेऽवस्थान्तरतो न द्रव्यान्तरतः। यथैका रेखा शतस्थाने शतं दशस्थाने दशै[2]का चैकस्थाने; यथा चैकत्वेऽपि स्त्री माता चोच्यते दुहिता च स्वसा चेति। अवस्थापरिणामे कौटस्थ्य[3]दोषप्रसङ्गः कैश्चिदुक्तः। कथम्? [4]अध्वनो व्यापारेण व्यवहितत्वात्। यदा धर्मः स्वव्यापारं न करोति तदानागतः, यदा करोति तदा वर्तमानः, यदा [5]कृत्वा निवृत्तस्तदातीत इत्येवं [6]धर्मधर्मिणोर्लक्षणानामवस्थानां च कौटस्थ्यं प्राप्नोतीति परैर्दोष उच्यते। नासौ दोषः। कस्मात्? [7]गुणिनित्यत्वेऽपि गुणानां विमर्दवैचित्र्यात्। यथा संस्थानमादिमद्धर्ममात्रं शब्दादीनां [8]गुणानां विनाश्यविनाशिनामेवं लिङ्गमादिमद् धर्ममात्रं सत्त्वादीनां गुणानां विनाश्यविनाशिनाम्, तस्मिन्विकारसंज्ञेति। तत्रे[9]दमुदाहरणम्—मृद्धर्मी पिण्डाकाराद्ध[10]र्माद्धर्मान्तरमुपसंपद्यमानो धर्मतः परिणमते घटाकार इति। घटाकारोऽनागतं लक्षणं हित्वा वर्तमानलक्षणं प्रतिपद्यत इति लक्षणतः परिणमते। [11]घटो नवपुराणता[12]प्रतिक्षणमनुभवन्नवस्थापरिणामं प्रतिपद्यत इति। धर्मिणोऽपि धर्मान्तरमवस्था, धर्मस्यापि लक्षणान्तरमवस्थेत्येक एव [13]द्रव्यपरिणामो भेदेनोपदर्शित इति। एवं

1. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न प फ ब भ म य र—**अन्यत्वेन**, झ—**उत्पन्नत्वेन**।
2. क ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म—**एका**, ख घ प फ य र—**एकम्**।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द घ न प फ ब भ य र—**प्रसङ्गदोषः**, म—**दोषप्रसंगः**।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**अध्वनो व्यापारेण व्यवहितत्वात्**, ब—**अध्वानः स्वव्यापारेण व्यवहिताः**।
5. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न प फ ब भ म य र—**कृत्वा**, झ—**सत्त्वात्**।
6. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**धर्मधर्मिणोर्लक्षणानामवस्थानां च**, ब—**धर्मिणां नित्यत्वाद् धर्मलक्षणावस्थानाम्**।
7. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न प फ ब भ म य र—**गुणिनित्यत्वे**, द—**गुणिनि सत्यत्वे**।
8. क ग च छ ज झ त थ द ध न भ य—**गुणानां** उपलभ्यते, ख घ प फ ब म र—**गुणानां** नोपलभ्यते।
9. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**इदं** उपलभ्यते, ब—**इदं** नोपलभ्यते।
10. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**धर्माद्धर्मान्तरम्**, ब—**आकारान्तरम्**।
11. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—**घटो नव**, छ थ—**न च**।
12. क ग छ ज—**प्रतिलक्षणं**, ख घ च झ त थ द ध न प फ ब भ य र—**प्रतिक्षणं**, म—**प्रतिलक्षणं/प्रतिक्षणं** नोपलभ्यते।
13. क ख ग घ च छ थ द ध न प फ ब भ म य र—**द्रव्य०** उपलभ्यते, ज झ त—**द्रव्य०** नोपलभ्यते।

पदार्थान्तरेष्वपि योज्यमिति। [1]**त एते धर्मलक्षणावस्थापरिणामा धर्मिस्वरूपमनतिक्रान्ता इत्येक एव परिणामः सर्वानमून्विशेषानभिप्लवते।** [2]**अथ कोऽयं परिणामः? अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः॥१३॥**

इस पूर्वोक्त धर्म, लक्षण तथा अवस्थारूप चित्त-परिणाम के कथन से भूत और इन्द्रियों में भी धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम तथा अवस्थापरिणाम कह दिया गया—ऐसा समझ लेना चाहिये। इन तीन प्रकार के परिणामों में से व्युत्थानधर्म और निरोधधर्म का क्रमशः आविर्भाव और तिरोभाव होना चित्त-धर्मी का 'धर्मपरिणाम' कहा गया है। (अनागत, वर्तमान तथा अतीत-रूप) तीन अध्वाओं से युक्त तीन प्रकार का प्रादुर्भूत जो धर्मरूप निरोध है, वह 'लक्षणपरिणाम' कहा जाता है। यह निरोध पहले अपनी भविष्यत्काल वाली स्थिति को छोड़कर अपने धर्मत्व को अक्षुण्ण बनाये रखते हुए वर्तमानकाल की स्थिति को प्राप्त होता है। जिस स्थिति में उसकी स्वरूपतः अभिव्यक्ति होती है। यह (वर्तमान स्थिति) इसकी (निरोध की) दूसरी स्थिति (अध्वा) है। इस स्थिति में भी निरोध अपने अतीत और अनागत- लक्षणों की स्थितियों से रहित नहीं होता है। इसी प्रकार 'व्युत्थान' भी तीनों लक्षणों अर्थात् तीनों अध्वाओं (स्थितियों) से युक्त होता है। अपने वर्तमान- लक्षण की स्थिति को त्यागकर अपने धर्मत्व को अक्षुण्ण बनाये रखते हुए अतीत या भूतकालिक स्थिति को प्राप्त होता है। यह अतीत स्थिति इसका तीसरा अध्वा है। इस अतीत स्थिति में भी व्युत्थान अपने अनागत एवं वर्तमान-लक्षणों से रहित नहीं होता है। इसी प्रकार प्रादुर्भूत होने वाला व्युत्थान अपने अनागतलक्षण को छोड़कर, धर्मत्व को अक्षुण्ण बनाये रखते हुए, वर्तमान-लक्षण को प्राप्त होता है। जिस स्थिति में इसकी स्वरूपतः अभिव्यक्ति होने पर कार्य होते हैं। यह स्थिति इस व्युत्थान का दूसरा अध्वा है। इस स्थिति में वह अपने अतीत और अनागतलक्षणों की स्थितियों से रहित नहीं होता है। इस प्रकार फिर निरोध और फिर व्युत्थान-यह क्रम चलता रहता है। इसी प्रकार अवस्थापरिणाम भी होता है। निरोध (निरोधसमाधि के वर्तमानलक्षण को प्राप्त करने) के क्षणों में निरोधसंस्कार बलवान् रहते हैं और व्युत्थान-संस्कार दुर्बल रहते हैं। यही धर्मों का अवस्थापरिणाम है। इन तीन परिणामों

---

1. क ख ग च छ ज झ त थ द ध द ब भ म ब—**ते** उपलभ्यते, घ प फ य र—**ते** नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**अथ कोऽयं परिणामः** उपलभ्यते, ब—**अथ**...**परिणामः** नोपलभ्यते।

में भेदक तत्त्व यह है कि धर्मी का परिणाम धर्मों के द्वारा, धर्मों का परिणाम लक्षणों के द्वारा तथा लक्षणों का परिणाम अवस्थाओं के द्वारा होता है। इस प्रकार धर्म, लक्षण और अवस्थापरिणामों से रहित गुणों का व्यवहार क्षण-मात्र भी रह नहीं सकता है, क्योंकि गुण स्वभावतः चञ्चल होते हैं। गुणों का स्वभाव ही गुणों की गतिशीलता का कारण कहा गया है। चित्तपरिणाम के इस कथन से भूत एवं इन्द्रिय आदि सकल पदार्थों में धर्म-धर्मी के भेद से तीन प्रकार का परिणाम समझ लेना चाहिये। किन्तु यदि पारमार्थिक रूप से विचार किया जाय तो एक ही प्रकार का परिणाम होता है (और वह है—धर्मी का धर्मपरिणाम)। क्योंकि धर्म धर्मिस्वरूप ही हुआ करता है, इसलिये धर्मों के द्वारा धर्मी का विकार ही प्रपञ्चित होता है।

उस में भी धर्मी में रहने वाले धर्मों का ही अतीत, अनागत और वर्तमानरूप तीन अध्वाओं में अन्यप्रकारत्व होता है, न कि द्रव्यरूप धर्मी में अन्यप्रकारत्व। जैसे पिघलाकर अन्य प्रकार से बनाये जाने वाले सोने के पात्रों का ही भिन्नप्रकारत्व होता है, न कि सोने का भिन्नप्रकारत्व। पूर्वपक्षी कहता है—धर्मों से अतिरिक्त धर्मी नाम का कोई पदार्थ नहीं होता, क्योंकि पूर्वतत्त्व का स्वरूप अक्षुण्ण रहता है। अन्यथा (धर्मों में सदा अनुगत रहने वाला धर्मी नाम का कोई भिन्न पदार्थ होता तो) परिणाम के पूर्व और पर के भेदों में अनुगत रहता हुआ वह केवल कूटस्थनित्यरूप में ही परिणत होता। किन्तु यह दोष नहीं है। क्यों? क्योंकि (योगशास्त्र में) एकान्तनित्यता को स्वीकार नहीं किया जाता है। त्रिलोकी के जितने भी पदार्थ हैं, वे सबके सब परिणाम को प्राप्त होते हैं। क्यों? क्योंकि उनमें अत्यन्तोच्छेद का निषेध किया जाता है। पूर्वोक्त त्रैलोक्य अतीतावस्था को प्राप्त होने पर भी सत् (अस्तित्व वाला) है, क्योंकि (योगशास्त्र में) सत् का विनाश निषिद्ध है। अपने कारण में संसृष्ट अर्थात् विलीन हो जाने के कारण ही त्रैलोक्य (जगत्) की सूक्ष्मता कही जाती है और सूक्ष्मता के कारण ही उसकी उपलब्धि नहीं होती है। लक्षणों के द्वारा परिणत होने वाला धर्म तीनों अध्वाओं (काल की तीनों स्थितियों) में विद्यमान रहता है। अतीत धर्म, अतीतलक्षण से युक्त रहता हुआ भी अनागत और वर्तमानलक्षण से रहित नहीं होता है। इसी प्रकार अनागतधर्म, अनागतलक्षण से युक्त रहता हुआ भी वर्तमान और अतीतलक्षण से रहित नहीं होता है। इसी प्रकार वर्तमानधर्म, वर्तमानलक्षण से युक्त रहता हुआ भी अतीत और अनागतलक्षण से रहित नहीं होता है। जैसे एक स्त्री में अनुरक्त पुरुष शेष स्त्रियों से विरक्त नहीं

रहता है। लक्षणपरिणाम के संबंध में यह आपत्ति आती है–लक्षणपरिणाम में सभी धर्मों का सभी लक्षणों (कालों) से सम्बन्ध होने के कारण काल की सभी स्थतियों में सांकर्यदोष लागू होगा? पूर्वपक्ष का खण्डन यह है–घटादि धर्मों का धर्मत्व सिद्ध करना अपेक्षित नहीं है। (अर्थात् घटादि पदार्थ धर्म हैं, यह बात तो पीछे ही सिद्ध की जा चुकी है।) और जब घटादि पदार्थों में धर्मत्व सिद्ध हो चुका है, तब उसका लक्षणभेद (अध्वभेद) तो कहना ही पड़ेगा। क्योंकि केवल वर्तमानकाल में ही तो धर्म का धर्मत्व नहीं रहता (वह तो अतीत और अनागतकाल में भी विद्यमान रहता है)। अन्यथा क्रोधकाल में राग के अभिव्यक्त न रहने के कारण चित्त रागधर्मक नहीं कहा जा सकता। (जब कि स्थिति इससे भिन्न है)। अतः धर्मों का त्रिलक्षणत्व होता है। किन्तु हाँ, तीनों लक्षणों की एक साथ एक वस्तु में अभिव्यक्ति संभव नहीं है, प्रत्युत क्रमशः ही अपने अभिव्यञ्जक से अभिव्यक्त होने वाले प्रत्येक लक्षण की अभिव्यक्ति होती है। कहा भी गया है–'रूपातिशय और वृत्त्यतिशय आपस में एक-दूसरे का विरोध करते हैं, किन्तु सामान्य तो अतिशयों के साथ प्रवृत्त हो सकते हैं। इसलिये सांकर्यदोष नहीं है। जैसे राग की ही कहीं पर अभिव्यक्तावस्था है, तो इसमें उस समय अन्य स्थलों में उसका अभाव नहीं है, अपितु वह अपने सामान्य (अव्यक्त) रूप से वहाँ भी अनुगत है। इसलिये उस समय वहाँ पर भी राग का अस्तित्व है। यही स्थिति लक्षणों की है। किञ्च धर्मी तीनों लक्षणों वाला नहीं होता, अपितु धर्म ही तीनों लक्षण वाले होते हैं। धर्म का वर्तमानलक्षण लक्षित अर्थात् अभिव्यक्त होता है और अतीतानागत लक्षण अलक्षित अर्थात् अनभिव्यक्त होते हैं। इनमें से लक्षित वर्तमानलक्षण (तत्तत् नवीन-प्राचीन रूप) अवस्थाभेद से एक-दूसरे से भिन्नता को प्राप्त होते हुए भिन्न रूप से व्यवहृत होते हैं, द्रव्य के भेद से नहीं। जैसे एक संख्या की बोधक रेखा (दो शून्य के साथ) सौ के स्थान पर लिखी जाने पर सौ, (एक शून्य के साथ) दस के साथ लिखी जाने पर दस तथा (शून्य से रहित) एक के स्थान पर लिखी जाने पर एक की बोधक होती है। और जैसे कोई स्त्री एक होने पर भी (सम्बन्धिरूप निमित्त के भेद से) माता, पुत्री एवं भगिनी आदि शब्दों से व्यवहृत होती है। किन्हीं लोगों के द्वारा अवस्थापरिणाम में कूटस्थनित्यतादोष का प्रसङ्ग कहा गया है। वह कैसे? अध्वा के व्यापार द्वारा व्यवहित अथवा अन्तर्हित रहने के कारण। जिस समय धर्म अपने व्यापार को नहीं करता है उस समय वह 'अनागत' कहा जाता है। जिस काल में व्यापार करता है, उस समय वह 'वर्तमान' कहा

जाता है। और जिस काल में क्रिया करके निवृत्त हो जाता है, उस समय वह 'अतीत' कहा जाता है। इस प्रकार से धर्म और धर्मी का तथा लक्षणों और अवस्थाओं का कूटस्थनित्यत्व प्रसक्त होता है। यह दोष नहीं है। क्यों? इसलिये कि धर्मी के नित्य रहने पर भी धर्मों में आविर्भाव और तिरोभाव की विलक्षणता रहती है। जैसे अविनाशी शब्दादितन्मात्राओं के (कार्यरूप) पृथ्वी, आकाशादि संस्थान आविर्भाव, तिरोभावशील धर्ममात्र हैं। इसी प्रकार अविनाशी गुणत्रय का आविर्भाव-तिरोभावशील कार्यरूप महत्तत्त्व भी धर्ममात्र है। और यह धर्म 'विकार' संज्ञा से व्यवहृत होता है। इस विषय में उदाहरण यह है—मृत्तिकारूप धर्मी पिण्डाकाररूप धर्म से धर्मान्तर को प्राप्त होती हुई घटाकाररूप धर्म से परिणत होती है। वह घटाकार अनागतलक्षण को त्यागकर वर्तमानलक्षण को प्राप्त करता है। यह लक्षणरूप से परिणाम होता है। वह घट प्रतिक्षण नवीनता और प्राचीनता को प्राप्त होता हुआ अवस्थापरिणाम को प्राप्त होता है। धर्मी की भी धर्मान्तर अवस्था तथा धर्म की भी लक्षणान्तर अवस्था होती है। अतः एक ही द्रव्य का तीन भिन्नरूप से परिणाम दिखलाया गया है। अतः इस परिणाम-विचार की भूत एवं इन्द्रियादि पदार्थान्तरों में भी योजना कर लेनी चाहिये। ये पूर्वोक्त धर्म, लक्षण तथा अवस्थापरिणाम धर्मी के स्वरूप का अतिक्रमण न करते हुए धर्मी में विद्यमान रहते हैं। अतः धर्म-धर्मी के अभिन्न होने से एक ही धर्मिरूप परिणाम धर्म, लक्षण तथा अवस्थारूप इन सभी परिणामों से व्याप्त रहता है। अच्छा बतलाइये कि यह 'परिणाम' क्या है? अवस्थित धर्म के पूर्व धर्म की निवृत्तिपूर्वक जो धर्मान्तर की उत्पत्ति होती है, उसे 'परिणाम' कहते हैं॥१३॥

तत्त्ववैशारदी

प्रासङ्गिकं च वक्ष्यमाणौपयिकं च भूतेन्द्रियपरिणामं विभजते—एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः। व्याचष्टे—एतेनेति। ननु चित्तपरिणतिमात्रमुक्तं न तु तत्प्रकारा धर्मलक्षणावस्थापरिणामाः, तत्कथं तेषामतिदेश इत्यत आह—[1]तत्र व्युत्थाननिरोधयोरिति। धर्मलक्षणावस्थाशब्दाः परं नोच्चारिताः, न तु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा नोक्ता इति संक्षेपार्थः। तथा हि व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरित्यत्रैव सूत्रे धर्मपरिणाम उक्तः। इमं च धर्मपरिणामं दर्शयता तेनैव धर्माधिकरणो लक्षणपरिणामोऽपि सूचित एवेत्याह—लक्षणपरिणाम इति। लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणं कालभेदः। तेन हि लक्षितं वस्तु वस्त्वन्तरेभ्यः

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त न—तत्र उपलभ्यते, थ द ध—तत्र नोपलभ्यते।

कालान्तरयुक्तेभ्यो व्यवच्छिद्यत इति। निरोधस्त्रिलक्षणः। अस्यैव व्याख्यानं त्रिभिरध्वभिर्युक्तः। अध्वशब्दः कालवचनः। स खल्वनागतलक्षणमध्वानं प्रथमं हित्वा। तत्किमध्ववद्धर्मत्वमप्यतिपतति? नेत्याह—धर्मत्वमनतिक्रान्तो वर्तमानलक्षणं प्रतिपन्न इति। य एव निरोधोऽनागत आसीत्स एव संप्रति वर्तमानो न तु [1]निरोधोऽनिरोध इत्यर्थः। वर्तमानतास्वरूपव्याख्यानम्—यत्रास्य स्वरूपेण स्वोचितार्थ[2]क्रियाकरणस्वरूपेणाभिव्यक्तिः समुदाचारः। एषोऽस्य प्रथममनागतमध्वानमपेक्ष्य द्वितीयोऽध्वा ।

सम्प्रति, सूत्रकार प्रासङ्गिक एवं प्रामाणिक आगामी युक्तियों से सिद्ध भूतेन्द्रिय-परिणाम का विभाग करते हैं—'**एतेनेति**।' भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं-'**एतेनेति**।' पूर्वोक्त चित्तपरिणाम के कथन से भूत और इन्द्रियों में भी '**धर्मपरिणाम**' '**लक्षण-परिणाम**' तथा '**अवस्थापरिणाम**' व्याख्यात हुए।

शङ्का—अव्यवहित पूर्व सूत्रों में तो 'चित्त का परिणाम होता है'—इतना ही कहा गया है अर्थात् चित्त का धर्म, लक्षण एवं अवस्था रूप से होने वाला परिणामभेद तो पीछे बतलाया नहीं गया है, तो फिर अनुपदिष्ट परिणाम-भेदों का भूतेन्द्रियों में कैसे अतिदेश किया जा रहा है?

समाधान—इस पर भाष्यकार कहते हैं—'**तत्र व्युत्थाननिरोधयोरिति**।' यह ठीक है कि पीछे (नवम सूत्र में) धर्म, लक्षण एवं अवस्थापरिणाम शब्दतः कथित नहीं हुए हैं, किन्तु वे अर्थतः भी नहीं कहे गये हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। अर्थात् शब्दतः अनुच्चरित धर्मादि परिणामों को अर्थतः कथित समझना चाहिये। स्पष्टीकरण के लिये '**व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरिति**' सूत्र में ही धर्मपरिणाम अभिहित हुआ है। और इस '**धर्मपरिणाम**' को इंगित करने से ही 'धर्मादिकरणक' (धर्माधिकरण में होने वाला) '**लक्षणपरिणाम**' भी अपरिहार्यतः सूचित हो जाता है, इसे भाष्यकार कहते हैं—'**लक्षणपरिणाम इति**।' तत्त्ववैशारदीकार कालघटित '**लक्षण**' पद का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ करते हैं-'**लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणं कालभेदः**' अर्थात् जिसके द्वारा (काल का विभाजित रूप) लक्षित होता है, उसे '**लक्षण**' कहते हैं। इस प्रकार प्रस्तुत प्रसंग में '**लक्षण**' शब्द काल-भेद का वाचक शब्द है। इससे एक क्षणात्मक काल से लक्षित वस्तु अन्य क्षणात्मक काल से युक्त वस्तुओं से वियुक्त होती है। चित्त के निरोध-संस्कार की लक्षणपरिणामघटित त्रिलक्षणता से सम्बन्धित भाष्य को तत्त्ववैशारदीकार उठाते हैं—'**निरोधस्त्रिलक्षणः**।' इसी का ही व्याख्यान है—'**त्रिभिरध्वभिर्युक्तः**' अर्थात् चित्तनिष्ठ '**निरोध**' संस्कार कालघटित तीन अध्वाओं से युक्त रहता है। शब्दान्तर में

---

1. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न—**निरोधः**, ज—**निरोधे**।
2. क—**क्रियाकारिणा स्वरूपेण**, ख ग घ च छ ज झ त—**क्रियाकारिणा रूपेण**, थ—**क्रियाकारण-स्वरूपेण**, द ध न—**क्रियाकरणस्वरूपेण**।

चित्त-धर्मी का निरोधरूप धर्मपरिणाम तीन लक्षण वाला है। '**अध्व**' शब्द का अर्थ है– काल। '**स खल्वनागतलक्षणमध्वानं प्रथमं हित्वा**'–'चित्त-धर्मी का निरोधसंस्कारात्मक धर्म अनागतलक्षणरूप प्रथम अध्वा को छोड़कर'–इस वाक्यांश को लेकर प्रश्न किया जा रहा है–

शङ्का–क्या चित्तधर्मी का '**निरोधसंस्कार**' अनागत अध्वा की तरह अपने धर्मत्व का भी अतिक्रमण करता है?

समाधान–निषेधात्मक उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं–'**धर्मत्वमनतिक्रान्तो वर्तमान-लक्षणं प्रतिपन्न इति**' अर्थात् '**धर्मत्व**' का अतिक्रमण किये विना अनागतलक्षण '**वर्तमानलक्षण**' को प्राप्त होता है। अतः चित्त का जो निरोधसंस्कार अनागतलक्षण वाला था, वही इस समग्र वर्तमानलक्षण वाला हो जाता है, न कि अनागतकालीन निरोधसंस्कार अनिरोध अर्थात् '**असत्**' रूप होता है। वर्तमानलक्षणपरिणाम अर्थात् धर्म के वर्तमानतारूप वाले परिणाम को भाष्यकार बतलाते हैं–'**यत्रास्य स्वरूपेण**' अर्थात् जिस काल में वर्तमानलक्षणक निरोधसंस्कार की '**स्वरूप**' अर्थात् अर्थक्रिया-कारित्वरूप से अभिव्यक्ति होती है। यही प्रथम अनागत अध्वा की अपेक्षा द्वितीय वर्तमान अध्वा है। अर्थात् चित्त-धर्मी के निरोधसंस्कार वाले धर्म का पहला **अनागत अध्वा** और दूसरा **वर्तमान अध्वा** होता है।

बालप्रिया–

अतिदेशः (अति+दिश्+घञ्)–सरल शब्दों में अन्यत्र लागू होने वाली प्रक्रिया को '**अतिदेश**' कहते हैं। एक विषय से सम्बन्धित कार्यों को दूसरे विषय से सम्बन्धित कराना '**अतिदेश**' है– '**अतिदेशो नाम इतरधर्मस्य इतरस्मिन् प्रयोगाय** आदेशः' (मीमांसा)। शब्दान्तर में–

'अन्यत्रैव प्रणीताया कृत्स्नाया धर्मसंहतेः।
अन्यत्र कार्यतः प्राप्तिरतिदेशः स उच्यते॥'

'**धर्मिणि धर्मपरिणामः**'--भाव यह है–अवस्थित धर्मी के ही पूर्व धर्म का तिरोभाव होने पर उसमें जो धर्मान्तर का प्रादुर्भाव होता है, उसे '**धर्मपरिणाम**' कहते हैं। यह धर्मपरिणाम '**व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोः**' (३/९) सूत्र में चित्त-धर्मी के व्युत्थानसंस्कार के अभिभवपूर्वक निरोधसंस्कार की अभिव्यक्ति के रूप में वर्णित है।

'**लक्षणपरिणामश्च**'–इसी प्रकार लक्षणपरिणाम को भी उपरिनिर्दिष्ट सूत्र द्वारा अभिहित समझना चाहिये। क्योंकि अवस्थित धर्म के अनागतादि लक्षण के त्याग-पूर्वक वर्तमानादि लक्षण को प्राप्त होना '**लक्षणपरिणाम**' है और यह लक्षणपरिणाम सूत्र में **अभिभव**' और '**प्रादुर्भाव**' शब्द द्वारा उक्त है।

'**न तु निरोधोऽनिरोधः**'–तात्पर्य यह है–**न तु प्रागसत्त्वेन निरोधोऽसन्नेवेत्यर्थः**।

'अध्वा'–अध्वन्–अद् (भक्षणे)+क्वनिप्, दकारस्य धकारः। **अध्वा ना पथि संस्थाने स्यादवस्कन्दकालयोः**–मेदिनी (८५/३५)। यहाँ '**अध्वा**' शब्द का वाच्य '**काल**' है।

'**लक्षणपरिणाम**' के त्रिभेद को लेकर तत्त्ववैशारदीकार पूर्वपक्षी की आशंका को उपन्यस्त करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

स्यादेतत्–अनागतमध्वानं हित्वा चेद्वर्तमानतामापन्नस्तां च हित्वातीततामापत्स्यते, हन्त भोरध्वनामु[1]त्पादविनाशौ स्याताम्, न चेष्येते, न ह्यसत उत्पादो नापि सतो विनाश इति, अत आह–[2]**न चेति। न चातीतानागताभ्यां [3]सामान्यात्मनावस्थिताभ्यां वियुक्त इति।**

शङ्का–यदि अनागत अध्वा को छोड़कर वर्तमान अध्वा को प्राप्त हुआ निरोध-संस्कार यदि वर्तमानता को भी छोड़कर अतीत अध्वा को प्राप्त करेगा तो दुःख की बात है कि अध्वाओं का उत्पत्ति-विनाश कहना पड़ेगा? किन्तु सत्कार्यवाद के अनुसार यह इष्ट नहीं है। क्योंकि यहाँ न तो '**असत्**' की उत्पत्ति होती है और न '**सत्**' का विनाश ही होता है।

समाधान–इसी आशंका को ध्यान में रखकर भाष्यकार कहते हैं–'**न चेति।**' निरोधरूप धर्म का जो '**वर्तमानलक्षणपरिणाम**' है, वह सामान्यरूप से अवस्थित '**अतीतलक्षण-परिणाम**' तथा '**अनागतलक्षणपरिणाम**' से रहित नहीं होता है अर्थात् वह उनसे सर्वथा भिन्न नहीं है, अपितु उन दोनों से अवियुक्त ही है।

बालप्रिया–

'**सामान्यात्मनावस्थिताभ्याम्**'–भाव यह है–

शङ्का–अतीत और अनागत-अध्वा से वर्तमान-अध्वा किस प्रकार भिन्न नहीं है?

समाधान–तत्त्ववैशारदीकार उत्तर देते हैं–'**सामान्येति।**' '**असत्**' की उत्पत्ति और '**सत्**' का नाश सम्भव न होने से सामान्यरूप से अवस्थित अतीत और अनागत-अध्वाओं से वर्तमान-अध्वा अवियुक्त (वियुक्त नहीं) रहता है। शब्दान्तर में दो उद्भूतों (विशेषों) में ही परस्पर विरोध होता है, न कि एक उद्भूत (विशेष) और एक अनुद्भूत (सामान्य) में। यह तथ्य '**सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्तन्ते**' वाक्य द्वारा पीछे उपपादित हो चुका है।

सम्प्रति, तृतीय '**अतीत-अध्वा**' पर विचार प्रस्तुत हो रहा है–

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त न–**उत्पाद०**, थ द ध–**उत्पत्ति०**।
2. थ द ध–**न चेति** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न–**न चेति** नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न–**सामान्यात्मनावस्थिताभ्यां**, त–**सामान्यात्मना च स्थिताभ्याम्**।

तत्त्ववैशारदी

अनागतस्य निरोधस्य वर्तमानतालक्षणं दर्शयित्वा वर्तमानव्युत्थानस्यातीततां तृतीयमध्वानमाह–तथा व्युत्थानमिति। तत्किं निरोध एवानागतो न व्युत्थानम्? नेत्याह–एवं पुनर्व्युत्थानमिति। व्युत्थानजात्यपेक्षया पुनर्भावो न व्यक्त्यपेक्षया। न ह्यतीतं पुनर्भवतीति। स्वरूपाभिव्यक्तिरर्थक्रियाक्षमस्याविर्भावः। स चैवं लक्षणपरिणाम उक्तस्तज्जातीयेषु पौनःपुन्येन वर्तत इत्यत आह–एवं पुनरिति।

अनागत-निरोध के वर्तमानतारूप (वर्तमानलक्षणक) द्वितीय अध्वा को प्रदर्शित करके भाष्यकार सम्प्रति, वर्तमानलक्षणक व्युत्थान के अतीततारूप (अतीत-लक्षणक) तृतीय अध्वा को कहते हैं–'**तथा व्युत्थानमिति।**' वैसे ही तीन प्रकार के भेद कराने वाले काल से युक्त त्रिलक्षणात्मक व्युत्थान वर्तमानरूप काल को त्यागकर अपने धर्मत्व का अतिक्रमण किये विना अतीत स्वरूप को प्राप्त होता है। यह इस अतीत व्युत्थान का अपने अनागत तथा वर्तमानकाल की अपेक्षा तृतीय काल है। अर्थात् व्युत्थान का प्रथम काल अनागत, द्वितीय काल वर्तमान तथा तृतीय काल अतीत कहा जाता है। यह अतीतलक्षणक व्युत्थानधर्म भी अपने अनागत और वर्तमानलक्षण से वियुक्त नहीं होता है।

शङ्का–क्या निरोध ही अनागतलक्षण वाला होता है, व्युत्थान नहीं?

समाधान–ऐसा नहीं है, इसी तथ्य को भाष्यकार बतलाते हैं–'**एवं पुनर्व्युत्थानमिति।**' इसी प्रकार फिर व्युत्थान भी प्रादुर्भूत होता हुआ अनागतकाल को त्यागकर सत्कार्यवाद के अनुसार अपने धर्मत्व का अतिक्रमण न करता हुआ वर्तमानस्वरूप को प्राप्त होता है। यहाँ व्युत्थानसंस्कारत्वरूप जाति की अपेक्षा (दृष्टि) से व्युत्थान-धर्म अनागतलक्षण को त्यागकर वर्तमानलक्षण को प्राप्त होता है, न कि व्यक्तित्वेन अर्थात् व्यक्ति की दृष्टि से अतीतलक्षण की वर्तमानता नहीं होती है, क्योंकि अतीत धर्म की पुनः अभिव्यक्ति नहीं होती है। '**स्वरूपाभिव्यक्ति**' शब्द का अर्थ है–(अनागत से वर्तमान में आते हुए) धर्म-कार्य में अर्थक्रियाकारित्वरूप क्षमता का आविर्भाव होना। अनागत और अतीतलक्षणक व्युत्थानसंस्कार अर्थक्रियारूप व्यापार करने में समर्थ नहीं होते हैं, केवल वर्तमानलक्षणक व्युत्थानसंस्कार स्वव्यापार को करने की क्षमता रखता है। यह व्युत्थानधर्म का जो वर्तमानलक्षणपरिणाम है, वह अनागत और अतीत अन्य दो लक्षणों से रहित नहीं होता है। इस प्रकार अपने-अपने निरोधजाति अथवा व्युत्थानजाति का लक्षणपरिणाम बार-बार होता है, इस तथ्य को भाष्यकार बतलाते हैं–'**एवं पुनरिति।**' इस प्रकार एकजातीय संस्कार के पश्चात् द्वितीय जातीय संस्कार और द्वितीय जातीय संस्कार के पश्चात् प्रथम जातीय

संस्कार–इस प्रकार चित्त का लक्षणघटित व्युत्थाननिरोधपरिणामचक्र कैवल्यपर्यन्त सतत चलता रहता है।

'**धर्मपरिणाम**' में अन्तर्निहित '**लक्षणपरिणाम**' के प्रतिपादन के पश्चात् धर्मनिष्ठ '**अवस्थापरिणाम**' का उपपादन किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

धर्मपरिणामसूचितमेवावस्थापरिणाममाह–तथेति। धर्माणां वर्तमानाध्वनां बलवत्त्वाबलवत्त्वे अवस्था। तस्याः प्रतिक्षणं तारतम्यं परिणामः। उपसंहरति–एष इति।

(चित्त-धर्मी का व्युत्थान-निरोधसंस्काररूप) '**धर्म-परिणाम**' बतलाने से ही धर्म का '**अवस्थापरिणाम**' भी स्वतः आ जाता है, इस तथ्य को भाष्यकार बतलाते हैं– '**तथाऽवस्थेति।**' चित्त-धर्मी के निरोध के क्षणों में निरोधसंस्काररूप धर्मों की बलवत्ता और व्युत्थानसंस्काररूप धर्मों की दुर्बलता होती है। यही वर्तमानलक्षणक धर्मों की बलवत्त्व और अबलवत्त्व रूप '**अवस्था**' है। इसी अवस्था का क्षण-प्रतिपक्ष तरतमता-रूप '**परिणाम**' चलता रहता है। भाष्यकार '**अवस्थापरिणाम**' का उपसंहार करते हैं– '**एष इति।**' यही (निरोधादि) धर्मों का '**अवस्थापरिणाम**' है।

बालप्रिया–

'**वर्तमानाध्वनाम्**'–यद्यपि धर्मनिष्ठ लक्षणपरिणाम वर्तमानादि अध्वभेद से तीन प्रकार का है, किन्तु अवस्थापरिणाम धर्मरूप कार्य के अनागतादि तीनों लक्षणों से सम्बन्धित नहीं होता है। अवस्थापरिणाम की परिधि वर्तमानलक्षणक धर्म (कार्य) तक ही है, न कि अनागत और अतीतलक्षणक धर्म तक भी। इसी सिद्धान्त के स्पष्टीकरण के लिये तत्त्ववैशारदीकार ने '**धर्माणाम्**' पद के द्वारा '**अवस्थापरिणाम**' के अभिहित क्षेत्र को '**वर्तमानाध्वनाम्**' पद के द्वारा सीमित किया है।

धर्मादि परिणामों के '**अधिष्ठान**' का स्वरूप वर्णित करते हुए आगे कहा जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

[1]**परिणामभेदानां संबन्धिभेदान्निर्धारयति** [2]**तन्त्रानुभवाऽनुसारात्–तत्र धर्मिण इति।**

सम्प्रति, भाष्यकार सम्बन्धिभेद से परिणामों का भेद होता है, इस तथ्य को शास्त्र एवं अनुभव दोनों के अनुसार निर्धारित करते हैं–'**तत्र धर्मिण इति।**' धर्मी

---

1. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न–**परिणामभेदानां...एवमिति** उपलभ्यते झ–**परिणाम...एवमिति** नोपलभ्यते।
2. क घ च छ ज त–**तत्रानुभवानुसारात्**, ख ग थ द ध–**तन्त्रानुभवानुसारात्**, झ न–**तत्र.../तन्त्र ..** नोपलभ्यते।

(मृत्तिका) का धर्मों (घटादियों) के रूप से परिणाम (**'धर्मपरिणाम'**) होता है, धर्मों (घटादियों) का लक्षणों (अनागतादियों) के रूप से परिणाम (**'लक्षणपरिणाम'**) होता है तथा लक्षण (वर्तमानलक्षणविशिष्ट धर्म) का भी अवस्थाओं (पुरातनादियों) के रूप से परिणाम (**'अवस्थापरिणाम'**) होता है।

बालप्रिया–

'सम्बन्धिभेदात्'–भाव यह है–इन तीन प्रकार के परिणामों में 'सत्' रूप से विद्यमान चित्तरूप **'धर्मी'** के व्युत्थानसंस्कार और निरोधसंस्काररूप धर्मों का क्रमशः आविर्भाव और तिरोभाव रूप से **'धर्मपरिणाम'** होता है। यह **'धर्मपरिणाम'** धर्मी के धर्मरूप सम्बन्धिभेद से होता है, वास्तविक धर्मी के रूप से नहीं। अनागत, वर्तमान तथा अतीत रूप तीन अध्वा वाले उक्त निरोध-धर्मों का अनागत से वर्तमान और वर्तमान से अतीत के आविर्भाव रूप से **'लक्षणपरिणाम'** होता है। यह **'लक्षणपरिणाम'** धर्मों के लक्षणरूप सम्बन्धिभेद से होता है, वास्तविक धर्मी के रूप से नहीं। और वर्तमानलक्षण का भी निरोधसंस्कारों की प्रबलता और व्युत्थानसंस्कारों की दुर्बलता के रूप से **'अवस्थापरिणाम'** होता है। यह **'अवस्थापरिणाम'** भी लक्षणों के अवस्थारूप सम्बन्धिभेद से होता है, वास्तविक धर्मी के रूप से नहीं। इस प्रकार धर्म, लक्षण और अवस्थारूप सम्बन्धिभेद से परिणाम होता है, वास्तविक धर्मी के रूप से नहीं–यह सिद्धान्त सुस्थिर होता है।

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार परिणामत्रय के आकस्मिक-अनाकस्मिक विकल्प पर विचार करते है–

तत्त्ववैशारदी

तत्किमेष परिणामो गुणानां कादाचित्कः? नेत्याह–एवमिति। कस्मात्पुनरयं परिणामः सदातन इत्यत आह–चलं चेति। चो हेत्वर्थः। वृत्तं प्रचारः। एतदेव कुत इत्यत आह–गुणस्वाभाव्यमिति। उक्तमत्रैव पुरस्तात्। सोऽयं त्रिविधोऽपि चित्तपरिणामो भूतेन्द्रियेषु सूत्रकारेण निर्दिष्ट इत्याह–एतेनेति। [1]एष धर्मपरिणामभेदो धर्मधर्मिणोर्भेदमालक्ष्य। तत्र भूतानां पृथिव्यादीनां धर्मिणां गवादिर्घटादिर्वा धर्मपरिणामः। धर्माणां चातीतानागतवर्तमानरूपता लक्षणपरिणामः। वर्तमानलक्षणापन्नस्य गवादेर्बाल्यकौमारयौवनवार्धकमवस्थापरिणामः। घटादीनामपि नवपुरातनतावस्थापरिणामः। एवमिन्द्रियाणामपि धर्मिणां तत्तन्नीलाद्यालोचनं धर्मपरिणामो धर्मस्य वर्तमानतादिलक्षणपरिणामो [2]वर्तमानलक्षणस्य रत्नाद्यालोचनस्य

1. क–**एष धर्मधर्मिभेदात्**, ख ग–**एष धर्मधर्मिभेदः**, घ च छ झ त न–**एष धर्मपरिणामभेदः**, ज–**एष धर्मपरिणामभेदात्**, थ द ध–**एष त्रिविधः परिणामो धर्मधर्मिभेदात्**।
2. क ख ग घ च छ ज झ त न–**वर्तमान॰** उपलभ्यते, थ द ध–**वर्तमान॰** नोपलभ्यते।

स्फुटत्वास्फुटत्वादिरवस्थापरिणामः। सोऽयमेवंविधो भूतेन्द्रियपरिणामो धर्मिणो धर्मलक्षणावस्थानां भेदमाश्रित्य वेदितव्यः।

शङ्का–गुणों का यह धर्मादिरूप परिणाम क्या आकस्मिक (अप्रत्याशित) होता है?

समाधान–नकारात्मक उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं– '**एवमिति**।' '**गुणवृत्त**' क्षण भर के लिये भी धर्म, लक्षण तथा अवस्थापरिणाम से रहित नहीं होता है। अर्थात् सत्त्वादि गुणों का यह क्षणात्मक परिणाम आकस्मिक नहीं, अपितु स्वाभानिक है।

शङ्का–किस कारण से त्रिगुणनिष्ठ धर्मादिपरिणाम सनातन अर्थात् शाश्वत है?

समाधान–भाष्यकार उत्तर देते हैं–'**चलं चेति**।' क्योंकि '**गुणवृत्त**' चञ्चल है। '**च**' अव्यय हेत्वर्थक है। भाष्यगत '**वृत्त**' पद का अर्थ है–प्रचार। ('**प्रचार**' शब्द '**प्र**' उपसर्गपूर्वक '**चर्**' धातु से '**घञ्**' प्रत्यय करके निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है–विचरण, भ्रमण अथवा चञ्चल।

शङ्का–'**त्रिगुण**' की '**चञ्चलता**' में क्या प्रमाण है?

समाधान–भाष्यकार उत्तर देते हैं–'**गुणस्वाभाव्यमिति**।' सत्त्वादि गुणों की प्रवृत्ति का कारण गुणस्वभाव ही है। यह बात अभी-अभी पहले कही गई है। यही तीन प्रकार का चित्तपरिणाम भूतेन्द्रियादि सकल पदार्थों में सूत्रकार द्वारा उपदिष्ट हुआ है। ऐसा ही भाष्यकार कहते हैं–'**एतेनेति**।' इस चित्तपरिणाम के कथन से भूत तथा इन्द्रियादि निखिल पदार्थों में धर्मधर्मिभेद से तीन प्रकार का परिणाम जानना चाहिये। इन तीन प्रकार के परिणामों में धर्मपरिणामभेद धर्म-धर्मी के भेद को लक्षित करके अभिहित हुआ है। धर्मीभूत पृथिव्यादि भूतों का गवादि अथवा घटादिरूप '**धर्मपरिणाम**' होता है। गो, घटादि धर्मों का अतीत, अनागत तथा वर्तमानरूप '**लक्षणपरिणाम**' होता है और वर्तमानलक्षणापन्न गवादि धर्मों का बाल्य, कौमार, यौवन तथा वार्धक्यरूप '**अवस्थापरिणाम**' होता है। वर्तमानलक्षणापन्न घटादियों का भी नवत्व, पुरातनत्वादि रूप '**अवस्थापरिणाम**' होता है। इसी प्रकार इन्द्रियादि धर्मियों का भी नील, पीतादि का '**आलोचन**' (ज्ञान) रूप '**धर्मपरिणाम**' होता है। नीलादिज्ञानरूप धर्म का वर्तमानादि '**लक्षणपरिणाम**' होता है और वर्तमानलक्षणविशिष्ट रत्नादि आलोचन का स्फुटत्व, अस्फुटत्वादि रूप '**अवस्थापरिणाम**' होता है। इस प्रकार धर्मी से धर्म, लक्षण और अवस्था के '**भेद**' को आधार मानकर भूतेन्द्रियधर्मिनिष्ठ परिणाम समझना चाहिये।

धर्म-धर्मी के '**भेदपक्ष**' को लेकर परिणामत्रय की चर्चा के पश्चात् उनके (धर्म-धर्मी के) '**अभेदपक्ष**' को लेकर परिणामत्रय पर विचार किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

अभेदमाश्रित्याह–परमार्थतस्त्विति। तुशब्दो भेदपक्षाद्विशिनष्टि। पारमार्थिकत्वमस्य

ज्ञाप्यते, न त्वन्यस्य [1]परिणामत्वं निषिध्यते। कस्मात्–धर्मिस्वरूपमात्रो हीति। ननु यदि [2]धर्मिविक्रियैव धर्मः, [3]कथमसंकरप्रत्ययो लोके परिणामेष्वित्यत आह–धर्मद्वारेति। धर्म-शब्देन धर्मलक्षणावस्थाः परिगृह्यन्ते। तद्द्वारेण धर्मिण एव विक्रियेत्येका चासंकीर्णा च। तद्द्वारापरिणामभेदेऽपि धर्मिणः परस्परासंकरात्।

भाष्यकार धर्म-धर्मी के अभेदपक्ष को लेकर परिणामत्रय के विषय में कहते हैं–'**परमार्थतस्त्विति**।' भाष्य में प्रयुक्त '**तु**' अव्यय '**धर्मधर्म्यभेदपक्ष**' को 'धर्मधर्मिभेदपक्ष' से पृथक् करता है। पारमार्थिक दृष्टि से एक ही प्रकार का परिणाम होता है–इस कथन से परिणाम के '**पारमार्थिक**' (वास्तविक) पक्ष का अवबोध कराया गया है, न कि परिणाम की भिन्नता का निषेध किया गया है। अर्थात् यहाँ परिणामों के त्रित्व का निषेध नहीं किया गया है, अपितु धर्मी के ही तीन प्रकार के परिणाम होते हैं– इस अभेदपक्ष पर प्रकाश डाला गया है।

शङ्का–किस प्रकार धर्म (कार्य) धर्मी (कारण) रूप है?

समाधान–भाष्यकार उत्तर देते हैं–'**धर्मिस्वरूपमात्रो हीति**।' धर्म (कार्य) धर्मी (कारण) स्वरूप ही होता है अर्थात् वह कारणात्मक ही है, (न कि तत्त्वान्तर)। अर्थात् कार्य के कारणात्मक होने से वह कारण से सर्वथा भिन्न नहीं, अपितु अभिन्न भी है।

शङ्का–यदि '**धर्म**' (कार्य) '**धर्मी**' (कारण) का '**विकारमात्र**' है, तो जगत् में परिणामों को लेकर यह '**धर्मपरिणाम**' है, यह '**लक्षणपरिणाम**' है और यह '**अवस्थापरिणाम**' है– इत्याकारक भेदव्यवहार (भिन्नता का बोध=असंकरप्रत्यय) कैसे उपपन्न होता है?

समाधान–भाष्यकार उत्तर देते हैं–'**धर्मद्वारेति**।' धर्मी का यह कार्यरूप विकार ही धर्म द्वारा विस्तार को प्राप्त होता है। भाष्य में प्रयुक्त '**धर्म**' शब्द से धर्म, लक्षण और अवस्था तीनों परिणाम गृहीत होते हैं। धर्मादि द्वारा धर्मी की ही विक्रिया अर्थात् विकार (कार्य) का प्रतिपादन होता है, जो एक तथा असंकीर्ण है। द्वारभूत धर्मादियों का द्वारीभूत धर्मी से अभेद होने पर भी इनमें परस्पर भेद (असंकर) है। अर्थात् परिणामवश धर्म-धर्मी में सांकर्यदोष नहीं आता है।

धर्मी के धर्मपरिणाम से धर्मी का '**द्रव्यान्यथात्व**' नहीं होता है, अपितु धर्मी का '**भावान्यथात्व**' ही होता है–इस सिद्धान्त को शंकोपस्थापनपूर्वक प्रतिपादित किया जा रहा है–

---

1. क थ द ध–**परिणामस्य**, ग घ च छ ज झ न–**परिणामत्वं**, ख त–**परिणामस्य/परिणामत्वं** नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ छ ज झ त थ द ध–**धर्मि०**, च–**धर्म**, न–**धर्म०**।
3. क ख ग घ च छ ज झ त न–**कथं**, थ द ध–**कथं तर्हि**।

तत्त्ववैशारदी

ननु [1]धर्मिणो धर्माणामभिन्नत्वे धर्मिणोऽध्वनां च भेदे धर्मिणोऽनन्यत्वेन धर्मेणापीह धर्मिवद्भवितव्यमित्यत आह–तत्र धर्मस्येति। भावः संस्थानभेदः। सुवर्णादेर्यथा भाजनस्य रुचकस्वस्तिकव्यपदेशभेदो भवति तन्मात्रमन्यथा भवति, न तु द्रव्यं सुवर्णमसुवर्णतामुपैति, अत्यन्तभेदाभावादिति वक्ष्यमाणोऽभिसंधिः।

शङ्का–धर्मी से धर्मों के अभिन्न होने पर तथा अनागतादि अध्वाओं का धर्मी से भेद होने पर धर्मी से अनन्य अर्थात् अभिन्न धर्म से भी अनागतादि अध्वाओं को धर्मी के समान भिन्न मानना चाहिये?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**तत्र धर्मस्येति**।' भाष्यगत '**भाव**' शब्द का अर्थ है–संस्थानभेद अर्थात् आकारविशेष। (सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ इस प्रकार हुआ–मृत्तिका '**धर्मी**' में अनागतरूप से स्थित जो घट '**धर्म**' है, उसी की अनागत, वर्तमान और अतीत काल के रूप में आकार की भिन्नता मात्र होती है न कि द्रव्य की भिन्नता होती है। अर्थात् 'यह घट है' 'यह शराव है' आदि संस्थानभेद को लेकर व्यवहारमात्र की भिन्नता बोधित करायी जाती है, न कि द्रव्य की भिन्नता। इस प्रकार धर्म के अन्यथात्व से धर्म-धर्मी की 'एकता' और 'असंकीर्णता' को व्याघात नहीं पहुँचता है)। तथ्य को उदाहरण से स्पष्ट किया जा रहा है–सुवर्णादि पात्र का ही रुचक, स्वस्तिकादि रूप से व्यवहारभेद होता है–इस प्रकार संस्थानभेद से धर्मिनिष्ठ धर्म का ही अन्यथात्व=भिन्नत्व होता है, न कि कटक, कुण्डलादि धर्मों की भिन्नता के कारण धर्मिरूप सुवर्ण असुवर्णता को प्राप्त होता है, क्योंकि धर्म-धर्मी में अत्यन्तभेद का अभाव है–यही प्रतिपाद्यमान सिद्धान्त है।

योगमत में धर्म-धर्मी में '**अत्यन्त भेद**' के समान '**अत्यन्त अभेद**' भी नहीं है। अतः धर्म-धर्मी में अत्यन्त अभेद मानने वाले बौद्ध सम्प्रदाय की ओर से उद्भावित पूर्वपक्ष का खण्डन किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

एकान्तवादिनं बौद्धमुत्थापयति–अपर आहेति। धर्मा एव हि रुचकादयस्तथोत्पन्नाः परमार्थसन्तो न पुनः सुवर्णं नाम किञ्चिदेकमनेकेष्वनुगतं द्रव्यमिति। यदि पुनर्निवर्तमानेष्वपि धर्मेषु द्रव्यमनुगतं भवेत्ततो न चितिशक्तिवत्परिणमेत, अपि तु कौटस्थ्येनैव विपरिवर्तेत। परिणामात्मकं रूपं परिहाय रूपान्तरेण कौटस्थ्येन परिवर्तनं परिवृत्तिः। यथा चितिशक्तिरन्यथान्यथाभावं भजमानेष्वपि गुणेषु स्वरूपादप्रच्युता कूटस्थनित्यैवं सुवर्णाद्यपि स्यात्। न चेष्यते। तस्मान्न द्रव्यमतिरिक्तं धर्मेभ्य इति। परिहरति–अयमदोष इति। कस्मात्? [2]एकान्ता-

1. क–**धर्मिणां**, ग थ द ध न–**धर्मिणः**, ख घ च छ ज झ त–**धर्मिणां/धर्मिणः** नोपलभ्यते।
2. क घ च छ ज त–**एकान्तता०**, ख ग झ थ द ध न–**एकान्त०**।

नभ्युपगमादिति। यदि चित्तिशक्तेरिव द्रव्यस्यैकान्तिकीं नित्यतामभ्युपगच्छेम तत एवमुपालभ्येमहि। न त्वैकान्तिकीं नित्यतामातिष्ठामहे। किं तु तदेतत्त्रैलोक्यं न तु द्रव्यमात्रं व्यक्तेरर्थक्रियाकारिणो रूपादपैति। कस्मात्? नित्यत्वप्रतिषेधादिति। नित्यत्वप्रतिषेधात् प्रमाणेन। यदि हि घटो व्यक्तेर्नापेयात्कपालशर्कराचूर्णादिष्ववस्थास्वपि व्यक्तो घट इति पूर्ववदुपलब्ध्यर्थक्रिये कुर्यात्। तस्मादनित्यं त्रैलोक्यम्। अस्तु तर्ह्यनित्यमेवोपलब्ध्यर्थक्रियारहितत्वेन गगनारविन्दवदतितुच्छत्वादित्यत आह—अपेतमप्यस्तीति। नात्यन्ततुच्छता येनैकान्ततोऽनित्यं स्यादित्यर्थः। कस्मात्? विनाशप्रतिषेधादिति। विनाशप्रतिषेधात् प्रमाणेन। तथा हि—यत्तुच्छं न तत्कदाचिदप्युपलब्ध्यर्थक्रिये करोति, यथा गगनारविन्दम्। करोति चैतत्त्रैलोक्यं कदाचिदप्युपलब्ध्यर्थक्रिये इति। तथो[1]त्पत्तिमद्द्रव्यत्वधर्मलक्षणावस्थायोगित्वादयोऽप्यत्यन्ततुच्छा गगननलिननरविषाणादिव्यावृत्ताः सत्त्वहेतव उदाहार्याः। तथा च नात्यन्तनित्यो येन चितिशक्तिवत्कूटस्थनित्यः स्यात्। किं तु कथञ्चिन्नित्यः। तथा च परिणामीति सिद्धम्। एतेन मृत्पिण्डाद्यवस्थासु कार्याणां घटादीनामनागतानां सत्त्वं वेदितव्यम्। स्यादेतत्—अपेतमपि [2]चेदस्ति कस्मात्पूर्ववन्नोपलभ्यत इत्यत आह—[3]संसर्गादिति। संसर्गात्स्वकारणलयात् [4]सौक्ष्म्यं [5]दर्शनानर्हत्वं ततश्चानुपलब्धिरिति।

पूर्वपक्ष—धर्म-धर्मी में अत्यन्त-अभेद के पोषक एकान्तवादी बौद्धों के मत को भाष्यकार उठाते हैं—'**अपर आहेति**।' रुचकादि धर्म ही उत्पन्न होकर परमार्थसत् हैं। सुवर्ण नाम का कोई पृथक् धर्मी अर्थात् द्रव्य नहीं है, जो एक होता हुआ अनेकों (धर्मों) में अनुगत रहे। (बौद्धमत में क्षणिक धर्मी उत्तरान्वयी नहीं होता है। अतः ये धर्म से अतिरिक्त धर्मी को स्वीकार नहीं करते हैं)। यदि द्रव्य (सुवर्णादि धर्मी) परिवर्तनशील धर्मों में अन्वित रहेगा अर्थात् धर्मिरूप द्रव्य तत्तत् कार्यों का अनुसरण करता रहेगा तो जिस प्रकार चितिशक्ति (आत्मा) का परिणाम नहीं होता है उसी प्रकार सर्व काल और सभी अवस्थाओं में धर्म में अनुगत रहने वाले द्रव्यरूप धर्मी का परिणाम नहीं कहा जा सकेगा। अपितु उसे कूटस्थरूप से ही विपरिणामी कहना पड़ेगा। भाष्य के '**विपरिवर्तेत**' पद में निहित '**परिवृत्ति**' शब्द के अर्थ को तत्त्ववैशारदीकार स्पष्ट करते हैं—**परिणामात्मक** रूप को छोड़कर द्रव्यरूप धर्मी का '**कूटस्थरूप**' रूपान्तर से होने वाला परिवर्तन '**परिवृत्ति**' (परि+वृत्+क्तिन्) कहलाता है। जैसे '**चितिशक्ति**' परिवर्तनशील अर्थात् परिणामशील गुणों के '**अन्यथा-**

---

1. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न—**उत्पत्तिमत्**, झ—**उत्पत्ति०**।
2. क ख ग घ च छ ज झ त न—**चेदस्ति**, थ द ध—**अस्ति चेत्**।
3. थ द ध—**संसर्गादिति** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न—**संसर्गादिति** नोपलभ्यते।
4. क—**सौक्ष्म्यं सौक्ष्म्याच्च**, ख ग घ च ज झ थ द ध न—**सौक्ष्म्यं**, छ त—**सौक्ष्म्याच्च**।
5. क ख ग घ च छ ज झ त न—**दर्शनानर्हत्वं**, थ द ध—**दर्शनानर्हम्**।

भाव' को प्राप्त न होकर अपने स्वरूप से च्युत नहीं होती है, इसलिये वह '**कूटस्थ-नित्य**' कहलाती है। वैसे ही सभी धर्मों में अनुगत रहने से स्वयं अन्यथाभाव को न प्राप्त होने वाला सुवर्णादि द्रव्य (धर्मी) भी कूटस्थनित्य हो जायेगा। किन्तु ऐसा एकान्तवादी बौद्ध को मान्य नहीं है, इसलिये '**धर्म**' से अतिरिक्त '**धर्मी**' नाम का द्रव्य नहीं है, जो सभी धर्मों में अनुस्यूत रहे।

उत्तरपक्ष—भाष्यकार पूर्वपक्षी के मत का खण्डन करते हैं—'**अयमदोष इति**।' एकान्त-वादी बौद्धों के द्वारा लगाया गया उक्त दोष योगमत में सिद्ध नहीं होता है।

शङ्का—किस प्रकार उक्त दोष की प्रसक्ति नहीं होती है?

समाधान—भाष्यकार हेतु उपन्यस्त करते हैं—'**एकान्तानभ्युपगमादिति**।' यदि चितिशक्ति के समान धर्मिरूप द्रव्य की ऐकान्तिक नित्यता को स्वीकार किया जाय तभी हम योगाचार्य उपालम्भ के पात्र बन सकते हैं। किन्तु हम तो मृत्तिकादि द्रव्यों (धर्मियों) की ऐकान्तिक नित्यता के पक्षपाती नहीं हैं। किन्तु यह त्रैलोक्य अर्थात् त्रिलोक का धर्म-धर्मी रूप प्रत्येक जड़ पदार्थ, केवल धर्मी नहीं, अपने अर्थक्रियाकारित्वरूप 'व्यक्ति' की दृष्टि से पृथक् होता है। अर्थात् धर्मी-द्रव्य से धर्म-व्यक्ति पृथक् होता है, न कि सर्वथा अपृथक्। अतः जडात्मक-धर्मी के '**कूटस्थनित्य**' न होने से वह अपने धर्म-कार्य की दृष्टि से अनागतलक्षण से वर्तमानलक्षण तथा वर्तमानलक्षण से अतीतलक्षण के विपरिणाम को प्राप्त होता है। इस प्रकार हम मृत्तिकादि द्रव्यों (धर्मियों) की ऐकान्तिक नित्यता के पक्षपाती नहीं हैं।

शङ्का—क्यों धर्मिनिष्ठ धर्म अपनी वर्तमानलक्षणक अर्थक्रियाकारिता को छोड़कर अतीतावस्था में पहुँच जाता है?

समाधान—भाष्यकार उत्तर देते हैं—'**नित्यत्वप्रतिषेधादिति**।' क्योंकि प्रमाण द्वारा धर्मी में नित्यत्व का निषेध किया गया है। यदि घट वर्तमान अवस्था में होने वाली जलाहरणादि अर्थक्रियाकारिता को अपनी अतीतावस्था में भी न छोड़े तब तो कपाल, शर्करा, (कंकड़) चूर्णादि अवस्थाओं में भी व्यक्त घट अपनी अभिव्यक्ति और अर्थक्रिया को करता रहेगा—किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। इसलिये यह त्रिलोकी (त्रिलोकगत प्रत्येक पदार्थ) अनित्य है।

शङ्का—तब तो सार्वकालिक उपलब्धि और अर्थक्रिया से रहित होने के कारण द्रव्य धर्मी (मृत्तिकादि) को '**एकान्त अनित्य**' ही माना जाय, क्योंकि यह आकाशकुसुम की भाँति अत्यन्त तुच्छ है?

समाधान—इस पर भाष्यकार कहते हैं—'**अपेतमप्यस्तीति**।' द्रव्यरूप धर्मी अतीतावस्था को पहुँचकर (अर्थक्रिया से रहित होकर) भी विद्यमान रहता है, सर्वथा नष्ट नहीं

हो जाता है। अतः द्रव्य (मृत्तिकादि धर्मी) को **अत्यन्ततुच्छ** (अलीक) भी नहीं कह सकते हैं, जिससे उसे **'एकान्त-अनित्य'** मान्¯ जाय।

शङ्का–किस कारण से द्रव्य धर्मी को **'एकान्त-अनित्य'** नहीं माना जाता है?

समाधान–उत्तर है–**'विनाशप्रतिषेधादिति।'** प्रमाण द्वारा द्रव्य धर्मी में आत्यन्तिक नाश का निषेध किया गया है। अतः वह आकाशकुसुम की भाँति एकान्त-अनित्य नहीं है। भाव यह है–जो पदार्थ **'तुच्छ'** होता है, वह कभी भी अपनी **'अभिव्यक्ति'** और **'अर्थक्रिया'** को नहीं करता है, जैसे **'गगनारविन्द।'** अर्थात् **'गगनारविन्द'** की न तो कभी अभिव्यक्ति होती है और न ही वह किसी प्रकार की अर्थक्रिया को करने में सक्षम होता है। अतः गगनारविन्द को एकान्त अनित्य (तुच्छ) कहना न्यायसंगत है। किन्तु पुरोदृश्यमान जागतिक पदार्थ कभी-कभी उपलब्धि (ज्ञान का विषय) और अर्थ-क्रिया दोनों को करता है। अतः उत्पत्तिशील पदार्थ में निहित धर्म, लक्षण एवं अवस्था की योग्यताएँ भी, अत्यन्त तुच्छ गगनारविन्द और शशशृङ्ग से व्यावृत्त अर्थात् पृथक्, त्रिलोकी की सत्ता को सिद्ध करने में हेतु रूप से उदाहृत हैं। अतः यह त्रिलोकी अत्यन्तनित्य नहीं है, जिससे उसे चितिशक्ति (पुरुष) के समान कूटस्थनित्य मानने का अतिप्रसंग उपस्थित होवे। वह तो कथञ्चित् नित्य है और कथञ्चित् नित्यता से पदार्थ का परिणामित्व (कथञ्चित् अनित्यत्व) भी सिद्ध होता है। (शब्दान्तर में द्रव्य शशविषाण की अपेक्षा नित्य और चितिशक्ति की अपेक्षा अनित्य है)। इससे मृत्पिण्डादि धर्मियों में अनागतकालीन घटादि धर्मों की सत्ता को मानना चाहिये।

शङ्का–वर्तमान अवस्था से अतीत अवस्था में पहुँच जाने पर भी यदि **'धर्म'** (कार्य) **'धर्मी'** (कारण) में विद्यमान रहता है, तो कार्य वर्तमानावस्था के समान अपनी अतीतावस्था में उपलब्ध (प्रत्यक्ष) क्यों नहीं होता है?

समाधान–इस पर भाष्यकार का वक्तव्य है–**'संसर्गादिति।'** **'धर्म'** (कार्य) का **'धर्मी'** (कारण) में लय हो जाने से कार्य में (लयप्रयुक्त) सूक्ष्मता आ जाती है, फलतः दर्शनार्हता (प्रत्यक्षयोग्यता) नहीं रहती है, जिससे कारणस्थ कार्य की उपलब्धि नहीं होती है।

बालप्रिया–

'सौक्ष्म्याच्चानुपलब्धिः'–भाव यह है कि सूक्ष्मता के कारण पदार्थ का प्रत्यक्ष नहीं होता है। जैसे अत्यन्त सूक्ष्म होने से परमाणु का प्रत्यक्ष नहीं होता है। सांख्य में प्रत्यक्षविघटक कारणों की प्रतिपादिका कारिका इस प्रकार कही गई है–

'अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात्समानाभिहाराच्च॥'

'**धर्मपरिणाम**' की साङ्गोपाङ्ग व्याख्या के पश्चात् सम्प्रति, धर्मिनिष्ठ '**धर्म**' के '**लक्षणपरिणाम**' पर विचार प्रारम्भ हो रहा है–

तत्त्ववैशारदी

तदेवं धर्मपरिणामं समर्थ्य लक्षणपरिणाममपि लक्षणानां परस्परानुगमनेन समर्थयते–लक्षणपरिणाम इति। एकैकं लक्षणं लक्षणान्तराभ्यां समनुगतमित्यर्थः।

इस प्रकार '**धर्मपरिणाम**' को समर्थित करके भाष्यकार सम्प्रति, अनागतादि लक्षणों से परस्पर सम्बन्धित होने से धर्मनिष्ठ '**लक्षणपरिणाम**' का भी समर्थन करते हैं–'**लक्षणपरिणाम इति।**' अनागतादि प्रत्येक लक्षण अन्य दो लक्षणों से अनुसरित (अनुगत) रहता है।

बालप्रिया–

'**समनुगतम्**'–भाव यह है–मृत्तिका '**धर्मी**' का लक्षणपरिणामयुक्त जो घटादि '**धर्म**' है, वह भी अनागतादि तीनों अध्वाओं में विद्यमान रहने से '**सत्**' ही है, न कि 'असत्।' भाष्यकार इसमें हेतु बतलाते हैं–'**अतीत इति।**' सूक्ष्म अवस्था वाले अनागत और अतीत से अवियुक्त (अपृथक्) रहकर ही धर्म वर्तमानलक्षण वाला होता है। अतः धर्म की सत्ता कालत्रय में है, यह सिद्धान्त सुस्थिर होता है।

सम्प्रति, धर्मनिष्ठ अनागतादि लक्षणों की परस्पर सम्बद्धता के विषय में पूर्वपक्षी प्रश्न करता है–

तत्त्ववैशारदी

नन्वेकलक्षणयोगे लक्षणान्तरे नानुभूयेते, तत्कथं तद्योग इत्यत आह–यथा पुरुष इति। न ह्यनुभवाभावः प्रमाणसिद्धमपलपति। तदुत्पाद एव तत्र तत्सद्भावे प्रमाणम्, असत उत्पादासंभवान्नरविषाणवदिति। परोक्तं दोषमुत्थापयति–अत्र लक्षणपरिणाम इति। यदा धर्मो वर्तमानस्तदैव यद्यतीतोऽनागतश्च तदा त्रयोऽप्यध्वानः संकीर्येरन्। अनुक्रमेण चाध्वनां भावेऽसदुत्पादप्रसङ्ग इति भावः। परिहरति–तस्य परिहार इति। वर्तमानतैव हि धर्माणामनुभवसिद्धा, ततः प्राक्पश्चात्कालसंबन्धमवगमयति। न खल्वसदुत्पद्यते, न च सद्विनश्यति। तदिदमाह–एवं हि न चित्तमिति। क्रोधोत्तरकालं हि चित्तं रागधर्मकमनुभूयते। यदा च रागः क्रोधसमयेऽनागतत्वेन नासीत्कथमसावुत्पद्येत? अनुत्पन्नश्च कथमनुभूयेतेति?

शङ्का–'**वर्तमान**' लक्षणयुक्त घटादि में '**अतीत**' एवं '**अनागत**' ये दोनों '**लक्षण**' अनुभव के विषय नहीं बनते हैं, अतः एक (वर्तमान) लक्षणयुक्त घटादि में अन्य दो (अनागत एवं अतीत) लक्षणों का सद्भाव कैसे माना जा सकता है?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**यथा पुरुष इति।**' अनुभव का अभाव होने से प्रत्यक्षसिद्ध पदार्थ का अपलाप नहीं किया जा सकता है। अतीतादि लक्षणों की

अभिव्यक्ति=उत्पत्ति ही उनके **सद्भाव** में प्रमाण है। क्योंकि '**असत्**' पदार्थ कथमपि उत्पन्न नहीं होता है। जैसे असत् नरविषाण की उत्पत्ति कभी भी न देखी जाने से उसे '**असत्**' कहते हैं। (किन्तु कालान्तर में उत्पन्न होने वाले अनागतादि लक्षणों को कैसे असत् कहा जा सकता है? अतः वर्तमानलक्षणयुक्त घट को अन्य दो पूर्व-पश्चिम लक्षणों से अवियुक्त कहना न्यायसंगत है)। इस विषय में पूर्वपक्षी द्वारा प्रत्यारोपित दोष को भाष्यकार उठाते हैं–'**अत्र लक्षणपरिणाम इति**।'

पूर्वपक्ष–जिस काल में घटादि धर्म '**वर्तमानलक्षण**' वाला होता है, उसी काल में यदि वह '**अतीत**' और '**अनागतलक्षण**' वाला भी हो तो त्र्यध्वात्मक लक्षण के तीनों अध्वा भी संकीर्ण (सम्मिश्रित) हो जायेंगे। (फलतः जिस काल में '**घटो वर्तमानः**' व्यवहार होता है, उसी काल में '**घटो अतीतः**' '**घटो भविष्यति**' ऐसा अनभिप्रेत व्यवहार भी होने लगेगा)। यदि अतीतादि लक्षणों की क्रमशः उत्पत्ति मानी जाय तो '**असत्**' की उत्पत्ति का दोषयुक्त प्रसंग उठेगा। (अतः ऐसा मानना न्यायसंगत होगा कि वर्तमानलक्षणमात्र प्रत्येक वस्तु है। पूर्व तथा उत्तरकाल में उसका अभाव रहता है। रही व्यवहार की बात तो अभाव के प्रतियोगी होने से अतीत तथा अनागत-लक्षणक व्यवहार भी उपपन्न हो जायेगा)।

उत्तरपक्ष–भाष्यकार पूर्वपक्ष का खण्डन करते हैं–'**तस्य परिहार इति**।' धर्मों की वर्तमानता ही अनुभवसिद्ध है, अर्थात् मृत्तिका-धर्मी के घट-धर्म का वर्तमानलक्षण-परिणाम ही प्रत्यक्षगम्य है, जो अपने पूर्ववर्ती '**अनागतलक्षण**' और पश्चाद्वर्ती '**अतीतलक्षण**' से सम्बद्ध होने का ज्ञान (अनुमान) कराता है। इसमें हेतु यह है कि '**असत्**' पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती है और '**सत्**' पदार्थ का नाश नहीं होता है। इसी तथ्य को भाष्यकार (अन्य उदाहरण से) सिद्ध करते हैं–'**एवं हि न चित्तमिति**।' क्रोध के उत्तरकाल में चित्त रागधर्मक अनुभूत होता है अर्थात् चित्तधर्मी में क्रोध-धर्म के पश्चात् राग-धर्म भी दिखलाई पड़ता है। किन्तु पूर्वपक्षी के अनुसार क्रोधाभिव्यक्ति-काल में यदि राग को अनागत (अनभिव्यक्त) रूप से विद्यमान नहीं माना जायेगा तो क्रोध के पश्चात् चित्त में राग-धर्म कैसे उत्पन्न हो सकेगा और उत्पन्न न होने से वह कैसे अनुभूत हो सकेगा? अतः यह मानना चाहिये कि क्रोध की वर्तमान दशा में राग अनागतलक्षण से '**सत्**' है।

'**लक्षणपरिणाम**' के तीनों अध्वाओं की सत्ता सिद्ध हो जाने के पश्चात् सम्प्रति, इन अनागतादि अध्वाओं के '**असांकर्य**' पक्ष को स्पष्ट किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

भवत्वेवम्, तथापि कुतोऽध्वनामसंकर इति पृच्छति–किञ्चेति। किं कारणमसंकरे। च

पुनरर्थे। उत्तरमाह–[1]त्रयाणामिति। त्रयाणां लक्षणानां युगपन्नास्ति संभवः। कस्मिन्? एकस्यां चित्तवृत्तौ। क्रमेण तु लक्षणानामेकतमस्य स्वव्यञ्जकाञ्जनस्य भावो भवेत्संभवेत्। लक्ष्याधीननिरूपणतया लक्षणानां लक्ष्याकारेण तद्वत्ता।

शङ्का–ठीक है, एक '**लक्षणपरिणाम**' के समय अन्य दो लक्षणों की सत्ता मान ली जाय फिर भी इन अध्वाओं में सांकर्यदोष कैसे नहीं आता है–इत्याकारक शङ्का को पूर्वपक्षी पूछता है–'**किञ्चेति।**' वर्तमानादि अध्वाओं की असंकीर्णता में कौन निमित्त है? अर्थात् किस कारण से एक काल में रहने वाले वर्तमानादि तीनों अध्वाओं में सम्मिश्रण नहीं होता है। यहाँ '**किञ्च**' में '**च**' अव्यय '**पुनः**' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

समाधान–भाष्यकार उत्तर देते है–'**त्रयाणामिति।**' वर्तमानादि तीनों लक्षणों की एक साथ अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है।

शङ्का–किसमें?

समाधान–एक चित्तवृत्ति में। किन्तु अनागतादि लक्षणों में से उस एक लक्षण की क्रम से अभिव्यक्ति होती है, जो अपने अभिव्यञ्जक से अभिव्यञ्जित होता है। अर्थात् जिसका अभिव्यञ्जक रहता है, उसकी अभिव्यक्ति होती है और जिसका अभिव्यञ्जक नहीं रहता, उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती है। क्योंकि '**लक्षणों**' का निरूपण '**लक्ष्य**' (धर्म) के अधीन होने से लक्षणों की लक्ष्य के आकार के अनुसार ही लक्षणवत्ता होती है। (भाव यह है कि अनागतादि लक्षण धर्मभूत लक्ष्य पर आदृत रहते हैं। अतः (कार्य) की अभिव्यक्तता और अनभिव्यक्तता पर अनागतादि लक्षणों की स्थिति निर्भर करती है। जैसे मृत्तिका-धर्मी से प्रादुर्भूत घट-धर्म की व्यक्तावस्था में तदाधारित वर्तमानलक्षणपरिणाम परिदृष्ट होता है और घट के प्रादुर्भाव से पूर्व लक्ष्याधीन लक्षण भी घट के समान अपनी अनागतरूप अव्यक्तावस्था में रहता है। यही स्थिति घट-ध्वंस के समय अतीतलक्षण की होती है। अतः धर्मनिष्ठ '**लक्षण**' धर्म की विभिन्न स्थितियों में विभिन्न लक्षणों से युक्त रहता है। अतः लक्षणत्रय से सदा युक्त रहने पर भी धर्म में तीनों लक्षणों के सांकर्य का दोष प्रसक्त नहीं होता है)।

सम्प्रति, अनागतादि अध्वाओं के असांकर्य में प्रमाण प्रस्तुत किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

अत्रैव पञ्चशिखाचार्यसंमतिमाह–उक्तं चेति। एतच्च प्रागेव व्याख्यातम्। उपसंहरति–तस्मादिति। आविर्भावतिरोभावरूपविरुद्धधर्मसंसर्गादसंकरोऽध्वनामिति। दृष्टान्तमाह–यथा रागस्येति। पूर्वं क्रोधस्य रागसंबन्धावगमो दर्शित इति, इदानीं तु विषयान्तरवर्तिनो रागस्य

1. थ द ध–**त्रयाणामिति** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न–**त्रयाणामिति** नोपलभ्यते।

विषयान्तरवर्तिना [1]रागान्तरेण संबन्धावगम इति। दार्ष्टान्तिकमाह–तथा लक्षणस्येतीति।

भाष्यकार, इस विषय (अनागत और अतीत लक्षणों का वर्तमान लक्षण से विरोध नहीं है) में **'पञ्चशिखाचार्य'** की समनुकूलता (सहमति) को प्रस्तुत करते हैं– **'उक्तञ्चेति।'** पञ्चशिखाचार्य के **'रूपातिशया:...प्रवर्तन्ते'** इस वाक्य का व्याख्यान पीछे किया जा चुका है। सांकर्यदोष की खण्डनपरक व्याख्या को उपसंहृत करते हुए भाष्यकार कहते है–**'तस्मादिति।'** आविर्भाव और तिरोभावरूप विरुद्ध धर्मों का परस्पर संसर्ग (सम्बन्ध) रहने से अतीतादि अध्वाओं में कालसांकर्यदोष प्रसक्त नहीं होता है। अर्थात् अतीतादि अध्वाओं में असांकर्य ही रहता है। इस विषय में भाष्यकार दृष्टान्त प्रस्तुत करते है–**'यथा रागस्येति।'** (**'एवं हि न चित्तं रागधर्मकं स्यात्...'** व्यासभाष्य तथा **'क्रोधोत्तरकालं हि चित्तं रागधर्मकमनुभूयते'** तत्त्ववैशारदी द्वारा) पीछे चित्त-धर्मी में क्रोध-धर्म का राग-धर्म के साथ सामान्य और विशेषरूप (अभिव्यक्त और अनभिव्यक्तरूप) सम्बन्ध का होना प्रदर्शित किया गया है और सम्प्रति, एकविषयनिष्ठ (समुदाचार=अभिव्यक्त) राग का अन्यविषयवर्ती (अनभि-व्यक्त) रागान्तर के साथ होने वाले सम्बन्ध का बोध कराया जा रहा है। अर्थात् जिस प्रकार चित्त-धर्मी के राग और क्रोधरूप भिन्न-भिन्न स्वरूप वाले धर्मों में अभिव्यक्त-अनभिव्यक्तरूप अथवा सामान्य-विशेषरूप से सहावस्थिति सम्भव है, उसी प्रकार एकविषयवर्ती वर्तमानराग का अन्यविषयवर्ती अनागतराग से आविर्भाव-तिरोभावरूप सम्बन्ध अर्थात् संसर्ग रहता है और इनमें सांकर्यदोष भी नहीं आता है। वैयासिक दृष्टान्तवाक्य का अर्थ यह है–किसी एक स्त्री आदि विषय में राग के उदारावस्थ अर्थात् अभिव्यक्त होने का अर्थ यह नहीं है कि अन्य स्त्री आदि विषयों के प्रति उसका सर्वथा अभाव रहता है। अपितु उन भिन्न स्त्र्यादियों में राग की सामान्यरूप से ही अन्विति बनी रहती है। अत: उस समय भी असमुदा- चार राग की उन भिन्न विषयों में सत्ता तो है ही। अब भाष्यकार दार्ष्टान्तिक को बतलाते हैं–**'तथा लक्षणस्येति।'** वैसे ही अनागतादि तीनों 'लक्षणों' की 'धर्म' में सत्ता सर्वदा बनी रहती है। जब एक लक्षण विशेषरूप से रहता है, तब शेष दो लक्षण सामान्यरूप से रहते हैं।

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार धर्मी में **'त्र्यध्वापक्ष'** का निषेध करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

ननु सत्यप्य[2]नेकान्ताभ्युपगमे भेदोऽस्तीति धर्मलक्षणावस्थान्यत्वे तदभिन्नस्य धर्मिणो

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त न–**रागेण**, थ द ध–**रागान्तरेण**।
2. क छ–**अनैकान्त०**, ख ग घ च ज झ त थ द ध न–**अनेकान्त०**।

ऽप्यन्यत्वप्रसङ्गः, स एव च नेष्यते, तदनुगमानुभवविरोधादित्यत आह– **न धर्मी त्र्यध्वा** इति। यतस्[1]तद् भिन्ना धर्मास्त्र्यध्वानः।

शङ्का–अनेकान्तवाद को स्वीकार करने पर भी भेद ही सिद्ध होता है। धर्म, लक्षण और अवस्था के भिन्न होने पर इन धर्मादि से अभिन्न धर्मी भी इनसे भिन्न सिद्ध होगा। किन्तु यह सिद्धान्ती को मान्य नहीं है। क्योंकि तब धर्म-धर्मी के अभेदानुभव से विरोध होगा?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**न धर्मी त्र्यध्वा इति।**' (धर्म-धर्मी में आत्यन्तिक अभेद को न मानते हुए उत्तर दिया जा रहा है)–'**धर्मी**' से भिन्न '**धर्म**' ही अनागतादि तीन अध्वा वाले होते हैं, न कि धर्मी।

बालप्रिया–

'**धर्मास्त्र्यध्वानः**'–भाव यह है–यह लक्षणपरिणाम धर्मी का नहीं, किन्तु धर्म का ही होता है। क्योंकि घटादि धर्म ही अतीतादि काल से युक्त होते हैं, मृद्धर्मी नहीं। अतः ये घटादि धर्म ही तत्-तत् नवीनता और पुरातनतारूप अवस्थाओं को प्राप्त होते हुए अवस्थान्तरता के कारण ही '**भिन्न**' शब्द से व्यवहृत होते हैं, न कि धर्मी से आत्यन्तिक भिन्न होने के कारण। क्योंकि मृत्तिका '**धर्मी**' (द्रव्य) तो सभी अवस्थाओं में अनुगत (अनुस्यूत) रहता है।

'**तद्भिन्नाः**'–इस पाठ के स्थान पर कहीं-कहीं '**तदभिन्नाः**' ऐसा पाठभेद भी मिलता है। किन्तु '**तदभिन्नाः**' यह पाठभेद उपेक्षणीय है।

'**धर्म**' के ही '**अध्वत्रय**' को पुनः स्पष्ट किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

धर्माणामध्वत्रययोगमेव स्फोरयति–त इति। लक्षिता अभिव्यक्ता वर्तमाना इति यावत्। अलक्षिता [2]अनभिव्यक्ता अनागता अतीताश्[3]चेति यावत्। तत्र लक्षितां तां तामवस्थां बलवत्त्वदुर्बलत्वादिकां प्राप्नुवन्तोऽन्यत्वेन प्रतिनिर्दिश्यन्तेऽवस्थान्तरतो न द्रव्यान्तरतः। अवस्थाशब्देन धर्मलक्षणावस्था उच्यन्ते। एतदुक्तं भवति–अनुभव एव [4]हि धर्मिणो धर्मादीनां भेदाभेदौ व्यवस्थापयति। न ह्यैकान्तिकेऽभेदे धर्मादीनां [5]धर्मिणो धर्मिरूपवद् धर्मादित्वम्। नाप्यैकान्तिके भेदे गवाश्ववद् धर्मादित्वम्। स चानुभवोऽनैकान्तिकत्वमवस्थापयन्नपि धर्मादि-

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त न–**तदभिन्नाः**, थ द ध–**तद् भिन्नाः**।
2. क ख–**अव्यक्ताः**, घ च छ ज झ त थ द ध न–**अनभिव्यक्ताः**, ग–**अव्यक्ताः/अनभिव्यक्ताः** नोपलभ्यते।
3. घ च छ ज झ त न–**च** उपलभ्यते, क ख ग थ द ध–**च** नोपलभ्यते।
4. क ख ग घ च छ ज झ त द ध न–**हि** उपलभ्यते, थ–**हि** नोपलभ्यते।
5. क ख ग घ छ ज झ त थ द ध न–**धर्मिणः** उपलभ्यते, च–**धर्मिणः** नोपलभ्यते।

वृपजनापायधर्मकेष्वपि धर्मिणमेकमनुगमयन् धर्मांश्च परस्परतो व्यावर्तयन् प्रत्यात्ममनुभूयत इति तदनुसारिणो वयं न तमतिवर्त्य स्वेच्छया धर्मानुभवान् व्यवस्थापयितुमीश्महे इति।

भाष्यकार घटादि धर्मों के साथ ही अध्वत्रय के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हैं–'**त इति**' भाष्यगत '**लक्षित**' शब्द का अर्थ है–अभिव्यक्त अर्थात् वर्तमान। '**अलक्षित**' शब्द का अर्थ है–अनभिव्यक्त अर्थात् अनागत और अतीत। अर्थात् घटादि धर्म लक्षित और अलक्षित (अध्वा) वाले होते हैं। इनमें से घटादि धर्म बलवत्त्व और दुर्बलत्व (नवीनत्व, पुरातनत्व) आदि तत्-तत् लक्षित अवस्थाओं को प्राप्त होते हुए अवस्थाभेद से भिन्न-भिन्न व्यवहृत होते हैं, न कि मृत्तिकादि द्रव्य के भेद से। यहाँ '**अवस्था**' शब्द से धर्मावस्था, लक्षणावस्था तथा अवस्थावस्था को कहा गया है। अभिप्राय यह है–अनुभव के आधार पर ही '**धर्मी**' से '**धर्मादियों**' के '**भेदाभेद**' होने की व्यवस्था की जाती है। धर्मादियों का धर्मी से आत्यन्तिक अभेद नहीं है, क्योंकि धर्मी के रूप के समान धर्मादियों का रूप नहीं है। और न ही गो, अश्वादियों के आत्यन्तिक भेद की भाँति धर्म-धर्मी में आत्यन्तिक भेद है। इस प्रकार '**धर्म-धर्मी**' का अनुभवसिद्ध '**भेदाभेद**', अनैकान्तवाद को व्यवस्थित करता हुआ भी, वृद्धि (उपजन) और ह्रास (अपाय) परक घट, कलश आदि धर्मों को परस्पर व्यावृत्त करता हुआ प्रत्येक आत्मा में अनुभूत होता है–इत्याकारक अनुभव का अनुसरण करने वाले हम लोग प्रत्यक्ष का अपलाप (अतिक्रमण) करके स्वेच्छानुसार धर्म के अनुभव की व्यवस्था करने में समर्थ नहीं हैं।

सम्प्रति, 'निमित्तभेद द्रव्य के एकत्व में अनेकत्व का आधान करता है', इसे लौकिक दृष्टान्त द्वारा परिपुष्ट एवं स्पष्ट किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

अत्रैव लौकिकं दृष्टान्तमाह–यथैका रेखेति। यथा तदेव रेखास्वरूपं तत्तत्स्थानापेक्षया शतादित्वेन व्यपदिश्यत एवं तदेव धर्मि[1]रूपं तत्तद्धर्मलक्षणावस्थाभेदेनान्यत्वेन प्रतिनिर्दिश्यत इत्यर्थः। दार्ष्टान्तिकार्थं दृष्टान्तान्तरमाह–यथा चैकत्वेऽपीति।

जैसे एक ही रेखाचिह्न तत्-तत् स्थानों (इकाई, दहाई, सैकड़ा आदि) की दृष्टि से अर्थात् स्थानभेद से 'शत' आदि नाम से व्यवहृत होता है, वैसे ही एक ही धर्मिरूप मृत्तिका–घट, कपालादि धर्म, वर्तमानादि लक्षण तथा नवीनत्वादि अवस्थाभेद से–भिन्न-भिन्न रूप से निर्दिष्ट की जाती है। दार्ष्टान्त को परिपुष्ट करने के लिये भाष्यकार दूसरा दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं–'**यथा चैकत्वेऽपीति**।' जैसे स्त्री

1. क ख ग घ च छ ज झ त न–**रूपं**, थ द ध–**स्वरूपम्**।

(पदार्थ) के एक रहने पर भी (पुत्रादि सम्बन्धिभेद से) वह माता, पुत्री, भगिनी आदि अनेक नामों से व्यवहृत होती है।

सम्प्रति, परिणामसामान्य पर ऊहापोह के साथ विचार किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

अत्रान्तरे परोक्तं दोषमुत्थापयति–अवस्थेति। **अवस्थापरिणामे धर्मलक्षणावस्थापरिणामे कौटस्थ्यदोषप्रसङ्ग उक्तो धर्मिधर्मलक्षणावस्थानाम्। पृच्छति–कथमिति।** [1]**उत्तरम्–** अध्वनो व्यापारेणेति। **दध्नः किल योऽनागतोऽध्वा तस्य व्यापारः क्षीरस्य वर्तमानत्वं तेन** व्यवहितत्वाद्धेतोः। **यदा धर्मो दधिलक्षणः स्वव्यापारं दाधिकाद्यारम्भं क्षीरे सन्नपि न करोति** तदानागतः, यदा करोति तदा वर्तमानः, यदा कृत्वा निवृत्तः **सन्नेव स्वव्यापाराद्दाधिकाद्यारम्भात्तदातीत इति। एवं त्रैकाल्येऽपि सत्त्वाद्धर्मधर्मिणोर्लक्षणानामवस्थानां च कौटस्थ्यं** [2]प्राप्नोति। **सर्वदा सत्ता हि नित्यत्वम्। चतुर्णामपि च सर्वदा सत्त्वेऽसत्त्वे वा नोत्पादः।** तावन्मात्रं [3]च लक्षणं कूटस्थनित्यतायाः। **न हि चितिशक्तेरपि कूटस्थनित्यायाः कश्चिदन्यो** विशेष इति भावः। परिहरति–**नासौ दोष इति? कस्मात्? गुणिनित्यत्वेऽपि गुणानां** विमर्दोऽन्योन्या- **भिभाव्याभिभावकत्वम्, तस्य वैचित्र्यात्। एतदुक्तं भवति–यद्यपि सर्वदा सत्त्वं** चतुर्णामपि [4]**गुणिगुणानां तथापि गुणविमर्दवैचित्र्येण तदात्मभूततद्विकाराविर्भावतिरोभावभेदेन परिणामशालितया न कौटस्थ्यम्। चितिशक्तेस्तु न स्वात्मभूतविकाराविर्भावतिरोभाव इति कौटस्थ्यम्। यथाहुः–**

नित्यं तमाहुर्विद्वांसो यत्स्वभावो न नश्यति। इति।

भाष्यकार इस विषय में वादी द्वारा कथित दोष को पुनः उठाते हैं–'**अवस्थेति।**' (भाष्यगत '**अवस्था**' शब्द से त्रिविध परिणामों को लिया गया है। इस प्रकार वाक्य का अर्थ होता है कि) धर्म, लक्षण और अवस्थापरिणाम को स्वीकार करने पर वादी बौद्धों द्वारा धर्मी, धर्म, लक्षण तथा अवस्था इन चारों के कूटस्थनित्य होने का दोष लगाया गया है।

पूर्वपक्ष–सिद्धान्ती पूछता है–'**कथमिति।**' कैसे चारों को कूटस्थ नित्य मानने का दोष प्रसक्त होता है?

उत्तरपक्ष–सिद्धान्ती के प्रश्न का उत्तर पूर्वपक्षी देता है–'**अध्वनो व्यापारेणेति।**' जिस प्रकार अनागतावस्थाक दधि का व्यापार क्षीर (दुग्ध) की वर्तमानावस्था से

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त न–**उत्तरं**, थ द ध–**उत्तरमाह**।
2. क ख ग–**आप्नोति**, घ च छ ज झ त थ द ध न–**प्राप्नोति**।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध–**च**, न–**न**।
4. क ग घ च छ थ द ध न–**गुणिगुणानाम्**, ज झ–**गुणानाम्**, ख त–**गुणिगुणानां/ गुणानां** नोपलभ्यते।

व्यवहित (बाधायुक्त) होने के कारण प्रकट नहीं होता है। जिस समय क्षीर (धर्मी) में विद्यमान रहते हुए भी दधि (धर्म) का आविर्भाव नहीं होता है, उस समय दधि **'अनागतलक्षण'** वाला होता है। जिस समय अपने दध्यारम्भक व्यापार को करता है, उस समय वह **'वर्तमानलक्षण'** वाला कहा जाता है और जिस समय अपने व्यापार को करके दूध में विद्यमान रहता हुआ भी अपने दधि-व्यापार से निवृत्त हो जाता है, उस समय **'अतीतलक्षण'** वाला कहा जाता है। इस प्रकार तीनों कालों में विद्यमान रहने से धर्म, धर्मी, लक्षण और अवस्थायुक्त पदार्थ में **'कूटस्थनित्यता'** दोष आता है। किसी पदार्थ की सर्वदा सत्ता बनी रहने से ही उसे नित्य कहते हैं। धर्मादि चारों की भी सर्वदा सत्ता रहने पर अथवा सर्वदा असत्ता रहने पर उत्पत्ति नहीं हो सकती है। अर्थात् जो **'सत्'** है, उसकी उत्पत्ति नहीं होती है और जो **'असत्'** है, वह भी कभी उत्पन्न नहीं होता है। **'उत्पादरहितत्व'** अथवा **'सर्वदा विद्यमानत्व'** ही **'कूटस्थनित्यता'** का लक्षण है। इस प्रकार कूटस्थनित्य चितिशक्ति से इन धर्मादियों में कुछ भी अन्तर नहीं है।

पूर्वपक्ष का खण्डन–भाष्यकार पूर्वपक्षी के मत का खण्डन करते हैं–**'नासौ दोष इति।'** बौद्धों की ओर से समस्त पदार्थों के कूटस्थनित्य होने का जो दोष लगाया गया है, वह हमारे मत में है ही नहीं।

शङ्का–कैसे?

समाधान–प्रधानरूप गुणी के नित्य होने पर भी उसके सत्त्वादि गुणों में परस्पर अविभाव्य-अविभावकरूप विमर्द की स्थिति विद्यमान रहने से अर्थात् गुणों के न्यूनाधिकभाव के कारण प्रधान में वैचित्र्य निहित है अर्थात् उसमें एकरसता नहीं है। इसलिये नित्य होते हुए भी प्रकृति **'कूटस्थनित्य'** नहीं है। अभिप्राय यह है–यद्यपि गुणी (धर्मी) और गुणों (धर्मादि चारों) की सत्ता सर्वदा है, तथापि गुणी (निरपेक्ष धर्मी) प्रकृति में सत्त्वादि गुणों की पारिमाणिक न्यूनाधिकतारूप विविधता के निहित रहने से और प्रधान (धर्मी) के आत्मभूत अर्थात् कारणात्मक महत्तत्त्वादि कार्यों (धर्मों) में आविर्भाव और तिरोभावरूप अन्तर के विद्यमान रहने से **'गुण-गुणी'** में **'परिणामशीलता'** है और प्रतिक्षण परिणाम स्वभाव वाले होने से उनमें **'कूटस्थनित्यता'** नहीं है अपितु **'परिणामी-नित्यता'** है। चितिशक्ति के स्वरूप का कभी आविर्भाव और कभी तिरोभाव नहीं होता है अर्थात् चितिशक्ति में आविर्भाव और तिरोभावरूप विकृति का अभाव रहता है, इसलिये **'चितिशक्ति'** को **'कूटस्थनित्य'** कहते हैं। जैसा कि कहा गया है–**'नित्यं...न नश्यति'** अर्थात् 'विद्वान् लोग उसी को नित्य कहते हैं, जिसकी अपने स्वरूप से कभी प्रच्युति नहीं होती है।'

बालप्रिया–

'सर्वदा सत्ता हि नित्यत्वम्'–तत्त्ववैशारदीकार पूर्वपक्षी की ओर से कूटस्थनित्यता का आपादन करते हुए उसे **'नोत्पादः'** की परिधि से अनुबन्धित करते हैं–पदार्थ के सर्वदा **'सत्'** रहने से चितिशक्ति के समान सत् पदार्थ की कभी उत्पत्ति नहीं होती है और पदार्थ के सर्वदा **'असत्'** रहने से भी नरविषाण के समान असत् पदार्थ कभी उत्पन्न नहीं होता है। इस प्रकार **'अनुत्पत्ति'** ही **'कूटस्थनित्यता'** का पर्याय है। यह इस कथन का अभिप्राय है।

'तावन्मात्रम्'–इस पद का अर्थ है–सर्वदा विद्यमानत्व अथवा उत्पादरहितत्व। अर्थात् पूर्वपक्षी पदार्थ के सर्वदा विद्यमान रहने को अथवा पदार्थ के कभी भी उत्पन्न न होने को **'कूटस्थनित्य'** कहता है।

'एतदुक्तं भवति'–इस वाक्य द्वारा तत्त्ववैशारदीकार पूर्वपक्षी के कूटस्थनित्यता के उपरिनिर्दिष्ट लक्षण में असहमति व्यक्त करते हुए उसे सरल शब्दों में इस प्रकार सीमांकित करते हैं–पदार्थ की सार्वकालिक विद्यमानता को ही कूटस्थनित्य नहीं कहते हैं, अपितु अविकारी- अर्थात् अपरिवर्तित रूप से एकान्तनित्य पदार्थ को ही **'कूटस्थनित्य'** कहते हैं। ऐसी **'कूटस्थनित्यता'** एक मात्र चेतन पुरुष में है, किसी अन्य जड पदार्थ में नहीं।

सम्प्रति, जडीय पदार्थ के **'विकारवैचित्र्य'** को स्पष्ट किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

विमर्दवैचित्र्यमेव विकारवैचित्र्ये हेतुं [1]प्रकृतौ विकृतौ च दर्शयति–[2]यथेति। यथा संस्थानं पृथिव्यादिपरिणामलक्षणमादिमद्धर्ममात्रं विनाशि तिरोभावि शब्दादीनां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्राणां स्वकार्यमपेक्ष्याविनाशिनामतिरोभाविनाम्। प्रकृतौ दर्शयति– एवं लिङ्गमिति। तस्मिन्विकारसंज्ञा न त्वेवं विकारवती चितिशक्तिरिति भावः।

पूर्वोक्त विमर्द की विचित्रता ही विकार की विचित्रता में हेतु है, इस तथ्य को भाष्यकार **'प्रकृति'** तथा **'विकृति'** में प्रदर्शित करते हैं–**'यथेति।'** अपने-अपने पृथिव्यादि कार्य की अपेक्षा अविनाशी अर्थात् अतिरोभावी शब्दादियों अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धतन्मात्राओं का पृथिव्यादि धर्मपरिणामलक्षणक संस्थान (आकार= कार्य) आदिमत्, धर्ममात्र तथा विनाशी अर्थात् तिरोभावी है। इसी प्रकार प्रकृति में (प्रकृति और तज्जायमान महदादियों में) उक्त तथ्य को भाष्यकार प्रदर्शित करते हैं–**'एवं लिङ्गमिति।'** इसी प्रकार अविनाशी अर्थात् अतिरोभावी सत्त्वादि गुणों का

---

1. क घ च छ ज झ त थ द ध न–**प्रकृतौ विकृतौ**, ख ग–**विकृतौ प्रकृतौ**।
2. थ द ध–**यथेति** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न–**यथेति** नोपलभ्यते।

धर्ममात्र, महत्तत्त्वाख्य लिङ्ग भी आदिमत् (आविर्भावशील) और विनाशी (तिरोभावशील) है। इस प्रकार महत्तत्त्वादिरूप धर्म की ही विकारसंज्ञा अर्थात् परिणाम-संज्ञा है। किन्तु चितिशक्ति (पुरुष) इस प्रकार विकारशीला (परिणामशीला) नहीं है। (इस प्रकार **'पुरुषमात्र'** की **'कूटस्थनित्यता'** सिद्ध होकर पूर्वपक्षी द्वारा द्रव्यमात्र में कूटस्थनित्यता का लगाया गया आक्षेप भी निरस्त हो जाता है)।

बालप्रिया–

'यथा संस्थानम्'–सरल वाक्यार्थ यह है–जिस प्रकार धर्मीभूत अविनाशी शब्दादितन्मात्राओं का धर्मभूत पृथिव्यादिसंस्थान आदिमत् (आविर्भावशील) और विनाशी (तिरोभावशील) है, उसी प्रकार धर्मीभूत सत्त्वादियों (अव्यक्त प्रकृति) का धर्मभूत 'महत्' संज्ञक लिङ्ग भी आदिमत् और विनाशी है। अर्थात् जडीय पदार्थों में प्रकृति अनादि और नित्य है तथा तज्जात महदादि समस्त धर्म हेतुमत् तथा लयशील हैं। यह तथ्य निम्नाङ्कित सांख्यकारिका द्वारा भी परिपुष्ट होता है–

'हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्॥

सम्प्रति, गुणवैचित्र्य की भाँति धर्मादिपरिणाम की विविधता पर विचार प्रस्तुत हो रहा है–

तत्त्ववैशारदी

तदेवं परीक्षकसिद्धां विकृतिं [1]च प्रकृतिं चोदाहृत्य विकृतावेव लोकसिद्धायां गुणविमर्दवैचित्र्यं धर्मलक्षणावस्थापरिणामवैचित्र्यहेतुमुदाहरति–तत्रेदमुदाहरणमिति। न चायं नियमो लक्षणानामेवावस्थापरिणाम [2]इति सर्वेषामेव धर्मलक्षणावस्थाभेदानामवस्था-शब्दवाच्यत्वादेक एवावस्थापरिणामः सर्वसाधारण इत्याह–धर्मिणोऽपीति।

इस प्रकार शास्त्रविदों द्वारा सिद्ध प्रकृति और विकृति को उदाहरणरूप से दिखाकर सम्प्रति, भाष्यकार 'धर्म, लक्षण तथा अवस्थापरिणाम की विचित्रता का हेतु गुणविमर्द का वैचित्र्य है'–इस अर्थ में ही विकृति के लोकप्रसिद्ध उदाहरण को प्रस्तुत करते हैं–**'तत्रेदमुदाहरणमिति।'** (अर्थ यह है–मृत्तिकारूप धर्मी प्रथमतः पिण्डाकाररूप धर्म से धर्मान्तर को प्राप्त होता हुआ धर्मरूप से परिणत होता है, जिसका स्वरूप 'घटाकार' है। यह घटाकार अनागतलक्षण को त्यागकर वर्तमान-लक्षण को प्राप्त होता है, यह घट का लक्षणपरिणाम है। वही घट प्रत्येक क्षण नवीनता और पुराणता का अनुभव करता हुआ अवस्थापरिणाम को प्राप्त होता

1. क ख ग घ च छ ज झ त द ध न–**च** उपलभ्यते, थ–**च** नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध–**इति सर्वेषामेव धर्मलक्षणावस्थाभेदानामवस्थाशब्दवाच्यत्वादेक एवावस्थापरिणामः** उपलभ्यते, न–**इति सर्वेषामेव...परिणामः** नोपलभ्यते।

है)। यह नियम नहीं है कि केवल लक्षणों का ही '**अवस्थापरिणाम**' होता है, अपितु सभी धर्म, लक्षण एवं अवस्थाभेद '**अवस्था**' शब्द के ही वाच्य हैं। अर्थात् धर्मादि '**अवस्था**' शब्द से कहे जाते हैं। इसलिये सामान्यरूप (सर्वसाधारणरूप) से एक ही '**अवस्थापरिणाम**' है, इस तथ्य को भाष्यकार बतलाते है–'**धर्मिणोऽपीति**।' (अर्थात् धर्मी की भी धर्मान्तरावस्था तथा धर्म की भी लक्षणान्तरावस्था होती है, इस कारण से एक ही द्रव्यपरिणाम धर्मादि भेद से व्यवहृत होता है। इसी प्रकार पदार्थान्तरों (भूत, इन्द्रिय, प्रकृति आदियों) में भी परिणामत्रय की योजना कर लेनी चाहिये। ये पूर्वोक्त धर्मादि परिणामत्रय धर्मी के स्वरूप का अतिक्रमण न करते हुए धर्मी में विद्यमान रहते हैं। अतः '**धर्म-धर्मी**' का अभेद होने से एक ही धर्मिरूप परिणाम समस्त परिणामभेदों को प्राप्त होता है)।

बालप्रिया–

'**इत्येक एव**'–भाष्य में प्रयुक्त '**इति**' अव्यय हेत्वर्थक है। अर्थ इस प्रकार होगा– यद्यपि सभी धर्मादि '**अवस्था**' शब्द के वाच्य हैं अर्थात् '**अवस्था**' शब्द सभी धर्मादि परिणामों का बोधक है। इसलिये एकरूप ही अर्थात् अवस्थारूप ही '**धर्मिपरिणाम**' वास्तविक है तथापि '**ब्राह्मणवशिष्ठन्याय**' से वह परिणामत्रय से अभिहित होता है।

सम्प्रति, प्रस्तुत सूत्र के भाष्य के अन्त में '**परिणाम**' का सामान्यलक्षण किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

व्यापकं परिणामलक्षणमाह–अवस्थितस्य द्रव्यस्येति। धर्मशब्द आश्रितत्वेन धर्मलक्षणावस्थावाचकः॥१३॥

भाष्यकार '**परिणाम**' का व्यापक (सामान्य) लक्षण प्रस्तुत करते हैं–'**अवस्थितस्येति**।' परिणाम के लक्षण में प्रयुक्त '**धर्म**' शब्द परिणाम का आश्रय होने से '**धर्म**' '**लक्षण**' तथा '**अवस्था**' इन तीनों का वाचक॥१३॥

योगवार्त्तिकम्

तदेवं योगतदङ्गयोः परिणामरूपवैलक्षण्यं तयोर्विवेकाय प्रदर्शितम्। अनयैव दिशा व्युत्थानकालीना अपि चित्तपरिणामा व्याख्यातप्रायाः। इतः परिणामत्रयसंयमादित्यागामिसूत्रोपोद्घातसङ्गत्या सर्वत्र वैराग्याग्निप्रज्वलनाय च चित्तवदेवान्येष्वप्यतिदेशेनैव परिणामान्व्याचष्टे सूत्रकारः–एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः। धर्मैर्लक्षणैरवस्थाभिश्च परिणामा धर्मलक्षणावस्थापरिणामाः। एते च भाष्ये व्याख्येयाः। एत एव परिणामाः भूतेन्द्रियेषु, न तु तत्त्वान्तरपरिणामा इत्यसाधारणाशयेनैवात्र प्रकृत्यादिष्विति नोक्तम्। तेन तत्त्वान्तरपरिणामवदेतेऽपि परिणामाः सर्व एव यथायोग्यं प्रकृत्यादिष्वप्यव-

गन्तव्याः। तथा च भाष्यकारो वक्ष्यति–एवं धर्मलक्षणावस्थापरिणामैः शून्यं क्षणमपि न गुणवृत्तमवतिष्ठते इत्येतेन सर्ववस्तुषु परिणामत्रयमिति।

इस प्रकार परिणामरूप विलक्षणता (परिणामसम्बन्धी असाधारणता) को सम्प्रज्ञातादि योग और अङ्गभूत समाधि का पार्थक्य करने के लिये पीछे प्रदर्शित किया गया। इसी पद्धति से व्युत्थानकालिक चित्तपरिणाम भी पीछे व्याख्यात हो चुके हैं। यहाँ से '**परिणामत्रयसंयमात्...**'(३/१६) इस आगामी सूत्र की प्रस्तावना के साथ संगति होने से तथा सर्वत्र वैराग्यरूप अग्नि को प्रज्वलित करने के लिये अर्थात् यच्च-यावत् पदार्थों में पारिणामिक दोष की अनुभूति द्वारा उनके प्रति अलंप्रत्ययरूप वैराग्य को जाग्रत् करने के लिये (परिणामशील) चित्त की भाँति अन्य (भूतेन्द्रियादि) पदार्थों में भी परिणाम के अतिदेश द्वारा ही सूत्रकार कहते हैं–'**एतेनेति।' धर्मैर्लक्षणैरवस्थाभिश्च परिणामा धर्मलक्षणावस्थापरिणामाः**–अर्थात् धर्मों के रूप से, लक्षणों के रूप से और अवस्थाओं के रूप से जो परिणाम होते हैं, उन्हें धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम तथा अवस्थापरिणाम कहते हैं। ये धर्मादि परिणाम भाष्य में व्याख्येय हैं। भूत तथा इन्द्रियों में उक्त तीन प्रकार के ही परिणाम होते हैं, उनमें तत्त्वान्तरपरिणाम नहीं होते हैं–इस विशिष्ट सिद्धान्ताभिप्राय से ही सूत्र में प्रकृत्यादियों के धर्मादिपरिणामों को इङ्गित नहीं किया गया है। किन्तु तत्त्वान्तर-परिणाम की भाँति ये सभी धर्मादि परिणाम प्रकृत्यादि तत्त्वों में भी पाये जाते हैं, ऐसा अनुषज्जनीय (अध्याहार्य) है। जैसा कि भाष्यकार आगे कहेंगे–'**एवं धर्मलक्षणावस्थापरिणामैः शून्यं क्षणमपि न गुणवृत्तमवतिष्ठते**' अर्थात् 'धर्म, लक्षण तथा अवस्थापरिणाम से रहित होकर गुणवृत्त क्षण भर भी नहीं रहता है'–इससे समस्त जड तत्त्वों में तीन प्रकार का परिणाम सिद्ध होता है।

बालप्रिया–

'**एत एव परिणामाः भूतेन्द्रियेषु, न तु तत्त्वान्तरपरिणामाः**'–इस पंक्ति के द्वारा विज्ञानभिक्षु ने इस शङ्का को निरस्त किया है कि सूत्र में '**सर्वतत्त्वेषु**' न कहकर '**भूतेन्द्रियेषु**' क्यों कहा गया है? समाधान-पक्ष यह है कि भूतेन्द्रियों में तत्त्वान्तर-परिणाम का प्रतिषेध करने के लिये ही उनमें यथायोग्य धर्मादिपरिणाम की विवेचना की गई है। '**भूतेन्द्रियेषु**' पद के प्रयोग द्वारा प्रकृत्यादि तत्त्वों में धर्मादि-परिणाम का निराकरण करना सूत्रकार को अभिप्रेत नहीं है। क्योंकि धर्मादि तो सभी जड पदार्थों में उपलब्ध होने वाला परिणामसामान्य है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार भाष्य की व्याख्या प्रारम्भ करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

सूत्रं व्याचष्टे– एतेनेति। नन्‌ चित्तपरिणाममात्रं पूर्वसूत्रेषूक्तं न तु धर्मलक्षणावस्था-

परिणामा इत्याशङ्कां तद्विभागप्रदर्शनेनापाकर्त्तुमुपक्रमते—तत्र व्युत्थानेति। तत्र तेषु मध्ये व्युत्थाननिरोधयोरभिभवप्रादुर्भावावेव चित्ते धर्मिणि धर्मपरिणामः प्रथमसूत्रेणैवोक्त इत्यर्थः। अवस्थितस्य धर्मिणः पूर्वधर्मतिरोभावे धर्मान्तरप्रादुर्भावस्यैव धर्मपरिणामत्वमिति भावः। यद्यपि प्रथमसूत्रे व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरेवाभिभवप्रादुर्भावावुक्तौ तथाऽपि व्युत्थाननिरोधयोरपायोपजनावप्यर्थाल्लब्धाविति। धर्मश्च द्रव्यं गुणो वेत्यन्यदेतत्।

भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं—'**एतेनेति**।' अर्थात् विगत सूत्र में प्रतिपादित चित्त के धर्मादिपरिणामों से भूतेन्द्रियों में भी धर्मादिपरिणामों को व्याख्यात समझना चाहिये।

शङ्का—विगत सूत्रों में तो चित्त का परिणामसामान्य ही उक्त है न कि उसके धर्म, लक्षण तथा अवस्थापरिणाम। (तो फिर कैसे अनुपदिष्ट धर्मादिपरिणामों का भूतेन्द्रियों में अतिदेश किया जा रहा है)?

समाधान—उक्त शङ्का का खण्डन करने के लिये भाष्यकार परिणामों के विभाग द्वारा विषय का उपक्रम (प्रारम्भ) करते हैं—'**तत्र व्युत्थानेति**।' उन त्रिविध परिणामों में 'व्युत्थान' और 'निरोध' (संस्कार) का यथाक्रम '**अभिभव**' और '**प्रादुर्भाव**' होना ही चित्त-धर्मी का '**धर्मपरिणाम**' कहलाता है, ऐसा प्रथम सूत्र द्वारा ही कहा गया है। भाव यह है कि अवस्थित धर्मी के पूर्व धर्म के तिरोभावपूर्वक धर्मान्तर का प्रादुर्भाव होना ही धर्मी का धर्मपरिणाम है। यद्यपि प्रथम सूत्र में चित्त के व्युत्थान-संस्कार और निरोधसंस्कार का ही अभिभव और प्रादुर्भाव कथित है तथापि व्युत्थान और निरोध का क्रमशः अपाय (ह्रास) और उपजन (वर्धन) भी अर्थाल्लभ्य है। और वह '**धर्म**' द्रव्यरूप है अथवा गुणरूप है यह दूसरा प्रश्न है।

सम्प्रति, विगत सूत्र के आधार पर योगवार्त्तिककार '**लक्षणपरिणाम**' का विवेचन करते हैं—

योगवार्त्तिकम्

तथा तेनैव सूत्रेणाभिभवप्रादुर्भावशब्दाभ्यां धर्मस्य लक्षणपरिणामोऽप्युक्त इत्याह—लक्षणपरिणामश्चेति। लक्षणपरिणामो हि अवस्थितस्य धर्मस्यानागतादिलक्षणत्यागे वर्त्तमानादिलक्षणलाभः, स चाभिभवप्रादुर्भाववचनेनैव लब्धः, अतीततावर्त्तमानतयोरेवाभिभवप्रादुर्भावत्वादिति भावः तत्रादौ निरोधरूपस्य धर्मस्य प्रादुर्भावशब्दो[1]क्तं लक्षणपरिणाममुदाहरति—निरोधस्त्रिलक्षण इति। एतस्यैव विवरणं त्रिभिरध्वभिर्युक्त इति। क्रमेण सम्बन्धादध्वतुल्यतयाऽनागतादिभावोऽध्वेत्युच्यते, तथा धर्मिणो धर्माणां चान्योन्यं व्यावर्त्तनाल्लक्षणशब्देन च तन्त्रे परिभाषित इति। ततः किमित्यत आह—[2]स खल्विति। स

1. क ख ग—उक्तः, घ च छ—उक्तम्।
2. क ख ग घ च—सः उपलभ्यते, छ—सः नोपलभ्यते।

खलु निरोधः प्रादुर्भावकाले अनागतलक्षणरूपमध्वानं हित्वेत्यादिरर्थः। अत्र सत्कार्योपपत्तये धर्मपरिणामत्वोपपादनाय च धर्मत्वमनतिक्रान्त इत्युक्तम्, स्वरूपेणावस्थितस्यैव धर्मस्य रूपान्तरापाये रूपान्तरोत्पत्तौ धर्मपरिणामव्यवहारादिति। वर्तमानावस्थामितरावस्था-द्वयाद्विविच्य दर्शयति—यत्रेति। स्वरूपेणार्थक्रियाकारित्वेनाभिव्यक्तिरुपलब्धिरित्यर्थः। स चानागतापेक्षया द्वितीयोऽध्वेति शिष्यव्युत्पादनाय प्रसङ्गादाह—एषोऽस्येति। असदुत्पादस द्विनाशयोः प्रतिषेधायाह—न चेति।

इसी प्रकार पिछले सूत्र के '**अभिभव**' और '**प्रादुर्भाव**' शब्दों के द्वारा '**धर्म**' के '**लक्षणपरिणाम**' को भी बतलाया गया है, ऐसा भाष्यकार कहते हैं—'**लक्षण-परिणामश्चेति।**' अवस्थित '**धर्म**' के अनागतादि लक्षण के त्यागपूर्वक वर्तमानादि लक्षण का लाभ होना '**लक्षणपरिणाम**' है। और इन अनागतादि लक्षणों का यथाक्रम 'त्याग' और 'लाभ' तो सूत्र के '**अभिभव**' और '**प्रादुर्भाव**' शब्दों के द्वारा ही स्वतः प्राप्त है, क्योंकि अवस्थित धर्मी के धर्मनिष्ठ अतीतत्वलक्षण का अभिभव और वर्तमानत्व-लक्षण का प्रादुर्भाव होता है। इनमें से '**प्रादुर्भाव**' शब्द के द्वारा उक्त निरोधरूप धर्म के लक्षणपरिणाम को भाष्यकार सर्वप्रथम उदाहृत करते हैं—'**निरोधस्त्रिलक्षण इति।**' '**त्रिलक्षण**' पद का विवरण है—'**त्रिभिरध्वभिर्युक्त इति।**' अर्थात् अनागतादि तीन अध्वाओं से युक्त त्रिलक्षणक निरोध को '**लक्षणपरिणाम**' कहते हैं। अनागतादिभाव को '**अध्वा**' इसलिये कहा जाता है कि अध्व अर्थात् मार्ग की भाँति ये अनागतादि-भाव परस्पर सम्बद्ध हैं। इस प्रकार '**धर्मी**' और '**धर्म**' के परस्पर पृथक् होने के कारण शास्त्र मे धर्मनिष्ठ परिणाम को '**लक्षण**' शब्द से परिभाषित किया है। अर्थात् '**धर्मी**' का '**धर्मपरिणाम**' होता है और '**धर्म**' का '**लक्षणपरिणाम**' होता है। इस प्रकार धर्म-धर्मी के परिणाम को विभाजित किया गया है।

शङ्का—धर्म का लक्षणपरिणाम कहने का तात्पर्य क्या है?

समाधान—इस पर भाष्यकार लक्षणपरिणाम का स्वरूप बतलाते हैं—'**स खल्विति।**' (चित्त-धर्मी का) '**निरोध**' धर्म अपने उदयकाल में अनागतलक्षणरूप अध्वा को छोड़कर धर्मत्व का अतिक्रमण किये विना वर्तमानलक्षणरूप अध्वा को प्राप्त करता है। यहाँ सत्कार्यवाद को स्थापित करने के लिये और धर्मपरिणाम को प्रतिपादित करने के लिये भाष्यकार ने '**धर्मत्वमनतिक्रान्तः**' पद का प्रयोग किया है, क्योंकि अपने मौलिक स्वरूप में स्थित रहते हुए ही धर्म के अनागत रूप का ह्रास और वर्तमान रूप की वृद्धि (प्राप्ति) होने में '**धर्मपरिणाम**' शब्द का प्रयोग किया गया है। भाष्यकार धर्मिगत धर्म की वर्तमानावस्था को अन्य दो अनागतादि अवस्थाओं से पृथक् करके प्रदर्शित करते हैं—'**यत्रेति।**' धर्मीभूत धर्म में वर्तमानलक्षणपरिणाम की उपलब्धि (अभिव्यक्ति) '**अर्थक्रियाकारित्वरूप**' से होती है। और यह धर्मगत वर्तमान-

लक्षण उसके अनागतलक्षण की दृष्टि से द्वितीय '**अध्वा**' है, ऐसा योग के अध्येताओं को बतलाने के लिये भाष्यकार प्रसंगतः कहते हैं–'**एषोऽस्येति**।' असत् की उत्पत्ति और सत् के विनाश का प्रतिषेध करने के लिये भाष्यकार कहते हैं–'**न चेति**।' अर्थात् धर्मीभूत धर्म का वर्तमानलक्षणपरिणाम अपने अतीतलक्षण और अनागतलक्षण-परिणाम से विभक्त (वियुक्त) नहीं है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार चित्त-धर्मी के व्युत्थानात्मक धर्म के '**लक्षणपरिणाम**' को स्पष्ट करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

निरोधक्षण [1]एवं निरोधस्य लक्षणपरिणामं दर्शयित्वा व्युत्थानस्यापि दर्शयति–तथा व्युत्थानमिति। सर्वं पूर्ववत्, विशेषस्तु वर्तमानतां हित्वाऽतीततां प्राप्त इति तृतीयोऽध्वेति च। एवं व्युत्थानकालेऽपि व्युत्थाननिरोधयोः लक्षणपरिणामौ क्रमेण दर्शयति–एवं पुनर्व्युत्थान-मुपसम्पद्यमानमिति। उपसम्पद्यमानं जायमानम्, तच्च व्यक्त्यन्तरम्, अतीतव्यक्ते-रनुत्पादस्य वक्ष्यमाणत्वात्। अन्यत्सर्वं पूर्ववत्। एवं पुनर्निरोध इति। अत्र एवमित्यनेन तथा व्युत्थानमित्यादिवाक्योक्ता निरोधस्य तृतीयाध्वप्रक्रिया [2]निर्दिष्टा, अतो न निरोधतृतीया-वस्थाकथनाभाव[3]न्यूनतेति। इदं च व्युत्थाननिरोधपरिणामचक्रम् अपवर्गपर्यन्तमेवेति संक्षेपे-णाह–एवं पुनर्व्युत्थानमिति। व्युत्थानादिरित्यर्थः।

इस प्रकार निरोधकालिक चित्त-धर्मी के निरोध-धर्म का लक्षणपरिणाम प्रदर्शित करके भाष्यकार व्युत्थान-धर्म का भी लक्षणपरिणाम प्रदर्शित करते हैं–'**तथा व्युत्थानमिति**।' इसकी व्याख्या पूर्ववत् है। आगे यह बताना है कि धर्मीभूत धर्म का वर्तमानलक्षण को छोड़कर अतीतलक्षण को प्राप्त होना उसका तीसरा '**अध्वा**' है। इस प्रकार चित्त के व्युत्थानकाल (असम्प्रज्ञात की दृष्टि से व्युत्थानरूप सम्प्रज्ञात काल) में भी व्युत्थान और निरोधरूप धर्मों के लक्षणपरिणामों को भाष्यकार क्रमशः प्रदर्शित करते हैं–'**एवं पुनर्व्युत्थानमुपसम्पद्यमानमिति**।' '**उपसम्पद्यमान**' शब्द का अर्थ '**जायमान**' है। व्युत्थान-धर्म के पश्चात् निरोध-धर्म और निरोध-धर्म के पश्चात् व्युत्थान-धर्मरूप लक्षणपरिणाम में जायमान '**धर्म**' व्यक्त्यन्तर' (दूसरा व्यक्तिविशेष) होता है, क्योंकि अतीतव्यक्ति का पुनरुत्पाद नहीं होता है, ऐसा आगे प्रतिपादित किया जायेगा। शेष पूर्ववत् है। वार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–'**एवं पुनर्निरोध इति**।' यहाँ 'एवम्' के द्वारा '**तथा व्युत्थानम्**' इस वाक्य द्वारा उक्त निरोध की

---

1. क च छ–**एवं**, ख ग घ–**एव**।
2. क ख ग च छ–**निर्दिष्टा**, घ–**अतिनिर्दिष्टा**।
3. क घ च छ–**शून्यता**, ख ग–**न्यूनता**।

तृतीय अध्वप्रक्रिया निर्दिष्ट हुई है। अतः '**निरोध**' के अतीतलक्षणक तृतीय अवस्था के कथनाभाव की न्यूनता नहीं आती है। चित्त-धर्मी का यह व्युत्थान-निरोधात्मक '**परिणामचक्र**' अपवर्गपर्यन्त (जब तक पुरुष को अपवर्ग प्राप्त नहीं होता है तब तक) चलता ही रहता है, इस तथ्य को भाष्यकार संक्षेप से कहते हैं–'**एवं पुनर्व्युत्थानमिति**।' अर्थात् व्युत्थानादि और निरोधादि चित्त-धर्मों का परिणामचक्र चलता रहता है।

सम्प्रति, क्रमप्राप्त '**अवस्थापरिणाम**' का विश्लेषण किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

चित्तधर्मस्य लक्षणपरिणामं प्रदर्श्य तल्लक्षणस्यावस्थापरिणामं [1]तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारादिति सूत्रे व्याख्यातं दर्शयति–तथाऽवस्थापरिणाम इति। उच्यत इति शेषः। संस्कारयोर्बलवत्त्वदुर्बलत्वे च [2]घटस्य नवपुराणताऽऽदिवद् वृद्धिह्रासौ, उत्पत्तिविनाशरूपत्वे लक्षणपरिणामाद् भेदानुपपत्तेः, लक्षणस्यैव नवपुराणत्वादिनाऽवस्थापरिणाम इति वक्ष्यमाणत्वाच्च। ननु द्रव्यस्यैव वृद्धिक्षयौ दृष्टौ न गुणस्येति चेत्? न, रूपादीनामपि वृद्धिह्रासानुभवाद् रूपभेदकल्पने च गौरवात्, तदेव रूपमिदानीं प्रवृद्धमिति प्रत्यभिज्ञाऽनुपपत्तेश्चेति। तस्मात्संस्कारस्यादृष्टादेश्चास्ति अवस्थापरिणामः, ज्ञानेच्छाऽदिषु चोत्पत्तिविनाशानुभवात् क्षणद्वयमात्रस्थायित्वेऽपि द्वितीयक्षणे वर्त्तमानलक्षणस्यावस्थापरिणामो भवति, क्षणत्वेनैव परिणामहेतुत्वात्। अन्यथा सर्ववस्तूनाम्प्रतिक्षणपरिणामस्य वक्ष्यमाणस्यानुपपत्तेः। एतेनोत्तरवृत्तिविभुविशेषगुणस्यैव ज्ञानादिनाशकत्वेनैकाग्रतादशायामपि ज्ञानस्य बहुक्षणस्थायित्वान्नावस्थापरिणामसम्भव इत्यपास्तम्।

चित्त-धर्मी के निरोधादि धर्म के लक्षणपरिणाम को प्रदर्शित करने के पश्चात् '**तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्**' (३/१०) सूत्र में निर्दिष्ट अनागतादि लक्षण के अवस्थापरिणाम को भाष्यकार प्रदर्शित करते हैं–'**तथाऽवस्थापरिणाम इति**।' '**उच्यते**' यह वाक्यशेष है। वाक्य का अर्थ है कि अवस्थापरिणाम को बताया जा रहा है। घट में परिलक्षित नवीनता और प्राचीनतादिरूप अवस्था की भाँति संस्कारों में भी बलवत्ता और दुर्बलता दोनों वृद्धि-ह्रास (उपचयापचय) रूप हैं। ('**अवस्थापरिणाम**' को वृद्धि-ह्रासरूप न मानकर) उत्पत्ति-विनाशरूप मानने पर उसका '**लक्षण-परिणाम**' से अन्तर सिद्ध न हो सकेगा तथा **लक्षण** का ही नवपुराणत्वादि रूप से **अवस्थापरिणाम** होता है'–यह वक्ष्यमाण वैयासिक कथन भी उपपन्न नहीं हो पायेगा।

1. क ग घ च छ–**तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारादिति सूत्रे व्याख्यातं**, ख–**प्रथमसूत्रेण कण्ठत एवोक्तम्**।
2. क ख घ च छ–**घटस्य**, ग–**पटस्य**।

शङ्का–द्रव्य अर्थात् पदार्थ का ही वृद्धि और ह्रास देखा जाता है, न कि गुण का? (अत: धर्मनिष्ठलक्षण का अवस्था-परिणाम कैसे कहा जा रहा है)?

समाधान–उक्त शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि पदार्थगत रूपादियों (धर्मों=गुणों) का भी वृद्धि और ह्रास अनुभवसिद्ध है और रूपभेद की कल्पना करने पर गौरवदोष होगा। अर्थात् पदार्थगत एक रूप नष्ट होकर दूसरा रूप उत्पन्न होता है, ऐसा मानने में गौरवातिशय होगा। किञ्च रूपभेद मानने पर **'तदेव रूपमिदानीं प्रवृद्धम्'** अर्थात् 'वही रूप अधुना वृद्धि को प्राप्त हुआ है'–इत्याकारक **'प्रत्यभिज्ञा'** ज्ञान उपपन्न न हो सकेगा। इससे यह सिद्धान्तित होता है कि चित्तनिष्ठ संस्कार और अदृष्टादि धर्मों=गुणों का **'अवस्थापरिणाम'** होता है। किञ्च ज्ञान और इच्छादियों की उत्पत्ति और विनाश देखा जाता है। अतः ज्ञानादि क्षणद्वयमात्र स्थायी रहने पर भी द्वितीयक्षण में वर्तमानलक्षण का अवस्थापरिणाम होता है, क्योंकि लक्षण में क्षण की दृष्टि से ही परिणामहेतुता है। अन्यथा यच्च=यावत् वस्तुओं का वक्ष्यमाण क्षणविशिष्ट परिणाम उपपन्न न हो सकेगा। इस कथन से यह भी खण्डित हो जाता है कि उत्तरवृत्तिविभुविशेषगुण का ही ज्ञानादि का नाशक होने से (उत्तरकाल में उत्पन्न होने वाले आत्मा के विशेषगुण से पूर्ववृत्तिक गुण का नाश हो जाने से) एकाग्रतादशा में भी ज्ञान अनेक क्षणपर्यन्त स्थिर रहने से उसका अवस्थापरिणाम सम्भव नहीं है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार परिणाम-चर्चा को आगे बढ़ाते हैं–

योगवार्त्तिकम्

तदेवं परिणामत्रयं व्याख्याय तेषामाधारव्यवस्थामाह–तत्र धर्मिण इत्यादिना। लक्षणानामप्यवस्थाभिरिति। यद्यपि अवस्थानामपि बाल्यादीनां लक्षणपरिणामोऽस्ति तथाऽपि यथोक्तक्रमे न कोऽप्यनुपपत्तिः। ननु वर्तमानलक्षणस्य नवपुराणाद्यवस्थापरिणामोऽस्तु; अनागतातीतलक्षणयोस्तु कीदृशोऽवस्थाभेदः स्यादिति? उच्यते–शीघ्रभविष्यत्ता[1]विलम्बभविष्यत्ताऽऽदिरूपो विशेषस्तयोरपि, लक्षणयोरनुमीयते, सत्त्वादिवदेव गुणत्वेन प्रतिक्षणपरिणामित्वसिद्धेरिति। यथोक्तैश्चित्तपरिणामैः सर्ववस्तूनां परिणाममतिदिशन् वैराग्याग्निप्रज्वलनार्थं तेषां प्रतिक्षणपरिणामित्वं [2]दर्शयति–एवं धर्मलक्षणेति। तदुक्तं मन्वादौ–

घोरेऽस्मिन् हन्त! संसारे नित्यं सततघातिनाम्।
कदलीस्तम्भनिःसारे संसारे सार[3]मार्गणम्॥

---

1. क ग घ च छ–**विलम्बभविष्यत्ता** उपलभ्यते, ख–**विलम्बभविष्यत्ता** नोपलभ्यते।
2. क ख ग–**प्रदर्शयति**, घ च छ–**दर्शयति**।
3. क–**मार्गणां**, ख ग घ च छ–**मार्गणम्**।

यः करोति स संमूढो जलबुद्बुदसन्निभे॥ इति॥

गुणवृत्तं गुणानां सत्त्वादीनां व्यापारः स्वकार्यैर्धर्मादिपरिणामैः क्षणमपि शून्यं नावतिष्ठते, प्रतिक्षणं परिणामं जनयतीत्यर्थः। [1]ननु व्यापाराभावदशायामपरिणामित्वं स्यात्? तत्राह—चलं च गुणवृत्तमिति। चलमिति भावप्रधानो निर्देशः, चाञ्चल्यं हि गुणानां स्वभाव इत्यर्थः। ननु प्रतिक्षणं [2]चाञ्चल्ये प्रमाणं किमित्याकाङ्क्षायामाह—गुणस्वाभाव्यं त्विति। राज्ञो हि गुणानामुपकरणानां भृत्यादीनां स्वाम्यर्थं प्रतिक्षणमेव व्यापारो दृश्यते, अतो गुणस्वभावतैव पुरुषगुणानामपि सत्त्वादीनां प्रतिक्षणप्रवृत्तौ प्रमाणमुक्तं पूर्वाचार्यैरित्यर्थः। गुणत्वं च परस्यैव भोगापवर्गहेतुत्वमिति। चित्तदृष्टान्ते परिणामत्रयं व्याख्याय दार्ष्टान्ति केऽपि तद्व्याख्यातुमारभते—एतेनेति। धर्मधर्मिभेदादिति। धर्मधर्मिभेदमाश्रित्येत्यर्थः। तत्र पृथिव्यादीनां धर्मिणां घटादिर्धर्मपरिणामः, घटादीनां धर्माणां [3]च वर्त्तमानातीतते लक्षणपरिणामः, वर्त्तमानादिलक्षणानां च त्रयाणामपि बाल्ययौवनादिरवस्थापरिणाम इति।

इस प्रकार परिणामत्रय की व्याख्या करके भाष्यकार परिणामों के आधार (आश्रय) को व्यवस्थित करते हैं—'**तत्र धर्मिण इत्यादिना।**' अर्थात् '**धर्मी**' का धर्मों के रूप से, '**धर्म**' का लक्षणों के रूप से तथा '**लक्षण**' का अवस्थाओं के रूप से परिणाम होता है। वार्त्तिककार विगत वाक्यांश को स्पष्ट करने के लिये तत्सम्बन्धित पदों को उठाते हैं—'**लक्षणानामप्यवस्थाभिरिति।**' यद्यपि बाल्यादि अवस्थाओं का भी लक्षण-परिणाम होता है, तथापि धर्मादि परिणामों के पूर्वनिर्दिष्ट आधारक्रम में भी किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं आती है।

शङ्का—ठीक है, वर्तमानलक्षण का नव, पुराणादिरूप अवस्थापरिणाम माना जाय किन्तु अनागत और अतीत लक्षणों में किस प्रकार अवस्थापरिणाम हो सकता है? अर्थात् अनागत और अतीतलक्षण में अवस्थाभेद (अवस्थापरिणाम) कथमपि सम्भव नहीं है?

समाधान—इस पर वार्त्तिककार कहते हैं—अनागतलक्षण और अतीतलक्षण में भी '**शीघ्रभविष्यत्ता**', '**विलम्बभविष्यत्ता**' आदि रूप अवस्थाविशेष (अवस्थापरिणाम) अनुमित होता है, क्योंकि पदार्थ के त्रिगुणात्मक होने से उनके प्रतिक्षण परिणाम-शील होने की सिद्धि होती है। पूर्ववर्णित चित्तनिष्ठ परिणामों के द्वारा समस्त (जडात्मक) वस्तुओं में परिणाम का अतिदेश करते हुए उन (परिणामशील) पदार्थों के प्रति वैराग्यबुद्धि जागरित करने के लिये भाष्यकार जड पदार्थों में प्रातिक्षणिक परिणाम को प्रदर्शित करते हैं—'**एवं धर्मलक्षणेति।**' इस प्रकार धर्म, लक्षण

---

1. ख ग च छ—**ननु ... स्वभाव इत्यर्थः** उपलभ्यते, क घ—**ननु...स्वभाव इत्यर्थः** नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च—**चाञ्चल्ये प्रमाणं** उपलभ्यते, छ—**चाञ्चल्ये प्रमाणं** नोपलभ्यते।
3. क ख ग—**च** उपलभ्यते, घ च छ—**च** नोपलभ्यते।

और अवस्थारूप से परिवर्तित होने वाला '**गुणवृत्त**' क्षण भर के लिये भी स्थिरता को प्राप्त नहीं करता है। जैसा कि मन्वादि ग्रन्थों में कहा गया है–'**घोरेऽस्मिन्... जलबुद्बुदसन्निभे**' (मनुस्मृति १/५०) अर्थात् 'निरन्तर घात करने वाले लोगों से सम्बन्धित इस संसार में, जो केले के स्तम्भ की तरह निःसार है और जल के बुलबुले के सदृश क्षणभंगुर है, सार को जो व्यक्ति ढूँढता है, वह मूर्ख है।' वैयासिक वाक्य का अर्थ है कि '**गुणवृत्त**' अर्थात् सत्त्वादि गुणों का व्यापार अपने कार्यभूत धर्मादि परिणामों से क्षणभर के लिये भी वियुक्त (शून्य) नहीं रहता है अर्थात् प्रतिक्षण परिणाम को प्राप्त होता है।

शङ्का–किन्तु जिस समय सत्त्वादि गुण अपने व्यापार को नहीं करते हैं, उस समय उन्हें '**अपरिणामी**' कहना होगा? अर्थात् व्यापाराभाव-दशा में गुणों को '**परिणामी**' नहीं कहा जा सकता है?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**चलं च गुणवृत्तमिति**।' '**चलम्**' यह भावप्रधान-निर्देश है। इस प्रकार '**चाञ्चल्य**' गुणों का स्वभाव है और जो जिसका स्वभाव होता है, वह उसके विना एक क्षण भी नहीं रहता है।

शङ्का–मान लिया कि गुण चञ्चल स्वभाव वाले हैं, किन्तु उनकी प्रतिक्षण चञ्चलता में क्या प्रमाण है?

समाधान–ऐसी आकांक्षा होने पर भाष्यकार कहते हैं–'**गुणस्वाभाव्यं त्विति**।' जिस प्रकार राजा के गुण अर्थात् साधनभूत सेवकों का स्वामी के लिये प्रतिक्षण ही कार्य करते रहना देखा जाता है उसी प्रकार '**गुणस्वभावता**' ही चेतन पुरुष के उपसर्जनी-भूत सत्त्वादियों की प्रतिक्षण प्रवृत्ति में प्रमाण है–ऐसा पूर्वाचार्य मानते हैं। '**पर**' पुरुष के प्रति भोगापवर्ग की हेतुता गुणों में होने से ही उन्हें '**गुण**' कहा जाता है। दृष्टान्त-भूत चित्त में तीन प्रकार के परिणामों की व्याख्या करने के पश्चात् भाष्यकार दार्ष्टान्तभूत भूतेन्द्रियों में भी उक्त परिणामत्रय की व्याख्या करने के लिये अर्थात् दृष्टान्तोक्त तथ्य को दार्ष्टान्त में अन्वित करने के लिये विषय को आरम्भ करते है–'**एतेनेति**।' '**धर्मधर्मिभेदादिति**।' अर्थात् धर्म-धर्मिभेद को आश्रय करके भूतेन्द्रियों के भी त्रिविध परिणाम होते हैं। इनमें पृथिव्यादि धर्मियों (कारणों) का घटादिरूप '**धर्मपरिणाम**' होता है। घटादि धर्मों (कार्यों) का वर्तमानता और अतीततारूप '**लक्षणपरिणाम**' होता है और धर्मनिष्ठ वर्तमानादि तीन लक्षणों का बाल्य, यौवनादि-रूप '**अवस्थापरिणाम**' होता है।

सम्प्रति, परिणामों की त्रिविधता रूप '**विविधता**' में अखण्डतारूप '**एकता**' को शंकोपस्थापनपूर्वक प्रतिपादित किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

ननु [1]त्रयोऽपि कथं परिणामा भूतेन्द्रियेषूच्यन्ते, तेषु धर्मिषु धर्ममात्रपरिणामादिति? तत्राह–परमार्थतस्त्विति। एक एव परिणामः त्रयोऽपि धर्मिपरिणाम एव, यतो धर्मिस्वरूप एव धर्मोऽतो धर्मिपरिणाम एवैष लक्षणादिपरिणामो धर्मादिरित्यवान्तरमेव विभज्यत इत्यर्थः। इदानीं प्रतिक्षणपरिणामे क्षणिकताऽऽदिप्रसङ्गमपाकर्त्तुं परिणामत्रयं क्रमेण परीक्षणीयम्, तत्रादौ धर्मपरिणामः परीक्ष्यते–तत्र धर्मस्येत्यादिना। तत्र तेषु परिणामेषु मध्ये धर्मिणि सत एव धर्मस्यातीताद्यवस्थासु धर्मिणो भावान्यथात्वं धर्मान्यथात्वमेव भवति न द्रव्यान्यथात्वम्, स्वरूपान्यथात्वे हि [2]प्रतिक्षणं परिणामेन क्षणिकताऽऽपत्त्या प्रत्यभिज्ञाऽऽद्यनुपपत्तिरिति भावः। सुवर्णस्य भावान्यथात्वं भाजनादिरूपधर्मापाये कटकादिधर्माभिव्यक्तिरिति। प्रत्यभिज्ञाबलेन च सुवर्णसामान्यस्य सर्वविकारानुगतस्य सिद्धिः, तत्सामान्यं चावयविरूपो धर्मीति। वैशेषिकास्तु सुवर्णस्यान्यथात्वेऽवयवसंयोगनाशात् पूर्वसुवर्णव्यक्तिर्नश्यत्येव, प्रत्यभिज्ञा तु जातिविषयेति, तन्न, एवं सति प्रतिक्षणमवयवोपचयापचयाभ्यामवयवसंयोगविभागस्यावश्यकत्वेन शरीराद्यखिलवस्तूनां क्षणिकत्वापत्तेर्ब्रह्मणाऽप्यपरिहार्यत्वात्, जात्यैव सर्वत्र [3]प्रत्यभिज्ञोपपत्तौ प्रत्यभिज्ञया घटादिस्थैर्यमिति स्वसिद्धान्तविरोधापत्तेश्च। तस्मादवयवसंयोगनाशो न द्रव्यनाशहेतुः, किं तु वह्न्यादौ तृणारणिमण्यादिवदव्यवस्थितमेव फलबलात्कारणं कल्पनीयम्। अथ वा विजातीयोऽवयवविभागविशेष इति।

शङ्का–भूतेन्द्रियों में तीनों प्रकार के परिणाम कैसे बताये जा रहे हैं? क्योंकि इन धर्मीभूत भूतेन्द्रियों में तो एकमात्र धर्मपरिणाम होता है?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–**'परमार्थतस्त्विति।'** ये तीनों धर्मादि परिणाम भी एकात्मक ही हैं और वह **'धर्मिपरिणाम'** ही है। चूँकि धर्म (कार्य) धर्मिस्वरूप (कारणात्मक) ही होता है, अतः ये लक्षणादि परिणाम धर्मिनिष्ठ ही हैं। धर्मादिरूप से धर्मी का ही अवान्तरविभाग किया जाता है। सम्प्रति, त्रिगुणात्मक जगत् के प्रतिक्षण होने वाले परिणाम के सिद्धान्त के विषय में (पूर्वपक्षियों के) क्षणिकतादि प्रसङ्ग (क्षणवाद) का निराकरण करने के लिये त्रिविध परिणाम की क्रमशः परीक्षा करनी चाहिये। इनमें से सर्वप्रथम धर्मपरिणाम की परीक्षा भाष्यकार करते हैं–'**तत्र धर्मस्येत्यादिना।**' धर्मी (कारण) में अतीतादि अवस्थाओं के रूप में '**सत्**' (विद्यमान) रहता हुआ ही धर्म (कार्य) धर्मी (कारण) से '**भावान्यथात्व**' अर्थात् '**धर्मान्तरत्व**' (धर्मान्यथात्व) को ही प्राप्त होता है, न कि '**द्रव्यान्तरत्व**' (द्रव्यान्यथात्व) को। क्योंकि धर्मी (कारण) का '**स्वरूपान्यथात्व**' (जैसे मृद्धर्मी का सुवर्णरूप धर्मान्यथात्व) मानने

---

1. क ख ग–**कथं त्रयोऽपि**, घ च छ–**त्रयोऽपि कथम्**।
2. क–**प्रतिक्षण०**, ख ग घ च छ–**प्रतिक्षणम्**।
3. क ख ग घ च–**प्रत्यभिज्ञोपपत्तौ** उपलभ्यते, छ–**प्रत्यभिज्ञोपपत्तौ** नोपलभ्यते।

पर प्रतिक्षण परिणाम द्वारा धर्मी के क्षणिक अर्थात् क्षणस्थायी हो जाने से तद्विषयक '**प्रत्यभिज्ञादि**' ज्ञान उपपन्न न हो सकेगा। सुवर्ण-धर्मी का '**भावान्यथात्व**' तो भाजनादिरूप धर्म के अपाय (तिरोभाव) पूर्वक कटकादिरूप धर्म की '**अभिव्यक्ति**' मात्र है और प्रत्यभिज्ञाबल से समस्त विकारों (धर्मों) में अनुगत (अन्वित) रहने वाले सुवर्णसामान्य की सिद्धि होती है। किञ्च यह सुवर्ण-सामान्य ही '**अवयविरूप धर्मी**' है।

पूर्वपक्ष–वैशेषिकों का कहना है कि सुवर्ण (धर्मी) के अन्यथात्व के समय अर्थात् सुवर्ण-पिण्ड का अग्निसंयोग होते समय अवयवनिष्ठ संयोग का नाश होने से पहले वाला सुवर्ण व्यक्ति अर्थात् अग्निसंयोग के पूर्व विद्यमान सुवर्णपिण्डरूप अवयवी तो नष्ट ही हो जाता है और जो '**सोऽयं सुवर्णपिण्डः**', ऐसा '**प्रत्यभिज्ञा**' ज्ञान होता है वह तो 'सुवर्णव्यक्ति' विषयक न होकर '**सुवर्णजाति**' विषयक ही होता है। (वैशेषिकों का उक्त सिद्धान्त इस तथ्य की ओर इंगित करता है कि सुवर्ण-धर्मी में कटकादिरूप धर्म पहले से विद्यमान नहीं होते हैं)।

उत्तरपक्ष–वैशेषिकों का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सुवर्ण के '**अन्यथात्व**' में अवयवनिष्ठ संयोग का नाश मानने पर अवयविरूप धर्मी (सुवर्ण) में प्रतिक्षण होने वाले अवयवों के उपचय (वृद्धि) और अपचय (ह्रास) के कारण तदर्थ अवयवों का प्रतिक्षण संयोग और विभाग मानना अपरिहार्य हो जायेगा, जिससे शरीरादि समस्त वस्तुओं में सन्निविष्ट क्षणिकत्व की समस्या (आपत्ति) को ब्रह्म के द्वारा भी दूर नहीं किया जा सकेगा और '**जाति**' के आधार पर '**प्रत्यभिज्ञा**' की उपपत्ति मानने पर प्रत्यभिज्ञावश घटादि को स्थिर कहना पड़ेगा। जिससे अवयव-निष्ठ उपचयापचय वाला स्वसिद्धान्त (योगसिद्धान्त) विरुद्ध होने लगेगा। इससे यह माना जाता है कि अवयवसंयोग का नाश द्रव्यनाश का हेतु (नियामक) नहीं होता है, अपितु फलबल के आधार पर तृणारणिमणिन्यायादि की भाँति अग्न्यादि में (अवयवसंयोगनाश के प्रति) अव्यवस्थित कारण की कल्पना की जानी चाहिये। अथवा विजातीय अवयवविभागविशेष ही द्रव्यनाश का हेतु है, ऐसा मानना चाहिये।

सम्प्रति, बौद्धमत के खण्डनार्थ आगे का भाष्य उठाया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

स्वरूपान्यथात्ववादिबौद्धैर्धर्मिपरिणामे प्रोक्तं दूषणं निराकर्त्तुमु[1]त्थापयति– अपर

---

1. क ख ग च छ–उत्थापयति, ग–अवस्थापयति।

आहेति। धर्मी धर्मेभ्योऽतिरिक्तो न भवति अत्यन्ता[1]भिन्न इत्यर्थः। अत्र हेतुः—पूर्वतत्त्वानतिक्रमात् पूर्वतत्त्वस्य धर्मिणोऽनतिक्रमापत्तेः कौटस्थ्यापत्तेरिति यावत्। एतदेव विवृणोति—पूर्वापरेति। धर्मी यद्यन्वयी धर्मेषु स्यात्तर्हि पूर्वापरसकलावस्थाभेदेष्वनुगततयाऽतीताद्यवस्थायामपि सत्त्वप्रसङ्गात् कौटस्थ्येनैव तिष्ठेत्, चितिशक्तिवत् नित्यत्वकूटस्थत्वयोरेकार्थत्वात्, तच्च तवाप्यनिष्टमित्यर्थः। परिहरति—अयमदोष इति। एकान्ततेति। एकान्तनित्यत्वानभ्युपगमादित्यर्थः। एकान्तेन सर्वथा स्वरूपतो धर्मतश्च नित्यत्वमेव कौटस्थ्यमस्माभिरप्युपेयते, तच्च चितिशक्तेरेव न तु धर्मरूपेणानित्यस्य धर्मिण इत्यर्थः।

हमारे द्वारा धर्मी का धर्मादि परिणाम मानने पर द्रव्यान्यथात्ववादी बौद्धों ने जिस दोष को उद्भावित किया है, उसका निराकरण करने के लिये भाष्यकार उनके मत को उपस्थित करते हैं—'**अपर आहेति।**'

पूर्वपक्ष—(बौद्ध) **धर्म** से अतिरिक्त **धर्मी** नहीं होता है अर्थात् धर्म-धर्मी में भेद नहीं होता है, अपितु उनमें '**आत्यन्तिक अभेद**' है, अर्थात् धर्म-धर्मी का भेद-व्यवहार वास्तविक नहीं है। इस स्थिति में '**पूर्वतत्त्व**' अर्थात् धर्मी का '**अनतिक्रम**' अर्थात् स्वरूपान्यथात्व न मानने पर उसे कूटस्थनित्य कहना पडेगा। भाष्यकार पूर्वपक्षी के इसी तथ्य को उद्घाटित करते हैं—'**पूर्वापरेति।**' यदि धर्मी धर्मों में अन्वित रहने लगे तो '**पूर्वापर**' अर्थात् परिणाम के पूर्व और परिणाम के पश्चात् के समस्त अवस्थाभेदों में '**अनुगत**' अर्थात् अनुस्यूत रहने से अतीतादि अवस्थाओं में भी '**धर्मी**' के विद्यमान रहने का प्रसंग आयेगा, जिससे मृत्तिकादि धर्मी को '**कूटस्थनित्य**' उसी प्रकार मानना पडेगा जिस प्रकार चितिशक्ति कूटस्थनित्य है, क्योंकि '**नित्यत्व**' और '**कूटस्थनित्य**' एकार्थक हैं। किन्तु यह स्थिति स्वयं योगाचार्यों को भी मान्य न होगी। (क्योंकि कूटस्थरूप में परिणाम नहीं माना जाता है। जब कि धर्मी को धर्मान्वयी मानने पर कूटस्थ मृत्तिकादि धर्मी में परिणाम की कल्पना करनी पडेगी। अतः धर्मी का स्वरूपान्यथात्व मानना चाहिये)।

उत्तरपक्ष—भाष्यकार पूर्वपक्ष का खण्डन करते हैं—'**अयमदोष इति।**' हम योगाचार्यों का सिद्धान्त दोषपूर्ण नहीं है। योगशास्त्र के '**परिणाम**' सिद्धान्त की निर्दुष्टता को भाष्यकार बताते हैं—'**एकान्ततेति।**' '**एकान्तनित्यता**' को स्वीकार न करने के कारण योगपक्ष दोषशून्य है। '**एकान्त**' अर्थात् '**स्वरूपतः**' और '**धर्मतः**' सभी प्रकार से नित्य होना ही '**एकान्तनित्यता**' है। ऐसी एकान्तनित्यता को '**कूटस्थनित्यता**' अर्थात् '**कौटस्थ्य**' कहते हैं, जिसे हम योगाचार्य भी स्वीकार करते हैं। इस प्रकार की कूटस्थनित्यता '**चितिशक्ति**' की ही है, न कि धर्मरूप से अनित्य धर्मी की। अर्थात् धर्मापन्न अनित्य

1. क—**भिन्नः**, ख ग घ च छ—**अभिन्नः**।

मृत्तिकादि धर्मी को कूटस्थ नहीं कहा जा सकता है। (भाव यह है कि पुरुष के अतिरिक्त अन्य सभी तत्त्व स्वरूपतः नित्य भले ही हों किन्तु धर्मादिरूप से वे अनित्य हैं। इसीलिये मृत्तिकादि धर्मी को स्वरूप से तो नित्य कहा गया है, किन्तु धर्मरूप से वे अनित्य ही हैं। फलतः दोनों में ऐकान्तिक अभेद नहीं है। इसीलिये धर्मी में एकान्तनित्यता को भी स्वीकार नहीं किया जाता है और न ही उसमें कूटस्थपरिणाम का दोष ही प्रसक्त होता है।

जागतिक पदार्थों के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आगे कहा जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

विकारव्यावृत्तं प्रकृतेर्नित्यत्वम्, [1]**तच्चाऽतीतानागतावस्थाशून्यत्वम् इति। स्वरूपतो धर्मतश्च नित्यानित्योभयरूपत्वं प्रपञ्चस्येति प्रतिपादयति–तदेतदिति। तदेतत्त्रैलोक्यं कार्यकारणात्मकं चतुर्विंशतितत्त्वानि सकार्याणीति यावत्, यथायोग्यं धर्मरूपेण स्वतश्च व्यक्तेर्वर्त्तमानावस्थातोऽपैति, नित्यत्वप्रतिषेधात्, नैवेह किञ्चनाग्र आसीत्, असद्वा इदमग्र आसीत् इत्यादिश्रुतिभिः,**

व्यक्ताव्यक्तात्मिका तस्मिन्प्रकृतिः सम्प्रलीयते

इत्यादिस्मृतिभिः। यत्सावयवं तदनित्यं घटादिवदित्य[2]नुमानेनेत्यर्थः। नन्वेवमत्यन्तोच्छेद एवास्तु? तत्राह–अपेतमिति। अपेतमतीतमपि प्रकृत्यादिर्धर्मिरूपेणा[3]तीतरूपेण चास्ति विनाश[4]प्रतिषेधाद् अत्यन्तोच्छेदप्रतिषेधात् तद्धैक आहुरसदेवैकमग्र आसीदित्यत्यन्तोच्छेदमाशङ्क्य कथमसतः सज्जायेत सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदिति श्रुत्या तत्प्रतिषेधादित्यर्थः। विनाशित्वे सत्यनादिभावत्वानुपपत्तेरिति।

'**विकारशून्यता**' ही प्रकृति की '**नित्यता**' है। अर्थात् प्रकृति को नित्य इसलिये कहा जाता है क्योंकि वह किसी का कार्यरूप विकार नहीं है और यह प्रकृति अतीतावस्था और अनागतावस्था से रहित होने के कारण (भी) नित्य कही जाती है। अर्थात् '**अतीतानागतावस्थाशून्यत्व**' ही '**नित्यत्व**' है। किन्तु '**प्रपञ्च**' अर्थात् महदादि जागतिक पदार्थ स्वरूपतः और धर्मतः '**नित्यानित्य**' उभयरूप हैं, इस तथ्य को भाष्यकार प्रतिपादित करते हैं–'**तदेतदिति।**' कार्य-कारणात्मक यह त्रैलोक्य चतुर्विंशति तत्त्व वाला है अर्थात् महदादिरूप चौबीस कार्य-तत्त्व स्वीकार किये गये हैं। यह कार्यात्मक त्रैलोक्य (महदादि) धर्मतः और स्वरूपतः यथायोग्य '**व्यक्ति**' अर्थात्

---

1. क ख–**च स्वतः**, ग–**सतः**, च–**स च**, छ–**तच्च**, घ–**च स्वतः/सतः/स च/तच्च** नोपलभ्यते।
2. क ख ग–**अनुमानैः**, घ च छ–**अनुमानेन**।
3. क ख ग घ च–**अतीतरूपेण** उपलभ्यते, छ–**अतीतरूपेण** नोपलभ्यते।
4. ख–**तदेतदक्षयं नित्यं जगन्मुनिवराखिलम्। आविर्भावतिरोभावजन्मना सविकल्पवदिति, विष्णुपुराणादिषु जगतः** (**प्रतिषेधात्**–पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ–**तत्...जगतः** नोपलभ्यते।

अर्थात् अभिव्यक्तिरूप वर्तमानावस्था को त्याग देता है, क्योंकि इसकी एकान्तनित्यता का प्रतिषेध किया जाता है। अर्थात् प्रकृति के महदादिरूप धर्मों की वर्तमानावस्था की '**लयाख्य**' (अनभिव्यक्तिरूप) स्थिति ही उनके '**एकान्तनित्य**' होने का खण्डन करती है। इसीलिये निम्नाङ्कित श्रुति, स्मृतिवाक्यों से त्रैलोक्य की '**असद्रूपता**' कही गई है–'**नैवेह किञ्चनाग्र आसीत्**' (बृ. आ १/२/१) अर्थात् 'सृष्टि के प्रारम्भ में कुछ नहीं था,' '**असद्वा इदमग्र आसीत्**' (तै. उप. २/७) अर्थात् 'सृष्टि के आदि में यह जगत् असद्रूप था', '**व्यक्ताव्यक्तात्मिका तस्मिन्प्रकृतिः सम्प्रलीयते**' अर्थात् 'व्यक्त और अव्यक्तरूप यह प्रकृति उस ब्रह्म में विलीन हो जाती है।' वार्त्तिककार तदर्थ अनुमानप्रयोग प्रस्तुत करते हैं–'**यत् सावयवं तदनित्यं घटादिवत्**' इस अनुमान प्रयोग से यह सिद्ध होता है कि जो सावयव होता है वह अनित्य होता है, जैसे सावयव घट अनित्य है।

शङ्का–जब आप ऐसा कहते हैं कि धर्मिरूप महदादि '**धर्मतः**' और '**स्वरूपतः**' अभि-व्यक्ति से अनभिव्यक्तिरूप अतीतादि अवस्था को प्राप्त होते हैं, तब तो महदादिरूप त्रैलोक्य का आत्यन्तिक उच्छेद होना ही क्यों न मान लिया जाय? अर्थात् एकान्त-नित्य न होने से पदार्थ का आत्यन्तिक नाश ही मानना चाहिये?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**अपेतमिति।**' '**अपेत**' अर्थात् अतीतावस्था को प्राप्त होता हुआ भी महदादिरूप त्रैलोक्य प्रकृत्यादिरूप धर्मिरूप से विद्यमान (सत्) रहता है। अर्थात् अभिव्यक्तिहीन होता हुआ भी यह जगत् अपने मूलस्रोतरूप प्रकृति में सद्रूप में अवस्थित रहता है। क्योंकि शास्त्र में पदार्थों के आत्यन्तिक नाश का निषेध किया गया है। जैसे छान्दोग्य में '**तद्धैक आहुरसदेवैकमग्र आसीत्**' (छा. उप. ६/२/१) अर्थात् 'कोई कहता है कि सृष्टि के आदि में सब असद्रूप ही था'–इस प्रकार (बौद्धों की ओर से) जगत् के आत्यन्तिक उच्छेदात्मक रूप के विषय में शंका करके '**कथमसतः सज्जायेत सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीत्**' (छा. उप. ६/२/२) अर्थात् 'असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? अतः हे सोम्य! सृष्टि के आदि में यह जगत् सद्रूप ही था'–इत्याकारक श्रुति के द्वारा पदार्थ के आत्यन्तिक विनाश का प्रतिषेध किया गया है। क्योंकि जगत् का आत्यन्तिक विनाश मानने पर उसका '**अनादि**' होना उपपन्न न हो सकेगा। अर्थात् जगत् का अनादित्वकथन व्यभि-चरित होगा।

उपरिनिर्दिष्ट उद्धरण की अन्तःसङ्गति बैठाते हुए वार्त्तिककार आगे कहते हैं–

योगवार्त्तिकम्

यद्यपि सत्त्वेवेति श्रुतौ सच्छब्दार्थः परमात्मैव, तदैक्षतेत्युत्तरवाक्यात् तथाऽपि **सदेकीभावेनेदमासीदितिवचनादस्य प्रपञ्चस्यापि प्रलये सत्त्वं सिद्धमेव। एवं तद्धेदं तर्ह्य-**

व्याकृतमासीत्तमसैवेदमासीत्,

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्

इत्यादिश्रुतिस्मृतयोऽप्यत्यन्तोच्छेदनिषेधिका उदाहार्याः। युक्तिश्चासदुत्पादे शशशृङ्गाद्युत्पत्ति[1]प्रसङ्गबन्धमोक्षाद्यनुपपत्त्यादिरूपा ग्राह्या। नन्वपेतमपि चेदस्ति कथं नोपलभ्यते? तत्राह—संसर्गाच्चेति। अस्य विकारजातस्य [2]स्वस्वकारणेषु प्रकृत्यादिषु संसर्गादविभागाख्यात् कार्यस्य सौक्ष्म्यमव्यक्तता, तस्माच्चास्यानुपलब्धिः, सूक्ष्मताया लौकिकसाक्षात्कारप्रतिबन्धकत्वादित्यर्थः।

यद्यपि '**सत्त्वेव**' इस श्रुति में '**सत्**' शब्द का अर्थ परमात्मा ही है, क्योंकि '**तदैक्षत**' (छा. उप. ६/२/३) अर्थात् 'उसने ईक्षण किया'—ऐसा उत्तरवाक्य प्राप्त होता है। अर्थात् पूर्वापर वाक्यों की एकवाक्यता होती है तथापि '**सदेकीभावेनेदमासीत्**' अर्थात् 'सत् ब्रह्म में एकीभावरूप से यह जगत् सृष्टि के आरम्भ में विद्यमान था'—इस वाक्य से पुरोदृश्यमान प्रपञ्च का भी प्रलयावस्था में अस्तित्व (सत्त्व) ही सिद्ध होता है। इसी प्रकार निम्नाङ्कित श्रुति-स्मृतिवाक्य भी प्रपञ्च के '**आत्यन्तिक उच्छेद**' के निषेधस्वरूप ही उदाहार्य हैं—'**तद्धेदं तर्ह्यव्याकृत...मासीत्**' (बृ. आ. १/४/७) अर्थात् 'वह अव्याकृत था, 'वह तमस्रूप ही था', '**आसीदिदं...लक्षणम्**' (मनु. स्मृ. १/५) अर्थात् 'यह संसार प्रलयकाल में तम में लीन, अज्ञेय तथा चिह्नरहित के समान था।' जगत् के आत्यन्तिक उच्छेद का निषेध करने में युक्ति (तर्क) यह है कि (आत्यन्तिक उच्छेदरूप) '**असत्**' की उत्पत्ति मानने पर शशशृङ्गादि अलीक पदार्थ की उत्पत्ति तथा बन्ध मोक्षादि की अनुपपत्ति माननी पडेगी। (जब कि सिद्धान्ततः यह स्वीकार किया जाता है कि असद्रूप शशशृङ्गादि की उत्पत्ति नहीं होती है और बन्ध-मोक्षादि की सत्ता न्यायसंगत है)।

शङ्का—'**अपेत**' अर्थात् अतीतावस्था को प्राप्त होते हुए भी यदि महदादि **धर्म** प्रकृति-धर्मी में विद्यमान रहते हैं तो फिर अतीतावस्थ महदादि धर्म की उपलब्धि क्यों नहीं होती है?

समाधान—इस पर भाष्यकार कहते हैं—'**संसर्गाच्चेति**।' महदादि विकारजात (कार्य-पुञ्ज) का अपने-अपने प्रकृत्यादि कारणों के साथ '**अविभागाख्य**' अर्थात् अभेदाख्य संसर्ग होने से कार्य की '**सूक्ष्मता**' अर्थात् अव्यक्तता कही गई है। अर्थात् कारण में कार्य सूक्ष्मरूप से निहित रहता है, इसलिये अपने कारण में सद्रूप से रहते हुए भी कार्य की उपलब्धि नहीं होती है। क्योंकि पदार्थगत सूक्ष्मता लौकिक प्रत्यक्ष का प्रतिबन्धिका होती है।

---

1. क छ—**सङ्ग**०, ख ग घ च—**प्रसङ्ग**०।
2. क ख ग—**स्व**, घ च छ—**स्वस्व**।

बालप्रिया–

'सूक्ष्मताया लौकिकसाक्षात्कारप्रतिबन्धकत्वादित्यर्थः'–यहाँ साक्षात्कार में **'लौकिक'** शब्द का प्रयोग इसलिये किया गया है अर्थात् सूक्ष्मता को केवल लौकिक साक्षात्कार का प्रतिबन्धक इसलिये कहा गया है कि योगिजन के अलौकिक प्रत्यक्ष में सूक्ष्मता बाधास्वरूप नहीं होती है। योगी योगबल से कारणनिष्ठ सूक्ष्म धर्म=कार्य का भी प्रत्यक्ष कर लेता है। अतः यहाँ एतद्विषयिणी शंका है कि सर्वसाधारण को अतीत पदार्थ का प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता है? अतः सर्वसाधारण के लौकिक प्रत्यक्ष को योगिजन के अलौकिक प्रत्यक्ष से पृथक् करने के लिये **'लौकिक'** पद का प्रयोग सार्थक है।

विषय को आगे बढाते हुए योगवार्त्तिककार कहते हैं–

योगवार्त्तिकम्

तदेवं [1]कार्यकारणाभेदेन प्रकृत्यादीनां सर्वेषां परिणामिनां प्रकारभेदेन नित्यानित्योभयरूपत्व[2]स्थापनात्तेषां सदसद्रूपत्वं सिद्धान्तितम्, सदसत्ख्यातिर्बाधाबाधाभ्यामिति सांख्यसूत्रानुसारात्। इदमेव च जडानां व्यावहारिकं सत्त्वं पुराणादौ गीयते। यच्च निःसत्तासत्तं प्रधानमिति भाष्यकारैः प्रागुक्तं तत् पारमार्थिकसत्त्वासत्त्वाभिप्रायेणैवेत्यस्माभिस्तत्रैव व्याख्यातम्। एतेनात्मैव सन्नन्यत्वसर्वमसदिति श्रुतिस्मृतिवादा अप्यविरुद्धाः, एकान्तनित्यत्वस्यैव पारमार्थिकसत्तात्वात्। तच्च कूटस्थनित्यस्यैवास्ति, असत्तासम्पर्कराहित्यात् न तु व्यवहारसतां प्रकृत्यादीनामिति। इत्थमेव च–

नासद्रूपा न सद्रूपा माया नैवोभयात्मिका।
सदसद्भ्यामनिर्वाच्या मिथ्याभूता सनातनी॥

इत्यादिवाक्यान्यपि सङ्गच्छन्ते, न पुनराधुनिकवेदान्तिब्रुवाणामनिर्वचनीयतावादेऽपि, तैर्हि मायाऽऽख्यजगत्कारणस्यापि विनाशोऽत्यन्ततुच्छत्वमेव वा परमार्थत इष्यते, तन्मते च सनातनत्ववचन[3]विरोध इति दिक्।

इस प्रकार कार्य-कारण का अभेद होने से परिणामशील सभी प्रकृत्यादि पदार्थ प्रकारभेद से नित्यानित्य उभयरूप सिद्ध होते हैं, क्योंकि **'सदसत्ख्यातिर्बाधाबाधाभ्याम्'** (५/५६) इस सांख्यसूत्र से प्रकृत्यादि पदार्थों की **सदसद्रूपता** सिद्धान्तित हुई है।

---

1. अ–क ग घ च छ–**कार्यकारणाभेदेन** उपलभ्यते, ख–**कार्यकारणाभेदेन** नोपलभ्यते।
आ–क घ च छ–**अभेदेन**, ग–**भेदेन**।
2. क च छ–**स्थापनात्**, ख ग घ–**व्यवस्थापनात्**।
3. ख ग–**किं बहुना सत्त्वाच्चावरस्यासद्व्यपदेशादिति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषादिति। वेदान्तसूत्रद्वयोक्तयोरेव विकारसदसत्वयोर्विरोध इति दिक्** (**विरोधः**–पश्चात्) उपलभ्यते, क घ च छ–**किं बहुना...इति दिक्** नोपलभ्यते।

प्रकृत्यादि जड पदार्थों की यही '**सदसद्रूपता**' पुराणों में '**व्यावहारिक सत्ता**' के रूप से वर्णित हुई है। और भाष्यकार ने पीछे '**निःसत्तासत्तं प्रधानम्**' पंक्ति द्वारा प्रधान को '**निःसत्तासत्त**' जो कहा है वह पारमार्थिक '**सत्त्वासत्त्व**' के अभिप्राय से ही है, ऐसा हम पीछे प्रतिपादित कर चुके हैं। इससे 'आत्मा ही सत् है, अन्य सभी पदार्थ असत् हैं' इस तथ्य के प्रतिपादक श्रुति-स्मृति-वाक्य भी अविरुद्ध अर्थात् सुसंगत हो जाते हैं, क्योंकि '**एकान्तनित्य**' पदार्थ की ही '**पारमार्थिक सत्ता**' होती है। और यह '**पारमार्थिक सत्ता**' '**कूटस्थनित्य**' पदार्थ (पुरुष) की ही होती है, क्योंकि वह '**असत्**' के सम्पर्क से सर्वथा रहित होता है। इसलिये '**पारमार्थिक सत्**' पदार्थ प्रकृत्यादियों की '**व्यावहारिक सत्ता**' को स्पर्श नहीं करता है। इस प्रकार से तो '**नासद्रूपा...सनातनी**' (सौर पु. ११/२८) अर्थात् 'माया न असद्रूप है, न सद्रूप है और न ही सदसद्रूप है किन्तु सदसत् से विलक्षण (अनिर्वचनीय), मिथ्या और सनातनी (अनादि) है'–इत्यादि वाक्यों की सङ्गति लग जाती है, किन्तु आधुनिक वेदान्तियों के अनिर्वचनीयवाद में नहीं। क्योंकि आधुनिक वेदान्ती लोग जगत् की कारणभूता माया के विनाश को 'अत्यन्ततुच्छ' अथवा 'परमार्थतः' ही मानते हैं। अतः माया को '**सनातनी**' कहने वाली श्रुति से इनका वचनविरोध है। अभिप्राय यह है कि माया को अत्यन्ततुच्छ मानने पर उसकी प्रतीति नहीं रहेगी और वह सनातनी भी नहीं कही जा सकेगी तथा माया को पारमार्थिक सत् मानने पर उसका बाध नहीं हो सकेगा।

सम्प्रति, वार्त्तिककार यथाक्रम '**लक्षणपरिणाम**' पर विचार करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

धर्मपरिणामं परीक्ष्य लक्षणपरिणामः परीक्ष्यते–लक्षणपरिणाम इति। अध्वसु वर्तमान इति। धर्माणां [1]नित्यत्वमुक्तं नित्यत्वं विनाऽतीतानागतलक्षणयोगा[2]सम्भवात्। अत्र एकैकलक्षणाभिव्यक्तिकालेऽपि धर्मो लक्षणान्तराभ्यां सूक्ष्माभ्यां वियुक्ता न भवन्तीति समुदायार्थः। तथा धर्मा इव लक्षणान्यपि नित्यान्येवेति नात्यन्तासदुत्पत्तिसदत्यन्तोच्छेदयोः प्रसङ्ग इति भावः। नन्वेकलक्षणाभिव्यक्तिकाले लक्षणान्तरयोरनुपलम्भादभाव एव युक्त इत्याशङ्कायां [3]तयोरुपलब्धिमानुमानिकीं दर्शयति–यथेति। न शेषासु विरक्त इति। रागस्य भावित्वे सति विरक्तव्यवहारादर्शनात्। तथा चैकविषयकरागाभिव्यक्तिकालेऽपि विषयान्तर-रागस्यात्यन्तमभावो नास्ति; अतो रागस्यैकलक्षणाभिव्यक्तिकालेऽन्ययोः सत्ता सिध्यत्यनुमाना-दित्यर्थः।

---

1. क ख ग घ च–नित्यत्वमुक्तं उपलभ्यते, छ–नित्यत्वमुक्तं नोपलभ्यते।
2. क ग घ च छ–असम्भवात्, ख–सम्भवात्।
3. क–तत्, ख ग घ च छ–तयोः।

'धर्मपरिणाम' की परीक्षा करके भाष्यकार **'लक्षणपरिणाम'** की परीक्षा करते हैं– **'लक्षणपरिणाम इति।' 'अध्वसु वर्तमान इति।'** (धर्मिरूप कारण के कार्यरूप) धर्मों के नित्य हुए विना उनका (वर्तमानलक्षण की भाँति) अतीतलक्षण और अनागतलक्षण के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता है अर्थात् धर्मरूप अनित्य घट का वर्तमानलक्षणपरिणाम तो हो सकता है, किन्तु अनित्य घटादि धर्म का अतीतलक्षणपरिणाम तथा अनागतलक्षणपरिणाम नहीं कहा जा सकता है? धर्मरूप कार्य को सापेक्ष नित्य मानने पर ही उक्त समस्या का समाधान हो सकता है। अतः योगशास्त्र में **'धर्मरूप'** कार्य को भी **'सत्'** कहा गया है। योग के अनुसार **'अनागतादि'** एक-एक 'लक्षण' के अभिव्यक्तिकाल में भी (कार्यरूप) **'धर्म'** तद्भिन्न दो सूक्ष्म (अनभिव्यक्त) धर्मों से असम्बद्ध (अनन्वित) नहीं रहता है। यही वैयासिक वाक्य का समुदित अर्थ है। जिस प्रकार (धर्मिरूप कारण का कार्यरूप) **'धर्म'** नित्य है उसी प्रकार धर्मनिष्ठ **'अनागतादित्रिलक्षण'** भी नित्य ही है। इससे अत्यन्त **'असत्'** की उत्पत्ति और **'सत्'** के अत्यन्त उच्छेद का प्रसंग उपस्थित नहीं होता है।

शङ्का–(धर्मनिष्ठ) एक लक्षण के अभिव्यक्तिकाल में तद्भिन्न दो लक्षणों की उपलब्धि (ज्ञान अर्थात् प्रत्यक्ष) न होने से अनुपलब्ध लक्षणों का अभाव ही मानना तर्कसंगत है?

समाधान–उक्त आशंका होने पर भाष्यकार अनुपलब्ध दो लक्षणों की आनुमानिकी सत्ता को प्रदर्शित करते हैं, अर्थात् प्रत्यक्षायोग्य लक्षणों की सत्ता अनुमेय है, यह स्पष्ट करते हैं–**'यथेति।' 'न शेषासु विरक्त इति।'** जिस प्रकार एक स्त्री में आसक्त हुआ पुरुष अन्य स्त्रियों के प्रति विरक्त नहीं होता है, क्योंकि एक स्त्री के प्रति राग के अभिव्यक्तिकाल में अन्य स्त्रियों के प्रति उसका विरक्त व्यवहार नहीं देखा जाता है। उसी प्रकार एकविषयक राग के अभिव्यक्तिकाल में भी अन्य विषयों के प्रति राग का अत्यन्त अभाव नहीं होता है। अतः राग के एक (वर्तमान) लक्षण के अभिव्यक्ति काल में अन्य दो (अनागत एवं अतीत) लक्षणों की सत्ता भी अनुमित होती है। अर्थात् चित्त-धर्मी के राग-धर्म का जो वर्तमानलक्षण है, उसे हेतु बनाकर अन्य दो लक्षणों का अनुमान किया जाता है।

सम्प्रति, परमत के खण्डनपुरस्सर **'लक्षणपरिणाम'** के असन्दिग्ध स्वरूप को स्थापित किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

लक्षणपरिणामेऽपि परोक्तदूषणमुद्भावयति–अत्रेति। सर्वस्यानागतादेर्वर्त्तमानादिसर्वलक्षणयोगादनागतादिकमपि वर्त्तमानं स्यादित्यध्वनां सङ्करः प्रसक्तः, क्रमिकत्वे चासदुत्पाद-

प्रसङ्ग इति शेषः। अतो वर्त्तमानमात्रलक्षणकं सर्वं [1]वस्तु, पूर्वोत्तरकालयोस्तु तस्याभावमात्रम्, अभावप्रतियोगित्वादेव चातीतत्वादि[2]व्यवहार इति। तत्रादौ धर्मेषु लक्षणत्रयसम्बन्धमेव व्यवस्थापयति–धर्माणामिति। धर्माणां तावत् धर्मत्वं प्राक्साधितत्वान्न साधनीयम्। सिद्धे च धर्मत्वं धर्माणां लक्षणभेदो लक्षणबहुत्वमपि वक्तव्यं न पुनरर्द्धवैनाशिकोक्तं वर्त्तमानमात्रमेकं लक्षणं यतो न वर्त्तमानसमयमात्रेऽस्य धर्मस्य धर्मत्वं किं त्वतीतादिसमयेऽपीति शेषः। अत्र हेतुमाह–एवं हीति। हि यस्माद् एवं वर्त्तमानकाल एव धर्मत्वे सति सर्वमेव चित्तं न रागधर्मकं [3]विरक्तमिति यावत् विरक्तव्यवहारयोग्यं स्यात्, क्रोध[4]काले रागस्यासमुदाचाराद् अनाविर्भावादित्यर्थः। अयं भावः–यथा यदा कदाचिद्रागसत्त्वेन भवन्मते चित्तं रक्तमिति व्यवहारः तथा यदा कदाचिद्रागाभावेन चित्तं विरक्तमिति व्यवहारः स्यादिति, [5]अतोऽतीतादिकालेऽपि रागादेश्चित्तादिधर्मत्वात् धर्माणां त्रिलक्षणकत्वं सिद्धम्। यच्च तैरुच्यते–अभावप्रतियोगितामात्रेणातीतादिव्यवहार इति, तदपि हेयम्, असति घटे ध्वंसप्रतियोगित्वादिरूपस्यातीतत्वस्य वृत्त्यनुपपत्तेः, संयोगित्वादिवत्प्रतियोगित्वादेरपि [6]सम्बन्धिद्वयसत्त्वं विनाऽनुपपत्तेः, सदसतोः सम्बन्धादर्शनात्, ध्वंसप्रागभावयोरसिद्धेश्च, घटो वर्त्तमान इतिवत् घटोऽतीतो भविष्यन्निति प्रत्ययाभ्यां घटावस्थाविशेषयोरेव सिद्धेः। अन्यथा अभावाभावस्याप्यतिरिक्तत्वादिप्रसङ्ग इत्यादयश्च दोषाः स्वयमूहनीयाः।

सम्प्रति, भाष्यकार 'लक्षणपरिणाम' के विषय में भी परवादी (बौद्ध) द्वारा उठाये गये दोषों की उद्भावना करते हैं–'अत्रेति।'

पूर्वपक्ष–जब अनागतादि सभी लक्षणपरिणामों का वर्तमानादि सभी लक्षणपरिणामों के साथ सम्बन्ध होगा तो अनागतलक्षणपरिणाम भी वर्तमानलक्षणपरिणाम हो जायेगा और इस प्रकार अनागतादि अध्वाओं में साङ्कर्यदोष प्रसक्त होगा और यदि अनागतादि लक्षणों में क्रम माना जाय तो असत् की उत्पत्ति का प्रसंग आयेगा। अतः यह मानना चाहिये कि यच्च-यावत् सभी वस्तुएँ (धर्म-कार्य) वर्तमानलक्षणपरिणाम वाली होती हैं। अभिव्यक्ति के पूर्व और नाश की परवर्ती अवस्था में धर्मरूप कार्य का अभाव ही रहता है। अर्थात् धर्मरूप कार्य का अनागतलक्षणपरिणाम तथा अतीतलक्षणपरिणाम नहीं होता है और (धर्मगत) अतीतत्वादि का व्यवहार तो 'अभाव' के प्रतियोगिरूप से ही हो जाता है।

---

1. क ख च छ–वस्तु उपलभ्यते, ग घ–वस्तु नोपलभ्यते।
2. ख–परैर्दोष आरोप्यत इत्यर्थः। तस्यायं सिद्धान्त इत्याह, तस्य परिहार इति–(व्यवहारः–पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ–परैः...परिहार इति नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च–विरक्तमिति यावत् उपलभ्यते, छ–विरक्तमिति यावत् नोपलभ्यते।
4. ग–अपि (काले–पश्चात्) उपलभ्यते, क ख घ च छ–अपि (काले–पश्चात्) नोपलभ्यते।
5. क ख घ च छ–अतः, ग–यतः।
6. क छ–सम्बन्धिद्वयं, ख ग घ च–सम्बन्धिद्वयसत्त्वम्।

उत्तरपक्ष–भाष्यकार सर्वप्रथम (कार्यरूप घटादि) '**धर्मों**' में '**लक्षणत्रय**' के सम्बन्ध को ही व्यवस्थित करते हैं–'**धर्माणामिति**।' (घटादि) धर्मों का धर्मत्व तो पहले ही सिद्ध किया जा चुका है, अतः धर्मत्व यहाँ सिद्ध करने योग्य (साध्य) नहीं है। और जब धर्म (कार्य) की धर्मता (कार्यता) सिद्ध है तब धर्मों का अनागतादिलक्षणपरक लक्षणभेद भी अभिधान के योग्य नहीं है। इससे यह सिद्धान्तित होता है कि बौद्धसम्मत एक मात्र वर्तमानलक्षण नहीं है (अपितु धर्म का अनागत और अतीतलक्षण भी होता है), क्योंकि वर्तमानलक्षणपरिणाम के समय ही धर्म का धर्मत्व नहीं रहता है, अपितु अनागतलक्षणपरिणाम तथा अतीतलक्षणपरिणाम के समय भी घटादि धर्मों की धर्मता अक्षुण्ण रहती है। इस विषय में भाष्यकार हेतु बताते हैं–'**एवं हीति**।' वर्तमानकाल में ही धर्मत्व मानने पर अर्थात् कार्यभूत चित्तादि धर्म का एकमात्र वर्तमानलक्षणपरिणाम मानने पर तो रागधर्मयुक्त चित्त (वर्तमान-लक्षणक रागात्मक चित्त) विरक्त व्यवहार के योग्य (अनागतादिलक्षणक विरागधर्म वाला) नहीं हो सकता है, क्योंकि क्रोधकाल में चित्त, राग-धर्म के '**असमुदाचार**' अर्थात् अनाविर्भाव- वाला होता है। भाव यह है–जिस प्रकार चित्त में जिस समय राग-धर्म की सत्ता होती है, तो उसके कारण '**चित्तं रक्तम्**' अर्थात् 'चित्त अनुरक्त है' ऐसा व्यवहार पूर्वपक्षी के मत में किया जाता है तो उसी प्रकार जिस समय चित्त रागाभाव वाला होता है, तो उसके कारण '**चित्तं विरक्तम्**' अर्थात् 'चित्त विरक्त है', ऐसा व्यवहार भी किया जा सकता है। इससे यह सिद्ध होता है कि अतीतादि काल में भी रागादि के चित्तादि का धर्म होने से रागादि धर्मों का '**त्रिलक्षणत्व**' अर्थात् अनागत, वर्तमान तथा अतीतलक्षणवृत्तित्व सिद्ध होता है। और वैनाशिकों द्वारा जो यह कहा जाता है–'अभाव के प्रतियोगिरूप से अतीतादि का व्यवहार निष्पन्न होता है' वह भी असंगत (हेय) है, क्योंकि घट के न होने पर ध्वंस के प्रतियोगित्वादि (प्रतिरूपत्वादि) रूप '**अतीतलक्षणपरिणाम**' का होना उपपन्न नहीं होता है। इसमें हेतु यह है कि संयोगित्वादि की तरह प्रतियोगित्वादि भी सम्बन्धिद्वय (दो सम्बन्धी) के विना अनुपपन्न होते हैं। सत्-असत् का सम्बन्ध नहीं होता है तथा ध्वंस और प्रागभाव की सत्ता सिद्ध नहीं होती है, क्योंकि '**घटो वर्तमानः**' इस प्रकार के व्यवहार की भाँति '**घटोऽतीतः, घटो भविष्यत्**' इत्याकारक प्रत्ययों (वाग्व्यवहारों) से अतीत और अनागतलक्षण भी (वर्तमानलक्षण की भाँति) घट-धर्म के अवस्थाविशेष (परिणामविशेष अर्थात् भावविशेष) ही सिद्ध होते हैं। अन्यथा अभाव के अभाव को भी अतिरिक्त पदार्थ मानने का प्रसङ्ग आयेगा और इस प्रकार अनेक दोषों की कल्पना करनी पड़ेगी।

धर्मनिष्ठ अनागतादि त्रिविध लक्षणों की स्थापना करने के पश्चात् वार्त्तिककार **'त्रिलक्षण'** के अमिश्रित रूप को सुस्पष्ट करते हैं—

योगवार्त्तिकम्

तदेवं धर्माणां लक्षणत्रये व्यवस्थाप्येदानीं तत्साङ्कर्यं परिहरति—किंचेति।' त्रयाणामनागतादिलक्षणानामेकदैकस्मिन् वस्तुनि सम्भवोऽ[1]भिव्यक्तिर्नास्ति किंतु स्वाभिव्यञ्जकं दण्डचक्रादिवस्त्वञ्जनतुल्यं यस्य एवंभूतस्य लक्षणस्य क्रमेण भावोऽभिव्यक्तिर्भवेदिति नाभिव्यक्तौ साङ्कर्यम्' [2]स्वरूपतस्तु साङ्कर्यमिष्यत एवेत्यर्थः। अव्यक्तयोर्लक्षणयोर्व्यक्तेन लक्षणेन सह नास्ति विरोध इत्यत्र पञ्चशिखवाक्यं प्रमाणयति—उक्तं चेति। धर्माद्यनैश्वर्यान्तान्यष्टौ चित्तस्य रूपाणि, वृत्तयश्च ज्ञानाद्याश्रयाः शान्तघोरमूढाश्चित्तपरिणामास्तेषामतिशयोऽभिव्यक्तिरूपोत्कटतेति। इदं च वाक्यं गुणवृत्त्यविरोधाच्च दुःखमेव सर्वमिति सूत्रे व्याख्यातम्। उपसंहरति—तस्मादिति। असङ्करे दृष्टान्तमाह—यथेति। रागस्यैवेति। धर्माणां लक्षणत्रयसंबंध उदाहृतस्यैव रागस्यैवेत्यर्थः। क्वचिद्विषयेऽ[3]भावः सामान्याभाव इत्यर्थः। दार्ष्टान्तिकमाह—तथा लक्षणस्येतीति। [4]क्वचित्समुदाचार इत्यादिरर्थः। अयं च लक्षणपरिणामो न धर्मिणः किंतु धर्माणामेवेत्येवं धर्मपरिणामाद्विशेषमाह—न धर्मीति। नन्वयं लक्षणपरिणामो लक्षणेऽस्ति न वा? आद्येऽनवस्था; अन्त्ये लक्षणपरिणामे परिणामलक्षणासंभवः, पूर्वलक्षणातीततायां लक्षणान्तराभिव्यक्तेरेव लक्षणपरिणामत्वादिति? मैवम्, बीजाङ्कुरवत्प्रामाणिकत्वेनास्या अनवस्थाया अदोषत्वात्, अन्यथा धर्मस्य धर्मस्तस्यापि धर्म इत्याद्यनवस्थाया अपि दोषत्वापत्त्या धर्मधर्मिभावादिरपि न सिध्येदिति। अधिकं तु निर्वितर्केतिसूत्रे प्रोक्तम्। तदेवं सर्वधर्माणां सदैव लक्षणत्रयसम्बन्धोऽस्ति; अभिव्यक्तिस्तु त्रयाणां क्रमिकीति सिद्धम्।

इस प्रकार (मृत्तिकादि धर्मी के घटादि) धर्मों के अनागतादि त्रिविध लक्षणों को सिद्ध करके भाष्यकार सम्प्रति, त्रिलक्षणों के सांकर्यदोष (मिश्रण की संभावना) को निरस्त करते हैं—**'किं चेति।'** तीनों अनागतादि लक्षणों की एक ही काल में एक ही वस्तु (मृद्धर्मी के घटादि धर्म) में अभिव्यक्ति नहीं हो सकती है। किन्तु दण्ड, चक्रादि अभिव्यञ्जक के तुल्य ही वर्तमानादि लक्षण की क्रमशः अभिव्यक्ति होती है।

---

1. क ख ग घ च—**अभिव्यक्तिर्नास्ति किन्तु स्व०** उपलभ्यते, छ—**अभिव्यक्तिर्नास्ति किन्तु स्व०** नोपलभ्यते।
2. ख ग घ च छ—**स्वरूपतस्तु साङ्कर्यं** उपलभ्यते, क—**स्वरूपतस्तु साङ्कर्यं** नोपलभ्यते।
3. क ग घ च छ—**अभावः सामान्याभाव इत्यर्थः** उपलभ्यते, ख—**अभावः सामान्याभाव इत्यर्थः**—नोपलभ्यते।
4. क ग घ च छ—**क्वचित्समुदाचार इत्यादिरर्थः**, ख—**तथा च एकरागव्यक्त्यभिव्यक्तिकालेऽपि रागव्यक्त्यन्तरस्य सूक्ष्मस्य नाभावः। तथा रागादिधर्मेष्वेकलक्षणाभिव्यक्तिकाले लक्षणान्तस्य सूक्ष्मस्य नाभाव इति वाक्यार्थः।**

अतः (प्रत्येक लक्षण की अभिव्यक्ति के साधन भिन्न-भिन्न होने से उन अभिव्यञ्जकों की एक ही काल में युगपत् उपस्थिति न होने से) अनागतादि लक्षणों की अभिव्यक्ति में सांकर्यदोष की संभावना ही नहीं है। किन्तु स्वरूपतः एक लक्षण-विशेषकाल में अन्य दो लक्षणों का सामान्यरूप से अवस्थित रहना रूप) जो सांकर्य है, वह (सत्कार्यवाद के अनुसार योगमत में) इष्ट ही है। दूसरा तथ्य यह है कि '**अनभिव्यक्त**' दो लक्षणों का (स्वभिन्न) '**अभिव्यक्त**' लक्षण से विरोध नहीं होता है। इस विषय में पञ्चशिखाचार्य के वचन को प्रमाणरूप से भाष्यकार प्रस्तुत करते हैं–'**उक्तं चेति**।' धर्मादि से लेकर अनैश्वर्यपर्यन्त चित्त के आठ '**रूप**' हैं और ज्ञानादि की आश्रयभूता शान्त, घोर और मूढरूपा चित्तवृत्तियाँ '**परिणामविशेष**' हैं। इन '**रूप**' और '**वृत्ति**' के '**अतिशय**' होने का अर्थ है–'**अभिव्यक्तिरूप उत्कटता**'। अतः ऐसे '**रूपातिशय**' और '**वृत्त्यतिशय**' का परस्पर विरोध होता है, न कि '**सामान्य**' का '**विशेष**' से। पञ्चशिखाचार्य का उक्त वाक्य '**गुणवृत्त्यविरोधाच्च दुःखमेव सर्वम्**' (२/१५) सूत्र में व्याख्यात हो चुका है। उपसंहार करते हुए भाष्यकार कहते हैं–'**तस्मादिति**।' अर्थात् धर्मनिष्ठ त्रिविध लक्षणपरिणाम में सम्मिश्रणता नहीं आती है। त्रिविध लक्षण-परिणाम की असंकीर्णता के विषय में भाष्यकार दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं–'**यथेति**।' '**रागस्यैवेति**।' यहाँ धर्मों के लक्षणत्रय के सम्बन्ध में उदाहृत राग-धर्म की अनागता-दिलक्षणपरक असंकीर्णता बताई जा रही है। जैसे किसी विषय में '**समुदाचार**' अर्थात् अतिशय को प्राप्त राग का किसी अन्य विषय में अभाव अर्थात् सामान्या-भाव नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि तदतिरिक्त विषय में वह अपनी वर्तमाना-वस्था में अभिव्यक्त होता है–यह वैयासिक वाक्य का अर्थ है। इस परिप्रेक्ष्य में भाष्यकार दार्ष्टान्त को प्रस्तुत करते हैं–'**तथा लक्षणस्येतीति**।' धर्मनिष्ठ '**लक्षणपरिणाम**' के अनागतादिरूप में भी कादाचित्क अभिव्यक्ति देखी जाती है। यह पूर्ववर्णित '**लक्षणपरिणाम**' मृत्तिकादि '**धर्मी**' का नहीं होता है, अपितु कपालादि '**धर्मों**' का ही होता है। अतः भाष्यकार '**धर्मपरिणाम**' से '**लक्षणपरिणाम**' का अन्तर करते हैं–'**न धर्मीति**।' अर्थात् मृत्तिकादि धर्मी अनागतादि अध्वा वाला नहीं होता है, अपितु धर्मरूप कार्य ही तीन अध्वा वाला होता है।

शङ्का–यह लक्षणपरिणाम लक्षण का भी होता है अथवा नहीं अर्थात् धर्मनिष्ठ (कार्यनिष्ठ) अनागतादिलक्षण का भी लक्षणपरिणाम होता है अथवा नहीं? यदि प्रथम विकल्प के अनुसार '**लक्षण**' का भी '**लक्षणपरिणाम**' माना जाय तो लक्षण-सम्बन्धी परिणाम-शृंखला अनन्त (अनवस्थादोष युक्त) हो जायेगी। यदि प्रथम-लक्षण का लक्षणपरिणाम माना जायेगा तो द्वितीयलक्षण का तृतीयलक्षणपरिणाम मानते हुए उत्तरोत्तर लक्षणपरिणाम अनवस्थादोषयुक्त हो जायेगा। और यदि अन्त्य

अर्थात् द्वितीय विकल्प के अनुसार लक्षण का लक्षणपरिणाम न माना जाय तो लक्षणपरिणाम में परिणाम का लक्षण ही घटित न हो सकेगा, क्योंकि पूर्व लक्षण के अतीत होने पर जो दूसरे लक्षण की अभिव्यक्ति होती है, उसे ही लक्षण-परिणाम कहते हैं?

समाधान–ऐसी बात नहीं है, क्योंकि बीजांकुर के अपरिहार्य एवं प्रामाणिक अनवस्थाभाव की भाँति लक्षण का लक्षणपरिणाम मानने पर जो अनवस्थादोष आता है, वह प्रामाणिक होने से दोषपूर्ण नहीं है। अन्यथा धर्म का धर्मपरिणाम और उस धर्म का भी धर्मपरिणाम मानने पर तो यहाँ भी अनवस्थादोष आयेगा और इसका परिणाम यह होगा कि (कार्य-कारणनिष्ठ) धर्म-धर्मिभावसम्बन्ध ही सिद्ध न हो सकेगा। (भाव यह है–जैसे मृत्तिका-धर्मी से निर्मित चूर्णपिण्ड उसका धर्मपरिणाम कहलाता है, तो यही चूर्णपिण्ड (रूप धर्मपरिणाम) घटरूप धर्म का कारण होने से घट-धर्म की दृष्टि से '**धर्मी**' बनता है। इस प्रकार जैसे यहाँ धर्म-धर्मी-भाव की सिद्धि के लिये धर्म का भी धर्मपरिणाम माना जाता है, उसी प्रकार लक्षणपरिणाम की सिद्धि के लिये लक्षण का लक्षणपरिणाम मानना चाहिये, और ऐसा मानने पर जो अनवस्थादोष आता है वह तो अपरिहार्य है।) निर्वितर्क समापत्ति के प्रतिपादक सूत्र (१/४३) में यह तथ्य विस्तारपूर्वक विवेचित हो चुका है। इससे यह सिद्ध होता है कि सभी घटादि धर्मों का सर्वदा ही लक्षणत्रय के साथ सम्बन्ध बना रहता है, किन्तु धर्मनिष्ठ इन अनागतादि लक्षणों की क्रमशः अभिव्यक्ति होती है। अर्थात् अनागतलक्षण के पश्चात् ही वर्तमान और वर्तमान-लक्षण के पश्चात् ही अतीतलक्षणपरिणाम अपने आश्रयभूत कार्यधर्म में क्रमशः अभिव्यक्ति को प्राप्त करता है।

सम्प्रति, वार्त्तिककार लक्षणपरिणामाभिव्यक्ति की क्रमिकता को शंकोपस्थापन-पूर्वक पुनः स्पष्ट करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

स्यादेतत्–लक्षणाभिव्यक्तेरपि नित्यत्वात्कथं क्रमिकत्वम्, तत्र क्रमिकत्वसम्भवे वा किमपराद्धं लक्षणक्रमिकत्वेन? अत्रोच्यते–नित्यानित्योभयरूपत्वस्योक्ततया नित्यत्वेऽपि सर्वकार्येष्वनित्यरूपेण क्रमः सम्भवति [1]लक्षणानामपि क्रमश्चेष्यत एव लक्षणाभिव्यक्तिक्रमस्तु लक्षणासाङ्कर्याय प्रकृते प्रदर्शितः। अधिकस्तु निर्वितर्कसमापत्तिसूत्रेऽस्माभिः प्रोक्त इति दिक्।

शङ्का–अनागतादि लक्षणाभिव्यक्ति के भी नित्य होने से उन लक्षणों की अभिव्यक्ति में क्रमिकता कैसी? और यदि लक्षणाभिव्यक्ति में किसी प्रकार पौर्वापर्य संभव भी है

1. ख ग घ च–**लक्षणानामपि क्रमश्चेष्यत एव** उपलभ्यते, क छ–**लक्षण...एव** नोपलभ्यते।

है तो लक्षणक्रमिकत्व ने क्या अपराध किया है, जो उसमें क्रमिकत्व नहीं माना जाता है?

समाधान—इस पर वार्त्तिककार कहते हैं—लक्षणाभिव्यक्ति नित्यानित्य उभयरूप है। इसलिये अभिव्यक्ति के नित्य होने पर भी सभी कार्यों में अनित्यरूप से अभिव्यक्ति का क्रम संभव है और अनागतादि लक्षणों का क्रम तो हमें इष्ट ही है। किञ्च प्रकृत प्रसंग में यह जो लक्षणाभिव्यक्ति का क्रम उक्त है, वह लक्षणों का असांकर्य वर्णित करने के अभिप्राय से है। प्रकृत तथ्य का विस्तार समापत्ति के (१/४३) सूत्र में हमारे द्वारा विस्तारपूर्वक विश्लेषित हो चुका है।

सम्प्रति, यथाक्रम '**अवस्थापरिणाम**' का विवेचन किया जा रहा है—

योगवार्त्तिकम्

लक्षणपरिणामं परीक्ष्यावस्थापरिणामं परीक्षितुं धर्मगतं विभागमाह—ते लक्षिता इति। लक्षिता व्यक्ता वर्त्तमाना इति यावत्, अलक्षिता अव्यक्ता अतीतानागता इति यावत्। तां तां बाल्ययौवनवार्धकाद्यवस्थां प्राप्नुवन्तोऽन्योन्यमन्यत्वेन भेदेनोच्यन्ते बालोऽयं न युवेत्यादिरूपेण, स च निर्देशोऽवस्थान्तरतोऽवस्थाभेदादेव न तु द्रव्यभेदादित्यर्थः। तथा च पूर्वावस्थापायेऽवस्थान्तरप्राप्तिः सिद्धा, सैव चावस्थापरिणाम इति भावः। यद्यप्येतादृशोऽवस्थापरिणामोऽनागतातीतलक्षणयोरपि पूर्वमुक्तः, [1]तथाऽपि वर्तमानलक्षणस्यैवावस्थापरिणामः स्फुटमुपलभ्यत इत्याशयेन वर्त्तमानलक्षणमालम्ब्यैव स उदाहृत इति। धर्मिण एकत्वेऽपि निमित्तभेदेनान्यत्वव्यवहारे दृष्टान्तमाह—यथैकेति। यथा—एकत्वव्यञ्जिका रेखा=अङ्कविशेषो यदा बिन्दुद्वयोपरि तिष्ठति तदा शतमिदं नैकमिति व्यवह्रियते, तयोरेकबिन्दुलोपे च दशेदं न शतमिति व्यवह्रियते, अवशिष्टबिन्दुस्थाने चैकत्वव्यञ्जकरेखान्तरदाने सत्येकादशेदं न दशेतीत्यर्थः। दृष्टान्तान्तरमाह—यथा चेति। उच्यत इति पुत्रपितृभ्रातृभिर्जनकत्वादि[2]निमित्तभेदेनेति शेषः।

'**लक्षणपरिणाम**' की परीक्षा करके भाष्यकार '**अवस्थापरिणाम**' का परीक्षण करने के लिये धर्मगत (धर्मनिष्ठ) विभाग को करते हैं—'**ते लक्षिता इति**।' '**लक्षित**' शब्द का अर्थ '**व्यक्त**' अर्थात् वर्तमान है तथा '**अलक्षित**' शब्द का अर्थ '**अव्यक्त**' अर्थात् अतीत है। ये धर्म बाल्य, यौवन, वार्धक्य आदि तत्तद् अवस्थाओं को प्राप्त करते हुए परस्पर भिन्न कहलाते हैं। जैसे '**बालोऽयं न युवा**' अर्थात् 'यह बालक है युवा नहीं' इत्यादि प्रकार से व्यवहृत होते हैं। किञ्च इस प्रकार का अन्यत्वकथन एक अवस्था

---

1. क ग घ च छ—**तथापि वर्तमानलक्षणस्यैवावस्थापरिणामः...स उदाहृत इति** उपलभ्यते, ख—**तथापि...उदाहृत इति** नोपलभ्यते।
2. ख ग घ—**भेदात्** (**निमित्त—पश्चात्**) उपलभ्यते, क च छ—**भेदात्** नोपलभ्यते।

से दूसरी अवस्था के भिन्न होने के कारण ही होता है, न कि द्रव्यभेद के कारण। अर्थात् एक अवस्था से दूसरी अवस्था आने पर द्रव्य का भेद नहीं होता है। जो द्रव्य प्रथम अवस्था में रहता है, वही द्रव्य अग्रिम अवस्थाओं में भी अनुस्यूत रहता है। इस प्रकार (कार्यगत) पूर्व अवस्था के निवृत्त (अपाय) होने पर जो अवस्थान्तर की प्राप्ति होती है, वही धर्मनिष्ठ '**अवस्थापरिणाम**' है। यद्यपि इस प्रकार का '**अवस्थापरिणाम**' अनागत एवं अतीतलक्षण के प्रसङ्ग में भी पूर्व कहा जा चुका है किन्तु (घटादिधर्मनिष्ठ) वर्तमानलक्षण का ही अवस्थापरिणाम स्पष्टतया परिलक्षित होता है, इसीलिये धर्मनिष्ठ वर्तमानलक्षण को ही आलम्बन बनाकर अवस्थापरिणाम को यहाँ उदाहृत किया गया है। धर्मी के एक होने पर भी '**निमित्तभेद**' से होने वाले '**भेदव्यवहार**' के विषय में भाष्यकार दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं —'**यथैकेति**।' जिस प्रकार एकत्वबोधक अङ्कविशेष जब शून्यद्वय से अन्वित होता है, तब वह '**शत**' नाम से व्यवहृत होता है न कि उसे 'एक' नाम से पुकारते हैं। उन शून्यद्वय से एक शून्य का लोप होने पर वह '**दश**' नाम से व्यवहृत होता है, न कि वह 'शत' रूप से पुकारा जाता है। इसी प्रकार दश के शून्य के स्थान पर एकत्व-व्यञ्जक रेखाविशेष का ग्रहण (प्रयोग) करने पर वह '**एकादश**' कहलाता है, न कि दश। इसी सिद्धान्त की पुष्टि में भाष्यकार दूसरा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—'**यथा चेति**।' 'उच्यत **इति**।' जिस प्रकार स्त्री पदार्थ के एक रहते हुए भी वह पुत्र, पिता तथा भ्राता आदि के साथ निर्द्धारित सम्बन्धरूप निमित्तविशेष के कारण माता, पुत्री तथा भगिनी आदि नाम से व्यवहृत होता है।

सम्प्रति, परमत के खण्डनपुरस्सर '**अवस्थापरिणाम**' का असन्दिग्ध तथा प्रामाणिक स्वरूप प्रस्तुत किया जा है—

योगवार्त्तिकम्

अवस्थापरिणामेऽपि बौद्धोक्तं दूषणमुदाहरति—अवस्थेति। अवस्थापरिणामाभ्युपगमे धर्मिधर्मलक्षणावस्थानां [1]चतसृणामेव कौटस्थ्यापत्तिरित्यर्थः। तत्र हेतुं पृच्छति—कथमिति। उत्तरम्—अध्वनो व्यापारेण व्यवहितत्वादिति। व्यापारनिमित्तेनैव सर्ववस्तुष्वनागताद्यध्वनामन्योन्यं व्यवहितत्वाभ्युपगमात् [2]विभागाभ्युपगमात्, न तु भावरूपेण धर्मलक्षणयोः सदा सत्त्वस्येष्टत्वादित्यर्थः। [3]अधुना विभागस्य व्यापारनिमित्तकत्वं विवृणोति—यदा धर्म इत्यादिना तदा अतीत इत्यन्तेन। धर्मशब्दोऽत्राश्रितमात्रवाची। न करोति न करिष्यतीत्यर्थः।

---

1. क ख ग घ—चतुर्णां, च छ—चतसृणाम्।
2. क ख घ च छ—विभागाभ्युपगमात् उपलभ्यते, ग—विभागाभ्युपगमात् नोपलभ्यते।
3. क घ च छ—अधुना, ख ग—अध्वनां।

आद्यन्ताध्वनोर्विभागस्य व्यापारनिमित्तकत्वं व्यापाराभावनिमित्तकत्वेन परम्परयेति भावः। एवं च सति पूर्वधर्मातीततायां धर्मान्तराभिव्यक्तिरित्येवंरूपपरिणामलक्षणाश्रित्यत्वमवस्थानामपि भवद्भिर्वक्तव्यं न तु विनाशः, अवस्थानां च नित्यत्वे किमप्यनित्यं न स्यादित्येवं धर्म्मधर्म्यादिकं सर्वं जगत् कूटस्थं स्यादिति परैर्दोष उच्यत इति। उपसंहारः–नित्यत्वमात्रं न कौटस्थ्यं किं त्वेकान्तनित्यत्वमित्याशयेन पूर्ववदुक्तं दोषं परिहरति–नासौ दोष इति। कौटस्थ्यदोषो नास्तीत्यर्थः। [1]गुणनित्यत्वेऽपीति। धर्मिनित्यत्वेऽपि धर्माणां विमर्दस्य विनाशस्य कूटस्थतो वैचित्र्यात् वैलक्षण्यादित्यर्थः। अपरिणामनित्यतैव कौटस्थ्यम्, तच्च पुरुषातिरिक्ते नास्तीति भावः। [2]गुणिनित्यत्वेऽपि गुणानां विमर्दमुदाहरति–यथेति। [3]यथेति न दृष्टान्ते किं तूदाहरणे। संस्थानमिति। [4]अर्थविनाशेनाविनाशिनां शब्दादितन्मात्राणां पञ्चभूत- रूपं संस्थानं धर्ममात्रमादिमत् इत्यतो विनाशीत्यर्थः। एवमित्याद्यप्येवं व्याख्येयम्। लिङ्गं महत्तत्त्वम्। एवमहङ्कारादयो घटादयश्च स्वविनाशेनाविनाशिनां कारणानां धर्ममात्राणि विनाशिन इति बोध्यम्। तदेतच्छ्रुत्योक्तम्–वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमिति। [5]सत्यं विकारापेक्षया स्थिरमित्यर्थः। तस्मिन्निति। तस्मिन् धर्मे विकारसंज्ञा परिणामसंज्ञेत्यर्थः। अतो धर्मिणां परिणामितया न कौटस्थ्यं सुतरां तु धर्मलक्षणावस्थानामिति भावः।

पूर्वपक्ष–अवस्थापरिणाम के विषय में बौद्धाभिमत (बौद्धोक्त) दोष को भाष्यकार उदाहृत करते हैं–'**अवस्थेति**।' अवस्थापरिणाम को स्वीकार करने पर धर्मी, धर्म, लक्षण तथा अवस्था इन चारों को '**कूटस्थनित्य**' मानने की आपत्ति आयेगी।

शङ्का–(उत्तरपक्षी की ओर से) किस कारण से धर्मी आदि चारों को कूटस्थनित्य मानना पड़ेगा? ऐसा पूछा जा रहा है–'**कथमिति**।'

समाधान–(पूर्वपक्षी की ओर से) उत्तर है–'**अध्वनो व्यापारेण व्यवहितत्वादिति**।' व्यापाररूप निमित्त के द्वारा ही सभी वस्तुओं में अनागतादि अध्वाओं का परस्पर व्यवधान तथा विभाग स्वीकार किया जाता है, न कि '**भावरूप**' अर्थात् द्रव्यरूप से उन धर्म और लक्षण में अन्तर विदित होता है, क्योंकि मृत्तिकादि धर्मिनिष्ठ घटादि '**धर्म**' और घटादि धर्मनिष्ठ अनागतादि '**लक्षण**' का सर्वदा '**सत्**' होना सिद्धान्ती को अभीष्ट है। सम्प्रति, भाष्यकार धर्मादि विभाग के व्यापारनिमित्तकत्व (किस प्रकार धर्मगत व्यापार अनागतादि अध्वाओं के विभाग का कारण होता है) को उद्घाटित

---

1. क ख ग घ–**गुणि०**, च छ–**गुण०**।
2. क–**गुणिनित्यत्वे विनाशेनाविनाशिनां शब्दादितन्मात्र०**, ख ग घ च छ–**गुणिनित्यत्वेऽपि गुणानां**।
3. क घ च छ–**यथेति** उपलभ्यते, ख ग–**यथेति** नोपलभ्यते।
4. क घ च छ–**अर्थ०**, ख ग–**कार्य०**।
5. क–**सविकार०**, ख ग घ च छ–**सत्यं विकार०**।

करते हैं–'**यदा धर्म इत्यादिना तदा अतीत इत्यन्तेन**।' यहाँ '**धर्म**' शब्द '**आश्रित**' मात्र का वाचक है। भाव यह है कि निरपेक्ष प्रकृति-'**धर्मी**' को छोड़कर महदादि से लेकर घटपटादिपर्यन्त समस्त विकारजात का ग्रहण '**धर्म**' शब्द से होता है, क्योंकि ये सब अपने-अपने कारण के आश्रित होते हैं। '**न करोति**' शब्द का अर्थ है–'**न करिष्यति**।' अर्थात् जिस काल में धर्म अपने व्यापार को नहीं करता है, उस काल में वह '**अनागत**' अध्वा, जिस काल में व्यापार को करता है तब वह '**वर्तमान**' अध्वा तथा जिस काल में व्यापार करके निवृत्त हो जाता है, तब वह '**अतीत**' अध्वा वाला कहलाता है। आदि के अध्वा '**अनागत**' तथा अन्त के अध्वा '**अतीत**'विषयक विभाग में व्यापाराभावनिमित्तकत्व की परम्परा से व्यापारनिमित्तकत्व कारण है, ऐसा समझना चाहिये। अर्थात् घटादिधर्मनिष्ठ अनागतलक्षणपरिणाम तथा अतीतलक्षण-परिणाम जलाहरणाभावरूप व्यापार के आधार पर परस्पर विभागयुक्त होते हैं, जब कि वर्तमानलक्षणपरिणाम में भेद का कारण जलाहरणरूप व्यापार रहता है। इस प्रकार घटादिधर्मनिष्ठ जलाहरणादिरूप व्यापार और व्यापाराभाव विभिन्न काल- घटकों से समन्वित होकर अनागतादि अध्वाओं के अन्यत्व का कारण बनते हैं, न कि भावान्तर (द्रव्यान्तर) की दृष्टि से धर्मनिष्ठ अनागतादि अध्वाओं के अन्यत्व का निर्धारण किया जाता है। इस प्रकार पूर्व धर्म के अतीत होने पर धर्मान्तर की अभिव्यक्ति होती है, इस प्रकार के लक्षणपरिणाम की दृष्टि से अवस्थापरिणामों को भी नित्य मानना चाहिये, न कि उनका विनाश कहना चाहिये। और इस प्रकार अवस्थाओं के नित्य होने पर कोई भी वस्तु अनित्य नहीं रहेगी। किञ्च धर्म- धर्मिरूप सम्पूर्ण जगत् '**कूटस्थनित्य**' सिद्ध होगा। इस प्रकार बौद्धाचार्य योगमत को दूषित करते हैं।

उत्तरपक्ष–भाष्यकार योगमत को उपसंहृत करते हैं–'**नित्यत्वमात्र**' को '**कूटस्थ**' नहीं कहते हैं, किन्तु जिसमें '**ऐकान्तिक नित्यता**' (अपरिणामी नित्यता) होती है उसे '**कूटस्थनित्य**' कहते हैं। इसी अभिप्राय से भाष्यकार बौद्धोक्त दोष को पूर्ववत् खण्डित करते हैं–'**नासौ दोष इति**।' बौद्धों की ओर से हमारे योगमत में सभी पदार्थों को लेकर जो कूटस्थनित्यतारूप दोष की उद्भावना की गई है, वह हमारे मत में नहीं है। वार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–'**गुणनित्यत्वेऽपीति**।' धर्मी (गुणों) के नित्य होने पर भी धर्मों (महदादि) का विमर्दनरूप विनाश कूटस्थता से विलक्षण है अर्थात् धर्मी के नित्य होने पर भी धर्मों का विनाश होता है। इसलिये कूटस्थ-नित्यता से धर्मों की नित्यता का भेद सुस्पष्ट है। अपरिणामनित्यता (अपरिणामी पदार्थ की परिणामशून्य नित्यता) को ही '**कूटस्थनित्यता**' कहते हैं और वह (चेतन) पुरुष से अतिरिक्त किसी भी जड पदार्थ की नहीं होती है। गुणी (प्रकृति) के नित्य

होते हुए भी गुणों (महदादि) के विमर्दन को भाष्यकार उदाहरण द्वारा प्रस्तुत करते हैं—'**यथेति**।' '**यथा**'—(अनुमानप्रक्रिया के) निदर्शन अर्थ में नहीं अपितु 'उदाहरण' अर्थात् तथ्य के वर्णनात्मक अर्थ में। '**संस्थानमिति**।' '**अर्थ**' अर्थात् '**कार्य**' के विनाशशील होने से अविनाशीभूत शब्दादितन्मात्राओं का पञ्चमहा- भूतरूप जो '**संस्थान**' अर्थात् कार्यविशेष है, वह आदिमंत् अर्थात् उत्पत्तिमत् है, अतः विनाशी है। इसी प्रकार अन्य घटादि धर्ममात्र की व्याख्या कर लेनी चाहिये। '**लिङ्ग**' शब्द का अर्थ महत्तत्त्व है। इसी प्रकार अहंकारादि और घटादि भी अपने विनाश (तिरोभाव) द्वारा अविनाशी कारण के धर्ममात्र (धर्मात्मक) '**विनाशी**' कहे जाते हैं। अर्थात् प्रत्येक कार्यरूप धर्म अपने-अपने कारण की अपेक्षा '**विनाशी**' है, ऐसा समझना चाहिये। यही तथ्य श्रुति के द्वारा कहा गया है—'**वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्**' (छा. उप. ६/१/१) अर्थात् 'यह विकारात्मक जगत् वाणी का विलासमात्र है। वस्तुतस्तु मृत्तिका ही सत्य है।' यहाँ '**सत्य**' शब्द से घटादिकार्य की अपेक्षा मृत्तिकादि कारण को '**स्थिर**' बताया गया है। प्रकृत वैयासिक वाक्य के अन्तिम शब्द को वार्त्तिककार उठाते हैं—'**तस्मिन्निति**।' इस प्रकार महदादि से लेकर घटादिकार्यजातपर्यन्त '**धर्म**' की '**विकार**' संज्ञा है। अर्थात् महदादि कार्य को 'विकार' शब्द से व्यवहृत किया गया है। अतः धर्मी के परिणामशील होने से तन्निष्ठ धर्म, लक्षण और अवस्था की '**कूटस्थता**' कैसे सिद्ध हो सकती है? इस प्रकार धर्मादि पर कूटस्थनित्यता का लगाया गया बौद्धोक्तदोष खण्डित हो जाता है।

सम्प्रति, वार्त्तिककार '**परिणामत्रय**' को लौकिक दृष्टान्त द्वारा परिपुष्ट करते हैं—

योगवार्त्तिकम्

परिणामत्रयं विस्तरेण परीक्षितम्, इदानीं भूतेन्द्रियेषु परिणामत्रयं क्रमेण [1]दर्शयति—तत्रेदमुदाहरणमिति। धर्मत इति। धर्मेण परिणमत इत्यर्थः। धर्मपरिणामस्य स्वरूपं दर्शयति—घटाकार इतीति। स परिणामो घटाकार इत्यर्थः। नवपुराणतामिति। नवीनतानन्तरं पुराणतां प्राप्नुवन्नित्यर्थः। धर्मादीनां सर्वेषामेवावस्थात्वाविशेषेऽपि गोबलीवर्दन्यायेनैवैषां तान्त्रिको भेदनिर्देश इत्याह—धर्मिणोऽपीति। लक्षणस्य च पुराणत्वादिकमवस्थेति प्राप्तत्वादेव नोक्तम्। एक एवेति। अवस्थामात्र एवेत्यर्थः। एवमवस्थालक्षणयोरपि धर्मत्वाद्धर्मपरिणामोऽपि गोबलीवर्दन्यायेनैव बोध्यः। एवं पदार्थान्तरेष्वपीति। भूतान्तरेषु इन्द्रियेषु प्रकृत्यादिषु चेत्यर्थः। अपरं विशेषं परिणामेषु पूर्वोक्तं स्मारयति—त एत इति। त्रयोऽपि परिणामाः धर्मिस्वरूपमनतिक्रान्ताः धर्मिण्येवानुगताः, अतो धर्मधर्म्यभेदात् [2]धर्मपरिणाम

मात्रमेकमेवेति सामान्यतो भवति धर्मी, स एव च सर्वान् परिणामान[1]भिप्लवते व्याप्नोति।

इस प्रकार परिणामत्रय की विस्तारपूर्वक परीक्षा की गई। सम्प्रति, भाष्यकार भूत तथा इन्द्रियों में परिणामत्रय को क्रमशः प्रदर्शित करते हैं–'**तत्रेदमुदाहरणमिति।**' '**धर्मत इति।**' यहाँ '**धर्मतः**' पद का अर्थ है–(घट) धर्म के रूप से (मृद्धर्मी का) परिणाम होना। भाष्यकार धर्मपरिणाम का स्वरूप प्रदर्शित करते हैं–'**घटाकार इतीति।**' मृद्धर्मी का धर्मपरिणाम '**घटाकार**' रूप होता है, यह कथन का अभिप्राय है। आगे का भाष्य है–'**नवपुराणतामिति।**' नवीनता के पश्चात् पुराणता को प्राप्त होता हुआ घट-धर्म '**अवस्थापरिणाम**' वाला कहलाता है। यद्यपि धर्म, लक्षण तथा अवस्था सभी में '**अवस्थालक्षण**' समान (अविशेष) है, तथापि गोबलीवर्दन्याय से धर्मादि के शास्त्र-सम्मत अन्तर को भाष्यकार इस प्रकार निर्दिष्ट करते हैं–'**धर्मिणोऽपीति।**' धर्मी की भी धर्मान्तरावस्था तथा धर्म की भी लक्षणान्तरावस्था होती है–इत्याकारक भाष्य के आगे वार्तिककार कहते हैं कि लक्षण का भी पुराणत्वादिरूप अवस्थापरिणाम होता है, ऐसा सहज प्राप्त (अर्थाल्लभ्य) होने से भाष्यकार ने उसका उल्लेख नहीं किया है। आगे का भाष्य है–'**एक एवेति।**' वस्तुतस्तु अवस्थारूप एक ही परिणाम होता है। इसी प्रकार अवस्थापरिणाम तथा लक्षणपरिणाम भी धर्मरूप अर्थात् धर्मनिष्ठ होने से उनका 'धर्मपरिणाम' होता है, ऐसा गोबलीवर्दन्याय से समझना चाहिये। अर्थात् एक मात्र धर्मपरिणाम होता है, ऐसा कहा जा सकता है। '**एवं पदार्थान्तरेष्वपीति।**' इस प्रकार भूत, इन्द्रिय तथा प्रकृत्यादि सभी पदार्थों में परिणाम-त्रय की योजना कर लेनी चाहिये। सम्प्रति, भाष्यकार परिणामों के विषय में पहले कही गई दूसरी विशेषता का स्मरण कराते हैं–'**त एत इति।**' ये तीनों प्रकार के परिणाम धर्मी के स्वरूप का अतिक्रमण नहीं करते हैं अर्थात् धर्मी में ही अनुस्यूत (सम्बद्ध) रहते हैं। अतः '**धर्म-धर्मी**' के '**अभेद**' से एक ही धर्मपरिणाममात्र वाला एक ही धर्मी सामान्यरूप से सिद्ध होता है और वही धर्मी-सामान्य इन सभी परिणामों में व्याप्त रहता है।

सम्प्रति, भाष्य की अन्तिम पंक्ति पर वार्तिक लिखा जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

सूत्रस्थं परिणामशब्दार्थं प्रश्नपूर्वकं व्याचष्टे–अथ कोऽयं परिणाम इति। उत्तरम्–अवस्थितस्येति। संस्कारेऽपि परिणामस्योक्तत्वाद् द्रव्यस्येति। धर्मिण इत्यर्थः। धर्मशब्द-श्चाश्रितमात्रवचनः। निवृत्त्युत्पत्ती=अतीततावर्त्तमानते। ननु धर्मातिरिक्तो धर्मी नानुभूयते

1. ख ग घ च छ–**अभिप्लवते व्याप्नोति। सूत्रस्थं** उपलभ्यते, क–**अभि...स्थं** नोपलभ्यते।

यस्य धर्मादिः परिणामः स्यादिति बौद्धाशङ्कायां धर्माद्विविच्य धर्मी सूत्रकारेण प्रतिपादयिष्यते॥१३॥

सम्प्रति, भाष्यकार सूत्रगत **'परिणाम'** शब्द के अर्थ को प्रश्नपूर्वक समझाते हैं— **'अथ कोऽयं परिणाम इति।'**

शङ्का—'परिणाम' का स्वरूप क्या है?

समाधान—उत्तर है—**'अवस्थितस्येति।'** संस्कार में भी परिणाम के विहित होने से भाष्यकार ने **'अवस्थित'** शब्द का प्रयोग किया है। **'द्रव्यस्येति।' 'द्रव्य'** शब्द का अर्थ **'धर्मी'** है। **'धर्म'** शब्द (जो किसी के आश्रय में रहे ऐसे) **'आश्रित'** मात्र का बोधक है। भाष्यगत **'निवृत्ति'** और **'उत्पत्ति'** शब्द से क्रमशः अतीतता और वर्तमानता का अवबोध कराया गया है।

शङ्का—धर्म से अतिरिक्त धर्मी अनुभूत नहीं होता है, जिसका धर्मादिरूप से (त्रिविध) परिणाम कहा जाय?

समाधान—बौद्धों की ओर से उक्त शंका होने पर सूत्रकार धर्म से पृथक् धर्मी की सत्ता को आगे प्रतिपादित करेंगे॥१३॥

संक्षिप्त वैयासिकी अवतरणिका के साथ अगला सूत्र प्रस्तुत हो रहा है—

व्यासभाष्यम्

तत्र—

परिणामत्रय की चर्चा के प्रसङ्ग में उन धर्म-धर्मियों में—

योगसूत्रम्

शान्तोदिताऽव्यपदेश्यधर्मानुपातीधर्मी॥१४॥

शान्त, उदित एवं अव्यपदेश्य धर्मों में अनुगत रहने वाला (पदार्थ) 'धर्मी' है॥१४॥

व्यासभाष्यम्

योग्यतावच्छिन्ना धर्मिणः शक्तिरेव धर्मः। स च फलप्रसवभेदानुमित[1]सद्भाव एकस्या[2]न्योऽन्यश्च परिदृष्टः। तत्र वर्तमानः स्वव्यापारमनुभवन् [3]धर्मो धर्मान्त-

1. ख ग घ च ज झ त द न प फ ब भ म य र—**सद्भावः** उपलभ्यते, क छ थ थ—**सद्भावः** नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ प फ म य र—**अन्योऽन्यश्च**, च ज झ त ध न भ—**अन्योन्यस्यान्यश्च**, छ थ द ब—**अन्यश्चान्यश्च**।
3. क ग च छ ज झ त थ द ध न फ ब र—**धर्मी**, ख घ प भ य र—**धर्मः**, म—**धर्मी/धर्मः** नोपलभ्यते।

रेभ्यः शान्तेभ्यश्चाव्यपदेश्येभ्यश्च भिद्यते। यदा तु सामान्येन समन्वागतो भवति तदा [1]धर्मिस्वरूपमात्रत्वात्कोऽसौ केन भिद्येत? [2]त्रयः खलु धर्मिणो धर्माः [3]शान्ता उदिता अव्यपदेश्याश्चेति। तत्र शान्ता ये कृत्वा व्यापारानुपरताः, सव्यापारा उदिताः, ते चा[4]नागतस्य लक्षणस्य समनन्तराः, वर्तमानस्या[5]नन्तरा अतीताः। किमर्थमतीतस्यानन्तरा न भवन्ति वर्तमानाः? पूर्व[6]पश्चिमताया अभावात्। यथा-नागतवर्तमानयोः पूर्वपश्चिमता, नैवमतीतस्य। तस्मान्नातीतस्यास्ति समनन्तरः। [7]तदनागत [8]एव समनन्तरो भवति वर्तमानस्येति। अथाव्यपदेश्याः के? सर्वं सर्वात्मकमिति। [9]यत्रोक्तम्—जलभूम्योः पारिणामिकं रसादिवैश्वरूप्यं स्थावरेषु दृष्टम्, तथा स्थावराणां जङ्गमेषु जङ्गमानां स्थावरेष्वित्येवं जात्य[10]नुच्छेदेन सर्वं सर्वात्मकमिति। देश[11]कालाकारनिमित्ता[12]पबन्धान्न खलु समानकालमा[13]त्म-नामभिव्यक्तिरिति। य एतेष्व[14]भिव्यक्तानभिव्यक्तेषु धर्मेष्वनुपाती सामान्य-विशेषात्मा सोऽन्वयी धर्मी। यस्य तु धर्ममात्रमेवेदं निरन्वयं तस्य भोगाभावः। कस्मात्? [15]अन्येन विज्ञानेन कृतस्य कर्मणोऽन्यत्कथं भोक्तृत्वेनाधिक्रियेत?

---

1. क ख ग घ च छ ज थ द ध न प फ ब भ म य र—धर्मि०, झ त—धर्म०।
2. क ग च छ ज झ त थ द ध न भ—तत्र ये, ख घ प फ य र—तत्र त्रयः, ब—ते, म—त्रयः।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—शान्ता उदिता अव्यपदेश्याश्चेति, ब—शान्ताः।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—अनागतस्य, ब—अनागत०।
5. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—अनन्तराः, छ थ—असमनन्तराः।
6. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—पश्चिमतायाः, ख—पश्चिमता, ब—पश्चिम०।
7. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—तत्, छ थ—तस्मात्।
8. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य—एव, र—एवम्।
9. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ म य र—यत्र, ब—तत्र, भ—यथा।
10. क ख ग घ च छ ज थ द ध न प फ ब भ म य र—अनुच्छेदेन, झ त—अनुवादेन।
11. क ख ग घ च छ ज थ द ध न प फ ब भ म य र—कालाकारनिमित्त०, झ त—कालनिमित०।
12. क ख ग घ च छ ज झ थ ध न फ ब भ म र—अपबन्धात्, त द—उपबन्धात्, प य—असंबन्धात्।
13. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न प फ ब भ म य र—आत्मनां, द—आत्मना।
14. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न प फ ब भ म य र—अभिव्यक्तानभिव्यक्तेषु, झ—अभिव्यक्तेषु।
15. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—अन्येन, ज—अनेन।

[1]तत्स्मृत्यभावश्च, नान्यदृष्टस्य स्मरणमन्यस्यास्तीति। वस्तुप्रत्यभिज्ञानाच्च स्थितोऽन्वयी धर्मी [2]यो धर्मान्यथात्वम[3]भ्युपगतः प्रत्यभिज्ञायते। तस्मान्नेदं धर्ममात्रं निरन्वयमिति॥१४॥

'धर्मी' की योग्यता से अवच्छिन्न शक्ति ही 'धर्म' है और फलोत्पत्ति के भेद से अनुमित सत्ता वाले वे धर्म एक धर्मी के भिन्न-भिन्न प्रकार के अनेक देखे जाते हैं। उन अनेक धर्मों में से अपने कार्य का अनुभव करता हुआ वर्तमान धर्म अतीत और अनागतसंज्ञक धर्मों से भिन्न होता है। किन्तु जिस समय धर्म अपने निर्विशेष रूप से धर्मी में विद्यमान रहता है, उस समय धर्मी के स्वरूपमात्र होने के कारण किसे किससे भिन्न कहा जा सकता है? धर्मी के तीन धर्म हैं–शान्त, उदित और अव्यपदेश्य। इन तीनों धर्मों में से 'शान्त' धर्म वे हैं जो व्यापार करके उपरत हो जाते हैं, जो व्यापारसहित हैं वे 'उदित' कहलाते हैं और ये 'उदित' धर्म, अनागतलक्षण वाले (अव्यपदेश्य) धर्म के ठीक बाद में आने वाले होते हैं। वर्तमान धर्म के ठीक बाद में आने वाले 'अतीत' धर्म होते हैं। प्रश्न है कि अतीत के अनन्तर वर्तमान धर्म क्यों नहीं होते हैं? उत्तर है कि अतीत और वर्तमान धर्मों में पूर्वता और पश्चिमता का अभाव रहता है। अनागत और वर्तमान धर्मों में जिस प्रकार का पूर्वपश्चिमभाव होता है, उस प्रकार का पूर्वपश्चिमभाव अतीत धर्म का (वर्तमान धर्म के साथ) नहीं होता है। इसलिये अतीत धर्म का पश्चाद्भावी कोई धर्म नहीं होता है। अतः वर्तमान धर्म का अव्यवहित पूर्ववर्ती कोई अनागत धर्म ही होता है, (न कि अतीत)। 'अव्यपदेश्य' धर्म किसे कहते हैं? सभी धर्मी सब शक्तियों वाले होते हैं। (अनभिव्यक्त कार्योत्पादन-शक्ति को 'अव्यपदेश्य' कहते हैं)। इस विषय में कहा गया है–'जल एवं भूमि का परिणाम रस तथा गन्धादि विभिन्न रूप से वृक्ष, लता आदि वनस्पतियों के फल, पुष्प आदि में देखा जाता है। इसी प्रकार स्थावरों का परिणाम मानव, पशु-पक्षी आदि जङ्गमों में दृष्टिगोचर होता है।' इस प्रकार से जातितः उच्छेद न होने के कारण सभी पदार्थ सर्वकार्योत्पादनशक्ति से सम्पन्न होते हैं। किन्तु

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–**तत्** उपलभ्यते, ब–**तत्** नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र–**यो धर्म०** उपलभ्यते, छ थ–**यो धर्म०** नोपलभ्यते।
3. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र–**अभ्युपगतः** उपलभ्यते, ख–**अभ्युपगतः** नोपलभ्यते।

देश, काल, आकार तथा निमित्तरूप सहकारी कारण के न होने से एक ही काल में सम्पूर्ण पदार्थों की अभिव्यक्ति नहीं होती है। पूर्वकथित अभिव्यक्त एवं अनभिव्यक्त (घटादि) धर्मों में अनुगत रहने वाला जो सामान्य-विशेषात्मक (सामान्यरूप धर्मी और विशेषरूप धर्म उभयात्मक) है, वह 'धर्मी' कहलाता है। किन्तु जिसके मत में यह अननुगत धर्ममात्र ही है, उसके मत में (कर्मफल के) भोग का अभाव होगा। क्यों? अन्य विज्ञान के द्वारा किये गये कर्म के भोक्ता के रूप में अन्य विज्ञान का अधिकार कैसे हो सकता है? और अनुभूत विषय की स्मृति का अभाव होगा। अन्य के द्वारा देखे गये विषय का स्मरण अन्य को नहीं होता है। अतः पूर्व अनुभूत पदार्थ की प्रत्यभिज्ञा होने के कारण स्थायी धर्मी पदार्थ को स्वीकार करना चाहिये, जो धर्मरूप से अन्यथाभाव को प्राप्त होकर प्रत्यभिज्ञा का विषय बनता है। इसलिये यह पदार्थ निरन्वय धर्ममात्र नहीं है, (प्रत्युत धर्मी है)॥१४॥

तत्त्ववैशारदी

यस्यै[1]ष [2]त्रिविधः परिणामस्तं धर्मिणं सूत्रेण लक्षयति—तत्र शान्तोदिताव्यपदेश्य-धर्मानुपाती धर्मी। धर्मोऽस्यास्तीति धर्मीति। नाविज्ञाते धर्मे स शक्यो ज्ञातुमिति धर्मं दर्शयति—योग्यतेति। धर्मिणो द्रव्यस्य मृदादेः शक्तिरेव चूर्णपिण्डघटाद्युत्पत्तिशक्तिरेव धर्मः, तेषां तत्राव्यक्तत्वेन भाव इति यावत्। नन्वेवमव्यक्ततया सन्तस्ते ततः प्रादुर्भवन्तु, उदका-हरणादयस्तु तैः स्वकारणादनासादिताः कुतः प्राप्ता इत्यत उक्तम्—योग्यतावच्छिन्नेति। यासौ घटादीनामुत्पत्तिशक्तिः सोदकाहरणादियोग्यतावच्छिन्ना। तेनोदकाहरणादयोऽपि घटादिभिः स्वकारणादेव प्राप्ता इति नाकस्मिका इति भावः। अथ वा के धर्मिण इत्यत्रोत्तरम्—योग्यता-वच्छिन्ना धर्मिण इति। को धर्म इत्यत्रोत्तरम्—शक्तिरेव धर्मः। तेषां योग्यतैव धर्म इत्यर्थः। अतस्तद्वान् धर्मीति सिद्धं भवति।

जिस '**धर्मी**' का यह तीन प्रकार का परिणाम कहा गया है, उसका सूत्र के द्वारा लक्षण किया जा रहा है—'**तत्रेति**।' तत्त्ववैशारदीकार '**धर्मी**' पद की व्युत्पत्ति करते हैं— '**धर्मोऽस्यास्तीति धर्मी**' अर्थात् जिसका '**धर्म**' होता है, उसे '**धर्मी**' कहते हैं। ('**धर्मी**' पद के इस विग्रह में आये) '**धर्म**' शब्द का अर्थज्ञान न रहने पर '**धर्मी**' शब्द का अर्थज्ञान होना सम्भव नहीं है, इसलिये भाष्यकार '**धर्म**' का स्वरूप प्रदर्शित करते हैं—'**योग्यतेति**।' धर्मीभूत मृत्तिकादि द्रव्य की—चूर्णपिण्ड, घटादि को उत्पन्न करने की—'**शक्ति**' ही '**धर्म**' है। इन चूर्णपिण्ड, घटादि धर्मों की धर्मी में '**अव्यक्त**' रूप से सत्ता है। अर्थात् धर्मी में धर्म अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है।

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध—**एषः**, न—**एवम्**।
2. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न—**त्रिविधः** ज—**विविधः**

शङ्का—मृत्तिका-धर्मी में अव्यक्तरूप से अवस्थित वे घटादि धर्म भले ही प्रादुर्भूत हों, किन्तु वे घटादि धर्म अपने कारण मृत्तिका-धर्मी से अप्राप्त जलाहरणादि क्रिया को कहाँ से प्राप्त करते हैं? अर्थात् मृत्पिण्ड में जलाहरणादि का सामर्थ्य न रहते हुए मृन्मय घट में यह सामर्थ्य कहाँ से प्रादुर्भूत होता है?

समाधान—उक्त शङ्का के समाधानार्थ भाष्यकार कहते हैं—'**योग्यतावच्छिन्नेति**।' मृत्तिका धर्मी में घटादि धर्मों को उत्पन्न (प्रादुर्भूत) करने की जो '**शक्ति**' निहित है, वह जलाहरणादियोग्यता से युक्त है। अर्थात् तत्-तद् धर्मी में तत्तद् व्यापारकरणानुकूल सामर्थ्ययुक्त तत्तद् धर्म को अभिव्यक्त करने की शक्ति अन्तर्निहित है। अतः अपने कारण मृत्तिकादि से ही धटादि धर्म अपनी-अपनी जलाहरणादि क्रियाओं को भी प्राप्त करते हैं। ये जलाहरणादि क्रियाएँ घटादि में आकस्मिक (आगन्तुक, कारणानन्वयी) नहीं हैं। शब्दान्तर में यह तथ्य इस प्रकार समझा जा सकता है—'**धर्मी**' किसे कहते हैं? उत्तर है—जो '**योग्यतावच्छिन्न**' होता है, उसे '**धर्मी**' कहते हैं। '**धर्म**' किसे कहते हैं? उत्तर है—'**शक्ति**' को ही '**धर्म**' कहते हैं। इस प्रकार '**धर्मिगत**' योग्यता ही '**धर्म**' है और धर्मयुक्त पदार्थ '**धर्मी**' है—यह तथ्य सिद्ध होता है।

बालप्रिया—

'धर्मानुपाती धर्मी'—ये शान्तादिधर्माःताननुपतितुम्=अन्वितुं शीलं यस्याऽसौ स शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी।

'**धर्मी**' में अव्यक्तरूप से अन्तर्निहित '**धर्म**' का अस्तित्व कैसे विदित होता है? इसे सप्रमाण सिद्ध किया जा रहा है—

तत्त्ववैशारदी

तत्सद्भावे प्रमाणमाह--स च फलप्रसवभेदानुमित इति एकस्य धर्मिणोऽन्यश्चान्यश्च चूर्णपिण्डघटादिरूप इत्यर्थः। [1]कार्यभेददर्शनाच्च भिन्न इति यावत्। परिदृष्ट उपलब्धः।

भाष्यकार धर्मिनिष्ठ योग्यतारूप शक्ति के सद्भाव में (धर्मी में धर्म निगूढ़ है, इस विषय में) प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—'**स च फलप्रसवभेदानुमित इति**।' एक मृत्तिका-धर्मी के चूर्णपिण्ड, घटादिरूप भिन्न-भिन्न धर्म हैं। और घटादि (पटादि) रूप कार्य-भेद दिखलाई पड़ने से धर्म से भिन्न धर्मी उपलब्ध होता है। यहाँ भाष्यगत '**परिदृष्ट**' पद का अर्थ है—उपलब्ध। भाष्य के सम्पूर्ण वाक्य '**स च...परिदृष्टः**' का तात्पर्य यह है—'फलप्रसव' अर्थात् मृत्तिका से ही घट होता है, तन्तुओं से ही पट होता है—इत्याकारक जो विशेष है, उससे कारण-धर्मी में अव्यक्तरूप से जिसका सद्भाव

---

1. क ख ग ग घ च छ झ त थ द ध न—**कार्य०**, ज—**तत्कार्य०**।

अनुमित होता है, वह योग्यतावच्छिन्न धर्म बहुविधरूप (चूर्णपिण्ड, घटादि- रूप) से एक धर्मी का उपलब्ध होता है।

बालप्रिया–

'**कार्यभेददर्शनात्**'–'कार्योत्पत्तिभिन्नत्व' हेतु से धर्मी में धर्मों की सत्ता का अनुमित्यात्मक ज्ञान होता है। इस प्रकार धर्मी में होने वाले कार्यभेद से बहुसंख्यक धर्मों का अस्तित्व धर्मी में अनुमित होता है। और चूँकि धर्मी की योग्यतारूपिणी शक्ति '**धर्म**' है, अतः अव्यक्तरूप से निहित उस योग्यतारूप शक्ति का प्रत्यक्ष होना सम्भव नहीं है।

सम्प्रति, धर्मी के घटादि धर्म का कालघटित भेद बताया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

तत्रानुभवारोहिणो वर्तमानस्य **मृत्पिण्डस्य शान्ताव्यपदेश्याभ्यां मृच्चूर्णमृद्घटाभ्यां** भेदमाह–तत्र **वर्तमान** इति। **यदि न भिद्येत पिण्डवत्** [1]**तर्हि चूर्णघटयोरपि तद्वदेव** स्वव्यापारव्याप्तिप्रसङ्ग इति भावः। **अव्यक्तस्य तु पिण्डस्य नोक्तं भेदसाधनं संभवतीत्याह–यदा** त्विति। कोऽसौ केन **भेदसाधनेन भिद्येतेति। तदेवं धर्माणां भेदसाधनमभिधाय तं भेदं** विभजते–[2]तत्र त्रयः खल्विति। **उदिता इति वर्तमाना इत्यर्थः। अध्वनां पौर्वापर्यं** [3]**निगम**-यति–ते चेति। **चोदयति–किमर्थमिति। किंनिमित्तमतीतस्यानन्तरा न भवन्ति वर्तमानाः?** हेतुमाह [4]**सिद्धान्ती–पूर्वपश्चिमताया अभावादिति। विषयेण** [5]**विषयिणीमनुपलब्धिं सूचयति। अनुपलम्भमेवोपलम्भवैधर्म्येण दर्शयति–यथानागतवर्तमानयोरिति। उपसंहरति–तदिति। तत्तस्मादनागत एव समनन्तरः पूर्वत्वेन भवति वर्तमानस्य नातीतः। अतीतस्य वर्तमानः पूर्वत्वेन समनन्तरो नाव्यपदेश्यः। तस्मादध्वनां यविष्ठोऽतीत इति सिद्धम्।**

भाष्यकार इनमें से अनुभव पर आरूढ अर्थात् प्रत्यक्षज्ञान के विषयीभूत वर्तमानलक्षण वाले मृत्पिण्डरूप धर्म का–शान्त (अतीत) और अव्यपदेश्य (अनागत) अवस्था वाले मृच्चूर्ण और मृद्घट से–भेद प्रदर्शित करते हैं–'**तत्र वर्तमान इति**।' इन तीन प्रकार के भूत, भविष्यत् और वर्तमानरूप लक्षणों में जो वर्तमानलक्षणविशिष्ट धर्म है, वह अपनी अर्थक्रिया का सम्पादन करता हुआ भूत तथा भविष्यद्रूप धर्मान्तरों से भेद को प्राप्त होता है। यदि मृत्पिण्ड की भाँति अतीत

---

1. ग थ द ध–**तर्हि** उपलभ्यते, क ख घ च छ ज झ त न–**तर्हि** नोपलभ्यते।
2. क घ च छ ज झ त–**तत्र ये**, ख न–**तत्र त्रयः**, ग–**तत्र च यः**, थ ध–**तत्र यः**, द–**त्रयः**।
3. क थ द ध न–**निगमयति**, ख ग घ च छ ज झ त–**नियमयति**।
4. घ च त न–**सिद्धान्ती** उपलभ्यते, क ख ग छ ज झ थ द ध–**सिद्धान्ती** नोपलभ्यते।
5. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न–**विषयिणीं**, ज–**विषयिणाम्**।

और अनागतकालीन मृच्चूर्ण और मृद्घट का वर्तमानकालीन मृद्घट से भेद नहीं माना जायेगा तो जैसे वर्तमानकालीन मृद्घट अपनी अर्थक्रिया को करता है, वैसे ही शान्त मृच्चूर्ण और अव्यपदेश्य घट को भी स्वव्यापारारूढ मानने का प्रसङ्ग आयेगा। किन्तु अव्यक्त भूत तथा भविष्यत् मृत्पिण्ड का पूर्वकथित भेद सिद्ध नहीं हो सकता है अर्थात् उनमें भेदाभाव रहता है इस तथ्य को भाष्यकार बतलाते हैं– **'यदा त्विति।'** जिस काल में अर्थात् शान्त और अव्यपदेश्य अवस्था में सामान्य (अनभिव्यक्त) रूप से धर्मी में धर्म लीन रहता है उस काल में वह धर्मिस्वरूप ही होता है। तब कौन धर्म किस साधनभेद से धर्मी से भेद को प्राप्त हो सकता है? अर्थात् अव्यक्त धर्म किसी भी साधन से धर्मी से भिन्न नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार शान्तादि धर्मों के भेदसाधन को प्रतिपादित करके भाष्यकार उस भेद को बतलाते हैं–**'तत्र त्रयः खल्विति।'** यहाँ **'उदित'** शब्द का अर्थ है–वर्तमान। (सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ इस प्रकार है–धर्मी के जो धर्म हैं, वे शान्त, उदित और अव्यपदेश्य भेद से तीन प्रकार के हैं। उन अतीतादि धर्मों में जो अपने व्यापारों (अर्थक्रिया-कारित्व) को करके उपरत हो जाते हैं, वे धर्म **'शान्त'** (अतीत) कहे जाते हैं। जो अपना व्यापार करने में लगे हैं, वे धर्म **'उदित'** (वर्तमान) कहे जाते हैं)। भाष्यकार शान्तादि अध्वाओं के पौवापर्य (पूर्व-पश्चिमता) को बतलाते हैं–**'ते चेति।'** ये व्यापारारूढ **'वर्तमान'** धर्म **'अनागत'** धर्म के अनन्तर होते हैं और **'वर्तमानलक्षण'** के पश्चात् **'अतीतलक्षण'** आते हैं।

शङ्का–प्रश्न है–**'किमर्थमिति।'** किस कारण से अतीत के पश्चात् वर्तमानलक्षण नहीं होते हैं?

समाधान–भाष्यकार कारण बताते हैं–**'पूर्वपश्चिमताया अभावादिति।'** अतीत और वर्तमान में **'पौर्वापर्य'** अर्थात् अनुक्रम (पूर्ववर्तिता और पश्चाद्वर्तिता) का अभाव है, इसलिये (अनागत के पश्चात् वर्तमान के समान) अतीत के पश्चात् वर्तमान लक्षण नहीं आता है। विषय के द्वारा विषयी की अनुपलब्धि सूचित होती है (भाव यह है–यदि अतीत घट भी पुनः वर्तमानता को प्राप्त हो, तो 'यह वही घट है'– ऐसा प्रत्यभिज्ञाज्ञान भी कभी होना चाहिये किन्तु ऐसा प्रत्यभिज्ञाज्ञान नहीं देखा जाता है। अतः प्रत्यक्षयोग्यानुपलब्धि से अतीतलक्षण के पश्चात् वर्तमानलक्षण का अभाव सुनिश्चित होता है)। इस प्रकार भाष्यकार ज्ञान के वैधर्म्य से (अर्थात् अतीत के पश्चात् वर्तमान का ज्ञान न होने से) अनुपलब्धि अर्थात् अतीत और वर्तमान के पौर्वापर्य के अभाव को प्रदर्शित करते हैं–**'यथानागतवर्तमानयोरिति।'** जैसे अनागत और वर्तमान धर्मों की पूर्व-पश्चिमता प्रत्यक्ष प्रतीत होती है, वैसे अतीत और वर्तमानलक्षण का पौर्वापर्य दृष्टिपथ में नहीं आता है। अनागतादि लक्षणों के

पौर्वापर्य को भाष्यकार उपसंहृत करते हैं–'**तदिति**।' अतीत के पश्चात् वर्तमान का अनुभव न होने से अनागत धर्म ही वर्तमान धर्म का '**समनन्तर**' अर्थात् पूर्ववर्ती है, न कि अतीत धर्म और अतीत धर्म का '**समनन्तर**' अर्थात् पूर्ववर्ती वर्तमान धर्म ही है, न कि '**अव्यपदेश्य**'। इस प्रकार अनागतादि अध्वाओं में '**अतीत**' अध्वा अतिशय कनिष्ठ है, यह सिद्ध होता है।

सम्प्रति, '**अव्यपदेश्य**' लक्षणधर्म के विषय में ऊहापोह के साथ विचार प्रस्तुत हो रहा है–

तत्त्ववैशारदी

स्यादेतत्–अनुभूयमाना[1]नुभूततयोदितातीतौ शक्यावुन्नेतुम्। अव्यपदेश्यास्तु पुनर्धर्मा अव्यपदेश्यतयै[2]व शक्या नोन्नेतुमित्याशयवान् पृच्छति–[3]अथेति। [4]अव्यपदेश्याः के केषु समीक्षामहे। अत्रोत्तरमाह–सर्वं सर्वात्मकमिति। [5]यत्रोक्तमिति।

शङ्का–अनुभूयमान (अनुभवारूढ) और अनुभूत (ज्ञात) होने के कारण '**वर्तमान**' और '**अतीत**' धर्मों का अस्तित्व तो स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु '**अव्यपदेश्य**' होने के कारण अर्थात् व्यपदिष्ट न हो सकने के कारण '**अव्यपदेश्य**' धर्मों का ज्ञान होना सम्भव नहीं है–ऐसा विचार करने वाला पूर्वपक्षी पूछता है–'**अथेति**।' '**अव्यपदेश्य**' धर्म कौन से हैं? अर्थात् किन-किन वस्तुओं में कौन-कौन से '**भविष्यत्**' धर्मों की हम समीक्षा=अनुसन्धान कर सकते हैं?

समाधान–इस विषय में भाष्यकार उत्तर देते हैं–'**सर्वं सर्वात्मकमिति**।' सभी वस्तुएँ सर्वात्मक हैं।

बालप्रिया–

'**सर्वं सर्वात्मकम्**'–अभिप्राय यह है कि सभी वस्तुएँ सर्वशक्तिसम्पन्न हैं। अतः परिणामशील समस्त वस्तुओं में सूक्ष्मरूप से जो सर्वविकारजनन की शक्तियाँ निहित हैं, वे ही '**अव्यपदेश्य**' पदवाच्य हैं।

सम्प्रति, '**अव्यपदेश्य**' धर्म को सोदाहरण स्पष्ट किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

तदेवोपपादयति–जलभूम्योरिति। जलस्य हि रसरूपस्पर्शशब्दवतो भूमेश्च गन्धरसरूपस्पर्शशब्दवत्याः पारिणामिकं वनस्पतिलतागुल्मादिषु मूलफलप्रसवपल्लवादिगतरसादिवैश्वरूप्यं

---

1. क ख ग त–**अननुभूयमानतया**, घ च छ ज झ थ द ध न–**अनुभूततया**।
2. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न–**एव**, झ–**एवम्**।
3. थ द ध–**अथेति** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त–**अथेति** नोपलभ्यते।
4. क ख ग घ च छ ज झ त–**अथेति** नोपलभ्यते।
5. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध–**अव्यपदेश्याः**, न–**अनव्यपदेश्याः**।

दृष्टम्। सोऽयमनेकात्मिकाया भूमेरनीदृशस्य वा जलस्य न परिणामो भवितुमर्हति। उपपादितं हि ना[1]सदुत्पद्यत इति। तथा स्थावराणां [2]पारिणामिकं जङ्गमेषु मनुष्यपशुमृगादिषु रसादिवैचित्र्यं दृष्टम्। उपभुञ्जाना हि ते [3]फलादीनि रूपादिभेदसम्पदमासादयन्ति। एवं जङ्गमानां पारिणामिकं स्थावरेषु दृष्टम्। रुधिरावसेकात्किल दाडिमीफलानि तालफलमात्राणि भवन्ति। उपसंहरति—एवमिति। एवं सर्वं [4]जलभूम्यादिकं सर्वरसाद्यात्मकम्। तत्र हेतुमाह—जात्यनुच्छेदेनेति। जलत्वभूमित्वादिजातेः सर्वत्र प्रत्यभिज्ञायमानत्वेनानुच्छेदात्। ननु सर्वं चेत्सर्वात्मकं हन्त भोः सर्वस्य सर्वदा सर्वत्र [5]सर्वथा संनिधानात्समान[6]कालीना भावानां व्यक्तिः प्रसज्येत, न खलु सन्निहिताविकलकारणं कार्यं विलम्बितुमर्हतीत्यत आहदेशकालेति। यद्यपि कारणं सर्वं सर्वात्मकं तथापि यो यस्य कार्यस्य देशः—यथा कुङ्कुमस्य काश्मीरः, तेषां सत्त्वेऽपि पञ्चालादिषु न समुदाचार इति न कुङ्कुमस्य पञ्चालादिष्वभिव्यक्तिः। एवं निदाघे न प्रावृषः समुदाचार इति न तदा शालीनाम्। एवं न मृगी मनुष्यं प्रसूते, न तस्यां मनुष्याकारसमुदाचार इति। एवं नापुण्यवान्सुखरूप भुङ्क्ते, न तस्मिन्पुण्यनिमित्तस्य समुदाचार इति तस्माद्देशकालाकारनिमित्तानाम[7]पबन्धादपगमान्न समानकालमात्मनां भावानामभिव्यक्तिरिति।

भाष्यकार इस विषय में पूर्वाचार्य द्वारा कथित वाक्य को प्रमाण रूप से उद्धृत करते हैं—'**जलभूभ्योरिति।**' रस, रूप, स्पर्श एवं शब्दयुक्त जल का तथा गन्ध, रस, रूप, स्पर्श एवं शब्दयुक्त भूमि का परिणाम—वनस्पति, लतापुञ्ज आदियों में फल, पुष्पादिगत रस और गन्धादि की विविधता के रूप में—परिलक्षित होता है। इससे जल और भूमि में निगूढ जो रसादिविकारजननशक्ति है, उसे '**अव्यपदेश्य**' कहते हैं। जल और भूमि से यह विचित्र (नानाविध) प्रकार का परिणाम नहीं हो सकता है, यदि उनमें वे शक्तियाँ '**अव्यपदेश्य**' अर्थात् छिपी हुई न रहें। यह भी पहले विवेचित हो चुका है कि '**असत्**' पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती है। इसी प्रकार मनुष्य, पशु, मृग आदि जङ्गमों में जो रसादिरूप वैचित्र्य दिखलाई पड़ता है, वह स्थावर के परिणाम के कारण है। ये मनुष्यादि प्राणी फलादि का उपभोग करते हुए रूपादिभेद की सम्पत्ति (विलक्षण सौन्दर्य) को प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार स्थावरों में दृष्टिगत वैचित्र्य जङ्गमों के परिणाम के कारण है। जैसे जङ्गमों के रुधिर से दाडिम के पेड़ को सींचने से दाडिमफल तालफल के सदृश बड़े आकार वाले हो जाते हैं। तथ्य को

---

1. क छ—**असतः**, ख ग घ च ज झ त थ द ध न—**असत्**।
2. क ख ग घ च छ ज झ त द ध न—**पारिणामिकं** उपलभ्यते, थ—**पारिणामिकं** नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध—**फलादीनि रूपादिभेदसम्पदं**, न—**जलादिभेदसम्पदम्**।
4. क ख ग घ च छ ज त न—**जलभूम्यादि**, झ—**भूम्यादि**, थ द ध—**जलभूम्यादिकम्**।
5. क ग घ च छ ज झ थ द ध न—**सर्वथा** उपलभ्यते, ख त—**सर्वथा** नोपलभ्यते।
6. क ग छ ज—**काला**, ख त थ द ध न—**कालीना**, घ च झ—**कालम्**।
7. क ख ग घ च ज झ त थ द ध न—**अपबन्धादपगमात्**, छ—**उपबन्धादुपगमात्**।

उपसंहृत करते हुए भाष्यकार कहते हैं–'**एवमिति**।' इस प्रकार जल, भूमि आदि सभी तत्त्व सभी प्रकार के रसों से युक्त हैं। भाष्यकार हेतु उपन्यस्त करते हैं–'**जात्यनुच्छेदे-नेति**।' जलत्व, भूमित्व आदि जाति की सर्वत्र प्रत्यभिज्ञा होने से अर्थात् जाति के अनुच्छेद से तत्त्व की सर्वात्मकता का उच्छेद नहीं किया जा सकता है।

शङ्का–यदि सभी कारण सर्वविकारजननशक्ति से सम्पन्न हैं तो सभी वस्तुओं से सर्वदा तथा सर्वत्र सभी कार्यों की अभिव्यक्ति (उत्पत्ति) होनी चाहिये, क्योंकि अविकल कारण के नियत पूर्व रहने पर कारण विलम्ब से कार्योत्पत्ति करने में समर्थ नहीं हो सकता है?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**देशकालेति**।' यद्यपि सभी कारण सर्वात्मक हैं तथापि जो जिसका देश होता है, वहीं उसकी अभिव्यक्ति होती है(सर्वत्र नहीं)। जैसे कुमकुम (केसर) का काश्मीर देश है, अतः काश्मीर देश में कुमकुम की अभिव्यक्ति होती है। कुमकुम के पाञ्चाल देश में रहने पर भी पाञ्चाल देश में कुमकुम की अभिव्यक्ति नहीं होती है। इसी प्रकार ग्रीष्मऋतु में वर्षा का आविर्भाव नहीं होता है, इसलिये ग्रीष्मऋतु में (वर्षा रूप सहकारिकारण न रहने से) धान्य की अभिव्यक्ति नहीं होती है। इसी प्रकार मृगी मानव शिशु को जन्म नहीं देती है, क्योंकि मृगी (के गर्भाशय) में मनुष्याकार शिशु अभिव्यक्त नहीं होता है। इसी प्रकार पापी व्यक्ति सुखोपभोग नहीं करता है, क्योंकि पापी व्यक्ति में पुण्यरूप निमित्तकारण की वर्तमानता नहीं रहती है। इस प्रकार उक्त देश, काल, आकार आदि सहकारिकारण का अभाव होने से सर्ववस्तु से सर्वदेश तथा सर्वकाल में सर्वकार्य की अभिव्यक्ति नहीं होती है। (इस प्रकार '**सर्वं सर्वात्मकम्**' के सिद्धान्त को मान्यता प्राप्त होने पर तो देश, काल और निमित्त से निरपेक्ष रहकर सर्वदा एवं सर्वत्र जिस किसी भी कारण से कार्याभिव्यक्ति होनी चाहिये–पूर्वपक्षी का लगाया गया यह आक्षेप निरस्त हो जाता है।)

अब धर्मादिपरिणाम के आधारभूत '**धर्मी**' का स्वरूप वर्णित किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

तदेवं धर्मान्विभज्य तेषु धर्मिणोऽनुगमं दर्शयति–य एतेष्विति। सामान्यं धर्मिरूपम्। विशेषो धर्मः। तदात्मोभयात्मक इत्यर्थः।

इस प्रकार धर्मों का विभाग करके भाष्यकार धर्मों में धर्मी की अनुस्यूतता= उपलब्धता को प्रदर्शित करते हैं–'**य एतेष्विति**।' '**सामान्य**' जिसे '**जाति**' कहते हैं, वह '**सामान्य**' धर्मिरूप है तथा '**विशेष**' जिसे '**व्यक्ति**' कहते हैं, वह '**विशेष**' धर्मरूप है। इस प्रकार '**धर्मी**' सामान्यविशेषात्मक अर्थात् तदुभयात्मक है। सम्पूर्ण भाष्य का अर्थ यह

हुआ जो इन पूर्वोक्त अभिव्यक्त तथा अनभिव्यक्त घटादि सभी धर्मों में अनुगत एवं सामान्यविशेषात्मक है, वह (मृत्तिकादि) अन्वयी '**धर्मी**' कहा जाता है।

सम्प्रति, धर्मी की सत्ता के विषय में मतभेद को प्रस्तुत किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

तदेवमनुभवसिद्धमनुगतं धर्मिणं दर्शयित्वा तमनिच्छतो वैनाशिकस्य क्षणिकं विज्ञानमात्रं चित्तमिच्छतोऽनिष्टप्रसङ्गमुक्तं स्मारयति–यस्य त्विति। वस्तुप्रत्यभिज्ञानाच्चेति। न हि देवदत्तेन दृष्टं यज्ञदत्तः प्रत्यभिजानाति। तस्मा[1]द्य एवानुभविता स एव प्रत्यभिज्ञातेति॥१४॥

इस प्रकार अनुभवसिद्ध सर्वानुगत स्थायी '**धर्मी**' को प्रदर्शित करके भाष्यकार धर्मी को न मानने वाले अर्थात् क्षणिक विज्ञानात्मक चित्त (बुद्धि) को आत्मा मानने वाले वैनाशिक (बौद्ध) के मत में पूर्वकथित अनिष्टप्रसंग का स्मरण कराते हैं–'**यस्य त्विति**।' जिसके मत में यह चित्त केवल धर्ममात्र निर्धर्मक ही माना जाता है, उसके मत में भोगाभाव रहेगा। अर्थात् कर्मजन्य फलभोग की व्यवस्था नहीं बन पायेगी। क्योंकि अन्य क्षणिक विज्ञानरूप आत्मा (चित्त) के द्वारा किये गये कर्म के फल का भोक्ता रूप से अन्य विज्ञानस्वरूप आत्मा कैसे अधिकृत होगा? तथा पूर्व अनुभूत पदार्थ की स्मृति का अभाव होगा, क्योंकि अन्य के द्वारा अनुभूत पदार्थ का स्मरण अन्य को नहीं हो सकता है। भाष्यकार स्थायी धर्मी को न मानने पर तीसरा दूषण बताते हैं–'**वस्तुप्रत्यभिज्ञानाच्चेति**।' प्रत्यभिज्ञा के आधार पर भी चित्त-धर्मी को स्थायी न मानने पर देवदत्त के द्वारा अनुभूत पदार्थ की (चित्त के क्षणिक होने से) यज्ञदत्त को '**प्रत्यभिज्ञा**' नहीं हो सकती है। क्योंकि जिसको अनुभव होता है, उसी को प्रत्यभिज्ञा होती है। इससे यह चित्त धर्ममात्र निरन्वय (अननुगत) नहीं है, ऐसा सिद्ध होता है॥१४॥

योगवार्त्तिकम्

एतत्सूत्रं तत्रेति पूरयित्वा पठति–तत्रेति। तत्र तेषु परिणामेषु तेषां परिणामानामिति यावत्। धर्मीति सूत्रेण सहान्वयः। शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी। अतीतवर्त्तमानानागतधर्मेष्वनुपाती वर्त्तमानरूपेणानुगतो धर्मीत्यर्थः। [2]अत्राव्यपदेश्येति विशेषणं धर्मधर्मिणोर्विवेकप्रदर्शनाय। तथा च वर्त्तमानत्वावर्त्तमानत्ववैधर्म्येण धर्मिणो धर्मस्य च विवेक इति भावः। धर्मशब्दार्थं व्याचष्टे–योग्यतेति। दग्धशक्तेरपि संग्रहाय योग्यताऽवच्छिन्नेत्युक्तम्।

---

1. क च छ थ द ध–**यश्च**, ख ग घ ज झ त न–**य एव**।
2. अ–क ग घ च छ–**अत्राव्यपदेश्येति विशेषणं धर्मधर्मिणोर्विवेकप्रदर्शनाय** उपलभ्यते, ख–**अत्र...प्रदर्शनाय** नोपलभ्यते।
   आ–क ग घ–**अव्यपदेशान्तविशेषणं**, च छ–**अव्यपदेश्येति विशेषणम्**।

वर्त्तमानता स्वरूपयोग्यतेत्यर्थः। तेनातीतादिसाधारण्यलाभः। एवकारो वर्त्तमानादिविशेषव्यवच्छेदार्थः। शक्तित्वं चानागन्तुकत्वम्, तथा चाग्नेर्दाहशक्तिवद्धर्मा अपि धर्मिणि यावद्द्रव्यभाविनः; न हि शक्तिवियोगः शक्तिमतोऽस्ति, शक्तिशक्तिमतोरभेदादिति भावः। धर्मशब्दार्थमुक्त्वा तस्य शान्तादित्वोपपादनायानभिव्यक्तिदशायामपि सत्तां साधयति–स चेति। स च धर्मः शक्तिरूपः फलप्रसवात् तदनुमिताव्यक्तावस्थाक इत्यर्थः। आकस्मिकत्वे हि मृद्येव घटस्तन्तुष्वेव पट इत्यादिर्भेदः फलस्य प्रसवे न स्यात्। अतोऽनादित्वं वक्तव्यम्, अनादित्वाच्चानन्तत्वमिति भावः।

भाष्यकार धर्मी के स्वरूपप्रतिपादक अग्रिम सूत्र को '**तत्र**' इस अंश के साथ जोड़ते हुए पढ़ते हैं–'**तत्रेति**।' पूर्वकथित इन त्रिविध परिणामों में '**धर्मी**' अन्वित रहता है अर्थात् सूत्र के 'धर्मी' पद के साथ त्रिविध परिणामों का अन्वय किया जाता है। सूत्र है–'**शान्तेति**'। जो अतीत, वर्तमान तथा अनागत धर्मों में वर्तमानरूप से '**अनुपाती**' अर्थात् **अनुगत** रहता है, उसे '**धर्मी**' कहते हैं। सूत्र में '**अव्यपदेश्य**' यह विशेषण पद धर्म-धर्मी के भेद को प्रदर्शित करने के लिये प्रयुक्त किया गया है। वर्तमानत्व और अवर्तमानत्वरूप विपरीत धर्मों के कारण '**धर्मी**' से '**धर्म**' का अन्तर द्योतित किया गया है। भाव यह है कि निरपेक्ष धर्मी '**प्रकृति**' सर्वदा वर्तमान रहती है और तत्सापेक्ष महदादि '**धर्म**' में वर्तमानत्व और अवर्तमानत्वरूप दोनों अवस्थाएँ पाई जाती हैं। यही '**धर्म**' और '**धर्मी**' में सूक्ष्म अन्तर है। भाष्यकार '**धर्म**' शब्द की व्याख्या करते हैं–'**योग्यतेति**।' यहाँ धर्मिगत दग्धशक्ति का भी संग्रह करने के लिये अर्थात् दग्धशक्ति में भी '**धर्मत्व**' को सिद्ध करने के लिये भाष्यकार ने '**योग्यतावच्छिन्ना**' पद का प्रयोग किया है। भाव यह है कि अनागत, वर्तमान और अतीतरूप तीन अवस्थाओं से भिन्न दग्धबीजभावरूप चौथी अवस्था में कार्योत्पादन की योग्यतारूप शक्ति निहित रहती है, क्योंकि योगी के संकल्पमात्र से दग्धबीज भी अंकुरोत्पादन में समर्थ होता है। यहाँ '**वर्त्तमानता**' शब्द का अर्थ स्वरूपयोग्यता है। अर्थात् धर्मी में धर्म का '**स्वरूपयोग्यता**' से रहना। इससे धर्मनिष्ठ अतीतादि धर्मसाधारण का भी ग्रहण हो जाता है। '**धर्मी**' से उसके वर्तमानादि '**धर्मविशेष**' को पृथक् (व्यवच्छिन्न) करने के लिये '**शक्तिरेव धर्मः**' में एवकार पद प्रयुक्त हुआ है। धर्मिगत यह '**शक्ति**' अर्थात् कारण में निहित कार्यसामर्थ्य आगन्तुक अर्थात् आकस्मिक नहीं है। इसलिये अग्नि की दाहकत्वशक्ति की भाँति ये कार्यरूप धर्म भी धर्मी में यावद्द्रव्यभावी रहते हैं। अर्थात् जैसे अग्नि की दाहकत्वशक्ति अग्नि द्रव्य की स्थिति तक अवस्थित रहती है, वैसे ही घटादि धर्म भी मृत्तिकादि धर्मी में यावद्द्रव्यभावी होते हैं। शक्तिमान् से शक्ति का वियोग नहीं होता है, क्योंकि शक्ति-शक्तिमान् में अभेद (तादात्म्यसंबंध) है। सूत्रगत '**धर्म**' शब्द के अर्थ को बताने

के पश्चात् उसके शान्तादि लक्षणों की उपपत्ति के लिये अनभिव्यक्ति दशा में (कार्याभिव्यक्ति से पूर्व और कार्यातीत के पश्चात्) भी कार्यरूप धर्म की सत्ता को भाष्यकार सिद्ध करते हैं–'**स चेति**।' यह शक्तिरूप '**धर्म**' फलोत्पत्ति से अपनी अनुमित अव्यक्तावस्था को सिद्ध करता है। अर्थात् धर्मिरूप कारण में अन्तर्निहित कार्यरूप शक्ति का अनुमान अर्थक्रियाकारित्वयुक्त कार्य से किया जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि धर्मी की योग्यतावच्छिन्ना शक्ति '**अनागन्तुक**' है। यदि मृत्तिकादि धर्मिविशेष में घटादि धर्मविशेष की सत्ता को स्वाभाविक न मानकर आकस्मिक (आगन्तुक अर्थात् समसामयिक) माना जाय तो कार्योत्पत्ति को लेकर मृत्तिका में ही घट तथा तन्तुओं में ही पट की शक्ति निहित है–इत्याकारक फलगत अन्तर (भेद) को नहीं कहा जा सकेगा। अतः मृत्तिकादि धर्मी के शक्तिरूप घटादि धर्म को अनादि कहना चाहिये और यह शक्तिरूप धर्म अनादि (अनाकस्मिक) होने से अनन्त भी है, यह कथन का तात्पर्य है।

बालप्रिया–

'**अनादित्वाच्चानन्तत्वम्**'–भाव यह है कि कारण में कार्योत्पत्ति की योग्यतारूप शक्ति एक ही प्रकार की होती है, ऐसा नहीं है, अपितु वह अनेक प्रकार की होती है। जैसे मृत्तिकारूप कारण से चूर्ण, पिण्ड, कपाल तथा घटरूप अनेक धर्म अभिव्यक्त होते हुए देखे जाते हैं। अतः अनुमान किया जाता है कि मृत्तिका में उक्त चूर्णादिरूप अनेक कार्य की योग्यतारूप शक्ति निहित है। इस प्रकार शक्तिमान् (धर्मी) में सर्वत्र अनेक शक्तियाँ निहित समझनी चाहिंये।

सम्प्रति, धर्म-धर्मी में '**अभेदसंबंध**' होने पर भी उनके '**भेद**' को लेकर विचार किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

एकानेकत्ववैधर्म्येणापि धर्मधर्मिविवेकायाह–एकस्येति। स च धर्म एकस्य धर्मिणोऽनेकोऽपि दृष्ट इत्यर्थः। सूत्रतात्पर्यविषयं [1]धर्माद् धर्मिणो विवेकमु[2]पपाद्यादौ धर्माणामेवा[3]न्योन्यं प्रतिपादयति–तत्रेति। तेषु धर्मेषु मध्ये वर्त्तमानो धर्मो धर्मान्तरेभ्यो वर्त्तमानातिरिक्तधर्मेभ्यः शान्ताव्यपदेश्यरूपेभ्यो भिद्यते विविच्यते, वर्त्तमानत्वावर्त्तमानत्ववैधर्म्यादिति शेषः। वर्त्तमान इत्यस्य विवरणं स्वव्यापारमनुभवन्निति। नन्वेवं किं धर्माणामन्योन्यमत्यन्तमेव भेदो न तु भेदाभेदौ? नेत्याह–यदा त्विति। यदा तु शान्ताव्यपदेश्यावस्थायां धर्मः सामान्येनाभिव्यक्तविशेषराहित्येन धर्मिण्यनुगतो विलीनो भवति तदा धर्मिस्वरूपमात्रतयाऽवस्थानाद् धर्म्य-

1. क ख च छ–**धर्मात्**, ग घ–**धर्म०**।
2. क च छ–**उपपाद्य**, ख ग–**उपपादयितुं**, घ–**उपपादयित्वा**।
3. ख ग घ–**विवेकं** (**अन्योन्यं**–पश्चात्) उपलभ्यते, क च छ–**विवेकं** नोपलभ्यते।

विभागादिति यावत्, कोऽसौ धर्मः केन [1]व्यापारेण भिद्येत=अयोगिभिर्विविच्येत, धर्मस्य तल्लक्षणस्य वाऽनुपलम्भात्। अतस्तदानीमविभागलक्षणाभेदोऽपि [2]भवतीत्यर्थः। एतेन च भाष्यकृता ब्रह्माद्वैतमपि वेदान्तोक्तं व्याख्यातप्रायम्, प्रलये सर्ववस्तूनां परमात्मन्यविभागात्, यथाऽकाशेऽभ्राणामिति। तथा च श्रुतिः—स यथा सर्वासामपां समुद्र एकायनमित्यादिना समष्टिजीवस्य प्रलयं प्रदर्श्यात्माद्वैतमाह—यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति, यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येदिति।

धर्मी एक है और धर्म अनेक हैं—इत्याकारक विपरीतधर्मता के आधार पर भी धर्म-धर्मी का अन्तर प्रतिपादित करने के लिये भाष्यकार आगे कहते हैं—'**एकस्येति**।' मृत्तिकादिरूप एक धर्मी का चूर्णादिरूप अनेक प्रकार का धर्म परिदृष्ट होता है। प्रस्तुत सूत्र के तात्पर्यभूत धर्म-धर्मी-विवेक (धर्म से धर्मी के पृथक्त्व) को उपपादित करके भाष्यकार शान्तादि धर्मों के परस्पर भेद को सर्वप्रथम निष्पादित करते हैं—'**तत्रेति**।' उन भूत, वर्तमान और भविष्यत् रूप तीन प्रकार के धर्मों में जो (अपने अर्थक्रियाकारित्वरूप व्यापार को करता हुआ) वर्तमान धर्म वाला है, वह वर्तमानातिरिक्त शान्त और अव्यपदेश्य धर्मों से भिन्न (पृथक्) है, क्योंकि वर्तमान धर्म और अवर्तमान धर्म में वैधर्म्य (विपरीत धर्मता) है। भाष्यकार ने धर्मी के वर्तमान धर्म को '**स्वव्यापारमनुभवन्निति**' पद के द्वारा विवृत किया है। अर्थात् जो अपनी अर्थक्रिया को करता है, उसे वर्तमान धर्म अर्थात् धर्मी का कार्यात्मक वर्तमानरूप कहते हैं।

शङ्का—इस व्याख्यान से तो धर्मी के शान्तादि धर्मों का परस्पर '**अत्यन्तभेद**' ही सिद्ध होता है, न कि '**भेदाभेद**'?

समाधान—नकारात्मक उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं—'**यदा त्विति**।' जब '**शान्त**' तथा '**अव्यपदेश्य**' रूप अतीत तथा अनागत अवस्था में '**धर्म**' सामान्यरूप से अर्थात् अभिव्यक्तिरूप विशेष से रहित होकर धर्मी में अनुगत अर्थात् विलीन (अव्यक्त) रहता है, तब धर्मिस्वरूपमात्र से उसकी अवस्थिति होने से अर्थात् धर्मी से अविभागापन्न होने से योगी से अतिरिक्त कोई भी साधारण व्यक्ति उस धर्म को किसी व्यापारविशेष के द्वारा विविक्त (पृथक्) करने में समर्थ नहीं हो सकता है

---

1. क ग घ च छ—**व्यापारेण**, ख—**आवर्तमानधर्मान्तरेण**।
2. ख—**स्वव्यापारमनुभवन् धर्मीति पाठे तु तत्रेत्यादिवाक्यस्यायमर्थः। सूत्रतात्पर्यविषयं धर्मधर्मिणोर्विवेकप्रकारमाह—तत्रेति। उक्तरीत्या व्याख्येयम्। ननु वर्तमान इति विशेषणं किमर्थं तत्राह—यदा त्विति। यदा तु मृद्धर्मी सामान्येन सूक्ष्मरूपेण स्वकारणे गन्धतन्मात्रे समन्वागतो लीनो भवति तदा मृद्घटयोरुभयोरपि धर्मिमात्रत्वात् गन्धतन्मात्रस्वरूपत्वात्। कोऽसौ मृद्धर्मी केन घटादिधर्मेण विविच्येत उभयोरप्यनुपलम्भादिति। (भवतीत्यर्थः—पश्चात्)** उपलभ्यते, क ग घ च छ—**स्वव्यापारं...नुपलम्भादिति** नोपलभ्यते।

अर्थात् कोई विभाजक बिन्दु न होने से शान्त और अव्यपदेश्य धर्मों का धर्मी से भेदप्रतिपादन अशक्य रहता है, क्योंकि धर्मिनिष्ठ धर्म (कार्य) और तन्निष्ठ अनागत और अतीतलक्षण की प्रतीति=प्रत्यक्षानुभूति नहीं होती है। अतः **'शान्त'** और **'अव्यपदेश्य'** अवस्था में धर्म का धर्मी से अविभागलक्षणक अभेद भी रहता है। इस प्रकार भाष्यकार ने वेदान्तोक्त ब्रह्माद्वैत भी व्याख्यातप्राय कर दिया है, क्योंकि वेदान्त के अनुसार प्रलयकाल में सभी वस्तुएँ ब्रह्म में उसी प्रकार अविभक्त रहती हैं, जिस प्रकार आकाश में बादल। किञ्च ऐसी श्रुति भी है–**'स....एकायनम्'** (बृ. आ. २/४/११) अर्थात् 'जैसे समुद्र सभी जलों का एकाश्रय (अभेदस्थल) है।' इस श्रुति के द्वारा समष्टिरूप से जीव का (परमात्मा में) लय दिखाकर श्रुति ब्रह्माद्वैत का प्रतिपादन करती है–**'यत्र...पश्येत्'** (बृ. आ. ४/५/१५) अर्थात् 'जब संसार दशा में भोक्ता और भोग्य का भेद प्रतीत होता है, तब दृश्य को द्रष्टा देखता है किन्तु मोक्ष की अवस्था में तो जीव के लिये सब कुछ आत्मस्वरूप हो जाता है। अतः कौन किसको देख सकता है? अर्थात् कोई किसी को नहीं देख पाता है।'

धर्म-धर्मी के **'भेदाभेद'** पक्ष पर विस्तारपूर्वक विचार करने के पश्चात् योगवार्त्तिककार शान्तादि शब्दों का स्वरूप निर्धारित करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

[1]इदानीं शान्तोदिताव्यपदेश्यशब्दार्थं व्याचष्टे–तत्र त्रय इति। [2]तदिदं व्याख्याय तस्य पाठक्रमात् क्रमभ्रमं परिहर्त्तुमाह–ते चानागतस्येति। एवं वक्ष्यमाणाव्यपदेश्येऽपि पाठक्रमो नादर्त्तव्य इत्याह–वर्त्तमानस्यानन्तरा अतीता इति। पाठक्रमः कथं त्यज्यत इत्याशयेन पृच्छति–किमर्थमिति। उत्तरम्–पूर्वपश्चिमताया अभावादिति। पूर्व[3]पश्चिमद्वारादित्यर्थः। तदेव विवृणोति–यथेति। नैवमतीतस्येति। वर्त्तमानेन सहेति शेषः। तथा चानागतावस्थायाः प्रागभावस्थानीयाया वर्त्तमानावस्थायां हेतुत्वादतीतावस्थाऽनन्तरं वर्त्तमानावस्था न भवतीत्यर्थः। [4]उदिताव्यपदेश्यरूपपाठक्रमत्यागेऽपीदमेव बीजमिति भावः। उपसंहरति–तस्मादिति। समनन्तरः पश्चिमो लक्षणभेद इति शेषः। तत्त्वतोऽनागत एव वर्त्तमानस्य समनन्तरः पूर्वो भवतीत्यर्थः। एतेन सत्कार्यवादेऽपि पूर्वाभिव्यक्तो घटादिर्न पुनरुत्पद्यत इति सिद्धान्तः स्मर्त्तव्यः।

---

1. क घ च छ–**इदानीं**, ख ग–**तदानीं**।
2. क घ च छ–**तदिदं**, ख ग–**उदितम्**।
3. क घ च छ–**पश्चिमद्वारात्**, ख–**पश्चिमत्वाभावात्**, ग–**पश्चिमभावस्याभावात्**।
4. क ग घ च छ–**उदिताव्यपदेश्यरूपपाठक्रमत्यागेऽपीदमेव बीजमिति भावः** उपलभ्यते, ख–**उदित...भावः** नोपलभ्यते।

सम्प्रति, भाष्यकार शान्त, उदित तथा अव्यपदेश्य शब्दों का अर्थ बताते हैं–'**तत्र त्रय इति**।' शान्तादि पदों की व्याख्या करने के पश्चात् भाष्यकार सूत्रगत शान्तादि के पाठक्रम के कारण होने वाले भ्रमपूर्ण क्रम का निरास करने के लिये कहते हैं–'**ते चानागतस्येति**।' अर्थात् '**उदित**' धर्म '**अव्यपदेश्य**' धर्म के '**समनन्तर**' होता है। अर्थात् मृत्तिकादि धर्मिनिष्ठ घट धर्म के अनागतलक्षणपरिणाम के पश्चात् वर्तमान-लक्षणपरिणाम होता है। इसी प्रकार वक्ष्यमाण अव्यपदेश्य में भी कथित पाठक्रम समादरणीय नहीं है, ऐसा भाष्यकार बताते हैं–'**वर्तमानस्यानन्तरा अतीता इति**।' अर्थात् वर्तमानलक्षणपरिणाम के पश्चात् अतीतलक्षणपरिणाम होता है।

शङ्का–सूत्रगत शान्त, उदित तथा अव्यपदेश्य–इस प्रकार निर्दिष्ट पाठक्रम का त्याग किस कारण से किया जा रहा है? इस अभिप्राय से पूर्वपक्षी प्रश्न करता है–'**किमर्थमिति**।'

समाधान–भाष्यकार उत्तर देते हैं–'**पूर्वपश्चिमताया अभावादिति**।' अतीत के पश्चात् वर्तमान नहीं आता है, क्योंकि इनमें पूर्व-पश्चिमता असंभव है। इसी तथ्य को भाष्यकार खोलते हैं--'**यथेति**।' अनागत और वर्तमानलक्षण में जिस प्रकार की पूर्व-पश्चिमता है वैसी '**नैवमतीतस्येति**' अर्थात् अतीत धर्म की वर्तमान धर्म के साथ पूर्व-पश्चिमता नहीं है। '**नैवमतीतस्य**' इस वैयासिक वाक्य का '**वर्तमानेन सह**' यह वाक्यशेष है। स्पष्टता यह है कि प्रागभावस्थानीय अनागतावस्था ही वर्तमानावस्था की कारण है, इसीलिये अतीतावस्था के समनन्तर वर्त्तमानावस्था नहीं आती है। सूत्रगत '**उदिताव्यपदेश्यरूप**' अर्थात् उदित के पश्चात् अव्यपदेश्य इत्याकारक पाठक्रम का त्याग करने में भी पूर्व-पश्चिमता का अभाव ही हेतु है। भाष्यकार उपसंहार करते हैं–'**तस्मादिति**।' अतीतलक्षण का पश्चाद्भावी (समनन्तर) कोई लक्षणभेद नहीं होता है। अर्थात् अतीतलक्षण के पश्चात् वर्तमानलक्षण का अनुभव नहीं होता है। तात्त्विकरूप से अनागतलक्षण ही वर्तमानलक्षण के समनन्तर अर्थात् पूर्व होता है। अर्थात् अनागत और वर्तमानलक्षण में पूर्व-पश्चिमभाव है। इसीलिये सत्कार्यवाद के अनुसार भी पूर्वाभिव्यक्त घटादि पुनः अभिव्यक्त नहीं होता है। इस सिद्धान्त को स्मरण रखना चाहिये।

बालप्रिया–

'**पूर्वाभिव्यक्तो घटादिर्न पुनरुत्पद्यते**'–तात्पर्य यह है कि अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति मानने पर सर्वप्रथम 'कार्य की अभिव्यक्ति में अनागतावस्था हेतु होती है'–यह सिद्धान्त उपपन्न न हो सकेगा। दूसरी अनुपपत्ति यह आती है कि अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति मानने पर उस दूसरी की तीसरी अभिव्यक्ति और तीसरी की चौथी अभिव्यक्ति मानते हुए अभिव्यक्ति का आनन्त्य अनवस्थादोष से ग्रसित हो जायेगा।

तीसरी अनुपपत्ति यह है कि कथञ्चित् उक्त अनवस्थादोष को स्वीकार कर भी लिया जाय तो घटादि धर्म की अतीतावस्था ही न बन पायेगी। इसका विषम परिणाम यह होगा कि क्लेशादि संस्कारों की अतीतावस्था अर्थात् उसके नाश की दशा न बन पाने से संस्कारयुक्त लिङ्गशरीर सर्वदा आवागमन के चक्र में फँसा रहेगा, जिससे मोक्ष अनुपपन्न हो जायेगा।

सम्प्रति, '**अनागतलक्षण**' और '**वर्तमानलक्षण**' के '**पौवापर्य**' के विषय में आगे विचार किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

नन्वनागतवर्तमानयोः कार्यकारणभाव एव किं प्रमाणमिति चेत्? शृणु–यद्यतीतस्य पुनर्वर्त्तमानता स्यात् तर्ह्यनिर्मोक्षः स्यात्, विनष्टान्तःकरणाविद्याकर्मादीनां पुनरुद्भवेन मुक्तस्यापि संसारोदयसंभवात्। किं च यद्यतीतोऽपि घटः पुनर्वर्त्तमानः स्यात्तदा स एवायं घट इति कदाचित्प्रत्यभिज्ञायेत। अतो योग्यानुपलब्ध्याऽतीतव्यक्त्यनुमज्जनं निर्णीयत इति। अत्राना-गतातीतावस्थयोः प्रागभावध्वंसरूपयोः कार्योत्पादकानुत्पादकत्ववैधर्म्यवचनाद् अव्यक्तावस्थाया एवावान्तरभेदावनागततातीतते परस्परविलक्षणे इति मन्तव्यम्। नन्वेवमतीतस्य पुनरनुत्पादा-दतीतसत्त्वकल्पना व्यर्थेति चेत्? न; लोकानतीतान्ददृशे स्वदेह इत्यादिवाक्यशतसिद्धयोगि-प्रत्यक्षान्यथानुपपत्त्या तत्सिद्धेः, विषयतत्सन्निकर्षयोः प्रत्यक्षहेतुत्वात्।

शङ्का–अनागत और वर्तमान में कार्यकारणभाव होने में ही क्या प्रमाण है?

समाधान–यदि पूर्वपक्षी ऐसा प्रश्न करे तो वह सुने–यदि अतीत धर्म पुनः वर्तमान अवस्था में आ जाय तो मोक्ष कभी न बन पायेगा तथा अतीतावस्था अर्थात् विनष्टता को प्राप्त अन्तःकरण, अविद्या और कर्मादि की पुनरभिव्यक्ति अर्थात् पुनः वर्तमानावस्था होने से मुक्त पुरुष की भी पुनः संसारापत्ति होगी। किञ्च अतीता-वस्था को प्राप्त घट पुनः वर्तमान अवस्था वाला हो जाय तो उस (अतीतावस्थाक) घट को लेकर '**स एवायं घटः**' इत्याकारक प्रत्यभिज्ञा भी कभी होनी चाहिये, किन्तु अतीतावस्थाक घट को लेकर ऐसी प्रत्यभिज्ञा नहीं होती है। अतः अतीतविषयक घट को लेकर उपरिनिर्दिष्ट ज्ञान के अवश्यंभावी न होने से यह निर्णीत होता है कि अतीत व्यक्ति की पुनः उत्पत्ति नहीं होती है। प्रागभावस्थानीय अनागतावस्था तथा ध्वंसाभावस्थानीय अतीतावस्था में क्रमशः कार्योत्पादकत्व तथा कार्यानुत्पाद-कत्वरूप विपरीतधर्मता कथित होने से यह अवधारित होता है कि अव्यक्तावस्था के ही अवान्तरभेदरूप '**अनागत**' तथा '**अतीत**' लक्षण परस्पर विलक्षण हैं। अर्थात् अव्यक्तावस्थ अनागतलक्षण में कार्योत्पादनशक्ति निहित है जब कि अव्यक्तावस्थ अतीतलक्षण में यह शक्ति निहित नहीं है।

शङ्का–यदि अतीतलक्षण का पुनरुत्पाद (अतीतावस्थ घट का पुनरुद्भव) नहीं होता है, तो अतीतलक्षण की मान्यता अकिञ्चित्कर (व्यर्थ) है?

समाधान–ऐसा नहीं कहा जा सकता है, अन्यथा '**लोकानतीतान् ददृशे स्वदेहे**' अर्थात् 'देहधारी अतीत पितरों को स्वदेह में अवलोकित किया' इत्यादि सैकड़ों वाक्यों से सिद्ध योगियों को होने वाले प्रत्यक्ष की उपपत्ति नहीं लग पायेगी। अतः '**अतीतसत्त्व**' की सिद्धि होती है। अर्थात् घटादि धर्म का '**अतीतलक्षण**' परिणाम व्यर्थ नहीं है, क्योंकि (अतीत) विषय की सत्ता तथा तद्विषयक सन्निकर्ष (इन्द्रियार्थसन्निकर्ष) ही प्रत्यक्ष का कारण होता है।

बालप्रिया–

'**विषयतत्सन्निकर्षयोः**'–तात्पर्य यह है कि विषय के होने पर ही प्रत्यक्ष का प्रयोजक इन्द्रियार्थसन्निकर्ष बन सकता है। अतः यदि अतीत पदार्थ की सत्ता न मानी जाय तो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष न बन पाने के कारण योगियों को उपर्युक्त प्रकार की अपरोक्षानुभूति नहीं हो सकेगी। जब कि अतीत पदार्थ की सत्ता मानने पर किसी भी प्रकार के व्यवहार का अपलाप नहीं होगा। अतः '**अतीत**' पदार्थ की सत्ता निर्णीत होती है।

योगवार्त्तिककार आगे भी '**अतीत**' की सत्ता को ही परिपुष्ट करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

न चातीता[1]र्थस्मरणमेवास्त्विति वाच्यम्, पूर्वाननुभूतस्यापि योगिना दर्शनात्। ये तु योगजधर्मस्यापि सन्निकर्षत्वमिच्छन्ति तेषामप्यसत्पदार्थे सन्निकर्षानुपपत्तिः, प्रत्यक्षं प्रति सन्निकर्षनानात्वेनाननुगमेन हेतुताग्रहानुपपत्तिश्च। ज्ञानादेर्विषयताऽऽदिरूपोऽपि सम्बन्धोऽसति न संभवति, [2]सतोरेव सम्बन्धदर्शनादिति [3]प्रत्यक्षादिषु संयोगादिरेव प्रत्यासत्तिः, योगजधर्मेण चाधर्मतमआदिप्रतिबन्धमात्रं क्रियत इति दिक्।

शङ्का–अतीत पदार्थ की सत्ता न होने से उसकी स्मृति ही मानी जाय (और इस प्रकार सिद्ध योगियों को होने वाला पितरों का ज्ञान भी संभव हो सकेगा)?

समाधान–ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि योगी को तो पहले अनुभूत न हुए पदार्थ का भी प्रत्यक्ष होता है। किञ्च जो (नैयायिकादि) दार्शनिक योगजधर्म को भी सन्निकर्ष मानते हैं, उनके मत में भी '**असत्**' पदार्थ को लेकर अलौकिक सन्निकर्ष उपपन्न (सिद्ध) नहीं हो सकेगा तथा असद्रूप अतीत पदार्थ के प्रत्यक्ष के प्रति

1. क ख ग–**अर्थस्य**, घ च छ–**अर्थ०**।
2. क ग घ च छ–**सतोः**, ख–**ततः**
3. क घ च छ–**प्रत्यक्षादिषु**, ख–**अस्मन्मते तु द्रव्यादिप्रत्यक्षेषु**, ग–**प्रत्यक्षेषु**।

अनेकविध (न्यायसम्मत षड्विध) सन्निकर्ष की प्राप्ति संभव न होने से अतीत पदार्थ के प्रत्यक्ष में हेतुत्वग्रह नहीं बन पायेगा। किञ्च ज्ञानादि का जो विषयतादि-रूप सम्बन्ध है अर्थात् विषय और ज्ञान में जो '**विषयविषयिभावसंबंध**' है, वह भी **असत्** पदार्थ को लेकर संभव नहीं है, क्योंकि दो '**सत्**' पदार्थों में ही '**सम्बन्ध**' देखा जाता है, न कि सत् और असद्रूप पदार्थों में। किञ्च प्रत्यक्षादियों में '**संयोगादि**' **सन्निकर्ष ही कारण** होता है और '**योगज धर्म**' तो अधर्म, तम आदि प्रतिबन्धमात्र को अपसारित करता है। अतः योगी को होने वाले पितरादि के प्रत्यक्ष के आधार पर '**अतीत**' पदार्थ को '**सत्**' मानना अपरिहार्य है। अर्थात् जब योगी के प्रत्यक्षव्यवहार का अपलाप नहीं किया जा सकता है तो फिर सम्बन्ध की उभयनिष्ठता के लिये अतीत पदार्थों की सत्ता को क्यों स्वीकार नहीं किया जाता है? अतः अतीत पदार्थ को स्वीकार करना चाहिये। योगज धर्म तो प्रत्यक्ष के आवरणभूत तमोगुणादि का नाशक होता है।

बालप्रिया–

'**ये तु योगजधर्मस्यापि सन्निकर्षत्वमिच्छन्ति**'–न्यायशास्त्र में लौकिक और अलौकिक भेद से प्रत्यक्ष दो प्रकार का है। उनमें से लौकिक प्रत्यक्ष के लिये छह प्रकार के सन्निकर्ष कारण हैं। वे हैं–संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय तथा विशेषणविशेष्यभाव। अलौकिक सन्निकर्ष तीन प्रकार का है–सामान्यलक्षण, ज्ञानलक्षण तथा योगज। तदर्थ न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, प्रत्यक्षखण्ड की अधोलिखित कारिका द्रष्टव्य है–

अलौकिकस्तु व्यापारस्त्रिविधः परिकीर्तितः।
सामान्यलक्षणो ज्ञानलक्षणो योगजस्तथा॥

सम्प्रति, सूत्र के पाठक्रमानुसार प्राप्त '**अव्यपदेश्य**' लक्षण का स्वरूप निर्धारित किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

शान्तोदितौ व्याख्यायाव्यपदेश्यं व्याख्यातुं पृच्छति–अथाव्यपदेश्याः क इति। ये व्यापारान् करिष्यन्ति तेऽव्यपदेश्या इति वक्तुं न शक्यते; अकरिष्यमाणव्यापारकस्यापि केवलानागत-लक्षणस्य वस्तुनः स्वीकारादित्यतः प्रकारान्तरेणाव्यपदेश्यं लक्षयति–सर्वं सर्वात्मकमिति। सर्वात्मकं सर्वशक्तिकम्। तथा च सर्वत्र परिणामिन्यवस्थिताः सर्वविकारजननशक्तय एवाव्यप-देश्या इत्यर्थः। ननु वर्त्तमानातीतावस्थयोरनुभवस्मरणे प्रमाणे स्तः, शक्त्याख्यायां त्वनागताव-स्थायां किं प्रमाणम्? [1]किं वा सर्वत्र सर्वशक्तिमत्त्वे प्रमाणमित्याकांक्षायामाह–यत्रोक्तमिति।

---

1. ग घ च छ--**किं वा सर्वत्र सर्वशक्तिमत्त्वे प्रमाणं** उपलभ्यते, क ख–**किं...प्रमाणं** नोपलभ्यते।

अभिव्यक्तिरितीत्यन्तेनान्वयः। यत्र सर्वं सर्वशक्तिमदित्यत्रार्थे पूर्वाचार्यैरिदं वक्ष्यमाणं प्रमाणमुक्तमित्यर्थः। तत्रादौ प्रत्यक्षस्थले शक्तिमनुमापयति—जलभूम्योरिति। स्थावरेषु रसादिभिः मधुराम्लसुरभ्यसुरभिमृदुकठिनत्वादिभिर्यदनन्तरूपत्वं तज्जलपृथिव्योः परिणामनिमित्तकमित्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रत्यक्षतो दृष्टम्, अतो जलभूमी स्थावरात्मिके स्थावरशक्तिमत्याविति भावः; शक्तिं विनाऽपि कार्यकरणेऽतिप्रसङ्गात्, तथा जङ्गमेषु यद्वैश्वरूप्यं [1]तत् स्थावराणां परिणामनिमित्तकं दृष्टम्, मनुष्यादीनां धान्यादिस्थावरकार्याणां धान्यादिविशेषैः रूपादिविशेषदर्शनात्, तथा स्थावराणां यद्वैश्वरूप्यं तज्जङ्गमानां परिणामनिमित्तकं दृष्टम्, गोमयदुग्धादिभिर्धान्यचम्पकादीनां स्थावराणां विचित्ररूपरसादिदर्शनादित्यर्थः। एवमादिदृष्टान्तैः सर्वेषु वस्तुषु सर्वविकारजननशक्तिः सिध्यतीत्याह—इत्येवमिति। यथा जलादिस्थावराद्यात्मकम् एवमन्यदपि सर्वविकारात्मकं तच्छक्तिमत्। नन्वतीतकार्ये शक्तिमत्त्वं नास्ति भाविवस्तूनामित्यत उक्तम्—जात्यनुच्छेदेनेति। यद्यप्यतीतकार्यव्यक्तय उच्छिन्नास्तथाऽपि तज्जातीयसर्वस्यानुच्छेदादित्यर्थः। तथा च सर्वात्मकत्वं सर्वजातीयशक्तिमत्त्वमेवात्र विवक्षितमिति भावः। एतेनान्यद्रव्यस्य परिणामव्यक्तीनामन्यत्राभावेऽपि न नियमभङ्गः; तज्जातीयव्यक्त्यन्तरजनन[2]शक्तिसम्भवादिति। तदेतदुक्तं विष्णुपुराणे—

> **यथा च पादपो मूलस्कन्धशाखाऽऽदिसंयुतः॥**
> **आदिबीजात्प्रभवति बीजान्यन्यानि वै ततः॥**
> **सम्भवन्ति ततस्तेभ्यो भवन्त्यन्ये परे द्रुमाः।**
> **तेऽपि तल्लक्षणद्रव्यकारणानुगता मुने!॥**
> **एवमव्याकृतात्पूर्वं जायन्ते महदादयः।**
> **सम्भवन्ति सुरास्तेभ्यस्तेभ्यश्चाखिलजन्तवः॥ इति।**

इस प्रकार '**शान्त**' (अतीत) और 'उदित' (वर्तमान) धर्मों की व्याख्या करने के पश्चात् भाष्यकार '**अव्यपदेश्य**' (भविष्यत्) धर्म की व्याख्या करने के उद्देश्य से प्रश्न करते हैं—'**अथाव्यपदेश्याः क इति।**'

शङ्का—'**अव्यपदेश्य**' धर्म किसे कहते हैं?

समाधान—'वे धर्म जो भविष्य में व्यापार करेंगे वे '**अव्यपदेश्य**' धर्म कहे जाते हैं'—'ऐसा **अव्यपदेश्य**' का लक्षण नहीं किया जा सकता है, क्योंकि योगमत में व्यापार न करने वाले '**अनागतलक्षणक**' पदार्थ को भी स्वीकार किया गया है। अतः भाष्यकार प्रकारान्तर से '**अव्यपदेश्य**' धर्म का लक्षण करते हैं—'**सर्वं सर्वात्मकमिति।**' यहाँ '**सर्वात्मक**' शब्द का अर्थ सर्वशक्तिक है। अर्थात् सभी पदार्थ सर्वशक्तियुक्त होते हैं। इस प्रकार

---

1. ख ग—तत् उपलभ्यते, क घ च छ—तत् नोपलभ्यते।
2. क च छ—**शक्ति०**, ख ग घ—**शक्तिमत्त्व०**।

यच्च-यावत् समस्त परिणामशील पदार्थों में सभी प्रकार के कार्यों (विकारों) को उत्पन्न करने की जो शक्तियाँ निहित हैं, वे ही '**अव्यपदेश्य**' कही जाती हैं।

शङ्का–(कार्य की) '**वर्तमानावस्था**' तथा '**अतीतावस्था**' में तो अनुभव और स्मरण दोनों प्रमाणस्वरूप हैं, किन्तु (कार्यगत) शक्त्याख्य अनागतावस्था में क्या प्रमाण है अथवा सर्वपदार्थ सर्वशक्तिमत् हैं, इसमें ही क्या प्रमाण है? अर्थात् निष्प्रमाणक अनागतशक्ति असद्रूप है।

समाधान–ऐसी आकांक्षा होने पर भाष्यकार कहते हैं–'**यत्रोक्तमिति**।' यहाँ '**यत्रोक्तम्**' पद का '**अभिव्यक्तिरिति**' तक के भाष्य के साथ अन्वय किया जाता है। यह जो 'सर्ववस्तु सर्वात्मक होती हैं'–कहा गया है, उसके विषय में वक्ष्यमाण वाक्य प्रमाण रूप में उक्त है। भाष्यकार इनमें से प्रत्यक्षयोग्य पदार्थों में निहित शक्ति का सर्वप्रथम अनुमान करते हैं–'**जलभूम्योरिति**।' वृक्ष, लतादि स्थावर पदार्थों में मधुर-अम्ल, सुरभि-असुरभि, मृदु-कठिनत्वादिरूप रसादियों के रूप से जो नाना-रूपता (विविधता) है वह जल और पृथ्वी भूत के परिणामविशेष के कारण है, ऐसा अन्वय-व्यतिरेक से प्रत्यक्षतः परिलक्षित होता है। अतः स्थावरात्मक जल और भूमि द्रव्य स्थावरशक्तिमत् हैं ऐसा सिद्ध होता है, क्योंकि शक्ति के विना भी यदि कारण से कार्योत्पत्ति मानी जाय तो (कार्य-कारण में अतिव्याप्तिरूप) अतिप्रसङ्गदोष उपस्थित होगा। इसी प्रकार मनुष्य, पशु आदि सकल जङ्गम पदार्थों में जो विविधरूपता है, वह स्थावरों के परिणामविशेष के कारण दृष्टिगत होती है, क्योंकि धान्यादि स्थावरों के कार्यभूत धान्यादि (फल) विशेषों के सेवन से मनुष्यादियों में रूपादिविशेष (शारीरिक वैभव) दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार स्थावरों में जो विविधरूपता है, वह जङ्गमों के परिणामविशेष के कारण परिदृष्ट होती है क्योंकि गोमय, दुग्धादि के द्वारा (गोबर आदि का खाद के रूप से प्रयोग करने पर) धान्य, चम्पक आदि स्थावरों में वैचित्र्ययुक्त रूप, रस आदि दिखाई पड़ता है। इन समस्त दृष्टान्तों से यह सिद्ध होता है कि सभी वस्तुओं में सभी प्रकार के विकारों (कार्यों) को उत्पन्न करने की शक्ति निहित है, ऐसा भाष्यकार कहते हैं–'**इत्येवमिति**।' जैसे जलादि स्थावराद्यात्मक हैं, वैसे ही अन्य पदार्थ भी सर्वविकारात्मक शक्ति से युक्त हैं।

शङ्का–किन्तु '**अतीतलक्षण**' परिणामविशिष्ट कार्य में तो भावी वस्तुओं को उत्पन्न करने की शक्तिमत्ता नहीं है?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**जात्यनुच्छेदेनेति**।' यद्यपि अतीत कार्य व्यक्ति तो नष्ट हो जाते हैं, तथापि तज्जातीय अन्य व्यक्तियों का उच्छेद (नाश) नहीं होता है। इसीलिये भाष्यकार को यहाँ ऐसा बताना अभिप्रेत रहा है कि 'सभी पदार्थ

सर्वजातिशक्तिमत् हैं।' अर्थात् '**व्यक्ति**' के उच्छिन्न हो जाने पर भी '**जाति**' का उच्छेद न होने के कारण ही सर्ववस्तु '**सर्वात्मक**' है। इस से एक द्रव्य के परिणामभूत व्यक्तियों का अन्य द्रव्य में अभाव होने पर भी '**सर्वं सर्वात्मकम्**' वाला यह नियम खण्डित नहीं होता है, क्योंकि उस द्रव्य में तज्जातीय व्यक्त्यन्तरों को उत्पन्न करने की शक्ति संभव रहती है। यही तथ्य विष्णुपुराण में कहा गया है–'**यथा च पादपो...चाखिलजन्तव**': (वि. पु. २/७/३२) अर्थात् 'जिस प्रकार आदि बीज से मूल, स्कन्ध, शाखा आदि से युक्त वृक्ष उत्पन्न होता है। फिर उस वृक्ष से अन्यान्य बीज उत्पन्न होते हैं। हे मुनि! उन अन्यान्य बीजों से अन्यान्य वृक्ष उत्पन्न होते हैं। वे अन्यान्य वृक्ष भी अपने कारणभूत द्रव्य बीज के स्वरूप से युक्त होते हैं। इसी प्रकार सृष्टि के आरम्भ में (पूर्व में) अव्याकृत प्रकृति से महदादि (कार्य) उत्पन्न होते हैं और फिर उनसे देवता उत्पन्न होते हैं और फिर उन देवताओं से समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं।'

सम्प्रति, वार्तिककार '**सर्वं सर्वात्मकम्**' के सिद्धान्त को स्वीकार न करने पर उत्पन्न होने वाली विसङ्गतियों को दिखाते हैं–

योगवार्तिकम्

यदि च सर्वत्र सर्वसजातीयवस्तुजननशक्तिर्न स्वीक्रियते तदा कथमेकस्मादेव चतुर्मुख-शरीरादखिलदेवदानवनरपश्वादिसमुद्भवः? कथं वाऽगस्त्यजाठराग्नेः समुद्रशोषणम्? कथं वा ब्रह्मविष्णुरुद्रपार्वतीशरीरादिषु विश्वरूपदर्शनम्, योगिनां च स्वशरीरमनसोरनन्ता विभूतय उपपद्येरन्? किं बहुना–

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

इत्यादिवाक्यैः सर्वप्राणिशरीरे सर्वजातीयवस्तुसत्तावचनं शक्ति[1]रूपतां विनाऽऽञ्जस्येन नोपपद्येत। अर्जुनादिभिश्च शक्तिरूपेणावस्थितं भाविभीष्मवधादिकमेव कृष्णादिशरीरे कालात्मके दिव्यचक्षुषा दृष्टं योगिभिरतीतानागतमिवेति। एतेन स इदं सर्वं भवति तस्मात्सर्वमभवदितिश्रुतेः ब्रह्मविदः सर्वाभावरूपा श्रुत्युक्ता सिद्धिरु[2]पपादिता, तथा जीवोपाधावपि महैश्वर्यशक्तिमत्त्वाज्जीवानामीश्वरत्वप्रतिपादकश्रुतिस्मृतय उपपन्नाः, तथा

---

1. क ख घ च छ–**रूपतां**, ग–**रूपं ताम्**।
2. ख–**अभिव्यक्तिमात्रस्यैवात्र भवनशब्दार्थत्वात्** (उपपादिता–पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ–**अभि...त्वात्** नोपलभ्यते।

त एते [1]सत्या अनृतापिधाना इति श्रुतिरपीति मन्तव्यम्। नन्वेवं सर्वत्र सर्वजातिशक्त्यङ्गीकारे कथमेकदा न नानाविकारोत्पत्तिः? कथं वा शिला[2]शकलादपि नाङ्कुरोत्पत्तिरस्मदादिशरीराच्चतुर्मुखादिवत् सङ्कल्पमात्रेण नाखिलप्राण्युत्पत्तिरित्याशङ्कां परिहरति– देशकालेति। देशो भूर्लोकादिः, कालः कलियुगादिः, आकारः संस्थानम् अवयवसंयोगविशेषः, निमित्तमधर्मादिस्तैरपबन्धात् प्रतिबन्धात् एकदा कारणेषु न विरुद्धानामात्मभूतशक्तीनामभिव्यक्तिर्वर्त्तमानलक्षणपरिणाम इत्यर्थः। [3]एतेन च प्रतिबन्धवचनेनान्या अपि उक्ताशङ्काः परिहृताः। सहकारिविरहादित्यर्थ इत्यपि कश्चित्, तस्यापि प्रतिबन्ध[4]निमित्तकविलम्बे पर्यवसानम्, निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवद् इत्यागामिसूत्रे सर्वेषां निमित्तकारणानां स्वतन्त्रायाः प्रकृतेः परिणामेषु प्रतिबन्धनिवर्त्तकतामात्रावगमादिति। अतः शिलाशकलान्नाङ्कुरोत्पत्तिरवयवसंयोगविशेषस्याङ्कुरोत्पत्ति[5]प्रतिबन्धकत्वात्, अस्मदादिशरीरान्नाखिलप्राण्युत्पत्तिरधर्मप्रतिबन्धात्, ब्रह्माण्डादिशक्तिमतश्च घटादेर्ब्रह्माण्डाद्युत्पादनं विनैव प्रायशो नाशदर्शनात्। सा शक्तिः समुत्पद्य घटादिना सहैव नश्यति; आधारनाशात्, कदाचित् नहुषशरीरादीनां सर्पादिभाववत् परमेश्वरादिसङ्कल्पो घटादीनामपि प्रकृत्यापूरवशाद् अव्यवस्थिताखिलपरिणामो भवत्येव। तथा चोक्तम् लौकिकैरपि–

विषमप्यमृतं क्व चिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया॥ इति।

यदि सर्वत्र समानजातीय वाली सभी वस्तुओं के उत्पन्न होने की शक्ति को स्वीकार न किया जाय तो चतुर्मुखधारी एक ही ब्रह्मशरीर से देव, दानव, नर, पशु आदि समस्त शरीरों की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? अगस्त्य की जठराग्नि से समुद्र को कैसे सुखाया जा सकता है? ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, पार्वती आदि के शरीरों में कैसे विश्वरूप का दर्शन हो सकता है? और योगियों के स्वशरीर और मन (के संकल्प मात्र) से कैसे अनन्त विभूतियाँ उत्पन्न हो सकती हैं? अधिक क्या कहा जाय '**उपदेक्ष्यन्ति...समदर्शनः**' (गीता ४/३५, ६/२९) अर्थात् 'तत्त्वदर्शी ज्ञानी लोग तुम्हारे लिये उस ज्ञान का उपदेश करते हैं जिससे तुम मुझ परमात्मा में भूतों को भली-प्रकार देख सकते हो। योग से युक्त अन्तःकरण वाला और चिरकाल के योगाभ्यास से सत् मात्र का ग्रहण करने वाला ब्रह्मवित् सम्पूर्ण भूतों में आत्मा को और आत्मा में सम्पूर्ण भूतों को देखता है'–इत्यादि वाक्यों के द्वारा सभी

---

1. क ख–**कामाः** (**सत्याः**–पश्चात्) उपलभ्यते, ग घ च छ–**कामाः** नोपलभ्यते।
2. क घ च छ–**शकलात्**, ख ग–**शकलादि**०।
3. ग घ च छ–**एतेन च प्रतिबन्धवचनेनान्या अपि उक्ता शंका परिहृताः** उपलभ्यते, क ख–**एतेन...हृताः** नोपलभ्यते।
4. क ख ग घ च–**निमित्तक**०, छ–**निनिवर्तक**०।
5. क ग घ च छ–**प्रति**० उपलभ्यते, ख–**प्रति**० नोपलभ्यते।

प्राणधारियों में सर्वजातीय वस्तु की सत्ता का कथन तन्निष्ठ शक्तिरूपता के विना अनायास (सरलता से) उपपन्न नहीं हो सकता है। और जैसे योगिजन योगशक्ति से अतीत और अनागतलक्षणविशिष्ट वस्तु को देखते हैं, वैसे ही अर्जुन ने दिव्य (अलौकिक) चक्षु के द्वारा कालस्वरूप कृष्णादि के शरीर में शक्तिरूप से अवस्थित भविष्यमाण भीष्मवधादि का प्रत्यक्षदर्शन किया। तभी **'स इदं सर्वं भवति तस्मात्सर्वमभवत्'** (बृ. आ. १/४/१०) इस श्रुति के द्वारा ब्रह्मवित् की जो सर्वभावरूप सिद्धि कही गई है, वह उपपादित होती है तथा जीवोपाधि में भी महद् ऐश्वर्यशक्तिमत्ता होने से ही जीवों में ईश्वरभाव का प्रतिपादन करने वाले श्रुतिस्मृतिवाक्य युक्तियुक्त सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार **'त एते सत्या अमृतापिधानाः'** (छा उप. १/१४/१०) अर्थात् 'सत्य भी अमृत से आवृत होते हैं' अर्थात् सत्य में भी अपने को असत्य करने की शक्ति है–यह श्रुति भी सभी पदार्थों में सर्वजातीय वस्तु की सर्वजननशक्ति को सिद्ध करती है, ऐसा समझना चाहिये।

शङ्का–इस प्रकार सभी पदार्थों में सर्वजातीय शक्ति के स्वीकार करने पर एक बार में ही (युगपत्) नानाविध विकार (कार्य) उत्पन्न क्यों नहीं होते हैं? शिलाखण्ड से भी अङ्कुर की उत्पत्ति क्यों नहीं होती है? और चतुर्मुखधारी ब्रह्मा की भाँति हमारे (पामरजन के) शरीर से संकल्पमात्र से अखिल प्राणियों की उत्पत्ति क्यों नहीं होती है?

समाधान–उक्त आशंका का समाधान भाष्यकार करते हैं–**'देशकालेति।'** भूलोकादि देश, कलियुगादि काल, अवयवसंयोगविशेषरूप संस्थानात्मक आकार तथा अधर्मादि निमित्त से प्रतिबन्धित (अवरोधयुक्त) होने के कारण एक ही समय समस्त कारणों से परस्पर विरुद्ध तदात्मक शक्तियों की अभिव्यक्ति अर्थात् उनका **'वर्तमान- लक्षण-परिणाम'** नहीं होता है। इस प्रकार देश, काल, आकार तथा निमित्तरूप प्रतिबन्ध के कथन से, **'सर्वं सर्वात्मकम्'** के अनुसार सभी कारणों से सर्वदा तथा सर्वथा सभी कार्यों की अभिव्यक्ति न होने के विषय में, उत्थित शंकाएँ भी निराकृत हो जाती हैं। जो टीकाकार भाष्यगत **'निमित्तापबन्धात्'** पद का **'सहकारिविरहात्'** अर्थात् 'देशादि सहकारिकारण का अभाव होने से' ऐसा अर्थ करते हैं, उनके मत में भी **'देशादिप्रतिबन्ध'** ही सर्वदा एवं सर्वथा नानाविकारोत्पत्ति के विलम्ब के हेतुरूप से पर्यवसित होता है, क्योंकि **'निमित्तं...क्षेत्रिकवत्'** (४/३) इस आगामी योगसूत्र में स्वतन्त्रभूता प्रकृति का महदादि परिणाम होने में निमित्तकारणों (सहकारिकारणों) को प्रतिबन्ध (अवरोध) का निवर्त्तकमात्र (दूर करने वाला) बतलाया गया है। इसीलिये प्रस्तरखण्ड से अंकुराभिव्यक्ति नहीं होती है, क्योंकि अवयवसंयोगविशेष ही सर्वत्र अंकुर की उत्पत्ति में प्रतिबन्धक होता है। अर्थात् प्रस्तरखण्ड से अंकुरोत्पत्ति इसलिये नहीं

होती है, क्योंकि वहाँ अवयवसंयोगविशेष नहीं है। इसी प्रकार हमारे शरीर से अखिल जीवधारियों की उत्पत्ति इसलिये नहीं होती है, क्योंकि वहाँ उत्पत्त्यभाव का प्रयोजक '**अधर्म**' विद्यमान है। अर्थात् अधर्मरूप प्रतिबन्ध के कारण पामरशरीर से अखिल प्राणिजात का आविर्भाव नहीं होता है। इसी प्रकार ब्रह्माण्डादि की उत्पत्ति की शक्ति वाले घट आदि का ब्रह्माण्डादि के उत्पादन के विना ही प्रायः नाश होना देखा जाता है। अतः ब्रह्माण्डोत्पत्ति की शक्ति घटादि के साथ उत्पन्न होकर भी घटादि के नष्ट होने पर नष्ट हो जाती है, क्योंकि निराधार शक्ति कहाँ ठहरेगी? अतः आश्रय के नष्ट होते ही वह भी नष्ट हो जायेगी। कभी-कभी नहुष- शरीरादि के सर्पादिभाव के समान परमेश्वरादि (आदि शब्द से योगी का ग्रहण होता है) का संकल्प प्रकृत्यापूरवश घटादियों के भी अकल्पित विशिष्ट परिणाम वाला होता ही है। जैसा कि लौकिकों (कवि कालिदास) द्वारा कहा गया है–'**विषमप्यमृतं...विषमीश्वरेच्छया**' (रघुवंश ८/४६) अर्थात् 'ईश्वर की इच्छा से कहीं विष भी अमृत हो जाता है और कहीं अमृत भी विष हो जाता है।'

'**अनागतलक्षण**' परिणाम को उपसंहृत करते हुए वार्त्तिककार आगे कहते हैं–

योगवार्त्तिकम्

एतेन तथा ज्ञानेन पुरुषार्थसमाप्त्या चित्तस्यात्यन्तिकलयकालेऽनागतदुःखमपि शक्तिरूपं चित्तेन सहैव नश्यति; अतो हेयं दुःखमनागतमिति सूत्रोक्तमनागतदुःखस्य हेयत्वमुपपन्नम्। एवं च सति विकाराणां क्वचिल्लक्षणमात्रमपि भवत्यनागतातीततारूपमिति वक्तव्यम्, अन्यथाऽनागतदुःखस्य हेयत्वानुपपत्तिः। परेषामनागतदुःखस्य हानं हि सिद्धत्वान्न पुरुषार्थः, अस्मिंश्चानागतदुःखमभावितया न घटेतेति। पदार्थान् व्याख्याय समग्रं सूत्रार्थमाह–य एतेष्विति। [1]अन्वयी सर्वधर्मान्वयी स्थिर इत्यर्थः। तथा चाभिव्यक्तानभिव्यक्तत्ववैधर्म्येण धर्मधर्मिणोर्विवेक इति सूत्रतात्पर्यार्थः। तदेवमन्योन्यवैधर्म्याद्धर्मेभ्योऽतिरिक्ततया धर्मी प्रसाधितः, इदानीं तदनभ्युपगमे भाष्यकारो बाधकमप्याह–यस्य त्विति। धर्ममात्रमित्यनेनैव क्षणिकत्वमप्यायातम्, अनेकक्षणस्थायित्वे हि क्षणसम्बन्धरूपधर्मवत्त्वमेव पदार्थमात्रस्य स्यादिति। धर्ममात्रमित्यस्य विवरणं निरन्वयमिति। निर्धर्मिकमित्यर्थः। धर्मिनिराकरणादा[2]त्मा क्षणिकविज्ञानमित्यायातम्, तथा च प्रथमपादोक्तमेव दूषणमाह–तस्य भोगाभाव इति। शेषं सुगमम्॥१४॥

इस प्रकार ईश्वरानुकम्पा अथवा विवेकज्ञान के द्वारा अपवर्गरूप पुरुषार्थ की निष्पत्ति होने से चित्त के आत्यन्तिक लय के समय शक्तिरूप अनागतदुःख भी चित्त

---

1. ख–**सामान्यमृदादिविशेषो घटादिवत्तदुभयात्मको धर्मी अविभागलक्षणाभेदात्** (**अन्वयी**–प्राक्) उपलभ्यते, क ग घ च छ–**सामान्य...भेदात्** नोपलभ्यते।
2. ख ग घ–**अपि** (**आत्मा**–पश्चात्) उपलभ्यते, क च छ–**अपि** नोपलभ्यते।

के साथ ही नष्ट हो जाता है। और इस प्रकार '**हेयं दुःखमनागतम्**' (२/१६) सूत्र द्वारा प्रतिपादित '**अनागतदुःख**' का '**हेयत्व**' भी सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार '**धर्मी**' के धर्मपरिणामरूप कार्यों (विकारों) का कभी-कभी '**अनागतता**' रूप और '**अतीतता**' रूप लक्षणपरिणाम भी होता है, ऐसा कहना चाहिये। अन्यथा '**अनागतदुःख**' की '**हेयता**' न बन पायेगी। दूसरों के मत में अनागतदुःख का हान स्वतः सिद्ध होने से वह पुरुषार्थरूप नहीं है। अतः इस मत में अनागतदुःख के न होने से दुःख-हान की पुरुषार्थता घटित नहीं होती है। सूत्रगत प्रत्येक पद के अर्थ की व्याख्या करने के पश्चात् भाष्यकार सूत्र के समग्र अर्थ को बताते हैं—'**य एतेष्विति**।' यहाँ '**अन्वयी**' शब्द का अर्थ '**सर्वधर्मान्वयी**' है। अर्थात् जो सभी धर्मों में अन्वित रहता है, ऐसा स्थिरात्मक अन्वयी '**धर्मी**' कहलाता है। इस प्रकार '**अभिव्यक्तत्व**' तथा '**अनभिव्यक्तत्व**' रूप विपरीतधर्मता के कारण '**धर्म-धर्मी**' में अन्तर आता है। यही सूत्र का तात्पर्यार्थ है। इस प्रकार '**धर्म-धर्मी**' में परस्पर विपरीतरूपता होने से '**धर्मरूप**' कार्य से '**धमिरूप**' कारण भिन्न सिद्ध होता है। भाष्यकार धर्म से भिन्न धर्मी को स्वीकार न करने पर आने वाली बाधा को भी प्रतिपादित करते हैं—'**यस्य त्विति**।' यहाँ '**धर्ममात्रम्**' इस पद से ही धर्म (कार्य) का क्षणिक (प्रतिक्षण परिणामी) होना भी सिद्ध होता है, क्योंकि धर्म को अनेक क्षणस्थायी मानने पर क्षणसम्बन्धरूप धर्मवत्ता ही पदार्थमात्र की होने लगेगी। '**धर्ममात्रम्**' इस पद का विवरण है—'**निरन्वयमिति**।' '**निरन्वय**' शब्द का अर्थ निर्धर्मिक (धर्मिरहित) है। इस प्रकार पूर्वपक्षी बौद्ध की ओर से '**धर्मी**' का निराकरण होने के कारण उनके मत में आत्मा '**क्षणिकविज्ञानरूप**' सिद्ध होती है। अतः पूर्वपक्षी बौद्ध के इस मत में भाष्यकार उन्हीं दोषों को बताते हैं, जो प्रथम पाद में कथित हैं—'**तस्य भोगाभाव इति**।' अर्थात् विज्ञानरूप चित्त को क्षणिक मानने पर उसकी भोग-क्रिया नहीं बन पायेगी। शेष भाष्य सुगम है॥१४॥

योगसूत्रम्

क्रमान्यत्वं परिणामा[1]न्यत्वे हेतुः॥१५॥

(धर्मी के) भिन्न-भिन्न परिणाम होने में क्रम की भिन्नता ही कारण (ज्ञापककारण) है॥१५॥

व्यासभाष्यम्

एकस्य धर्मिण एक एव परिणाम इति [2]प्रसक्ते क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे

---

1. **अन्यत्व**0—इति पाठान्तरम्।
2. क ग द ब—**प्रसक्तेः**, ख घ च छ ज झ त थ ध न प फ भ म य र—**प्रसक्ते**।

हेतुर्भवतीति। तद्यथा—चूर्णमृत्पिण्डमृद्घटमृत्[1]कपालमृत्कणमृदिति [2]च क्रमः। यो यस्य [3]धर्मस्य समनन्तरो धर्मः स तस्य क्रमः। पिण्डः [4]प्रच्यवते घट उपजायत इति धर्मपरिणामक्रमः। लक्षणपरिणामक्रमो घटस्या[5]नागतभावाद्वर्तमानभावक्रमः, तथा पिण्डस्य [6]वर्तमानभावादतीतभावक्रमः। नातीतस्यास्ति क्रमः। कस्मात्? पूर्व-[7]परतायां सत्यां समनन्तरत्वम्, सा तु नास्त्यतीतस्य। तस्माद् द्वयोरेव [8]लक्षणयोः क्रमः। तथावस्था[9]परिणामक्रमोऽपि घटस्याभिनवस्य प्रान्ते पुराणता दृश्यते। सा च [10]क्षणपरम्परानुपातिना क्रमेणा[11]भिव्यज्यमाना परां व्यक्तिमा[12]पद्यत इति धर्मलक्षणाभ्यां च विशिष्टोऽयं तृतीयः परिणाम इति। त एते [13]क्रमा धर्मधर्मिभेदे सति प्रतिलब्धस्वरूपाः। धर्मोऽपि धर्मी भवत्यन्यधर्म[14]स्वरूपापेक्ष्येति। यदा तु परमार्थतो [15]धर्मिण्यभेदो[16]पचारस्तद्द्वारेण [17]स एवाभिधीयते धर्मस्तदाय-मेकत्वेनैव क्रमः प्रत्यवभासते। चित्तस्य द्वये धर्माः परिदृष्टाश्चापरिदृष्टाश्च। तत्र

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य—**कपालमृत्** उपलभ्यते, र—**कपालमृत्** नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**च** उपलभ्यते, ब—**च** नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—**धर्मस्य** उपलभ्यते, ज—**धर्मस्य** नोपलभ्यते।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**प्रच्यवते** उपलभ्यते, ब—**प्रच्यवते** नोपलभ्यते।
5. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**अनागतभावात्**, ब—**अनागतात्**।
6. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म र—**वर्तमानभावात्**, ब—**वर्तमानात्**, य—**वर्तमानभावात्/वर्तमानात्** नोपलभ्यते।
7. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**परतायां**, ब—**अपरतायाम्**।
8. क ख ग घ च छ ज थ द ध न प फ ब भ म य र—**लक्षणयोः**, झ त—**धर्मलक्षणयोः**।
9. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न प फ ब भ म य र—**परिणामक्रमः**, द—**परिणामः**।
10. क ख घ च छ ज थ द ध न प फ ब भ म य र—**क्षण**०, ग झ त—**लक्षण**०।
11. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**अभिव्यज्यमाना**, ब—**अभ्यूह्यमाना**।
12. क ग घ च छ ज झ त ध द ध न प फ भ म य र—**आपद्यते**, ख—**आपाद्यते**, ब—**आपादिता**।
13. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—**क्रमाः**, छ थ—**क्रमात्**।
14. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**स्वरूप**० उपलभ्यते, ब—**स्वरूप**० नोपलभ्यते।
15. क ख ग घ ज थ द ध प फ ब भ म र—**धर्मिणि**, च छ झ त न य—**धर्मिणः**।
16. क ख ग च छ ज झ त थ द ब—**उपचारद्वारेण**, घ ध न प फ भ म य र—**उपचारस्तद्द्वारेण**।
17. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**स एव** उपलभ्यते, ब—**स एव** नोपलभ्यते।

प्रत्ययात्मकाः परिदृष्टाः। [1]वस्तुमात्रात्मका अपरिदृष्टाः। ते च सप्तैव भवन्त्यनुमानेन प्रापितवस्तुमात्रसद्भावाः—

निरोधधर्मसंस्काराः परिणामोऽथ जीवनम्।
चेष्टा शक्तिश्च चित्तस्य धर्मा दर्शनवर्जिताः ॥इति॥१५॥

'एक धर्मी का एक ही परिणाम होता है'—इस प्रकार की शंका के उपस्थित होने पर (बतलाया जा रहा है कि) क्रम के भेद परिणाम के भेद में हेतु होते हैं। वह जैसे—मृच्चूर्ण, मृत्पिण्ड, मृद्घट, कपालमृत् तथा मृत्कण—यह क्रम है। जो धर्म जिस धर्म के अनन्तर होता है, वह धर्म उस धर्म का 'क्रम' कहलाता है। पिण्ड नष्ट होता है और घट आविर्भूत होता है—यह 'धर्मपरिणामक्रम' है। घट का अनागतभाव से वर्तमानभावरूप जो क्रम है, उसे 'लक्षणपरिणामक्रम' कहते हैं। इसी प्रकार पिण्ड का वर्तमानभाव से अतीतभावरूप जो क्रम है, उसे भी 'लक्षणपरिणामक्रम' कहते हैं। अतीतलक्षण का क्रम नहीं होता है, क्योंकि पूर्वता एवं परता की वर्तमानता में ही अनन्तरत्वरूप क्रम होता है। अतीतलक्षण में परता रहने पर भी पूर्वता नहीं है। इससे अनागत और वर्तमान इन दोनों ही लक्षणों का क्रम होता है, अतीत का नहीं। वैसे ही 'अवस्थापरिणामक्रम' भी नूतन घट की क्षणपरम्परा के अन्त में पुराणता के रूप में दृष्टिगोचर होता है। और वह पुराणता क्षणपरम्परानुगामी क्रम-समूहों के द्वारा अभिव्यक्त होकर परा व्यक्ति (अन्तिम अवस्था) को प्राप्त होती है। धर्मपरिणाम और लक्षणपरिणाम से विशिष्ट यह तीसरा अवस्थापरिणाम है। ये त्रिविध पूर्वोक्त क्रम धर्म एवं धर्मी का भेद रहने पर ही अस्तित्व में आते हैं, (अन्यथा नहीं)। धर्म भी अन्य धर्मों के स्वरूप की अपेक्षा से धर्मी बनता है। वस्तुतः जिस समय प्रधानरूप धर्मी का अभेदोपचार के द्वारा 'वही यह धर्म है'—ऐसा कहा जाता है, उस समय यह क्रम एक रूप से ही प्रतीत होता है। चित्त के दो प्रकार के धर्म हैं—परिदृष्ट और अपरिदृष्ट। प्रमाणादि वृत्तिरूप जो प्रत्यय हैं, वे 'परिदृष्ट' (प्रत्यक्ष) कहे जाते हैं और वस्तुमात्रस्वरूप जो प्रत्यय हैं, वे 'अपरिदृष्ट' (परोक्ष) कहे जाते हैं। अनुमान प्रमाण के द्वारा परिज्ञात होने वाले ये वस्तुमात्रात्मक अपरिदृष्ट धर्म सात प्रकार के ही हैं—'निरोधधर्म...दर्शनवर्जिताः' अर्थात् 'निरोध, धर्म, संस्कार, परिणाम, जीवन, चेष्टा तथा शक्ति—ये सात धर्म 'अपरिदृष्ट हैं॥१५॥

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**वस्तुमात्रात्मकाः**, ब—**वस्तुमात्राः**।

तत्त्ववैशारदी

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः। किमेकस्य धर्मिण एक एव धर्मलक्षणावस्थालक्षणः परिणाम उत बहवो धर्मलक्षणावस्थालक्षणाः परिणामाः? तत्र किं प्राप्तम्? एकत्वाद्धर्मिण एक एव परिणामः; न ह्येकरूपात्कारणात्कार्यभेदो भवितुमर्हति, तस्याकस्मिकत्वप्रसङ्गादित्येवं प्राप्त उच्यते—क्रमान्यत्वात्परिणामान्यत्वम्। एकस्या मृदश्चूर्णपिण्डघटकपालकणाकारा परिणतिपरम्परा क्रमवती लौकिकपरीक्षकैरध्यक्षं समीक्ष्यते। अन्यच्चेदं चूर्णपिण्डयोरानन्तर्यमन्यच्च पिण्डघटयोरन्यच्च घटकपालयोरन्यच्च कपालकणयोः, एकत्र परस्यान्यत्र पूर्वत्वात्। सोऽयं क्रमभेदः परिणाम एकस्मिन्ननवकल्पमानः परिणामभेदमापादयति। एकोऽपि च मृद्धर्मी क्रमोपनिपतिततत्तत्सहकारिसमवधानक्रमेण क्रमवतीं परिणामपरम्परामुद्वहन् नैनामाकस्मिकयतीति भावः। धर्मपरिणामान्यत्ववल्लक्षणपरिणामान्यत्वेऽवस्थापरिणामान्यत्वे च समानं क्रमान्यत्वं हेतुरिति।

सूत्र है—'**क्रमेति।**'

शङ्का—क्या एक '**धर्मी**' का '**धर्मलक्षणावस्थारूप**' एक ही परिणाम होता है? अथवा धर्म, लक्षण तथा अवस्था रूप से अनेक परिणाम होते हैं? इन दो विकल्पों में से कौन सा विकल्प युक्तिसंगत है? पूर्वपक्षी स्वमत को उपस्थित करता हुआ कहता है कि एक धर्मी का एक ही परिणाम होता है, क्योंकि एक कारण से अनेक कार्य उत्पन्न होने संभव नहीं हैं। अन्यथा (एक धर्मी के अनेक धर्म मानने पर) कार्य में कादाचित्कत्व प्रसंग आयेगा। अर्थात् धर्मी=कारण से कब कौन सा धर्म=कार्य उत्पन्न हो रहा है, ऐसा सुनिश्चित नहीं रहेगा।

समाधान—इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर सिद्धान्ती कहता है—'**क्रमान्यत्व**' से '**परिणामान्यत्व**' (निर्धारित) होता है। एक ही मृत्तिका की मृच्चूर्ण, मृत्पिण्ड, मृद्घट, मृत्कपाल और मृत्कण के आकार वाली क्रमिक परिणाम-परम्परा लौकिक परीक्षकों द्वारा देखी जाती है। मृच्चूर्ण और मृत्पिण्ड का आनन्तर्यरूप क्रम अन्य (भिन्न प्रकार का) है, मृत्पिण्ड और मृद्घट का आनन्तर्यरूप क्रम भिन्न है, मृद्घट और मृत्कपाल का क्रम भिन्न है और मृत्कपाल तथा मृत्कण का क्रम पृथक् है। '**पूर्व**' की अपेक्षा दूसरा '**पर**' होता है तथा तीसरे की अपेक्षा दूसरा '**पूर्व**' होता है। (जैसे चूर्ण की अपेक्षा से परवर्ती पिण्डरूप धर्म में घट की अपेक्षा से पूर्वत्व है। इस प्रकार सापेक्ष धर्मधर्मिभाव सिद्ध होता है)। इस प्रकार का क्रमभेद एक ही परिणाम में कल्पित न होता हुआ परिणामभेद को सिद्ध करता है। (पूर्वपक्षी द्वारा एक धर्मी के परिणामभेद वाले पक्ष में लगाये गये आकस्मिकत्व दोष का निराकरण करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं)—किञ्च मृत्तिकारूप धर्मी के एक होते हुए भी वह क्रम से प्राप्त तत्तत् सहकारिकारण के क्रम से क्रमयुक्त परिणामपरम्परा को धारण

करता हुआ 'क्रमपरम्परा को आकस्मिक नहीं होने देता है। जैसे धर्मपरिणाम के **अन्यत्व**' में '**क्रमान्यत्व**' हेतु है, वैसे लक्षणपरिणाम तथा अवस्थापरिणाम के '**अन्यत्व**' (भिन्नत्व) में '**क्रमान्यत्व**' हेतु है।

बालप्रिया–

'**प्रसक्ते**'–भाष्य में कहीं-कहीं '**प्रसक्ते**' इस सप्तम्यन्त पद की जगह **प्रसक्तेः** ऐसा पाठ मिलता है। ऐसी स्थिति में कहा जाता है कि–'**प्रसक्तेरिति पाठे तु इति प्रसङ्गं परिहर्त्तुमित्येवं ल्यब्लोपे पञ्चमी बोध्या।**'

'**लौकिकपरीक्षकैः**'–अप्राप्तशास्त्रजन्य धीप्रकर्षवान् को '**लौकिक**' तथा प्राप्तशास्त्र-जन्य धीप्रकर्षवान् को '**परीक्षक**' कहते हैं। इस प्रकार '**लौकिकपरीक्षक**' पद द्वारा '**शास्त्रज्ञ**' और '**अशास्त्रज्ञ**' दोनों का ग्रहण होता है।

'**एकत्र परस्य**'–स्पष्टीकरण इस प्रकार है–**चूर्णापेक्षया परस्य पिण्डरूपधर्मस्य घटा-पेक्षया पूर्वत्वादित्यर्थः। एतेनापेक्षिको धर्मधर्मिभाव इत्यपि ध्वनितम्।** ध्यातव्य है कि घटो-त्पत्ति में मृद्धर्मी का क्रम चूर्णमृत्, पिण्डमृत् और घटमृत् के रूप में तथा घटलय में मृत्तिकाक्रम कपालमृत् और कणमृत् के रूप में भाष्य में वर्णित हुआ है।

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार सारांश रूप से पूर्वकथित स्ववक्तव्य को भाष्य द्वारा प्रमाणित करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

तदेतद्भाष्येणावद्योत्यते–एकस्य धर्मिण इति। क्रमक्रमवतोरभेदमास्थाय स तस्य क्रम **इत्युक्तम्। तथावस्थापरिणामक्रम इति। तथा हि–कीनाशेन कोष्ठागारे प्रयत्नसंरक्षिता** अपि **हि व्रीहयो हायनैरतिबहुभिः पाणिस्पर्शमात्रविशीर्यमाणावयव**[1]**संस्थानाः परमाणुभावमनु-भवन्तो दृश्यन्ते। न चायम**[2]**भिनवानामकस्मादेव प्रादुर्भवितुमर्हति। तस्मात्क्षणपरम्पराक्रमेण** [3]**सूक्ष्मतमसूक्ष्मतरसूक्ष्मबृहद्बृहत्तरबृहत्तमादिक्रमेण** [4]**प्राप्तेषु विशिष्टोऽयं लक्ष्यत इति।**

यही तथ्य भाष्यकार द्वारा द्योतित किया जा रहा है–'**एकस्य धर्मिण** इति।' भाष्यार्थ पीछे द्रष्टव्य है। '**क्रम**' और '**क्रमवान्**' के अभेद को स्थापित करके भाष्यकार ने '**स तस्य क्रमः**' कहा है अर्थात् धर्मी के धर्मरूप क्रम को इंगित किया है। तत्त्व-वैशारदीकार आगे के भाष्य को उठाते है–'**तथावस्थापरिणामक्रम इति।**' भाव यह है–

---

1. क ग छ–**संस्थानाच्च**, ख घ च ज झ त थ द ध न–**संस्थानाः**।
2. क ख ग घ च ज झ त थ द ध न–**अभिनवानां**, छ–**अभिनवान्**।
3. क थ द ध–**सूक्ष्मतमसूक्ष्मतरसूक्ष्मबृहद्बृहत्तरबृहत्तमादि०**, ख–**सूक्ष्मसूक्ष्मतमबृहद्बृहत्तरबृहत्त-मादि०**, ग–घ च छ ज झ त–**सूक्ष्मसूक्ष्मतरसूक्ष्मतमबृहद्बृहत्तरबृहत्तमादि०**, न–**सूक्ष्मसूक्ष्मतर-सूक्ष्मतमबृहत्तमादि०**।
4. क च छ थ द ध–**प्राप्तेषु**, ख ग घ ज झ त न–**प्रान्तेषु**।

कृषीवल (कृषक) द्वारा भण्डारगृह में प्रयत्नपूर्वक रक्षित धान्य भी बहुत वर्षों के पश्चात् हाथ के स्पर्शमात्र से विश्रृंखलित अवयवसंस्थान वाले होकर परमाणुवत् अर्थात् कण-कण के रूप में दिखलाई पड़ते हैं। यह जो व्रीहि का विशीर्णतापूर्वक परमाणुभाव के समान हो जाना है, वह अकस्मात् एक ही क्षण में तो हो नहीं सकता है। अतः क्षणपरम्पराक्रम से सूक्ष्मतम, सूक्ष्मतर, सूक्ष्म, बृहत् (स्थूल), बृहत्तर (स्थूलतर) और बृहत्तम (स्थूलतम) आदि क्रम में प्राप्त होने पर धान्यों में यह विशिष्ट '**अवस्थापरिणामक्रम**' सिद्ध होता है।

बालप्रिया–

'**कीनाशेन**'–(क्लिश् कन्, ई उपधाया इत्वम् लस्य लोपो नुमागमश्च) '**कीनाश**' शब्द का अर्थ है–**भूमिधर**।

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार धर्म-धर्मी के '**भेदपक्ष**' को लेकर विचार करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

तदिदं क्रमान्यत्वं धर्मधर्मिभेदपक्ष एवेत्याह–त एत इति। आ विकारेभ्य आ चालिङ्गादापेक्षिको धर्मधर्मिभावो मृदादेरपि तन्मात्रापेक्षया धर्मत्वादित्याह–धर्मोऽपीति।

इस प्रकार का यह पूर्वोक्त '**क्रमान्यत्व**' धर्म-धर्मी के '**भेदपक्ष**' को ही लेकर है, ऐसा भाष्यकार कहते हैं–'**त एत इति**।' ये जो तीन प्रकार के धर्म, लक्षण तथा अवस्थाक्रम हैं, वे धर्म-धर्मी के भेद रहने पर ही सिद्ध होते हैं। निखिल घटादि विकारों से लेकर '**अलिङ्ग**'=प्रकृति तक आपेक्षिक धर्मधर्मिभाव है, क्योंकि घटादि धर्म का मृत्तिकादि धर्मी भी तन्मात्र (गन्धतन्मात्र) की अपेक्षा (दृष्टि) से धर्मता को प्राप्त होती है, इसी बात को भाष्यकार कहते हैं–'**धर्मोऽपीति**।' जो अपने कारण की अपेक्षा से '**धर्म**' है वही दूसरे कार्यरूप धर्म को अभिव्यक्त करने से '**धर्मी**' हो जाता है। जैसे प्रकृति-धर्मी का धर्मभूत महत् स्वधर्म (स्वकार्य) रूप अहंकार की दृष्टि से '**धर्मी**' कहा जाता है।

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार धर्म-धर्मी के '**अभेदपक्ष**' को लेकर विचार करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

यदा परमार्थधर्मिण्यलिङ्गेऽभेदोपचारप्रयोगस्तद्द्वारेण सामानाधिकरण्यद्वारेण धर्म्येव धर्म इति यावत् तदैक एव परिणामो धर्मिपरिणाम एवेत्यर्थः, धर्मलक्षणावस्थानां धर्मिस्वरूपाभिनिवेशात्। तदनेन धर्मिणो दूरोत्सारितं कूटस्थनित्यत्वमित्युक्तप्रायम्।

शङ्का–जब महत्तत्व से लेकर घटादिपर्यन्त जितने विकार हैं, वे सभी '**धर्मी**' हैं तो 'एक '**प्रकृति**' ही सर्व विकार का '**धर्मी**' है', यह जो प्रकृत शास्त्र का सिद्धान्त है–उसकी क्या गति होगी?

समाधान–इस संभावित आशंका के निवारणार्थ ही आगे कहा जा रहा है कि)–जब परमार्थधर्मी=निरपेक्ष धर्मी '**प्रकृति**' में महदादि धर्मों का अभेदोपचार होता है, तब सामानाधिकरण्य के द्वारा धर्मी ही धर्म हो जाता है। अर्थात् धर्मी धर्मस्वरूप कहलाता है। कार्य-कारण के ऐसे अभेदोपचार की स्थिति में ही एक ही परिणाम होता है और वह है '**धर्मिपरिणाम**।' धर्म, लक्षण तथा अवस्था का तो धर्मी में ही अन्तर्भाव (प्रवेश) हो जाता है। एतावता '**धर्मी**' पर आरोपित '**कूटस्थनित्यता**' का दोष भी दूरतः अपसृत हो जाता है।

तत्त्ववैशारदी

धर्मपरिणामं प्रतिपादयन्प्रसङ्गेन चित्तधर्माणां प्रकारभेदमाह–चित्तस्येति। परिदृष्टाः प्रत्यक्षाः। अपरिदृष्टाः परोक्षाः। तत्र प्रत्ययात्मकाः प्रमाणादयः, रागादयस्[1]तु वस्तुमात्रा इत्यप्रकाशरूपतामाह। स्यादेतत्–अपरिदृष्टाश्चेन्न सन्त्येवेत्यत आह–[2]अनुमानेति। अनुमानेन प्रापितो वस्तुमात्रेण [3]सद्भावो येषां ते तथोक्ताः। पश्चान्मानसाधर्म्यादागमोऽप्यनुमानम्।

धर्मपरिणाम की व्याख्या करते हुए भाष्यकार चित्त के धर्मों के प्रकारभेद को प्रसङ्गतः बताते हैं–'**चित्तस्येति**।' चित्त के दो प्रकार के धर्म हैं–परिदृष्ट तथा अपरिदृष्ट। '**परिदृष्ट**' शब्द का अर्थ है–**प्रत्यक्ष**। '**अपरिदृष्ट**' पद का अर्थ है–**परोक्ष**। चित्त के परिदृष्ट धर्म '**प्रत्ययात्मक**' हैं और अपरिदृष्ट धर्म '**वस्तुमात्रात्मक**' हैं। इनमें से चित्त के '**प्रमाणादि**' धर्म '**प्रत्ययात्मक**' हैं (चित्त की प्रमाणादि वृत्तियाँ ज्ञानरूप होने से परिदृष्ट धर्म वाली हैं) और '**रागादि**' धर्म '**वस्तुमात्रात्मक**' हैं। वस्तुमात्रात्मक रागादि चित्तधर्म से उनकी अप्रकाशरूपता कही गई है।

शङ्का–चित्त के जो धर्म '**अप्रकाशरूप**' अर्थात् प्रत्यक्षयोग्य नहीं हैं, उनका अस्तित्व ही स्वीकार न किया जाय?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**अनुमानेनेति**।' अनुमान प्रमाण द्वारा '**वस्तुमात्र**' से जिनका सद्भाव (अस्तित्व) अनुमित होता है, इस प्रकार के ये '**अपरिदृष्ट**' चित्तधर्म हैं। भाष्य में कथित '**अनुमानेन**' पद से '**आगमेन**' पद का भी संग्रह होता है–इस ओर ध्यान आकृष्ट कराते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं कि प्रत्यक्ष के पश्चात् होने का साधर्म्य अनुमान के समान आगम में भी है, इसलिये आगमप्रमाण भी अनुमान है।

---

1. क ग घ छ ज झ त न–तु, ख च थ द ध–**च**।
2. थ द ध–**अनुमानेति** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न–**अनुमानेति** नोपलभ्यते।
3. क ख घ च छ ज झ त थ द ध न–**सद्भावः**, ग–**यद्भावः**।

बालप्रिया–

'पश्चान्मानसाधर्म्यादागमोऽप्यनुमानम्'–तत्त्ववैशारदीकार द्वारा कथित इस उद्घोष के मूल में एक शंका अन्तर्निहित है। शंका का स्वरूप इस प्रकार है–

शङ्का–चित्त के वक्ष्यमाण **'निरोध'** तथा **'धर्म'** संज्ञक अपरिदृष्ट धर्म तो आगमगम्य हैं, तो फिर यह कैसे कहा गया है कि चित्त के अपरिदृष्ट धर्मों का सद्भाव अनुमान-गम्य है। अर्थात् निरोधादि में अनुमानमात्रप्रापितसद्भावत्व है?

समाधान–उक्त शंका के समाधानार्थ तत्त्ववैशारदीकार का तार्किक अनुशीलन इस प्रकार है–**'पश्चान्मान'** पद का अर्थ है–**'प्रत्यक्षादनु'**। इस प्रकार प्रत्यक्ष के पश्चात् जो प्रमाण होता है, उसे अनुमान कहते हैं। **'पश्चान्मानमित्यनुमानम्'**–के अनुसार प्रत्यक्ष के पश्चात् होने वाला आगमप्रमाण भी अनुमानप्रमाण है। अतः **'आगम'** पद अनुमान का वाचक है। निष्कर्षतः चित्त के **'निरोध'** और पुण्यापुण्यरूप **'धर्म'** आगम-गम्य हैं, ऐसा कहने का तात्पर्य यही है कि वे आगम और अनुमान उभयप्रमाण-गम्य हैं।

सम्प्रति, चित्त के **'अपरिदृष्ट'** धर्म का नामसंकीर्तनपूर्वक व्याख्यान प्रस्तुत हो रहा है–

तत्त्ववैशारदी

सप्तापरिदृष्टान् कारिकया संगृह्णाति–निरोधेति। निरोधो वृत्तीनामसंप्रज्ञातावस्था चित्तस्यागमतः संस्कारशेषभावोऽनुमानतश्च समधिगम्यते। धर्मग्रहणेन पुण्यापुण्ये उपलक्षयति। क्वचित्कर्मेति पाठः। तत्रापि तज्जनिते पुण्यापुण्ये एव गृह्येते। ते चागमतः सुखदुःखोपभोग-दर्शनाद्वानुमानतो गम्येते। संस्कारस्तु स्मृतेरनुमीयते। एवं त्रिगुणत्वाच्चित्तस्य चलं च गुणवृत्तमिति प्रतिक्षणं परिणामोऽनुमीयते। एवं जीवनं प्राणधारणं प्रयत्नभेदोऽ[1]संविदितश्चित्तस्य धर्मः श्वासप्रश्वासाभ्यामनुमीयते। एवं चेतसश्चेष्टा क्रिया [2]तथा यथा तैस्तैरिन्द्रियैः शरीरप्रदेशैर्वा [3]संप्रयुज्यते, सापि तत्संयोगादेवानुमीयते। एवं शक्तिरप्यु[4]द्भूतानां कार्याणां सूक्ष्मावस्था चेतसो धर्मः स्थूलकार्यानुभवादेवानुमीयत इति ॥१५॥

भाष्यकार कारिका द्वारा चित्त के उक्त सात **'अपरिदृष्ट'** धर्मों को संगृहीत करते हैं–**'निरोधेति।'** वृत्तियों का **'निरोध'** धर्म चित्त की असम्प्रज्ञातावस्था है, ऐसा आगम से विदित होता है। चित्त का यह **'निरोध'** धर्म **'संस्कारशेषभावरूप'** है, ऐसा अनुमान से ज्ञात होता है। भाव यह है कि **'निरोध'** चित्त का **'अपरिदृष्ट'** धर्म है। 'किसका निरोध

---

1. क ख ग घ च त थ–**असंविदितः**, छ ज–**असंविदित०**, झ–**असंविदितम्**।
2. क ख ग घ च छ ज झ त द ध–**यथा यथा**, न–**तथा यथा**, थ–**तथा तथा**।
3. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न–**संप्रयुज्यते**, ख–**संयुज्यते**।
4. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न–**उद्भूतानां कार्याणां सूक्ष्मावस्था**, झ–**उद्भूता सूक्ष्मावस्था**।

होता है?–ऐसी जिज्ञासा के शमनार्थ तत्त्ववैशारदीकार ने '**वृत्तीनाम्**' पद का प्रयोग किया है। सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ इस प्रकार होता है–चित्त की निखिल वृत्तियों का '**निरोध**' धर्म; जो असम्प्रज्ञातावस्थारूप है, योगशास्त्र (आगम) द्वारा जानने योग्य है तथा चित्त के सर्ववृत्तिनिरोध की '**संस्कारशेषत्व**' स्थिति अनुमानगम्य है। '**धर्म**' चित्त का दूसरा '**अपरिदृष्ट**' धर्म है। यहाँ '**धर्म**' शब्द से (धर्माधर्मजनित) '**पुण्यापुण्य**' दोनों उपलक्षित होते हैं। श्लोक में जहाँ '**धर्म**' पद की जगह '**कर्म**' ऐसा पाठभेद मिलता है वहाँ भी '**कर्मजन्य**' पाप-पुण्य ही गृहीत होते हैं। चित्त के ये 'पुण्यापुण्य' रूप धर्म आगमगम्य हैं अथवा सुख-दुःख का उपभोग दिखाई पड़ने से ये अनुमानगम्य हैं। भाव यह है कि अध्यात्मपरक शास्त्रों ने तो कर्मजन्य पाप-पुण्य का तुमुलघोष किया ही है, किन्तु प्राणियों को सुख-दुःख का उपभोग करते हुए देखकर सुखदुःख-रूप कार्यलिङ्गक अनुमान से चित्त के '**पुण्यापुण्यरूप**' धर्म का अनुमान भी किया जाता है। '**संस्कार**' चित्त का तीसरा '**अपरिदृष्ट**' धर्म है। स्मृति से '**संस्कार**' का अनुमान किया जाता है। भाव यह है कि अनुभवजन्य संस्कार स्मृति का उत्पादक होता है। अतः स्मृतिरूप कार्यलिङ्गक अनुमान से उसके जनक '**संस्कार**' का अनुमित्यात्मक ज्ञान होता है। जैसे धूमकार्य अपने कारण वह्नि का अनुमान कराता है। 'परिणाम' चित्त का चौथा '**अपरिदृष्ट**' धर्म है। चित्त के त्रिगुणात्मक होने से '**चलञ्च गुणवृत्तम्**' अर्थात् 'गुणवृत्त चञ्चल स्वभाव वाला है'–इस न्याय द्वारा चित्त का प्रतिक्षणिक '**परिणाम**' धर्म अनुमित होता है। '**जीवन**' चित्त का पांचवाँ '**अपरिदृष्ट**' धर्म है। 'जीवन' शब्द का अर्थ है–**प्राणधारण**। अर्थात् प्राणधारक शक्ति को '**जीवन**' कहते हैं। ('जीवन' शब्द से प्राणादि पञ्च वायु का ग्रहण होता है)। चित्त का यह अपरिदृष्ट 'जीवन' धर्म एक '**प्रयत्नविशेष**' है, जो श्वास-प्रश्वास से अनुमित होता है। '**चेष्टा**' चित्त का छठा '**अपरिदृष्ट**' धर्म है। '**जीवन**' धर्म के समान '**चेष्टा**' भी चित्त की एक क्रिया है। चित्त का तत्-तत् ज्ञानेन्द्रियों अथवा शरीरप्रदेशों (कर्मेन्द्रियों) के साथ जो संयोग संबंध होता है, उसी से चित्तगत '**चेष्टा**' धर्म का अनुमान किया जाता है। भाव यह है कि '**चेष्टा**' के विना चित्त का ज्ञानेन्द्रिय अथवा कर्मेन्द्रिय के साथ संयोग नहीं होता है। परिणामस्वरूप इन्द्रियाँ अपने ज्ञानात्मक अथवा कर्मात्मक व्यापार को नहीं कर पाती हैं। अतः ज्ञान और क्रिया के हेतुभूत तत्तद् इन्द्रियसंयोग से चित्तनिष्ठ '**चेष्टा**' धर्म का अनुमान किया जाता है। '**शक्ति**' चित्त का सातवाँ '**अपरिदृष्ट**' धर्म है। उद्भूत कार्यों की जो '**सूक्ष्मावस्था**' है, उसे '**शक्ति**' कहते हैं। यह '**शक्ति**' भी चित्त का धर्म है। इसका रागादिरूप स्थूल कार्य के ज्ञान से अनुमान किया जाता है। अर्थात् चित्त में उद्भूत रागादि धर्मों से उसमें अन्तर्निहित रागादि की सूक्ष्म '**शक्ति**' का अनुमान किया जाता है॥१५॥

योगवार्त्तिकम्

नन्वस्तु धर्मी धर्मातिरिक्तः, तथाऽप्येकस्य धर्मिण एक एव परिणामोऽस्तु, एकस्य नानापरिणामाङ्गीकारे सहकारिभेदकल्पनागौरवादित्याशङ्कायामेकस्य धर्मिणः परिणामभेदं साधयति एकस्य धर्मिण आगामिसूत्रवक्ष्यमाणपरिणामत्रयसिद्धये—क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः।

शङ्का—ठीक है '**धर्म**' से अतिरिक्त '**धर्मी**' रहे तो भी एक धर्मी का एक ही परिणाम होना चाहिये, क्योंकि एक धर्मी का नानाविध परिणाम स्वीकार करने पर सहकारिकारणभेद की कल्पना का गौरवदोष उपस्थित होगा?

समाधान—ऐसी आशंका होने पर सूत्रकार एक '**धर्मी**' के '**परिणामभेद**' अर्थात् अनेक परिणाम को सिद्ध करते हैं, क्योंकि आगामी सूत्र में एक चित्त-धर्मी के वक्ष्यमाण '**परिणामत्रय**' को सिद्ध किया जाना है। सूत्र है—'**क्रमेति**।'

योगवार्त्तिकम्

एकस्य धर्मिणः परिणामनानात्वे क्रियाभेदो हेतुर्लिङ्गमित्यर्थः। आशङ्कापूर्वकं सूत्रं व्याचष्टे—**एकस्येति**। भवतीति सिद्धान्त इति शेषः। हेतुत्वं प्रतिपादयितुमादौ धर्मपरिणामविषये **धर्मिणः** क्रमं दर्शयति—**चूर्णेति**। एकैव मृत् प्रथमं चूर्णमृत्तिष्ठति, ततः पिण्डमृद्भवति, ततश्च घटमृदिति। घटोत्पत्तौ मृद्धर्मिणः क्रमं प्रतिपाद्य घटलयेऽपि मृदः क्रममाह—**कपालमृत्कणमृदिति**। चशब्देनान्यपरिणामविषयेऽपि क्रमः समुच्चीयते। सर्वत्र मृच्छब्दो मृद्धर्मिण एकत्वप्रतिपादनार्थः, एकस्य सामान्यात्मकस्य मृद्धर्मिणोऽनङ्गीकारे मृदित्यनुगतप्रत्ययो न स्यादिति भावः। ननु धर्माणामेव क्रमः पौर्वापर्यात्मा संभवति न तु धर्मिण इत्याशङ्कायां प्रकृतेः क्रमं लक्षयति—**यो यस्येति**। यस्य धर्मिणो धर्मान्तरस्य समनन्तरो यो धर्मः स एव तस्य धर्मिणः क्रम इत्यर्थः। तथा च मृदेकैव चूर्णं भूत्वा पश्चात् पिण्डो भवतीत्येकः क्रमः, पश्चाच्च घट इत्यादिक्रमैर्मृद्धर्मिण एव क्रमबहुत्वमिति भावः। धर्माणां क्रमस्यैवात्र विवक्षितत्वे तु तेषां क्रमनानात्वेऽप्येकस्य धर्मिणः परिणामबहुत्वं न सिध्यतीति भाष्यकाराशयः। परिणामत्रयेऽपि क्रममुदाहरति—**पिण्डः प्रच्यवत** इत्यादिना **नातीतस्यास्ति क्रम इति**। लक्षणाल्लक्षणान्तरप्राप्तिरूपः क्रमो नातीतस्येत्यर्थः। धर्मपरिणाम इवावस्थापरिणामे प्रतिक्षणक्रमो न प्रत्यक्षीक्रियत इति तमनुमानेन साधयति—**घटस्याभिनवस्येति**। प्रान्त इति शेषः। **सा चेति**। सा च पुराणता क्षणपरम्पराऽनुपातिना प्रतिक्षणं भिन्नेन स्वरूपसत्ताक्रमसमूहेनै[1]वाभिव्यज्यमाना भवन्ती [2]चरमावस्थायां स्फुटप्रत्यक्षगोचरतामेति। अतः पुराणताऽभिव्यक्तिहेतुतया प्रतिक्षणमवस्थापरिणामोऽनुमीयत इति शेषः। प्रतिक्षणपरिणामतो यत्सिध्यति तदाह—**धर्म-**

---

1. क—वा, ख ग घ च छ—एव।
2. क ग घ च छ—चरम०, ख—परम०।

लक्षणाभ्यामिति। विशिष्टोऽतिशयितः, धर्मलक्षणपरिणामयोः प्रतिक्षणमनुत्पादादवस्था-परिणामस्य च प्रतिक्षणमुत्पादादित्यर्थः। तथा चोक्तं मनुना–

घोरेऽस्मिन्हन्त संसारे नित्यं सततघातिनि। इति।

स्मृत्यन्तरेषु च–

नित्यदा ह्यङ्ग भूतानि भवन्ति न भवन्ति च।
कालेनालक्ष्यवेगेन सूक्ष्मत्वात्तन्न दृश्यते॥

इत्यादि च। पुराणे चात एव चतुर्विधः प्रलय उक्तः–

नित्यो नैमित्तिकश्चेति प्राकृतात्यन्तिकौ तथा॥ इति।

नित्यः प्रतिक्षणं जायमानः। एतेन स्वप्नमायाऽऽदिदृष्टान्ता अपि प्रपञ्चस्य क्षण-भङ्गुरत्वेनैव श्रुतिस्मृतिष्वभिप्रेता इति।

एक '**धर्मी**' के परिणाम की '**नानात्मकता**' में क्रियाभेद (व्यापार-वैचित्र्य) '**हेतु**' अर्थात् '**लिङ्ग**' है। अर्थात् क्रियाभेदरूप हेतु से धर्मी के परिणाम का वैविध्य अनुमित होता है। भाष्यकार उक्त आशंका को ध्यान में रखकर सूत्र की व्याख्या करते हैं– '**एकस्येति**।' '**भवतीति**'–यह सिद्धान्तवाक्य का शेष है। अर्थात् '**भवतीति**' के द्वारा भाष्यकार ने योगसिद्धान्त की ओर संकेत किया है। प्रत्येक धर्मी के परिणामभेद में '**हेतु**' को प्रतिपादित करने के लिये भाष्यकार '**धर्मपरिणाम**' के विषय में धर्मी के क्रम को अर्थात् '**धर्मी**' के धर्मपरिणामघटक '**क्रम**' को सर्वप्रथम प्रदर्शित करते हैं–'**चूर्णेति**।' जैसे एक ही मृत्तिका धर्मी सर्वप्रथम चूर्णमृत् (मृच्चूर्ण) के रूप में अवस्थित रहती है, तदनन्तर मृच्चूर्ण मृत्पिण्ड के आकार वाला हो जाता है और तत्पश्चात् मृत्पिण्ड मृद्घट के रूप में परिणाम को प्राप्त होता है। अर्थात् मृत्तिकारूप कारण-धर्मी से घटरूप कार्य-धर्म उक्त क्रम से अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार घटोत्पत्ति के प्रति मृद्धर्मी के परिणामक्रम को प्रतिपादित करके भाष्यकार घट-लय के विषय में भी मृद्धर्मी के क्रम को बताते हैं–'**कपालमृत्कणमृदिति**।' यहाँ '**च**' शब्द के द्वारा अन्य धर्मिविषयक परिणाम के भी तत्तत् क्रमविशेष को समुच्चित किया गया है। (मृत्तिकारूप '**धर्मी**' के मृच्चूर्ण, मृत्पिण्ड तथा मृद्घटरूप '**धर्मपरिणाम**' के प्रतिपादित क्रम में) सर्वत्र '**मृत्**' शब्द '**मृद्धर्मी**' के एकत्व को प्रतिपादित करने के उद्देश्य से प्रयुक्त हुआ है। यदि '**सामान्य**' अर्थात् जाति रूपात्मक एक मृद्धर्मी को स्वीकार न किया जाय तो मृद्धर्मी के घटाकार धर्मपरिणाम में होने वाली मृच्चूर्ण, मृत्पिण्ड तथा मृद्घट रूप से मृत्-धर्मी की एकाकार प्रतीति (एकत्वोपलब्धि) नहीं हो सकेगी।

शङ्का–उपरिनिर्दिष्ट पौर्वापर्यात्मक क्रम '**धर्मों**' का ही संभव हो सकता है न कि '**धर्मी**' का, अतः धर्मी का परिणामबहुत्व अनुपपन्न है?

समाधान–ऐसी आशंका होने पर भाष्यकार प्रकृति-धर्मी के क्रम को संकेतित करते हैं–**'यो यस्येति।'** धर्मिरूप धर्मान्तर का जो अव्यवहित परवर्ती (समनन्तर) धर्म है वही पूर्ववर्ती धर्मरूप धर्मी का **'क्रम'** अर्थात् क्रमिक परिणाम है। उदाहरणार्थ एक ही मृत्तिका चूर्णाकार होकर बाद में (सहकारिकारण से) पिण्डाकार हो जाती है–यह मृद्धर्मी का एक प्रकार का अवस्थापरिणामक्रम है। तत्पश्चात् 'यह घट है' इत्यादि क्रम से मृद्धर्मी का ही क्रमबहुत्व अभिहित होता है। भाष्यकार के इस कथन का अभिप्राय यह है कि वस्तुतस्तु घटादि धर्मों का ही क्रम यहाँ विवक्षित है। इससे धर्मों का **'क्रमनानात्व'** होने पर भी एकरूप धर्मी का परिणामबहुत्व सिद्ध नहीं होता है। भाष्यकार धर्म, लक्षण तथा अवस्था संज्ञक तीन प्रकार के परिणामों के क्रम को भी उदाहृत करते हैं–**'पिण्डः प्रच्यवते'** इत्यादि से लेकर **'नातीतस्यास्ति क्रमः'** यहाँ तक के भाष्य से **'लक्षण'** से **'लक्षणान्तर'** का प्राप्तिरूप क्रम अतीत का नहीं होता है अर्थात् अनागत से वर्तमानलक्षणक्रम की भाँति **'अतीतलक्षण'** का **'लक्षणान्तररूप'** वर्तमानलक्षण **'क्रम'** नहीं होता है। जिस प्रकार मृत्तिकारूप धर्मी का कपालादिरूप **'धर्मपरिणाम'** प्रत्यक्षयोग्य होता है उस प्रकार धर्मपरिणाम में प्रतिक्षण होने वाला **'अवस्थापरिणाम'** प्रत्यक्षयोग्य नहीं होता है। अतः भाष्यकार अवस्थापरिणाम के प्रतिक्षणिक क्रम को अनुमानप्रमाण से सिद्ध करते हैं–**'घटस्याभिनवस्येति।' 'प्रान्त इति'**–यह वाक्यशेष है। आगे का भाष्य है–**'सा चेति।'** धर्मनिष्ठ पुरातनता (क्षीणता) क्षणपरम्परा से अनुगत=युक्त होने के कारण प्रतिक्षण भिन्न स्वरूपसत्ता के क्रमसमूह (पृथक्-पृथक् स्वरूपक्रम की सघनता) से ही अभिव्यक्तता को प्राप्त होती हुई परिणाम की अन्तिम अवस्था में स्पष्टतः प्रत्यक्ष की विषयता को प्राप्त करती है। अतः धर्मनिष्ठ पुराणता अभिव्यक्ति का हेतु होने से उससे प्रतिक्षण होने वाला **'अवस्थापरिणाम'** अनुमित होता है। धर्म का प्रतिक्षण परिणाम होने से जो तथ्य सिद्ध होता है उसे भाष्यकार कहते हैं–**'धर्मलक्षणाभ्यामिति।'** भाष्यगत **'विशिष्ट'** शब्द का अर्थ अतिशयित अर्थात् विलक्षण है। **'धर्मपरिणाम'** और **'लक्षणपरिणाम'** के प्रतिक्षण न होने से और **'अवस्थापरिणाम'** के प्रतिक्षण होने से ही अवस्थापरिणाम अन्य दो परिणामों से विशिष्ट (भिन्न) है। जैसा कि मनु ने कहा है–**'घोरे...घातिनि'** (मनु. स्मृ. १/५०) अर्थात् 'जन्म- मरणादि से भयंकर तथा सर्वदा विनाशशील इस संसार में (ब्रह्मा से लेकर स्थावर तक की गतियों को मैंने देखा)।' इसी प्रकार स्मृत्यन्तरों में (भी प्रकृतिरूप धर्मी के महदादि धर्मरूप संसार का प्रतिक्षण होने वाला परिणाम वर्णित है)–**'नित्यदा...दृश्यते'** (श्रीमद्भागवत ११/२२/४२) अर्थात् 'हे अङ्ग! नित्यरूप से भूत होते हुए भी नहीं होते हैं। अपरिदृष्ट काल की गति से प्रतिक्षण परिणाम होता हुआ भी सूक्ष्म होने से दिखाई नहीं पड़ता है।' इसीलिये पुराणों में चार प्रकार

की प्रलय कही गई है–'**नित्यो...तथा**' (कू. पु. ४३/५) अर्थात् 'नित्य प्रलय, नैमित्तिकप्रलय, प्राकृत प्रलय तथा आत्यन्तिक प्रलय–ये चार प्रलय हैं।' इनमें से प्रतिक्षण परिणाम को प्राप्त होने वाली '**नित्यप्रलय**' है। इससे श्रुति, स्मृति आदि शास्त्रों में स्वप्न, माया आदि के दृष्टान्त भी जगत् की क्षणभंगुरता के रूप से ही 'विवक्षित हैं। अर्थात् स्वप्न, माया आदि के दृष्टान्त जगत् के प्रतिक्षण परिणाम को सिद्ध करते हैं।

योगवार्त्तिककार आगे वार्त्तिक लिखते हैं–

योगवार्त्तिकम्

सूत्रतात्पर्यार्थमाह–**त एत इति। प्रतिलब्धस्वरूपाः प्राप्तसम्भवा इतरथा तु नेत्यर्थः। ननु** धर्मिणोऽपि घटादेः कपालादिधर्मत्वात् **कथं धर्मधर्मिणोर्भेद इति? तत्राह–धर्मोऽपीति। तथा च यो यस्य धर्मी स तस्माद्भिन्न इत्येव नियम इत्यर्थः। नन्वेवं** [1]**धर्मधर्मिलक्षणानां परिणाम-**भेदे कथमे[2]कस्याः प्रकृतेः **सर्वे परिणामा इति श्रूयते–**

इत्येषा प्रकृतिः सर्वा व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी

इत्यादिस्मृतिषु? तत्राह–**यदा त्विति। यदा तु परमार्थधर्मिणि प्रधानेऽभेदोपचारेण** निमित्तेन **सर्वोऽपि धर्मः स एवाभिधीयते तदाऽयं क्रम एकत्वेन एकनिष्ठत्वेनैव प्रतीयत** इत्यर्थः। परमार्थधर्मित्वं **च साक्षात्परम्परया सर्वविकाराश्रयत्वम्, तच्च प्रधानस्यैवास्तीत्यन्ये** [3]अपारमार्थिकधर्मिण **आपेक्षिकत्वात् यथा परिणामिनां सत्यत्वं यथा वा ब्रह्ममीमांसायां जीवानामात्मत्वमपारमार्थिकं तयोरपि शशशृङ्गदेहाद्यापेक्षिकत्वादिति भावः।**

भाष्यकार सूत्र की गूढाभिसन्धि (मन्तव्यार्थ) को बताते हैं–'**त एत इति**। ये तीन प्रकार के जो पूर्वोक्त '**क्रम**' हैं वे धर्म तथा धर्मी का भेद रहने पर ही सम्भव हो सकते हैं, अन्यथा नहीं।

शङ्का–घटादि धर्मी के भी कपालादि धर्म होने से कैसे धर्म-धर्मी में भेद है? अभिप्राय यह है कि मृत्तिका-धर्मी का घट-धर्म कपालादि धर्म का धर्मी होने से उनमें धर्म-धर्मी के भेद को कैसे निर्धारित किया जा सकता है?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**धर्मोऽपीति**।' जिसका जो धर्मी होता है, वह धर्म उस धर्मी से भिन्न ही होता है। अर्थात् जो धर्मी है, वह सर्वदा धर्मी रहे, धर्म नहीं और जो धर्म है, वह सर्वदा धर्म रहे, धर्मी नहीं–ऐसा नियम नहीं है। धर्म-धर्मी में सापेक्ष सम्बन्ध है। जैसे अहंकार को अभिव्यक्त करने वाला महत्-धर्मी प्रकृति-धर्मी का धर्म है।

---

1. क घ च छ–**धर्मधर्मि॰**, ख ग–**धर्मिधर्म॰**।
2. क ख घ च छ–**एकस्याः**, ग–**एकस्यां**।
3. क ख घ च छ–**अपारमार्थिक॰**, ग–**अपारमार्थिकत्व॰**।

शङ्का—इस प्रकार धर्म, धर्मी तथा लक्षण का परिणामभेद मानने पर एक ही प्रकृति-धर्मी के महदादि सब परिणाम हैं, ऐसा स्मृतिशास्त्र में कैसे सुना जाता है— '**इत्येषा...स्वरूपिणी**' (वि. पु. ६/४/३५) अर्थात् 'यह सब व्यक्ताव्यक्त स्वरूप वाली प्रकृति है।'

समाधान—इस पर भाष्यकार कहते हैं—'**यदा त्विति**।' जब परमार्थ '**धर्मी**' प्रधान में निखिल धर्मों का अभेद-व्यवहार होने से यह कहा जाता है कि 'यह प्रकृतिरूप धर्मी ही सभी धर्म वाली है' अर्थात् धर्म धर्म्यात्मक हैं, तब यह लक्षणरूप क्रम एक धर्मिनिष्ठ ही प्रतीत होता है। अर्थात् 'कार्य की अपेक्षा प्रत्येक पदार्थ धर्मी है' यह व्यवहार अपेक्षाकृत काल्पनिक है। किञ्च 'प्रकृति ही सर्व विकार का धर्मी है' यह व्यवहार वास्तविक है। '**परमार्थ-धर्मी**' उसे कहते हैं जो साक्षात् अथवा परम्परया समस्त विकारों का आश्रय होती है और ऐसी पारमार्थिक धर्मिता प्रधान की ही है—ऐसा भी कुछ लोग उपरिनिर्दिष्ट स्मृतिवाक्य का (समन्वित) अर्थ करते हैं, क्योंकि अपारमार्थिक धर्मिता परस्पर सापेक्ष होती है। जैसे परिणामशील महदादियों में धर्मी का व्यावहारिक सत्यत्व अर्थात् प्रकृति की अपेक्षा महदादियों में धर्मि-व्यवहार अपारमार्थिक है, न कि प्रकृति के समान पारमार्थिक। अथवा जैसे वेदान्त-शास्त्र में (ब्रह्म की अपेक्षा) जीवों का आत्मत्व अपारमार्थिक है किन्तु शशशृङ्ग और देहादि की अपेक्षा से ब्रह्म और जीव दोनों का आत्मत्व पारमार्थिक (वास्तविक) है।

बालप्रिया—

'**जीवानामात्मत्वमपारमार्थिकम्**'—तात्पर्य यह है—जिस प्रकार शशशृङ्ग '**अलीक**' है उस प्रकार ये महदादि अलीक नहीं हैं परन्तु ये महदादि प्रकृति की तरह '**सत्य**' अर्थात् नित्य भी नहीं हैं। अतः महदादि में शशशृङ्गादि की अपेक्षया '**सत्यत्व**' और प्रकृति की अपेक्षया '**अपारमार्थिक सत्यत्व**' है। इसी प्रकार देह की अपेक्षा जीव का आत्मत्व पारमार्थिक है, परन्तु ब्रह्म की अपेक्षया जीवों में अपारमार्थिक आत्मत्व है।

सम्प्रति, वार्त्तिककार प्रकृति के '**पारमार्थिक धर्मित्व**' पक्ष की व्याख्या करते हैं—

योगवार्त्तिकम्

अत्र प्रधानस्यैव पारमार्थिकधर्मिकत्वं वदद्भिः भाष्यकारैः परमात्मन एव निरतिशय-सतोऽनापेक्षिकात्मनश्च पारमार्थिकसत्त्वं पारमार्थिकात्मत्वं च श्रुतिस्मृतिसिद्धमनुमतं न्याय-साम्यादिति ध्येयम्। तथाऽभेदोपचारवचनाद् धर्मधर्मिणोर्भेद एव पारमार्थिकः, अविभागमात्रं त्वभेद इत्यप्युक्तमिति। तदित्थं सूत्रगणेन प्रपञ्चः प्रकृतिपरिणाम इति सिद्धान्तितम्। तत्र चारम्भवादिभिः सहास्माकं धर्मधर्म्यभेदसत्कार्ययोरेव विरोधो न तु प्रपञ्चस्याचेतन-

सूक्ष्मद्रव्योपादानकत्वेऽपि, तैरभेदप्रत्ययनियामकस्याविभागलक्षणस्वरूपस्यानङ्गीकारात्; प्रागभावध्वंसयोरङ्गीकाराच्च। ये तु प्रपञ्चस्य ब्रह्मविवर्त्ततावादिनस्तैः सह च नास्माकं विरोधलेशोऽपि वर्त्तते, मायापरिणामस्य प्रपञ्चस्य परमात्मन्यतात्त्विकताया अस्माभिरपीष्टत्वात्, इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते,

बहुरूप इवाभाति मायया बहुरूपया।
रममाणो गुणेष्वस्या ममाहमिति बध्यते॥

इत्यादिश्रुतिस्मृतिषु मायाविकारस्यैव परमात्मन्यध्यारोपावगमात्, शुक्तौ बुद्धिपरिणामरजतारोपवत्। बध्यत इति अंशत इत्यर्थः। यदि च मायायामपि विवर्त्तत्वं प्रपञ्चस्य कश्चिद्वदेत् तदपि परमार्थाभिप्रायेणेष्यत एवास्माभिः मायाऽपेक्षया तत्कार्याणामनित्यत्वेन तामपेक्ष्य मिथ्यात्वाद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमित्यादिश्रौतदृष्टान्तैरेवमेव सिध्येदिति।

भाष्यकार ने तो यहाँ प्रधान को ही पारमार्थिक धर्मी कहा है, किन्तु इससे निरतिशयसत्त्व तथा अनापेक्षिक आत्मत्वस्वरूप परमात्मा का ही श्रुतिस्मृतिसिद्ध '**पारमार्थिक सत्त्व**' और '**पारमार्थिक आत्मत्व**' तुल्यन्याय से अनुमित होता है, ऐसा समझना चाहिये। इस प्रकार धर्म-धर्मी में अभेद औपचारिक (व्यावहारिक) होने से उनका '**पारमार्थिक भेद**' ही सिद्ध होता है। अर्थात् धर्म-धर्मी में भेद ही वास्तविक है, '**अभेद**' तो '**अविभागरूप**' ही है, ऐसा पहले बताया जा चुका है। इस प्रकार परिणामप्रतिपादक सूत्रपुञ्ज के द्वारा यह जगत् अर्थात् प्रपञ्च प्रकृति का परिणाम है, ऐसा सिद्धान्तित होता है। इसमें भी आरम्भवादी नैयायिकों के साथ हम योगाचार्यों का विरोध धर्म-धर्मी के अभेद तथा सत्कार्यपक्ष को ही लेकर है, न कि जगत् के किसी अचेतन सूक्ष्म द्रव्य के उपादानकारण को लेकर मतभेद है। (क्योंकि सांख्ययोग के अनुसार जगत् का उपादानकारण प्रकृति है और नैयायिकों के अनुसार परमाणु है)। धर्म-धर्मी के अभेद पक्ष में योग का नैयायिकों के साथ मतभेद इसलिये है कि वे अभेदज्ञान के नियामकीभूत '**अविभागलक्षण**' को स्वीकार नहीं करते हैं और सत्कार्यवाद के विषय में नैयायिकों का योग के साथ विरोध इसलिये है कि वे प्रागभाव तथा प्रध्वंसाभाव को स्वीकार करते हैं। और जो प्रपञ्च को ब्रह्म का विवर्त मानते हैं, उन वेदान्तियों के साथ हमारा मत किसी भी अंश में विरुद्ध नहीं है, क्योंकि मायारूप प्रकृति के परिणामभूत (कार्यभूत) महदादि प्रपञ्च की परमात्मा (ब्रह्म) में अतात्त्विक स्थिति है, ऐसा हमें भी मान्य है। अतः '**इन्द्रो...ईयते**' (ऋग्वेद ६/४७/१८) अर्थात् 'यह इन्द्र माया के द्वारा बहुरूप दिखाई पड़ता है', '**बहुरूप...बध्यते**' (श्रीमद्भागवत २/९/२) अर्थात् 'एक ही वस्तु बहुत रूप वाली माया से अनेक रूप वाली होकर भासित होती है। गुणों में 'रमण' करता हुआ जीव

'यह मेरा है, यह मैं हूँ' इत्यादि रूप से इस माया से बँधता है'–इस प्रकार के श्रुति, स्मृति वाक्यों के द्वारा परमात्मा (ब्रह्म) में ही मायारूप विकार का अध्यारोप उसी प्रकार विदित होता है जिस प्रकार शुक्ति में बुद्धि के परिणामभूत रजत का आरोप। उपरिनिर्दिष्ट स्मृतिवाक्य का तात्पर्यार्थ बताते हुए वार्त्तिककार कहते हैं कि **'बध्यते'** इस क्रियापद के द्वारा जीव का माया से बँधना आंशिक रूप से विदित होता है। यदि कोई प्रपञ्च के समान (जैसे प्रपञ्च ब्रह्म का विवर्त है) माया में भी ब्रह्म का विवर्त्तत्व कहे तो वह भी पारमार्थिकरूप से हमें इष्ट ही है, क्योंकि माया की अपेक्षा उसके कार्य के अनित्य होने से माया की अपेक्षा उसके कार्यों में मिथ्यात्व है। अतः **'वाचारम्भणं...सत्यम्'** (छा. उप. ६/१/१)–अर्थात् 'विकार कहने मात्र के लिये है, सत्य तो मृत्तिका ही है'–इत्यादि श्रुतिसम्मत दृष्टान्तों से भी यही तथ्य सिद्ध होता है।

सम्प्रति, चित्तपरिणाम का उपसंहार करते हुए वार्त्तिककार आगे कहते हैं–

योगवार्त्तिकम्

तदेवं चित्तपरिणामप्रसङ्गेन सर्ववस्तूनां भूतेन्द्रियशब्दोपलक्षितानां त्रिविधः परिणामः सूत्रकारेण प्रतिपादितः, तत्र सूत्रकारैश्चित्तस्य निरोधव्युत्थानसंस्काररूपावेव परिणामौ प्रतिपादितौ, न सर्व इति न्यूनता; तस्याः परिहाराय परिणामात्मकान् चित्तधर्मानशेषतः प्रकरणसमाप्त्यवसरे दर्शयति–चित्तस्य द्वय इति। परिदृष्टापरिदृष्टाः=प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाः, प्रत्ययात्मका इति प्रत्ययो वृत्तिपरिणामविशेषो यः साक्षिणि प्रतिबिम्बाधानक्षमः, स च ज्ञानेच्छाकृतिसुखदुःखादिमान् प्रदीपशिखावद् द्रव्यरूपः परिणामविशेषः, तदात्मकाः तद्रूपा इत्यर्थः। वस्तुमात्रेति। परमाणुतद्रू[1]पवत् प्रतिबिम्बाधानाक्षमतया साक्षिण्याभासमाना इत्यर्थः। ते चापरिदृष्टाः। अनुमानेनेति। अनुमानेन साधिता वस्तु[2]मात्रतया सत्ता येषां सप्ताना-मित्यर्थः। सप्त दर्शयति-निरोधेति। निरोधो वृत्तिनिरोधः संस्कारजनकत्वेन निवृत्तियत्न वद्भावरूपोऽनुमीयत इति प्रागेवोक्तम्। धर्मश्चादृष्टसामान्यं भोगवैचित्र्यादनुमीयते, संस्कारश्च स्मृतिहेतुतयाऽनुमीयते, परिणामश्चित्तस्योपचयापचयादिर्वृत्त्युत्कर्षापकर्षादिभिरनुमीयते। एतच्च छान्दोग्ये स्पष्टम्–अन्नमयं हि सौम्य मन इत्यत्र। जीवनं प्राणनादिरूपव्यापार-विशेषः सुषुप्तावपि श्वासप्रश्वासाभ्यामनुमीयते, चेष्टा चित्तस्य सञ्चारः, स च जाग्रत्स्वप्न सुषुप्त्यादिहेतुभ्यां चित्तस्य चक्षुरादिदेशसंयोगवियोगाभ्यामनुमीयते। यद्यपि चित्तस्य विभुत्वं तथाऽपि बाह्यसत्त्वाद्युपष्टम्भेनोपचयापचयवच्छ्रोत्रस्यैवौपाधिकी क्रियाऽप्यस्तीति भावः। शक्तिः

---

1. क ख–आदि० (रूप०–पश्चात्) उपलभ्यते, ग घ च छ–आदि० नोपलभ्यते।
2. क ख घ च छ–**मात्रतया**, ग–प्राप्ततया।

ध्यानादिसामर्थ्यम्, तच्च तत्कार्येणानुमीयते। यद्यपि कार्यजननशक्तिः सर्वपरिणामिष्वनुमेयैव भवति तथाऽपि चित्तस्याखिलधर्मप्रसङ्गेन चित्तमधिकृत्योक्ता॥१५॥

इस प्रकार चित्त के (निरोधादि त्रिविध) परिणाम के प्रकरण (प्रसंग) में सूत्रकार पतञ्जलि ने '**भूत**' तथा '**इन्द्रिय**' शब्द से उपलक्षित समस्त जड पदार्थों के '**धर्मादि**' त्रिविध परिणामों को प्रतिपादित किया है तथा उसी प्रसंग में सूत्रकार ने चित्त के '**निरोधसंस्कार**' तथा '**व्युत्थानसंस्कार**' इन दो प्रकार के ही परिणामों को उपपादित किया है, चित्त के समस्त परिणामों को नहीं। अतः सूत्रकार के कथन में न्यूनता प्रतीत होती है। इस न्यूनता का परिहार करने के लिये भाष्यकार '**परिणाम**' प्रकरण की समाप्ति के अवसर पर चित्त के यच्च-यावत् परिणामात्मक धर्मों को प्रदर्शित करते हैं–'**चित्तस्य द्वय इति**।' चित्त के दो प्रकार के धर्म हैं–परिदृष्ट तथा अपरिदृष्ट। '**परिदृष्ट** शब्द का अर्थ प्रत्यक्ष तथा **अपरिदृष्ट**' शब्द का अर्थ अप्रत्यक्ष है। '**प्रत्ययात्मका इति**।' चित्त के परिदृष्ट धर्म '**प्रत्ययात्मक**' हैं। यहाँ '**प्रत्यय**' शब्द का अर्थ चित्त का वृत्त्यात्मक परिणामविशेष है, जो साक्षिपुरुष में अपना **प्रतिबिम्बाधान** अर्थात् प्रतिच्छाया का समर्पण करने में समर्थ है। चित्त का यह द्रव्यरूप परिणाम-विशेष प्रदीपशिखा की भाँति ज्ञान, इच्छा, कृति, सुख और दुःखादि रूप है, जो तदात्मक अर्थात् '**प्रत्ययात्मक**' (ज्ञानात्मक) है। चित्त के द्वितीय धर्म के प्रतिपादक वैयासिक वाक्य को वार्त्तिककार प्रतीक रूप में उठाते हैं–'**वस्तुमात्रेति**।' परमाणु के प्रतिबिम्बाधान की अशक्तता की भाँति जो प्रतिबिम्बाधान में अक्षम रहने से साक्षी में भासित (प्रतिफलित) नहीं होते हैं, वे चित्त के '**वस्तुमात्रात्मक**' धर्म कहे जाते हैं। चित्त के ये वस्तुमात्रात्मक धर्म '**अपरिदृष्ट**' हैं। '**अनुमानेति**।' अनुमानप्रमाण के द्वारा वस्तुरूप से ही जिनकी सत्ता सिद्ध की जाती है वे अपरिदृष्ट चित्तधर्म सात हैं। भाष्यकार चित्त के वस्तुमात्रात्मक अपरिदृष्ट सात धर्मों को प्रदर्शित करते हैं–'**निरोधेति**।' चित्त का प्रथम '**निरोध**' धर्म वृत्तिनिरोधरूप है। चित्त का यह वृत्ति-निरोधात्मक व्यापार संस्कार का जनक होने से निवृत्त्यात्मक यत्न की भाँति भावरूप से अनुमित होता है, ऐसा पहले ही कहा जा चुका है। चित्त का द्वितीय '**धर्म**' संज्ञक धर्म अदृष्टसामान्यरूप है, जो सुख-दुःख के भोग की विचित्रता के रूप से अनुमित होता है। चित्त का तृतीय '**संस्कार**' नामक धर्म स्मृति के हेतुरूप से अनुमित होता है। चित्त का चतुर्थ '**परिणाम**' नामक धर्म चित्त का उपचयापचय (परिणाम) रूप है, जो वृत्ति के उत्कर्ष और अपकर्ष के रूप से अनुमित होता है। यह बात छान्दोग्योपनिषद् में स्पष्टतया कही गई है–'**अन्नमयं हि सौम्य मन**' (६/५/४) अर्थात् 'हे सौम्य! यह मन अन्नमय है।' चित्त का पञ्चम '**जीवन**' नामक धर्म प्राणवाय्वादिरूप व्यापारविशेष है, जो सुषुप्ति की अवस्था में भी श्वास-प्रश्वास

के रूप से अनुमित होता है। चित्त का षष्ठ **'चेष्टा'** नामक धर्म चित्त का सञ्चार-विशेष है जो जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्त्यादि के हेतुभूत चित्त के चक्षुरादि के विषयदेश के साथ होने वाले संयोग-वियोग के रूप से अनुमित होता है। यद्यपि चित्त विभु है तथापि बाह्य सत्त्वादि से प्रेरित होने के कारण चित्त के उपचय-अपचय की तरह श्रोत्र की ही औपाधिक क्रिया भी होती है, ऐसा तात्पर्य है। चित्त का सप्तम **'शक्ति'** नामक धर्म ध्यानादिसामर्थ्यरूप है, जो ध्यानादि कार्य से अनुमित होता है। यद्यपि कारण की कार्यजननशक्ति सभी परिणामशील पदार्थों में अनुमेय ही होती है तथापि चित्त के समस्त धर्मों के प्रतिपादन का प्रसंग चल रहा है, इसलिये यहाँ चित्त को लक्षित करके **'शक्ति'** धर्म को बतलाया गया है॥१५॥

सम्प्रति, भाष्यकार अगले सूत्र को अवतरणिका के साथ उपस्थित करते हैं–

व्यासभाष्यम्

[1]अतो योगिन उपात्तसर्वसाधनस्य बुभुत्सितार्थप्रतिपत्तये संयमस्य विषय उपक्षिप्यते–

योगाङ्गों तथा चित्तपरिणामों के निरूपण के अनन्तर यमादि साधनों को हस्तगत कर लेने वाले योगी के जिज्ञासित पदार्थों की जानकारी के लिये संयम का विषय (और तत्तद् विभूति को) उपस्थित किया जा रहा है–

योगसूत्रम्

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्॥१६॥

(पूर्वोक्त) तीनों परिणामों में 'संयम' करने से (योगी को) अतीत और अनागत का ज्ञान होता है॥१६॥

व्यासभाष्यम्

धर्मलक्षणावस्थापरिणामेषु संयमा[2]द्योगिनां भवत्यतीतानागतज्ञानम्। धारणा-ध्यानसमाधित्रयमेकत्र संयम उक्तः। तेन परिणामत्रयं साक्षात्क्रियमाणमतीताना-गतज्ञानं तेषु संपादयति॥१६॥

धर्म, लक्षण तथा अवस्थापरिणाम में संयम करने से योगियों को अतीत और अनागत (पदार्थ) का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। एक ही आलम्बन (ध्येय

---

1. अ. क ग–**अतो योगिन उपात्तसर्वसाधनस्य बुभुत्सितार्थप्रतिपत्तये संयमस्य विषय उपक्षिप्यते** ३/१५ सूत्रस्य टीका, ख घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र–**अतो...उपक्षिप्यते** ३/१६ सूत्रस्य अवतरणिका।
   आ. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–**अतः**, ब–**एते**।
2. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–**योगिनाम्**, ख ब–**योगिनः**।

पदार्थ) में लगाये गये धारणा, ध्यान तथा समाधि—इन तीनों को 'संयम' कहा गया है। संयम से साक्षात्कृत परिणामत्रय, वस्तुनिष्ठ परिणामों में अन्तर्निहित अतीत तथा अनागत धर्मों का ज्ञान कराता है। अर्थात् संयम द्वारा परिणाम-त्रय का साक्षात्कार होने पर परिणामों के जो अतीत तथा अनागत धर्म हैं, उन सबका भी परिज्ञान योगी को होता है॥१६॥

तत्त्ववैशारदी

अतः परम् आपादपरिसमाप्तेः संयमविषयस्तद्वशीकारसूचनी विभूतिश्च वक्तव्या। तत्रोक्तप्रकारं परिणामत्रयमेव तावत्प्रथममुपात्तसकलयोगाङ्गस्य योगिनः संयमविषयतयोपक्षिपति—परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्। ननु यत्र संयमस्तत्रैव साक्षात्करणम्, तत्कथं परिणामत्रयसंयमोऽतीता[1]नागते साक्षात्कारयेदित्यत आह—तेनेति। तेन परिणामत्रयं साक्षात्क्रियमाणं तेषु परिणामेष्वनुगते ये अतीतानागते तद्विषयं ज्ञानं संपादयति। परिणामत्रयसाक्षात्करणमेव तदन्तर्भूतातीतानागतसाक्षात्करणात्मकमिति न विषयभेदः संयमसाक्षात्कारयोरित्यर्थः॥१६॥

अब यहाँ से लेकर पाद की समाप्ति तक संयम का विषय तथा तद्विषयक संयम की सिद्धिसूचक '**विभूति**' को कहा जाना है। सकल योगाङ्गों को सिद्ध कर लेने वाले योगी के संयम के विषयरूप से सूत्रकार सर्वप्रथम उक्त परिणामत्रय को ही उपस्थित करते हैं—'**परिणामेति**।'

शङ्का—जिस विषय पर '**संयम**' किया जाता है, उसी विषय का संयम द्वारा साक्षात्कार होता है। अर्थात् संयम अपने विषयभूत पदार्थ का ही साक्षात्कार कराने में समर्थ होता है—(ऐसा नियम है) तो फिर कैसे '**धर्म**' '**लक्षण**' तथा '**अवस्था**' रूप परिणामत्रयविषयक '**संयम**' अपने (अविषयीभूत) अतीत और अनागत (पदार्थ) का साक्षात्कार करा सकता है?

समाधान—इस पर भाष्यकार कहते हैं—'**तेनेति**।' संयम द्वारा साक्षात् किये जाने वाले परिणामत्रय में अन्वित अर्थात् अनुगत रहने वाले जो अतीत तथा अनागत-परिणाम हैं, उन परिणामों के विषयों का ही '**संयम**' साक्षात्कार कराता है। परिणाम-त्रयविषयक साक्षात्कार में ही अतीत-अनागत-पदार्थविषयक साक्षात्कार अन्तर्भूत है। अतः '**संयम**' और तज्जन्य '**साक्षात्कार**' का विषय भिन्न-भिन्न नहीं है॥१६॥

योगवार्त्तिकम्

पादसमाप्तिपर्यन्तानि संयमसिद्धिसूत्राण्यवतारयति—अतो योगिन इति। ज्ञानसाधनानि योगाङ्गानि विस्तरेण व्याख्यातानि, योगकालीनावस्थाश्च चित्तस्य परिणामरूपा योगनि-

---

1. क ख ग घ ज त थ द ध न—**अनागते**, च छ झ—**अनागतम्**।

ष्पत्त्याद्यवधारणाय दर्शिताः। अतः परं बुभुत्सितानां योगिभिर्जिज्ञासितानामर्थानां साक्षात्काराय यमादिसाधनसम्पन्नस्य योगिनः संयमविषय उपक्षिप्यते। उभयत्र संयमाद्यथा सिद्धिर्भवति तत्सर्वं विशिष्य प्रदर्श्यते पादसमाप्तिपर्यन्तमित्यर्थः। अत्र बुभुत्सितार्थप्रतिपत्तय इति वचनात् तत्तद्विभूतिकामैरेव ते संयमाः कर्त्तव्याः, केवलमुमुक्षुभिस्तु सत्त्वपुरुषान्यतामात्रसंयमः कर्त्तव्यः परवैराग्यायेति सूचितम्। एताश्च विभूतयः संयमसिद्धिसूचिका अपि ज्ञेयाः। परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्। अस्य धर्मिणोऽयं धर्मपरिणामस्तस्य चायं लक्षणपरिणामः, लक्षणस्य चायं नवपुराणाद्यवस्थापरिणाम इत्येवमनुक्षणं यत्र कुत्रचिदर्थे संयमात्तत्साक्षात्कारे सति तदितरार्थानामपि धर्मादिपरिणामेष्वतीतानागतज्ञानं सङ्कल्पमात्रेण प्रणिधानलेशादेव भवतीत्यर्थः। अन्यविषयकसंयमात् प्रतिनियतपदार्थान्तरसाक्षात्कारश्च योगजधर्मबलाद्भवतीति शास्त्रप्रामाण्यादवधार्यते, धर्मविशेषात्स्वर्गविशेषवत्, तपोजन्यसिद्धिवत्, भुवनज्ञानं सूर्ये संयमादिति वक्ष्यमाणसिद्धिवच्च।

सम्प्रति, प्रकृत पाद की समाप्ति तक '**संयमसिद्धि**' के प्रतिपादक सूत्रों को भाष्यकार अवतरित करते हैं–'**अतो योगिन इति**।' ज्ञान के साधनभूत योगाङ्ग विस्तारपूर्वक व्याख्यात हुए तथा योग-सिद्धि आदि को निर्धारित करने के लिये चित्त की परिणामरूपा योगकालीन अवस्थाएँ प्रदर्शित की गईं। उसके आगे योगियों द्वारा बुभुत्सित अर्थात् जिज्ञासित पदार्थों का ज्ञान कराने के लिये यमादिसाधनसम्पन्न योगी के संयम के विषय का उल्लेख किया जा रहा है। जिज्ञासित विषय में संयम करने से जो सिद्धि प्राप्त होती है, उन सभी जिज्ञासित विषयों एवं सिद्धियों को विशेषरूप से प्रकृत पाद की समाप्ति तक प्रदर्शित किया जा रहा है। यहाँ भाष्य में '**बुभुत्सितार्थप्रतिपत्तये**' ऐसा कहने से यह सूचित किया गया है कि तत्तद् विभूतियों की कामना करने वालों के द्वारा ही तत्तत् पदार्थविषयक संयम करणीय रहता है, क्योंकि मोक्षाभिलाषी योगियों को तो परवैराग्य की निष्पत्ति के लिये सत्त्वपुरुषान्यतामात्रविषयक संयम अपेक्षित रहता है। इन सभी विभूतियों को संयमजय का भी सूचक समझना चाहिये। सूत्र है–'**परिणामेति**।' इस '**धर्मी**' का यह '**लक्षणपरिणाम**' है तथा उस लक्षण का यह नवीनता तथा पुराणता आदि रूप '**अवस्थापरिणाम**' है–इस प्रकार प्रतिक्षण परिणामशील जिस किसी पदार्थ में परिणामत्रयविषयक संयम करने से उस पदार्थ का साक्षात्कार होने पर योगी को तद्भिन्न पदार्थों के भी धर्मादिपरिणामों के विषय में अतीत और अनागत का ज्ञान संकल्पमात्र अर्थात् चिन्तनमात्र से ही हो जाता है। अन्यविषयक संयम से प्रतिनियत पदार्थान्तर का साक्षात्कार योगजधर्म की शक्ति से होता है, ऐसा शास्त्रीयप्रमाण से उसी प्रकार निर्धारित

होता है जिस प्रकार धर्मविशेष (जन्य अदृष्ट) से स्वर्गविशेष, तप से तज्जन्य सिद्धि तथा **भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्** (३/२६) सूत्र द्वारा वक्ष्यमाण संयमजन्य सिद्धि।

सम्प्रति, वार्त्तिककार संयम के विषय और साक्षात्कार के विषय को लेकर पूर्वपक्षोपस्थापनपूर्वक स्वमत को स्थापित करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

कश्चित्तु–समानविषयत्वानुरोधात् संयमविषययोरेवातीतानागतयोः साक्षात्कारो भवतीत्यर्थ इत्याह, तन्न–तर्हि तत्संयमात्तज्ज्ञानमित्येव सामान्यतः सूत्रं युज्येत, संयमस्य स्वविषयगोचरसाक्षात्कारजनकत्वनियमात्। अपि च परिणामत्रयं साक्षात्क्रियमाणं तेष्वतीतानागतज्ञानं सम्पादयतीति भाष्ये पौनरुक्त्यमपि स्यादिति। भाष्ये–तेष्विति। धर्मलक्षणावस्थापरिणामेषु सर्ववस्तुसाधारणेष्वित्यर्थः। शेषं सुगमम्॥१६॥

पूर्वपक्ष–(व्यासभाष्य के) कोई व्याख्याकार ऐसा कहते हैं कि संयम के विषय और साक्षात्कार के विषय में तुल्यविषयत्व का '**अनुरोध**' अर्थात् नियम होने से संयम के विषयभूत अतीत और अनागत का ही योगी को साक्षात्कार होता है। अर्थात् संयम के विषय से भिन्न विषयगत अतीत और अनागत का साक्षात्कार योगी को नहीं होता है।

उत्तरपक्ष–पूर्वपक्षी का यह मत तर्कसंगत नहीं है। अन्यथा (संयम के विषय से अतिरिक्त पदार्थ का भी साक्षात्कार न मानने पर) '**तत्संयमात्तज्ज्ञानम्**'–ऐसा सामान्य सूत्र ही उचित रहता, क्योंकि संयम स्वविषयक (अपने विषयीभूत) पदार्थ के साक्षात्कार का जनक होता है, ऐसा नियम है। किञ्च (संयम के विषय से अतिरिक्त पदार्थ का साक्षात्कार न मानने पर) '**परिणामत्रयं साक्षात्क्रियमाणं तेष्वतीतानागतज्ञानं सम्पादयति**'–इस भाष्य में पुनरुक्तिदोष भी प्रसक्त होगा अर्थात् परिणामत्रयसाक्षात्कार में ही अतीतानागतज्ञान के अन्तर्निहित होने से पुनः '**तेष्वतीतानागतज्ञानम्**' यह कथन पुनरुक्तिदोषयुक्त ठहरता है। भाष्य है–'**तेष्विति**।' यहाँ '**तेषु**' पद का अर्थ है–सर्ववस्तुसाधारण धर्म-लक्षण-अवस्था-परिणामों में। शेषभाष्य सुगम है॥१६॥

बालप्रिया–

मिश्र-भिक्षु-मतभेद–संयम के विषय और तज्जन्य साक्षात्कार के विषय की तुल्यता (समानविषयत्वानुरोध) के विषय में वाचस्पति मिश्र तथा विज्ञानभिक्षु में मतभेद है। वाचस्पति मिश्र ने '**यत्र संयमस्तत्रैव साक्षात्करणम्**'–इसे नियम मानते हुए प्रकृत सूत्र के प्रातीतिक विषयभेद का निराकरण इस प्रकार किया है–'**परिणामत्रयसाक्षात्करणमेव तदन्तर्भूतातीतानागतसाक्षात्करणात्मकमिति न विषयभेदः संयमसाक्षात्कारयोरित्यर्थः**।' चूँकि पदार्थों के अतीत और अनागतरूप लक्षणपरिणाम के ही अन्तर्गत आते हैं, अतः अतीतानागत का ज्ञान संयम के विषय से अतिरिक्त का

साक्षात्कार नहीं है। इस प्रकार परिणामत्रयविषयक संयम और तज्जन्य अतीताना-गतसाक्षात्काररूप सिद्धि में भिन्नविषयता नहीं है।

विज्ञानभिक्षु ने वाचस्पति मिश्र के उपर्युक्त मत को **'कश्चित्तु'** के द्वारा उठाकर और **'तन्न'** के द्वारा उसका खण्डन करते हुए उसे सूत्राननुरोधी तथा भाष्याननुरोधी बतलाया है। भिक्षु का वक्तव्य है—**'अन्यविषयकसंयमात् प्रतिनियतपदार्थान्तरसाक्षात्कारश्च योगजधर्मबलाद्भवतीति शास्त्रप्रामाण्यादवधार्यते, धर्मविशेषात् स्वर्गविशेषवत्'** अर्थात् अन्यविषयक संयम से प्रतिनियत पदार्थान्तर का साक्षात्कार योगजधर्म के बल से उसी प्रकार सम्भव है जिस प्रकार धर्मविशेष (यज्ञविशेष से जन्य अपूर्व) से स्वर्ग-विशेष की प्राप्ति, क्योंकि यह शास्त्र द्वारा प्रमाणित है॥१६॥

वैयासिकी उपस्थानिका के विना अगला सूत्र उपस्थित हो रहा है—

योगसूत्रम्

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूत[1]रुतज्ञानम्॥१७॥

शब्द, अर्थ और ज्ञान—इन तीनों के अन्योन्याध्यास के कारण संकीर्णता रहती है (वस्तुतस्तु ये तीनों मिश्रित हैं नहीं), अतः इन तीनों के विभाग में संयम करने से योगी को पशु-पक्षी आदि निखिल प्राणियों की बोली का ज्ञान उत्पन्न होता है॥१७॥

व्यासभाष्यम्

तत्र वाग्वर्णेष्वेवार्थवती। श्रोत्रं च ध्वनिपरिणाममात्रविषयम्। पदं पुनर्नादा-नुसंहारबुद्धिनिर्ग्राह्यमिति। वर्णा एकसमयासंभवित्वात्परस्परनिरनुग्रहात्मानः, ते पदम[2]संस्पृश्यानुपस्थाप्याविर्भूतास्तिरोभूताश्चेति प्रत्येकमपदस्वरूपा उच्यन्ते। वर्णः पुनरेकैकः [3]पदात्मा सर्वाभिधानशक्तिप्रचितः सहकारिवर्णान्तरप्रतियोगित्वाद्वैश्व-रूप्यमिवा[4]पन्नः [5]पूर्वश्चोत्तरेणोत्तरश्च पूर्वेण [6]विशेषेऽवस्थापित इति। एवं बहवो

---

1. **विभाग०, सत०, ऋत०**—इति पाठान्तराणि।
2. क—**अस्पृश्य,** ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**असंस्पृश्य,** ब—**अनुपसंस्पृश्य।**
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**पदात्मा** उपलभ्यते, ब—**पदात्मा** नोपलभ्यते।
4. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न प फ ब भ म य र—**आपन्नः,** त—**आपन्नम्।**
5. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**पूर्वश्चोत्तरेणोत्तरश्च पूर्वेण,** ब—**उत्तरश्च पूर्वेण पूर्वश्चोत्तरेण।**
6. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—**विशेषे,** छ थ—**विशेषः।**

वर्णाः क्रमानुरोधिनोऽर्थसंकेतेनावच्छिन्ना [1]इयन्त एते सर्वाभिधानशक्ति[2]परिवृता गकारौकारविसर्जनीयाः सास्नादिमन्तमर्थं द्योतयन्तीति। तदे[3]तेषामर्थसंकेतेनावच्छिन्नानामु[4]पसंहृतध्वनिक्रमाणां य एको बुद्धिनिर्भासस्तत्पदं वाचकं वाच्यस्य [5]संकेत्यते। तदेकं पदमेव बुद्धिविषयमेकप्रयत्नाक्षिप्तम[6]भागमक्रमम[7]वर्णं [8]बौद्धमन्त्यवर्णप्रत्ययव्यापारोपस्थापितं परत्र प्रतिपिपादयिषया वर्णैरेवाभिधीयमानैः [9]उच्चार्यमाणैः श्रूयमाणैश्च श्रोतृभिर[10]नादिवाग्व्यवहारवासनानुविद्धया लोकबुद्ध्या सिद्धवत्संप्रतिपत्त्या प्रतीयते। तस्य संकेतबुद्धितः प्रविभागः। एतावतामेवंजातीयकोऽ[11]नुसंहार [12]एकस्यार्थस्य वाचक इति। संकेतस्तु पदपदार्थयोरितरेतराध्यासरूपः [13]स्मृत्यात्मकः, योऽयं शब्दः सोऽयमर्थो [14]योऽयमर्थः सोऽयं शब्द इत्येवमितरेतराध्यासरूपः संकेतो भवतीति। एवमेते शब्दार्थप्रत्यया इतरेतराध्यासात्संकीर्णाः—गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरिति ज्ञानम्। य एषां प्रविभागज्ञः स [15]सर्ववित्। सर्वपदेषु चास्ति वाक्यशक्तिः, वृक्ष इत्युक्तेऽस्तीति गम्यते। न सत्तां पदार्थो व्यभिचरतीति। तथा न ह्यसाधना क्रियास्तीति। [16]तथा च

---

1. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—**इयन्तः**, छ थ—**इव ते**।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**परिवृत्ताः**, ब—**परिच्युताः**।
3. क—**एते वर्णं**, ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**एतेषां**, ब—**एषाम्**।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**उपसंहृत०**, ब—**अनुगृहीत०**।
5. क ख ग घ च छ ज थ द ध न प फ ब भ म य र—**संकेत्यते** उपलभ्यते, झ त—**संकेत्यते** नोपलभ्यते।
6. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न प फ भ म य र—**अभागं**, ब—**अविभागम्**।
7. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**अवर्णं**, ब—**अवर्णनात्मकम्**।
8. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न प फ भ म य र—**बौद्धं**, झ—**बोद्धव्यं**, ब—**बौद्धं/बोद्धव्यं** नोपलभ्यते।
9. क ग च छ थ न—**उच्चार्यमाणैः** उपलभ्यते, ख घ ज झ त द ध प फ ब भ म य र—**उच्चार्यमाणैः** नोपलभ्यते।
10. क ग—**अनादिर्योऽयं वाक्**, ख घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—**अनादिवाक्०**।
11. क ग छ थ—**अनुपसंहार०**, ख घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—**अनुसंहार०**।
12. क ग च छ झ त थ न ब भ य—**एतस्य**, ख घ ज द ध प फ म र—**एकस्य**।
13. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**स्मृत्यात्मा**, ब—**स्मृत्यात्मकः**।
14. क ख ग घ प फ र—**योऽर्थः स शब्दः**, च छ ज झ त थ द ध न ब भ म य—**योऽयमर्थः सोऽयं शब्दः**।
15. क—**सर्वचित्**, ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—**सर्ववित्**।
16. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**तथा च पचतीत्युक्ते सर्वकारकाणामाक्षेपः** उपलभ्यते, ब—**तथा...आक्षेपः** नोपलभ्यते।

पचतीत्युक्ते सर्वकारकाणामाक्षेपः। नियमार्थोऽनुवादः [1]कर्तृकरणकर्मणां चैत्राग्नि-तण्डुलानामिति। दृष्टं च वाक्यार्थे [2]पदरचनं श्रोत्रियस्छन्दोऽधीते जीवति, प्राणान्धारयति तत्र वाक्ये [3]पदपदार्थाभिव्यक्तिस्ततः पदं प्रविभज्य व्याकरणीयं क्रियावाचकं [4]वा कारकवाचकं वा। अन्यथा भवत्यश्वोऽ[5]जापय इत्येवमादिषु नामाख्यातसारूप्यादनिर्ज्ञातं कथं क्रियायां कारके वा व्याक्रियेतेति? तेषां शब्दार्थ-प्रत्ययानां [6]प्रविभागः। तद्यथा—[7]श्वेतते प्रासाद इति क्रियार्थः, श्वेतः प्रासाद इति कारकार्थः [8]शब्दः। क्रियाकारकात्मा तदर्थः प्रत्ययश्च। कस्मात्? सोऽयमित्यभि-संबन्धादे[9]काकार एव प्रत्ययः [10]संकेत इति। यस्तु श्वेतोऽर्थः स [11]शब्दप्रत्यययो-रालम्बनीभूतः स हि स्वाभिरवस्थाभिर्विक्रियमाणो न शब्दसहगतो न बुद्धि-सहगतः। एवं [12]शब्द एवं प्रत्ययो नेतरेतरसहगत इति, [13]अन्यथा शब्दोऽन्य-थार्थोऽन्यथा प्रत्यय इति [14]विभागः। एवं तत्प्रविभाग[15]संयमाद्योगिनः सर्वभूत-[16]रुतज्ञानं संपद्यत इति॥१७॥

---

1. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म य—कर्तृकरणकर्मणां, घ प फ र—कर्तृकर्मकरणानाम्।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—पदरचनं, ब—पदम्।
3. क ख ग च छ ज झ त थ द न म—पद० उपलभ्यते, घ ध प फ ब भ य र—पद० नोपलभ्यते।
4. क ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म य—वा उपलभ्यते, ख घ प फ र—वा नोपलभ्यते।
5. क ख ग घ च छ ज थ द ध न प फ ब भ म य र—अजापयः, झ त—जायते।
6. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—प्रविभागः, ब—विभागः।
7. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न प फ ब भ म य र—श्वेतते, द—श्वेतः ते।
8. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—शब्दः उपलभ्यते, ब—शब्दः नोपलभ्यते।
9. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य—एकाकार एव, ब—अभेदाकारः, र—एकाकार एवम्।
10. क ग घ च छ झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—संकेत इति, ख ज—संकेत्यते।
11. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ य र—शब्दप्रत्यययोरालम्बनीभूतः, स हि स्वाभिरवस्थाभिर्विक्रियमाणो न उपलभ्यते, म—शब्द...न नोपलभ्यते।
12. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—शब्द एवं प्रत्ययः, ब—प्रत्यय एवं शब्दः।
13. क ख ग घ च द प फ ब भ म य र—अन्यथा शब्दोऽन्यथार्थः, छ ज झ त थ ध न—अन्यथाऽर्थोऽन्यथा।
14. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—विभागः, ब—प्रविभागः।
15. क ख ग घ च छ त थ द ध न प फ ब भ म य र—संयमात्, ज—संगमात्, झ—संभवात्।
16. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न प फ ब भ म य र—रुत०, झ—कृत०।

उनमें से वागिन्द्रिय 'वर्णों' के उच्चारण में ही कृतार्थ हो जाती है। श्रोत्रेन्द्रिय वागिन्द्रिय से उत्पन्न 'ध्वनि' परिणाम को विषय करती है और 'पद' नादानुसंहारबुद्धि के द्वारा ग्राह्य होता है। सभी वर्ण तुल्य क्षण में उत्पन्न न हो सकने के कारण परस्पर असम्बद्ध स्वभाव वाले होते हैं। वे वर्ण पदत्व का स्पर्श न करके अर्थात् अर्थ की उपस्थापना न कर आविर्भूत तथा तिरोभूत होते हैं। अतः प्रत्येक वर्ण अपदस्वरूप (ही) कहा जाता है। फिर भी (अपर दृष्टि से) प्रत्येक वर्ण पदरूप भी है, (क्योंकि) सभी अर्थों का बोध कराने की शक्ति अर्थात् योग्यता से युक्त होता है, अन्य सहकारी वर्णों से सम्बद्ध होने के कारण नानारूप न होते हुए भी नानारूपता के सदृश प्राप्त होता है और (अन्त में) पूर्व वर्ण उत्तर वर्ण के साथ तथा उत्तर वर्ण पूर्व वर्ण के साथ मिलता हुआ विशेष (अखण्ड पदस्फोट) में अवस्थित होता है। इस प्रकार क्रम की अपेक्षा करने वाले बहुत से वर्ण अर्थसंकेत से युक्त होकर इतने (एक, दो, तीन आदि) संख्या वाले ये सर्व शब्दशक्ति से युक्त (जैसे गौ पद में) गकार, औकार एवं विसर्गरूप (तीन) वर्ण मिलकर सास्नादिमान् (गलकम्बलयुक्त) गो पदार्थ का अवबोध कराते हैं। अर्थसंकेत से युक्त तथा ध्वनिगत क्रम से रहित इन वर्णों की बुद्धि में जो एक अभिव्यक्ति होती है, वाच्यार्थ के वाचक उस तत्त्व को 'पद' कहते हैं। वह (स्फोटरूप) पद एक, एक बुद्धि का विषय, एक प्रयत्न द्वारा सम्पादित, अखण्ड, क्रमरहित, वर्ण-भिन्न, बुद्धिनिष्ठ, अन्तिम वर्ण के ज्ञान के व्यापार से अभिव्यक्त होने वाले, दूसरों को बताने की इच्छा से (वक्ता द्वारा) बोले जाने वाले तथा श्रोताओं द्वारा सुने जाने वाले वर्णों के द्वारा, अनादिकालीन वचोव्यवहार की वासना से वासित लोकबुद्धि के द्वारा सदृश व्यवहारपरम्परा के कारण नित्य के समान जाना जाता है। इस स्फोटरूप पद की भेदव्यवस्था संकेतज्ञान से होती है, जैसे इतने वर्णों का इस रूप का मिलन इस अर्थ का वाचक (बोधक) है। संकेत तो पद-पदार्थों का पारस्परिक अध्यास रूप है, स्मृतिरूप है। (जैसे)– जो यह शब्द है, वही यह अर्थ है और जो यह अर्थ है, वही शब्द है–इस प्रकार से अन्योन्यारोप के रूप का संकेत होता है। इस प्रकार शब्द, अर्थ और ज्ञान पारस्परिक आरोप के कारण संकीर्ण (मिश्रित) प्रतीत होते हैं, जैसे–'गो' यह शब्द है, 'गो' यह अर्थ है और 'गो' यह ज्ञान है। जो ज्ञानी पुरुष शब्द, अर्थ एवं ज्ञान के भेद को जानता है, वह सम्पूर्ण प्राणियों के शब्दों का ज्ञाता होता है। सभी पदों में वाक्यशक्ति निहित है। जैसे 'वृक्ष' कहे जाने पर 'है' यह ज्ञात होता है, क्योंकि कोई भी पदार्थ सत्ता के विना नहीं

रह सकता है। इसी प्रकार कारक के विना क्रिया नहीं होती है। अतः 'पकाता है'—यह कहे जाने पर सभी कारकों का अध्याहार होता है। कर्ता, करण और कर्म रूप क्रमशः चैत्र, अग्नि एवं तण्डुल का जो प्रयोग रूप अनुवाद किया जाता है, वह नियमार्थ है। पूरे वाक्य के लिये एक पद की रचना भी देखी जाती है। जैसे—'वेद का अध्ययन करता है' इस अर्थ में 'श्रोत्रिय' पद का प्रयोग होता है और 'प्राणों को धारण करता है' इस अर्थ में 'जीवति' पद का प्रयोग किया जाता है। (पद तथा वाक्य के मध्य में) वाक्य में ही पदार्थ की अभिव्यक्ति हुआ करती है। इसलिये वाक्यगत पद की व्युत्पत्ति करके अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय का विभाग करके निर्धारित करना चाहिये कि यह पद क्रियाबोधक है अथवा कारकबोधक। अन्यथा 'भवति', 'अश्वः', 'अजापयः'—इत्यादि पदों में नाम तथा आख्यात दोनों की एकरूपता के कारण यह निश्चय नहीं होता है कि कैसे इनका व्याख्यान किया जाय, क्रियारूप में अथवा कारकरूप में? इन शब्द, अर्थ और ज्ञानों का परस्पर विभाग भी है। जैसे 'श्वेतते प्रासादः' अर्थात् 'महल सफेदी के कारण चमक रहा है'—इस वाक्य में स्थित 'श्वेतते' पद क्रियार्थक है और 'श्वेतः प्रासादः' अर्थात् 'मकान सफेद है'—इस वाक्य में स्थित 'श्वेत' पद कारकार्थक है। इन दोनों पदों का अर्थ क्रमशः क्रियारूप और कारकरूप है और ज्ञान भी क्रियारूप और कारकरूप होता है। प्रश्न है कि जब शब्द, अर्थ एवं ज्ञान इन तीनों की प्रतीति अभेदरूप से होती है तब विभाग द्वारा इनके परीक्षण की बात क्यों कही जाती है? उत्तर है कि 'वही यह है' इस प्रकार के अभेदसम्बन्ध के कारण सङ्केत द्वारा एकाकार ज्ञान होता है। किन्तु जो श्वेत 'अर्थ' है वह श्वेत 'शब्द' और श्वेत 'ज्ञान' का आलम्बन बनता है। इसलिये पृथक् है। क्योंकि वह 'अर्थ' अपनी नवीन- प्राचीन आदि अवस्थाओं के द्वारा विक्रिया को प्राप्त होता हुआ न तो शब्द के साथ संकीर्ण है और न ज्ञान के साथ ही संकीर्ण है। अतः सर्वथा भिन्न है। इसी प्रकार शब्द, अर्थ और ज्ञान भी परस्पर सङ्कीर्ण नहीं हैं, सर्वथा पृथक् हैं। यही कारण है कि दूसरे प्रकार का 'शब्द' है, दूसरे प्रकार का 'अर्थ' है और दूसरे प्रकार का 'ज्ञान' है—ऐसा विभाग किया जाता है। इस प्रकार शब्द, अर्थ और ज्ञान के विभाग में संयम करने से योगी को सभी जीवों की बोलियों (के अर्थों) का ज्ञान उत्पन्न होता है॥१७॥

तत्त्ववैशारदी

अयमपरः संयमस्य विषय उपक्षिप्यते—शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकर-स्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम्। अत्र, वाचकं शब्दमाचिख्यासुः प्रथमं तावद्वा-

ग्व्यापारविषयमाह–तत्रेति। वाग्वागिन्द्रियं वर्णव्यञ्जकमष्टस्थानम्। यथाह–

अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकौष्ठौ च तालु च॥

इति। सा वाग्वर्णेष्वे[1]व यथालोकप्रतीतिसिद्धेष्वर्थवती न [2]च वाचक इत्यर्थः। श्रोत्रव्यापार-विषयं निरूपयति–[3]श्रोत्रमिति। श्रोत्रं पुनर्ध्वनेरु[4]दानस्य वागिन्द्रियाभिघातिनो यः परिणति-भेदो वर्णात्मा तेनाकारेण [5]परिणततन्मात्रविषयं न तु वाचकविषयमित्यर्थः। यथालोकप्रतीति-सिद्धेभ्यो वर्णेभ्यो [6]वाचकं भिनत्ति–[7]पदमिति। पदं पुनर्वाचकं नादानुसंहारबुद्धि-निर्ग्राह्यं यथाप्रतीतिसिद्धान्नादान्वर्णान्प्रत्येकं गृहीत्वानु पश्चाद्या संहरत्येकत्वमापादयति गौरित्येतदेकं पदमिति तया पदं गृह्यते।

सूत्रकार द्वारा संयम के अन्य विषय (संयमजन्य अपर सिद्धि) को उपस्थित कराया जा रहा है–'**शब्देति।**' यहाँ पर '**वाचक**' शब्द को बताने के इच्छुक भाष्यकार सर्वप्रथम वागिन्द्रिय के व्यापार के विषय को कहते हैं–'**तत्रेति।**' वाक् अर्थात् वागिन्द्रिय जो वर्ण की अभिव्यञ्जक होती है, के आठ स्थान हैं। अर्थात् वर्ण की अभिव्यञ्जकीभूत वागिन्द्रिय के आठ स्थान हैं। जैसा कि कहा गया है–'**अष्टौ...तालु च**' अर्थात् 'वक्ष, कण्ठ, सिर, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठ तथा तालु–ये आठ वर्णों (की अभिव्यक्ति) के स्थान हैं।' यह वाणी अर्थात् वागिन्द्रिय लोकप्रतीतिसिद्ध वर्णों में ही प्रयोजनवती है। अर्थात् वाणी का विषय वर्ण ही है, न कि वाचक पद। अर्थात् वागिन्द्रिय वाचक पद को विषय नहीं बनाती है। भाष्यकार श्रोत्रेन्द्रिय के व्यापार के विषय का प्रतिपादन करते हैं–'**श्रोत्रमिति।**' (हृदयदेश से निकलकर) वागिन्द्रिय द्वारा आहत (ताडित) उदानाख्य वायु (की ध्वनि) का जो '**वर्णाकार परिणामविशेष**' है, तद्विषयक (वर्णाकार परिणामविषयक) '**श्रोत्रेन्द्रिय**' है। अर्थात् वर्णाकार ध्वनि ही श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है, न कि (ध्वनि का अपरिणामभूत) वाचक पद। भाष्यकार लोकव्यवहारसिद्ध वर्णों से वाचक पद को पृथक् करते हैं–'**पदमिति।**' उस '**पद**' को '**वाचक**' कहते हैं, जो '**नादानुसंहारबुद्धिनिर्ग्राह्य**' होता है। प्रतीति-सिद्ध प्रत्येक नादात्मक वर्ण को ग्रहण करके '**अनु**' अर्थात् पीछे से जो '**संहरति**'

---

1. क ख ग घ छ झ त थ द ध न–**एव**, च ज–**एवम्**।
2. क ग थ द ध–**च** उपलभ्यते, ख घ च छ ज झ त न–**च** नोपलभ्यते।
3. थ द ध–**श्रोत्रमिति** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न–**श्रोत्रमिति** नोपलभ्यते।
4. क ख ग घ च झ स थ द ध न–**उदानस्य**, छ त–**उदात्तस्य**, ज–**उपादानस्य**।
5. क च छ ज झ–**परिणतम्**, ख ग घ त थ द ध न–**परिणत**०।
6. क ख ग घ छ ज त थ द ध न–**वाचकं**, च झ–**वाचकं पुनः**।
7. थ द ध–**पदमिति** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न–**पदमिति** नोपलभ्यते।

अर्थात् एकत्व का सम्पादन करती है अर्थात् **'गौरित्येतदेकं पदम्'** अर्थात् 'गो यह एक पद है'—इत्याकारक ज्ञान कराती है, उस **'नादानुसंहारबुद्धि'** से **'पद'** गृहीत होता है।

बालप्रिया—

'तया पदं गृह्यते'—'गो यह एक पद है'—इस प्रकार एकत्व का आपादन=निष्पादन करने वाली बुद्धि से वर्णातिरिक्त जिस पद का ग्रहण होता है, उसे **'वाचक'** कहते हैं। विषय का विशदीकरण इस प्रकार है—वर्णव्यतिरिक्त, एकप्रयत्नजन्य, नादाभिव्यङ्ग्य, अन्तःकरणग्राह्य तथा ध्वनिविशेषरूप शब्द को ही **'वाचक'** कहते हैं। वैयाकरण वाचक पद को **'स्फोट'** कहते हैं। **'स्फोट'** पद की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जाती है—**'स्फुटत्यर्थोऽस्मात्'**—इससे अर्थ स्फुट अर्थात् अभिव्यक्त होता है, अतः वाचक पद **'स्फोट'** कहलाता है। अथवा **'स्फुट्यते अभिव्यज्यते वर्णैः'**—वर्णों से जिसे अभिव्यक्त किया जाता है, उसे **'स्फोट'** कहते हैं।

शङ्का—**'अर्थप्रत्यायन'** में वर्ण ही अनुभूत होते हैं, न कि वर्णातिरिक्त **'स्फोट'**? अतः स्फोट को मानने की आवश्यकता नहीं है।

समाधान—पूर्वपक्षी का यह कथन युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि **'गौ'** यह एक पद है, **'गामानय शुक्लम्'**—यह एक वाक्य है—ऐसे नाना वर्णातिरिक्त **'पद'** और नाना पदातिरिक्त **'वाक्य'** का अवबोध सर्वजनसिद्ध है। अभिन्नरूप से वस्तु की निर्भासक यह **'एकत्वबुद्धि'** परस्पर व्यतिरिक्त (भिन्न) स्वभाव वाले वर्णों को ही विषयरूप से ग्रहण करने में समर्थ नहीं होती है, क्योंकि बुद्धि में एक साथ एकत्व और नानात्व का सम्बन्ध नहीं हो सकता है। बुद्धि में होने वाले एकत्वप्रत्यय को औपाधिक भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उपाधि को सिद्ध करना अत्यन्त दुरूह है। उपाधि के सम्भावित विकल्पों की ओर ध्यान आकृष्ट कराते हुए यदि पूर्वपक्षी कहे कि **'एकबुद्धिग्राह्यतारूप'** उपाधि अथवा **'एकार्थधीहेतुतारूप'** उपाधि बन सकती है तो पूर्वपक्षी की उपाधिसम्बन्धी ये दोनों मान्यताएँ अर्थात् विकल्पात्मक स्थितियाँ खण्डनीय हैं। प्रथम विकल्प की अयौक्तिकता इस प्रकार है कि एकत्वबुद्धि से गृहीत होते हुए भी धव (घौ का वृक्ष) खदिर (खैर का वृक्ष) तथा पलाश (ढाक का वृक्ष) के वृक्षों में एकत्वनिर्भासप्रत्यय अनियत है, अन्यथा **'धवखदिरपलाशाः'**—ऐसा अनुभव कभी न हो सकेगा। द्वितीय प्रकार की उपाधि भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्येक वर्ण वाचक है अथवा पद के सभी वर्ण मिलकर वाचक होते हैं?—इत्यादि प्रश्नों द्वारा वर्णों में **'एकार्थधीहेतुता'** का पदत्व ही निराकृत हो जाता है।

'नादानुसंहारबुद्धि' को स्पष्ट करते हुए तत्त्ववैशारदीकार आगे कहते हैं—

तत्त्ववैशारदी

यद्यपि प्राच्योऽपि बुद्धयो वर्णाकारं पदमे[1]व प्रत्येकं गोचरयन्ति, तथापि न विशदं प्रथते। चरमे तु विज्ञाने तदतिविशदमिति नादानुसंहारबुद्धिनिर्ग्राह्यमुक्तम्। यस्तु [2]वैजात्यादेक-पदानुभवमविज्ञाय वर्णानेव वाचकानातिष्ठते तं प्रत्याह—वर्णा इति। ते खल्वमी वर्णाः प्रत्येकं वाच्यविषयां धियमादधीरन्नागदन्तका इव शिक्यावलम्बनम्, संहता वा, ग्रावाण इव [3]पिठ-रधारणम्। न तावत्प्रथमः कल्पः, एकस्मादर्थप्रतीतेरनुत्पत्तेः, उत्पत्तौ वा द्वितीयादीनाम-नुच्चारणप्रसङ्गः, निष्पादितक्रिये कर्मणि विशेषानाधायिनः साधनस्य साधनन्यायातिपातात्। तस्माद् द्वितीयः परिशिष्यते। संभवति हि ग्राव्णां संहतानां पिठरधारणमेकसमयभावित्वात्। वर्णानां तु यौगपद्यासंभवः। अतः परस्परमनुग्राह्यानुग्राहकत्वायोगात्संभूयापि ना[4]र्थधियमाद-धते। ते पदरूपमेकसंस्पृशन्तस्तादात्म्येनात एवानुपस्थापयन्त आविर्भूतास्तिरोभूता [5]अयः-शलाकाकल्पाः प्रत्येकमपदस्वरूपा उच्यन्ते।

यद्यपि पूर्ववर्ती सभी बुद्धियाँ भी वर्णाकार पद को ही विषय करती हैं तथापि उनसे स्पष्ट रूप से स्फोट की प्रतीति नहीं होती है। अपितु अन्तिम वर्ण के ज्ञानकाल में उस (पद) की स्पष्ट रूप से प्रतीति होती है, इसलिये **'पद'** को **'नादानु-संहारबुद्धिनिर्ग्राह्य'** कहा गया है। और जो लोग (उपवर्ष आचार्य के मतानुयायी शबरस्वामी और कुमारिल भट्ट) धृष्टतापूर्वक एक पदानुभव **'इदमेकं पदम्'** को जाने विना वर्णों को ही वाचक मानते हैं अर्थात् वर्णों से ही अर्थप्रत्यायन होता है, ऐसा समझते हैं, उनके प्रति भाष्यकार का वक्तव्य है—**'वर्णा इति।'**

प्रश्न—वर्णों के **'वाचक'** पक्ष को मानने वाले पूर्वपक्षी से सिद्धान्ती प्रश्न करता है—क्या पदगत प्रत्येक वर्ण वाच्यविषयक ज्ञान को धारण करता है, खूंटी पर अवलम्बित छींके के समान? अथवा पदगत प्रत्येक वर्ण मिलकर अर्थज्ञान को धारण करते हैं, घटादि (वर्तुलाकार पात्र) को धारण करने वाले पत्थरों के समान?

उत्तर—प्रथम विकल्प 'प्रत्येक वर्ण वाच्यविषयक ज्ञान को धारण करता है'—युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि एक वर्ण अर्थात् पदगत प्रत्येक वर्ण से (स्वतन्त्रतया) अर्थप्रतीति नहीं हो सकती है, अथवा (तुष्यतुदुर्जनन्याय से) प्रत्येक वर्ण से अर्थप्रतीति होना मान भी लिया जाय तो पदगत द्वितीयादि वर्णों के अनुच्चार का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। अर्थात् पदगत द्वितीयादि वर्णों का उच्चारण करना व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि

---

1. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न—**एव प्रत्येकं**, ज—**एकम्**।
2. क ख ग घ थ ज—**वैयात्यात्**, च छ झ त ध न—**वैजात्यात्**।
3. क ख घ च छ ज झ त थ द ध न—**पिठर॰**, ग—**पिण्ड॰**।
4. क ख ग घ च ज झ त थ द ध न—**अर्थ॰**, छ—**अर्थे**।
5. क ख ग घ च छ ज थ द ध न—**अयःशलाका**, झ—**अशलाका**, त—**अधःशलाका**।

(अर्थप्रतीतिरूप) क्रिया के निष्पन्न हो जाने पर विशेष का आधान न करने वाले साधन (द्वितीयादि वर्ण) अपने (अर्थप्रत्यायकत्व रूप) साधनत्व को खो बैठते हैं। साधन का साधनत्व अनिष्पन्न क्रिया को सिद्ध करने में है। इस प्रकार प्रथम विकल्प त्याज्य है। अब द्वितीय विकल्प विचारार्थ बचता है। कई पत्थर मिलकर (वर्तुलाकार) घटादि पात्र को अपने ऊपर धारण कर सकते हैं। अर्थात् वर्तुलाकार पात्र पत्थरों के समवेत प्रयास से उन पर अवलम्बित रह सकता है, क्योंकि पिठर के धारक ग्रावाणों का एक समय में युगपत् रहना सम्भव है, किन्तु **'आशुविनाशी'** (तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगी) वर्णों का तो एक काल में सहावस्थान सम्भव नहीं है। अतः इन वर्णों में परस्पर अनुग्राह्य-अनुग्राहकभावसम्भव न होने से ये वर्ण मिलकर भी अर्थज्ञान को धारण नहीं करते हैं। अर्थात् इनसे अर्थप्रत्यायन नहीं होता है। तादात्म्यसम्बन्ध से **'इदमेकं पदम्'** इत्याकारक एकरूप पदत्व को प्राप्त न होने वाले, अर्थ की उपस्थिति न करने वाले तथा अयःशलाका के समान आविर्भूत तथा तिरोभूत होने वाले ये वर्ण **'अपदरूप'** कहे जाते हैं।

बालप्रिया–

'ते...प्रत्येकमपदस्वरूपा उच्यन्ते'–भाव यह है–

सिद्धान्तपक्ष–प्रत्येक वर्ण **'अपदस्वरूप'** है।

पूर्वपक्ष–सब मिले हुए **'वर्णों'** को **'वाचक'** माना जाय।

पूर्वपक्ष का खण्डन–सिद्धान्ती पूर्वपक्ष का खण्डन दो विकल्प उठाकर करता है–वर्णों का समूह वास्तविक है अथवा अवास्तविक?

प्रथम विकल्प का खण्डन–प्रथम विकल्प की तुच्छता बताने के लिए भाष्यकार ने **'एकसमयाऽसम्भावित्वात्'** हेतु उपन्यस्त किया है। हेतु का स्वरूप है–उच्चरित होकर विनष्ट (प्रध्वंस) स्वभाव वाले वर्णों की एक काल में स्थिति सम्भव नहीं है। इसलिये वर्ण **'निरनुग्रहात्मानः'** अर्थात् असम्बद्ध स्वभाव वाले हैं। अतः वर्णों का वास्तविक समूह नहीं बन सकता है। शब्दान्तर में पद या वाक्य के अन्तर्गत आने वाले समस्त वर्णों की तुल्यकाल में सहावस्थिति सम्भव नहीं है।

शङ्का–वर्ण उच्चरित होकर प्रध्वंस स्वभाव वाले हैं, इसमें ही क्या प्रमाण है?

समाधान–तदर्थ भाष्यकार बताते हैं–**'त इति।'** ये **'वर्ण'** पदत्व को प्राप्त न होकर अत एव **'अर्थप्रत्यायन'** भी न करके क्षण भर के लिये **'आविर्भूत'** होकर **'तिरोभूत'** हो जाते हैं। अतः वर्णों को उच्चरित होकर नष्ट स्वभाव वाला कहा गया है। जिन पदार्थों की एक देश में एक साथ उपस्थिति सम्भव होती है, उन्हीं पदार्थों में समूह शब्द का व्यवहार देखा जाता है। उदाहरणार्थ धव-खदिर-पलाश के वृक्षों की एक देश में स्थिति सम्भव होने से उनके लिये समूह शब्द का व्यवहार होता है।

द्वितीय विकल्प का खण्डन–वर्णों का समूह '**काल्पनिक**' भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि ऐसा मानने पर परस्पराश्रयदोष अर्थात् अन्योन्याश्रयदोष प्रसक्त होगा। दोष का स्वरूप इस प्रकार होगा–'**एकार्थप्रत्यायकत्व**' की सिद्धि होने पर एकार्थप्रत्ययरूप उपाधि से वर्णों में '**पदत्व**' की प्रतीति और वर्णों में '**पदत्व**' सिद्ध होने पर उनके '**अर्थप्रत्यायकत्व**' की सिद्धि। इस प्रकार अन्योन्याश्रयदोष से किसी की भी सिद्धि नहीं होती है।

शङ्का–स्फोटवाद के समर्थकों को भी अभिव्यक्त स्फोट से ही अर्थप्रत्यायन होता है, ऐसा मानना चाहिये। केवल स्फोट ही अर्थप्रत्यायक होता है, ऐसा नहीं करना चाहिये, क्योंकि स्फोटमात्र को अर्थप्रत्यायन का हेतु माना जायेगा, तो '**स्फोट**' के नित्य होने से सर्वदा ही अर्थोत्पत्ति का प्रसङ्ग आयेगा। क्योंकि सनातन (नित्य) होने से '**स्फोट**' अर्थप्रत्यायन (ज्ञान) का निरपेक्ष हेतु है। एवञ्च क्या पद के प्रत्येक वर्ण '**स्फोट**' को अभिव्यक्त करते हैं अथवा शब्दान्तर्गत समस्त वर्ण मिलकर स्फोट (पदस्फोट) के अभिव्यञ्जक होते हैं? ये प्रश्न स्फोटवादियों के मत में भी उपस्थित होते हैं। जैसा कि कुमारिल भट्ट ने कहा है–

यस्याऽनवयवः स्फोटो व्यज्यते वर्णबुद्धिभिः।
सोऽपि पर्य्यनुयोगेन नैकेनाऽपि विमुच्यते॥

समाधान–जैसे प्रथम दृष्टिपात में रत्नादि पदार्थ अत्यन्त स्फुट (स्पष्ट) रूप से नहीं दिखाई पड़ता है अर्थात् प्रकाशित नहीं होता है, अपितु दो, तीन, चार, पाँच बार के दर्शन (इन्द्रियार्थसन्निकर्ष) से उत्पन्न संस्कार के पाटव (दाढर्य) से युक्त अन्तिम ज्ञान में अत्यन्त स्पष्टरूप से पदार्थ भासित होता है। सरल शब्दों में जिस प्रकार किसी पदार्थ को बार-बार देखने से ही उसका स्फुट ज्ञान होता है, उसी प्रकार '**स्फोट**' को अभिव्यक्त करती हुई भी प्रत्येक '**ध्वनि**' अत्यन्त शीघ्रता एवं स्पष्ट रूप से स्फोट की अभिव्यञ्जक नहीं होती है, अपितु पूर्व-पूर्व अभिव्यक्तिजनित संस्कार से युक्त अन्तिम ध्वनि ही अत्यन्त स्पष्ट रूप से '**स्फोट**' को प्रकाशित करतीं है।

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार '**वर्ण**' कैसे '**पदत्व**' को प्राप्त होता है, इसे स्पष्ट करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

यदि पुनः पदमेकं तादात्म्येन [1]स्पृशेयुर्वर्णास्ततो नोक्तदोषप्रसङ्ग इत्याह–वर्णैरिति। वर्णः पुनरेकैकः पदात्मा सर्वाभिधानशक्तिप्रचितः सर्वाभिरभिधानशक्तिभिर्निचितः। गोगण-गौरनगेत्यादिषु हि गकारो गोत्वाद्यर्थाभिधायिषु दृष्ट इति तत्तदभिधानशक्तिः। एवं सोमशो-चिरित्यादिष्वीश्वराद्यर्थाभिधायिषु पदेष्वोवर्णो दृष्ट इति सोऽपि तत्तदभिधानशक्तिः। एवं

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त न–**स्पृशेयुः**, थ द ध–**संस्पृशेयुः**।

सर्वत्रोहनीयम्। स चैकैको वर्णो गकारादिः सहकारि यद्वर्णान्तरमोकारादि तदेव प्रतियोगि प्रतिसम्बन्धि यस्य स तथोक्तः। तस्य भावस्तत्त्वम्, तस्माद्वैश्वरूप्यं नानात्वमिवापन्नो न तु नानात्वमापन्नः। तस्य तत्त्वादेव पूर्वो वर्णो गकार उत्तरेणौकारेण गणादिपदेभ्यो व्यावर्त्यो-त्तरश्चौकारो गकारेण शोचिरादिपदेभ्यो व्यावर्त्य विशेषे गोत्व[1]वाचके गोपदस्फोटेऽव-स्थापितोऽनुसंहारबुद्धौ।

यदि तादात्म्यसम्बन्ध से वर्ण पदत्व को प्राप्त हों, तो उक्त दोष नहीं आयेगा, इस तथ्य को भाष्यकार बताते हैं–'**वर्णरिति**।' (अन्य सहकारी वर्णों की सहायता से) एक-एक वर्ण पदरूप है। वह '**सर्वाभिधानशक्तिप्रचित**' अर्थात् '**सर्वार्थबोधकशक्ति**' से युक्त है। जैसे गोत्व, गणत्व, गौरत्व, नगत्व आदि के अभिधायक (बोधक) गो, गण, गौर और नग आदि में दिखाई पड़ता हुआ गकार वर्ण तत्तद् अर्थबोधन की शक्ति से युक्त है। इसी प्रकार ईश्वरादि अर्थ के अभिधायक (वाचक) 'सोम', 'शोचि' आदि में जो 'ओ' वर्ण दिखाई पड़ता है, वह भी तत्तद् अर्थप्रत्यायन की शक्ति से युक्त है। इसी प्रकार सर्वत्र कल्पना कर लेनी चाहिये। और वह एक-एक गकारादि वर्ण अपने सहकारी ओकारादि वर्णों से सम्बन्धित होने के कारण एक होता हुआ भी अनेक सदृश प्रतीत होता है, न कि वास्तविक रूप से अनेक हो जाता है। इसलिये 'गो' पद का पूर्व वर्ण गकार उत्तरवर्ती ओकार वर्ण की सहायता से अपने को अन्य गणादि पदों से व्यावृत्त करके और 'गो' पद का उत्तरवर्ण ओकार पूर्ववर्त्ती गकार वर्ण की सहायता से अपने को 'शोचि' आदि पदों से व्यावृत्त (पृथक्) करके 'गोत्व' वाचक 'गो' पदस्फोट रूप '**अनुसंहारबुद्धि**' में स्थापित होता है।

उक्त विषय को स्पष्टता प्रदान करते हुए तत्त्ववैशारदीकार आगे कहते हैं–

तत्त्ववैशारदी

अयमभिसंधिः–अर्थप्रत्ययो हि वर्णैर्नियतक्रमतया परस्परमसंभवद्भिरशक्यः कर्तुम्। न च संस्कार[2]द्वारेणाग्नेयादीनामिव परमापूर्वं वा स्वर्गं वा जनयितव्येऽ[3]नियतक्रमाणामपि साहित्य-मर्थबुद्ध्युपजनने वर्णानामिति सांप्रतम्, विकल्पासहत्वात्।

अभिप्राय यह है कि '**नियतक्रमविशिष्ट**' होने से परस्पर असम्बद्ध स्वभाव वाले वर्णों द्वारा अर्थज्ञान होना शक्य (सम्भव) नहीं है। जैसे संस्कार अर्थात् अपूर्व द्वारा आग्नेयादि याग परमापूर्व अथवा स्वर्ग को दिलाता है, वैसे ही वर्णोच्चारणजन्य संस्कार से बना हुआ अनियतक्रमविशिष्ट वर्णों का समूह (साहित्य) भी अर्थबुद्धि

---

1. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न–**वाचके**, त–**वाचकः**।
2. क थ द ध–**द्वारा**, ख ग घ च छ ज झ त न–**द्वारेण**।
3. क छ ज त–**नियत०**, ख ग घ च झ थ द ध न–**अनियत०**।

को कराता है—ऐसा कहना न्यायसंगत नहीं है, क्योंकि इसमें कोई भी विकल्प चरितार्थ नहीं होता है।

बालप्रिया—

'न च संस्कारद्वाराऽऽग्नेयादीनाम्'—शंकामूलक उक्त वाक्य का अर्थ इस प्रकार है—**शङ्का**—पूर्वपक्षी का कहना है कि जिस प्रकार आग्नेयादि यागों का स्वरूपतः साहित्य (मिलन) होना सम्भव नहीं है, फिर भी तत्तद् आग्नेय आदि यागों से उत्पन्न संस्कार अर्थात् अपूर्व द्वारा आग्नेयादि यागों के साहित्य की कल्पना की जाती है। और इस पद्धति से आग्नेयादि यागों को (याग के समाप्त हो जाने पर भी उनको) परमापूर्व का जनक माना जाता है। उसी प्रकार प्रकृत में **'आशुविनाशी'** वर्णों का स्वरूपतः एक काल में सहावस्थानरूप **'साहित्य'** सम्भव नहीं है, फिर भी संस्कार के द्वारा आशुविनाशी वर्णों के साहित्य की कल्पना करके उन्हें अर्थप्रत्यायन का हेतु माना जा सकता है। जैसा कि वचन है—

यथाऽऽग्नेयादिकर्माणि क्रमवर्त्तीनि सन्त्यऽपि।
संहत्य कुर्वते कार्यमेव वर्णास्तथैव नः॥

समाधान—उक्त शंका के समाधानार्थ वाचस्पति मिश्र निषेधमुखेन कहते हैं कि यह सम्भव नहीं है। क्योंकि प्रस्तूयमान विकल्प की कसौटी पर यह खरा नहीं उतरता है।

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार प्रासङ्गिक विकल्पों को उपस्थित कराते हुए पूर्वपक्ष की असमीचीनता को प्रदर्शित करते हैं—

तत्त्ववैशारदी

स खल्वयं वर्णानुभवजन्यः संस्कारः स्मृतिप्रसवहेतुरन्यो वाऽऽग्नेयादिजन्य इवापूर्वाभिधानः, न तावदन्तरः, कल्पनागौरवापत्तेः। स एव तावददृष्टपूर्वः कल्पनीयः। तस्य च क्रमवद्भिर्वर्णानुभवैरेकस्य जन्यत्वं न संभवतीति तज्जातीयानेकावान्तर[1]संस्कारकल्पनेति गौरवम्। न चैष ज्ञापकहेत्वङ्गमज्ञातस्तदङ्गतामनुभवतीति। न खलु संबन्धोऽर्थप्रत्यायनाङ्गमज्ञातोऽङ्गतामुपैति।

वर्णज्ञान से उत्पन्न हुआ यह संस्कार क्या स्मृति की उत्पत्ति का हेतु है अथवा आग्नेयादि जन्य अपूर्व के समान कोई अन्य है? इनमें से द्वितीय विकल्प ठीक नहीं है, क्योंकि इस स्थिति में कल्पनागौरवदोष प्रसक्त होगा। कल्पनागौरवदोष इस प्रकार है—आग्नेयादि यागों में तो शास्त्र के आधार पर **'अपूर्व'** की कल्पना की जाती है, किन्तु यहाँ वर्णानुभव से अपूर्वाख्य संस्कार की कल्पना करने में प्रमाणाभाव है।

---

1. क ख ग घ च छ झ ट थ द ध न—**संस्कार०** उपलभ्यते, ज—**संस्कार०** नोपलभ्यते।

अतः यह अदृष्टपूर्व कल्पनान्तर्गत रहेगा। किञ्च क्रमशील वर्णानुभवों से एक अपूर्वाख्य संस्कार की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती है, किन्तु प्रथम वर्णानुभव से उत्पन्न '**अपूर्वाख्य**' संस्कार के समान अन्य वर्णानुभवों से प्रथम अपूर्वाख्य के सजातीय अवान्तरसंस्कार उत्पन्न होंगे। फलतः अनन्त अपूर्वाख्य संस्कार की कल्पना करने का गौरवदोष होगा। किञ्च अपूर्वाख्य संस्कार को मानने में केवल कल्पना-गौरवदोष ही नहीं होगा, अपितु '**इतरेतराश्रय**' अर्थात् अन्योन्याश्रयदोष भी होगा। इसी आशय को तत्त्ववैशारदीकार '**न चैषः**' से स्पष्ट करते हैं–शब्द ज्ञापकहेतु का अंग है, परन्तु अज्ञातं रहकर वह ज्ञापकहेतु का अंग नहीं होता है। और सम्बन्ध (शक्तिग्रह) जो अर्थप्रत्यायन का अंग है, वह अज्ञात रहकर अर्थप्रत्यायन का अंग नहीं हो सकता है।

बालप्रिया–

'**न चैषः**'–स्पष्टीकरण इस प्रकार है–शब्द स्वरूपतः अथवा अङ्गतः अज्ञात रहकर अथवा अज्ञात शक्तिग्रह वाला होकर अर्थज्ञान का हेतु नहीं बनता है, जैसे चक्षु का ज्ञान हुए विना भी चक्षुःसन्निकृष्ट पदार्थ का ज्ञान होता है। अपितु जब शब्द का स्वरूपतः ज्ञान होता है तभी शब्द की शक्ति गृहीत होती है। इसी प्रकार जब ज्ञापन के समस्त अङ्ग विदित रहते हैं तभी शब्द अर्थज्ञान का प्रत्यायक होता है। जैसे धूम का स्वरूपतः ज्ञान और वह्नि के साथ धूम का व्याप्यव्यापकभाव जब गृहीत रहता है, तभी धूमज्ञान वह्निज्ञान का हेतु (प्रत्यायक) होता है। अत एव उच्चरित शब्द यदि बधिर के द्वारा गृहीत न हो अथवा गृहीत होने पर भी शब्द का '**शक्तिग्रह**' अज्ञात रहे, तो ऐसा शब्द अर्थप्रत्यायन का हेतु नहीं होता है। अत एव वर्णानुभवजन्य '**अपूर्वाख्य**' संस्कार अर्थप्रत्यायन का अङ्ग (हेतु) है, ऐसा शब्दार्थज्ञान से पूर्व ज्ञान होना चाहिये, किन्तु ऐसा ज्ञान किसी अन्य उपाय से तो हो नहीं सकता है। केवल अर्थप्रत्यय होने से ही यह ज्ञात हो सकता है कि वर्णानुभवजन्य संस्कार अर्थप्रत्यायन का अङ्ग है और ऐसा मानने पर इतरेतराश्रय अर्थात् अन्योन्याश्रयदोष प्रसक्त होगा, क्योंकि अपूर्वाख्य संस्कार के निश्चय से अर्थप्रत्यय (अर्थज्ञान) और अर्थप्रत्यय के निश्चय से संस्कार का निश्चय होगा। अतः वर्णानुभवजन्य अपूर्वाख्य संस्कार मिलकर अर्थप्रत्यायन करा देंगे। अतः '**स्फोट**' को मानने की क्या आवश्यकता है–यह विकल्प दोषपूर्ण होने से त्याज्य है।

अब यदि, स्मृतिजनन का हेतुभूत भावनाख्य संस्कार अर्थप्रत्यायन का हेतु होता है, अतः '**स्फोट**' को मानने की क्या आवश्यकता है–इस प्रथम विकल्प को लिया जाय तो उसका खण्डन करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं–

तत्त्ववैशारदी

स्मृतिफलप्रसवानुमितस्तु संस्कारः स्वकारणानुभवविषयनियतो न विषयान्तरे प्रत्यय-माधातुमुत्सहते, अन्यथा यत्किञ्चिदेवै[1]केकमनुभूय सर्वः सर्वं जानीयादिति।

स्मृतिरूप फल की उत्पत्ति से अनुमित संस्कार अपने कारण अनुभवरूप विषय से नियत है, इसलिये अर्थप्रत्यायनरूप विषयान्तर में ज्ञान का आधान करने का साहस नहीं कर सकता है। अर्थात् विषयान्तर अर्थ का ज्ञान कराने में समर्थ नहीं हो सकता है, अन्यथा (जिस विषयानुभव के कारण संस्कार उत्पन्न होता है, वह संस्कार तद्विषयक ही स्मरणज्ञान कराता है किसी अन्य विषय का नहीं–ऐसा नियम स्वीकार न करने पर) कुछ थोड़ा सा अनुभव कर (तज्जन्य संस्कार से विषयान्तर) सभी लोग सब कुछ जान लेंगे अर्थात् सर्वज्ञ हो जायेंगे।

पुनः शंका की जा रही है–

तत्त्ववैशारदी

न च प्रत्येकवर्णानुभवजनितसंस्कारपिण्डलब्धजन्मस्मृतिदर्पणसमारोहिणो वर्णाः समधि-गतसहभावा वाचका इति सांप्रतम्, क्रमा[2]क्रमविपरीतक्रमानुभूतानां तत्राविशेषेणार्थधीजनन-प्रसङ्गात्। न चैतत्स्मरणज्ञानं पूर्वानुभववर्तिनीं परापरतां गोचरयितुमर्हति। तस्माद्वर्णेभ्योऽ-संभवन्नर्थप्रत्यय एकपदानुभवमेव स्वनिमित्तमुपकल्पयति।

शङ्का–प्रत्येक वर्ण के अनुभव से उत्पन्न संस्कारसमुदाय से जनित स्मृतिरूप दर्पण में आरूढ होने वाले वर्ण लब्धसाहित्य वाले होकर अर्थात् सहभाव को प्राप्त होकर वाचक अर्थात् अर्थप्रत्यायक होते हैं। (अतः जब वर्णों में ही अर्थप्रत्यायन की शक्ति निहित है, तो उनसे पृथक् अप्रामाणिक '**स्फोट**' की कल्पना निस्सार है)।

समाधान–पूर्वपक्षी का उक्त कथन न्यायसंगत नहीं है। क्योंकि (खलेकपोतन्याय से) '**क्रम**', '**अक्रम**' तथा '**विपरीत क्रम**' से स्मृत पदों में समान रूप से अर्थप्रत्यायन का प्रसङ्ग आवेगा। अर्थात् वन, नव, नदी, दीन, जरा, राजा आदि पदों में अर्थभेद की प्रतीति न होने का अनभिप्रेत प्रसंग उत्पन्न होगा। जब कि अनुभव में यह आता है कि यह नियम नहीं है कि जिस क्रम से अनुभव होता है, उसी क्रम से स्मृति हो। अपितु यथाक्रम अनुभूत पदार्थों का व्युत्क्रम से भी स्मरण देखा जाता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर तत्त्ववैशारदीकार आगे कह रहे हैं कि स्मरणज्ञान पूर्वानुभव-वर्ती परम्परा को विषय करने के लिये समर्थ नहीं होता है। इसलिये वर्णों से

---

1. क ज त थ द ध–**एकं**, ख ग घ च छ झ न–**एकैकम्**।
2. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न–**अक्रम०** उपलभ्यते, ज–**अक्रम०** नोपलभ्यते।

अर्थप्रत्यायन होना असम्भव है। अतः '**इदमेकं पदम्**'–यह अनुभव ही अपने निमित्त '**स्फोट**' की कल्पना करता है।

पूर्वपक्षी की ओर से पुनः शंका की जा रही है–

तत्त्ववैशारदी

[1]**न चैष पदेऽपि प्रसङ्गः, तद्धि प्रत्येकमेव प्रयत्नभेदभिन्ना ध्वनयो व्यञ्जयन्तः परस्पर-विसदृशतत्तत्पदव्यञ्जकध्वनिभिस्तुल्यस्थानकरणनिष्पन्नाः सदृशाः सन्तोऽन्योन्यविसदृशैः पदैः पदमेकं सदृशमापादयन्तः प्रतियोगिभेदेन तत्तत्सादृश्यानां भेदात्तदुपधानादेकमप्यनवयवमपि सावयवमिवानेकात्मकमिवावभासयन्ति।**

शङ्का–पद को अर्थप्रत्यायक मानने पर भी उपर्युक्त दोष आयेंगे?

समाधान–ऐसी बात नहीं है, क्योंकि भिन्न-भिन्न प्रयत्नभेद से अभिव्यक्त होती हुई ध्वनियाँ, एक दूसरे से विसदृश तत्तत् पदों की व्यञ्जक ध्वनियों के द्वारा तुल्य स्थान और करण से निष्पन्न होकर उन्हीं के सदृश हुईं, अन्योन्य विसदृश (परस्पर भिन्न-भिन्न) पदों के साथ एक पद के सादृश्य का आपादन करती हुईं, प्रतियोगिभेद से पदों के सादृश्य का भेद होने से सादृश्यरूप उपाधि के कारण '**एक**' और '**निरवयव**' होते हुए भी पद को सावयव के समान और अनेक रूप वाले के समान अव-भासित करती हैं।

उक्त तथ्य को तत्त्ववैशारदीकार दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

यथा नियतवर्णपरिमाणसंस्थानं मुखमेकमपि मणिकृपाणदर्पणादयो विभिन्नवर्णपरिमाण-संस्थानमनेकमादर्शयन्ति न परमार्थतः।

जैसे मणि, कृपाण, दर्पण आदि वस्तुएँ (अपने में प्रतिबिम्बित) निश्चित वर्ण और आकार वाली एक मुखाकृति (संस्थानविशेष) को भी नाना प्रकार के रूप और आकृति के समान अनेक सदृश प्रदर्शित करती हैं, न कि पारमार्थिक रूप से ऐसी भिन्न प्रतीति होती है।

बालप्रिया–

मणि, दर्पण, कृपाणादि भिन्न-भिन्न प्रतिबिम्बग्राहकों में प्रतिफलित तुल्य (एक) मुख दर्पणादिगत दोष के कारण अपने यथार्थ रूप और आकार को नहीं खो बैठता है, अपितु अज्ञानतावश मनुष्य अपनी मुखाकृति को नाना प्रकार की विसदृशताओं (लम्बी-चौड़ी आदि विकृतियों) से प्रभावित (ग्रसित) समझता है। इसी प्रकार प्रकृत

---

1. क ख घ च छ ज झ त थ द ध न–न, ग–न **वाग्देवी।**

में '**ध्वनियाँ**' भी पारमार्थिक रूप से एक पद को सावयव और अनेक के समान नहीं करती हैं, किन्तु एक ही '**पद**' आपाततः अनेक सदृश **प्रतीत**' होता है।

तत्त्ववैशारदीकार उक्त तथ्य को स्थाणुनिखननन्याय से पुनः सुस्पष्ट करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

सादृश्योपधानभेदकल्पिता भागा एव निर्भागस्य पदस्य वर्णाः। तेन तद्बुद्धिर्वर्णात्मना पदभेदे स्फोटमभेदमेव निर्भागमेव सभेदमिव सभागमिवालम्बते। अतो गोपदस्फोटभेदस्यैकस्य गकारभागो गौरादिपदस्फोटसादृश्येन न निर्धारयति, स्वभागिनमित्योकारेण विशिष्टो निर्धार- यति। एवमोकारोऽपि भागः शोचिरादिपदसदृशतया न शक्तो निर्धारयितुं स्वभागिनं गोपद- स्फोटमिति गकारेण विशिष्टो निर्धारयति। असहभाविनामपि च संस्कारद्वारेणास्ति सहभाव इति विशेषणविशेष्यभावोपपत्तिः। न च भिन्नविषयत्वम्, संस्कारयोः भागद्वयविषययोरनुभ- वयोस्तज्जन्मनोश्च संस्कारयोरेकपदविषयत्वात्। केवलभागानुभवेन पदमव्यक्तमनुभूयते। अनु- संहारधिया तु भागानुभवयोनिसंस्कारलब्धजन्मना व्यक्तमिति

सादृश्यरूप उपाधि से कल्पित अवयव ही '**निर्भाग**' पद के वर्ण हैं। अतः वर्ण के कारण अवयवबुद्धि से पदविशेष से '**अभिन्न**' और '**निर्भाग**' (निरंश) स्फोट ही सभेद और सभाग के समान गृहीत होता है। अतः 'गो' पदरूप एक स्फोटविशेष का गकार भाग 'गौर' आदि '**पदस्फोट**' के सादृश्य से अपने स्वभागी अर्थात् पदस्फोट का ज्ञान नहीं कराता है, अपितु ओकारविशिष्ट होकर अपने स्वभागी अर्थात् '**गो**' पदस्फोट का निर्धारण कराता है। इसी भाँति '**गो**' पदस्फोट का ओकारभाग '**शोचि**' आदि पद के सादृश्य से अपने स्वभागी 'गो' पदस्फोट का निर्धारण करने में समर्थ नहीं होता है, अपितु गकार से विशिष्ट (संबन्धित) ओकार 'गो' पदस्फोट को निर्धारित करता है। और तुल्य काल में साहित्य (समूह) को न प्राप्त होने वाले वर्णों का साहित्य भी संस्कार के द्वारा हो जाता है। इस प्रकार ऊपर कहा हुआ गकारविशिष्ट ओकार और ओकारविशिष्ट गकार–ऐसा विशेष्यविशेषणभाव भी उपपन्न हो जाता है। यहाँ दो संस्कारों ('गो' पद के गकार और ओकार वर्णानुभवजन्य संस्कारों) की भिन्न-विषयता भी नहीं है। अर्थात् ये संस्कार भिन्नविषयक नहीं हैं, क्योंकि गकार और ओकाररूप दो भाग (अवयव) विषयक अनुभव से जन्य दो संस्कारों का एक 'गो' पद विषय है। अन्तर केवल इतना है कि पद के एक-एक वर्ण (वर्णावयव) विषयक अनुभव से पद का अव्यक्तज्ञान होता है और पद के अन्तिम वर्णावयव-विषयक अनुभव से उत्पन्न होने वाले संस्कार से जन्य '**अनुसंहारबुद्धि**' अर्थात् पदानुसंहारबुद्धि से पद का व्यक्तज्ञान होता है।

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार पश्चाद्वर्ती व्यक्तज्ञान में पूर्ववर्ती अव्यक्तज्ञान की उपयोगिता को सोदाहरण स्पष्ट करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

अव्यक्तानुभवाश्च प्राञ्चः संस्काराधानक्रमेण व्यक्तमनुभवमादधाना दृष्टाः, यथा दूराद्वनस्पतौ [1]हस्तिप्रत्यया [2]अव्यक्ता व्यक्तवनस्पतिप्रत्ययहेतवः।

प्राचीन अर्थात् पूर्ववर्ती अव्यक्त अनुभव संस्काराधान के क्रम से (पश्चाद्वर्ती) अनुभव को व्यक्तता प्रदान करते देखे जाते हैं। अर्थात् पूर्ववर्ती अस्पष्ट अनुभव पश्चाद्वर्ती स्पष्ट अनुभव का कारण अर्थात् सहायक होता है। जैसे दूर से वनस्पति में होने वाला हस्तिविषयक अव्यक्त ज्ञान वनस्पतिविषयक व्यक्त ज्ञान का हेतु होता है।

बालप्रिया–

'दूराद्वनस्पतौ...'–जिस प्रकार दूरवर्ती आम्रवृक्ष प्रथम दृष्टिपात में हस्ती के पुआलपुञ्ज अर्थात् भूसी के ढेर के रूप से प्रतिभासित होता है, बाद में समीप से इन्द्रियार्थसन्निकर्ष होने पर वह वृक्ष रूप से प्रकाशित (ज्ञात) होता है और इस क्रम से अन्त में आम्रवृक्ष के रूप से स्फुटतया परिज्ञात होता है। इसी प्रकार पदगत पूर्व-पूर्व वर्णविषयक अस्पष्ट अनुभव चरम वर्णविषयक स्पष्टज्ञान में सहायकीभूत होता है।

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में अन्तर प्रदर्शित करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

न चेयं विधा वर्णानामर्थप्रत्यायने संभविनी। नो खलु वर्णाः प्रत्येकमव्यक्तमर्थप्रत्ययमादधत्यन्ते व्यक्तमिति शक्यं वक्तुम्, प्रत्यक्षज्ञान एव नियमाद् व्यक्ताव्यक्तत्वस्य। वर्णाधेयस्त्वर्थप्रत्ययो न प्रत्यक्षः। तदेष वर्णेभ्यो जायमानः स्फुट एव जायेत, [3]न वा जायेत न त्वस्फुटः। स्फोटस्य तु ध्वनिव्यङ्ग्यस्य प्रत्यक्षस्य सतः स्फुटत्वाऽस्फुटत्वे कल्प्येते इत्यसमानम्।

(ध्यान देने योग्य बात यह है कि) यह प्रकार वर्णों के अर्थप्रत्यायन में सम्भव नहीं है, क्योंकि पदगत प्रत्येक वर्ण अस्फुट रूप से भी अर्थज्ञान नहीं कराते हैं, जिससे वे बाद में स्फुट अर्थज्ञान कराते हैं–ऐसा कहा जा सके। और व्यक्ताव्यक्त (पदार्थ का पहले अस्पष्ट ज्ञान और बाद में स्पष्ट ज्ञान) का नियम प्रत्यक्षज्ञान में ही चरितार्थ होता है। किन्तु वर्ण से होने वाला अर्थप्रत्यय प्रत्यक्षरूप नहीं है। वर्णों से होने वाला प्रत्यय या तो स्फुट ही होगा या होगा ही नहीं, किन्तु अस्पष्ट नहीं होगा–जब कि

---

1. क घ च छ झ त–**अस्ति०**, ख ग ज थ द ध न–**हस्ति०**।
2. क ख ग घ च छ ज थ द ध न–**अव्यक्ताः**, झ–**व्यक्ताव्यक्ताः**, त–**अव्यक्ताः/व्यक्ताव्यक्ताः** नोपलभ्यते।
3. थ द ध–**न वा जायेत** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न–**न वा जायेत** नोपलभ्यते।

'**ध्वनिव्यङ्ग्य**' प्रत्यक्षात्मक '**स्फोट**' को मानने पर अर्थप्रत्यायन में अस्फुटता और स्फुटता की कल्पना की जा सकती है।

उक्त तथ्य को आगे बढ़ाया जा रहा है—

तत्त्ववैशारदी

एवं प्रत्येकवर्णानुभवजनितसंस्कारसहितश्रोत्रलब्धजन्मन्यनुसंहारबुद्धौ संहता वर्णा एकपदस्फोटभावमापन्नाः [1]प्रयत्नविशेषव्यङ्ग्यतया प्रयत्नविशेषस्य च नियतक्रमा[2]पेक्षतया [3]क्रमस्यान्यत्वे तदभिव्यञ्जकप्रयत्नविशेषाभावेन तदभिव्यक्त्यभावप्रसङ्गात्क्रमानुरोधिनोऽर्थसंकेतेनावच्छिन्नाः, संकेतावच्छेदमेव लौकिकं सभागपदविषयं दर्शयन्ति, इयन्तो द्वित्रास्त्रिचतुराः पञ्चषा वा एते सर्वाभिधानशक्तिपरिवृत्ता गकारौकारविसर्जनीयाः सास्नादिमन्तमर्थमवद्योतयन्तीति।

इस प्रकार प्रत्येक वर्ण के अनुभव से जन्य संस्कारों से युक्त श्रोत्र के द्वारा उत्पन्न होने वाली '**अनुसंहारबुद्धि**' में एकपदस्फोटरूपता को प्राप्त हुए संहत वर्ण '**प्रयत्नविशेष**' के द्वारा व्यङ्ग्य होने के कारण और प्रयत्नविशेष के '**नियतक्रम**' की अपेक्षा करने से क्रमान्यत्व में तदभिव्यञ्जक प्रयत्नविशेष का अभाव होने से, एक पदस्फोटात्मक वर्णों की अभिव्यक्ति का प्रसङ्गाभाव होने से, क्रम का अनुसरण करते हुए अर्थसंकेत से अवच्छिन्न होकर लौकिक तथा सावयव पदविषयक संकेतरूप धर्म को ही प्रदर्शित करते हैं। इस प्रकार इतने दो-तीन, तीन-चार अथवा पाँच-छह आदि निश्चित संख्या वाले ये '**सर्वाभिधानशक्ति**' से युक्त गकार, औकार और विसर्ग रूप तीनों '**वर्ण**' मिलकर सास्नादियुक्त (गोव्यक्तिरूप) '**अर्थ**' को प्रकाशित करते हैं।

बालप्रिया—

'**प्रयत्नविशेषव्यङ्ग्यतया...क्रमाऽनुरोधिनः**'—इस प्रकार अन्वय करना चाहिये और शेष ग्रन्थ (अवशिष्ट अंश) उसी तथ्य का उपादानपरक है।

पद को अतिरिक्त न मानने पर बल देता हुआ पूर्वपक्षी कहता है—

तत्त्ववैशारदी

तत्किमिदानीं संकेतानुसारेण वर्णानामेव वाचकत्वम्। तथा च न पदं नाम किञ्चिदेकमित्यत आह—तदेतेषामिति। ध्वनिनिमित्तः क्रमो ध्वनिक्रमः। उपसंहृतो ध्वनिक्रमो येषु ते

---

1. क—**प्रयत्नविशेषव्याप्यतया,** ख घ च छ ज झ त थ द ध न—**प्रयत्नविशेषव्यङ्ग्यतया,** ग—**प्रयत्न .....नोपलभ्यते।**
2. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न—**अपेक्षतया,** ज—**आक्षेपकतया।**
3. क ख ग थ द ध—**क्रम०,** घ च छ ज झ त न—**क्रमस्य।**

तथोक्ताः। बुद्ध्या निर्भास्यते प्रकाश्यते इति बुद्धिनिर्भासः। संकेतावच्छिन्नाः स्थूलदर्शि-लोकाशयानुरोधेन गकारौकारविसर्जनीया इत्युक्तम्, गकारादीनामपि तद्भागतया तादात्म्येन [1]वाचकत्वात्। प्रतीत्यनुसारतस्त्वेकमेव पदं वाचकमित्यर्थः। एतदेव स्पष्टयति—[2]तदेकमिति। तदेकं पदं लोकबुद्ध्या [3]प्रतीयत इति सम्बन्धः। कस्मादेकमित्यत आह—एकबुद्धि[4]विषयमिति। गौरित्ये[5]कं पदमित्येकाकाराया बुद्धेर्विषयो यतस्तस्मादेकम्। तस्य व्यञ्जकमाह—एकप्रयत्नाक्षिप्तमिति। [6]रस इति पदव्यञ्जकात्प्रयत्नाद्विलक्षणः सर इति पद-व्यञ्जकः प्रयत्नः। स चोपक्रमतः सर इति पदव्यक्ति[7]लक्षणफलावच्छिन्नः पूर्वापरीभूत एकः, तदा[8]क्षिप्तम्। भागानां सादृश्योपधानभेदकल्पितानां परमार्थसतामभावादभागम्। अत एव पूर्वापरीभूतभागाभावादक्रमम्। ननु वर्णाः पूर्वापरीभूतास्ते चास्य भागा इति कथमक्रममभागं चेत्यत आह—अवर्णमिति। न ह्यस्य वर्णा भागाः, किं तु सादृश्योपधानभेदात्पदमेव तेन तेनाकारेणापरमार्थसता प्रथते। न हि मणिकृपाणदर्पणादिवर्तीनि मुखानि मुखस्य परमार्थ-सतोऽवयवा इति। बौद्धमनुसंहारबुद्धौ विदितम्। अन्त्यवर्णप्रत्ययस्य व्यापारः संस्कारः पूर्व-वर्णानुभवजनितसंस्कारसहितः, तेनोपस्थापितं विषयीकृतम्। वर्णानुभवतत्संस्काराणां च पद-विषयत्वमुपपादितमधस्तात्।

शङ्का—जब पूर्वोक्त संकेत के अनुसार वर्णों को ही वाचक मान लिया, तब उनसे अतिरिक्त कोई एक पद तो सिद्ध नहीं होता है?

समाधान—इस पर भाष्यकार कहते हैं—'**तदेतेषामिति**।' भाष्य में ध्वनिनिमित्त क्रम को '**ध्वनिक्रम**' कहा गया है। इस प्रकार जिनका ध्वनिक्रम उपसंहृत हो गया है, वे वर्ण '**उपसंहृतध्वनिक्रम**' वाले कहे जाते हैं। जो बुद्धि द्वारा निर्भासित अर्थात् प्रकाशित होता है, उसे '**बुद्धिनिर्भास**' कहते हैं। गकार, ओकार तथा विसर्जनीय से युक्त 'इस पद से यह अर्थ लिया जाय'—इस प्रकार के संकेत से अवच्छिन्न, स्थूलदर्शी लोगों के अनुसार गकारादि वर्ण भी पद के भाग होने से पदरूप होकर अर्थ के वाचक होते हैं। किन्तु प्रतीति के अनुसार (अनुभव के आधार पर) एक ही पद वाचक है, ऐसा कहा जाता है। इसी तथ्य को भाष्यकार स्पष्ट करते हैं—'**तदेकमिति**।' वह अखण्ड

---

1. क ख ग घ च छ त थ द ध न—**वाचकत्वात्**, ज झ—**वाचकत्वज्ञानात्**।
2. थ द ध—**तदेकमिति** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न—**तदेकमिति** नोपलभ्यते।
3. क ख ग थ द ध—**प्रतीयते**, घ च छ ज झ त न—**प्रतयितः**।
4. क घ च ज झ त न—**विषयं**, ख ग छ थ द ध—**विषयमिति**।
5. क ख ग घ च छ झ थ द थ न—**एकं**, ज त—**एतत्**।
6. क ख ग—**रसः रसः रसः**, घ च छ ज झ त थ द ध न—**रसः सरः सरः**।
7. क ख ग घ च छ थ द ध न—**लक्षणफल०**, ज झ त—**लक्षणेन**।
8. क ख ग घ च ज झ त थ द ध न—**आक्षिप्तम्**, छ—**आक्षिप्त०**।

'**स्फोट**' रूप '**पद**' वर्णों के समान '**अनेक**' नहीं, किन्तु '**एक**' है, ऐसा लोकव्यवहार से प्रतीत होता है।

शङ्का–वह पदरूप '**स्फोट**' एक क्यों है।

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**एकबुद्धिविषयमिति**।' '**गो**' यह एक पद है–इत्याकारक एक बुद्धि का विषय होने से '**पद**' को '**एक**' कहा गया है। (दूसरी ओर वर्ण अनेक हैं और अनेक बुद्धि के विषय हैं)। सम्प्रति, भाष्यकार पद के व्यञ्जक को बताते हैं–'**एकप्रयत्नाक्षिप्तमिति**।' '**रस**' इस पद के व्यञ्जक ध्वनिरूप प्रयत्न से '**सर**' इस पद का व्यञ्जक ध्वनिरूप प्रयत्न विलक्षण (भिन्न) है और वह क्रमविशिष्ट एक प्रयत्नविशेष से प्रारम्भ होकर ही '**सर**' इस पद की ही अभिव्यक्ति कराता है। अतः एक प्रयत्न से ही वह पद आक्षिप्त होता है। सादृश्यरूप उपाधि के भेद से पद के अवयवों की कल्पना की गई है। वास्तव में पद के अवयव नहीं होते हैं, इसलिये पद '**निर्भाग**' है। पूर्व तथा पर किसी अवयव के न होने से पद को '**अक्रम**' कहा गया है। (अतः पद को अखण्ड स्फोटरूप मानना चाहिये)।

शङ्का–पूर्व तथा पर अवस्था वाले वर्ण ही पद के भाग हैं। ऐसी स्थिति में पद को कैसे '**अक्रम**' (क्रमरहित) और '**निर्भाग**' (निरंश) कहा गया है?

समाधान–इस पर भाष्यकार का वक्तव्य है–'**अवर्णमिति**।' वर्ण पद के अवयव नहीं हैं, किन्तु सादृश्यरूप उपाधिविशेष से पद ही अवास्तविक रूप से वर्णाकार सदृश प्रतीत होता है। जैसे मणि, कृपाण, दर्पण में प्रतिबिम्बित अनेक मुख वास्तविक एक मुख के अवयव नहीं होते हैं, फिर भी उपाधिभेद से एक मुख अनेक प्रतीत होता है। अतः वर्ण से भिन्न पद को '**अवर्ण**' कहा जाता है। पद '**बौद्ध**' अर्थात् अनुसंहार-बुद्धिग्राह्य है। अन्त्य वर्ण के अनुभव का जो व्यापार अर्थात् संस्कार है, वह अन्त्य वर्ण के पूर्ववर्ती समस्त वर्णों के ज्ञान से उत्पन्न होने वाले संस्कार से युक्त होता है। अतः ऐसे संस्कार का पद विषय होता है। अर्थात् पूर्व-पूर्व वर्ण के अनुभव से जन्य संस्कार के सहित अन्तिम वर्णजन्य संस्कार से पद अभिव्यक्त होता है, क्योंकि वर्णानुभव और उनके संस्कारों में पदविषयता है, यह बात पहले बताई जा चुकी है।

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार '**पद**' के अभागादि रूप पर विचार हैं–

तत्त्ववैशारदी

स्यादेतत्–अभागमक्रममवर्णं चेत्पदतत्त्वं कस्मादेवंविधं कदाचिन्न प्रथते, न हि लाक्षारसावसेकोपधानापादितारुणभावः स्फटिकमणिस्तदपगमे स्वच्छधवलो नानुभूयते। तस्मात्पारमार्थिका एव वर्णाः? इत्यत आह–परत्रेति। प्रतिपिपादयिषया वर्णैरेवाभिधीयमानैरुच्चार्यमाणैः श्रूयमाणैश्च श्रोतृभिरनादिर्योऽयं वाग्व्यवहारो विभक्तवर्णपदनिबन्धनस्तज्जनिता वासना

साप्यनादिरेव। तदनुविद्धया तद्वासितया लोकबुद्ध्या विभक्तवर्णरचितपदावगाहिन्या सिद्धवत्परमार्थवत्संप्रतिपत्त्या संवादेन वृद्धानां पदं प्रतीयते। एतदुक्तं भवति–अस्ति कश्चिदुपाधिर्य उपधेयेन संयुज्यते वियुज्यते च। यथा लाक्षादिः। तत्र तद्वियोगे स्फटिकः स्वाभाविकेन स्वच्छधवलेन रूपेण प्रकाशत इति युज्यते। पदप्रत्ययस्य तु प्रयत्नभेदोपनीतध्वनिभेदादन्यतोऽनुत्पादात्तस्य च तदा सादृश्यदोषदूषिततया वर्णात्मनैव प्रत्ययजनकत्वमिति कुतो निरुपाधिनः पदस्य प्रथा?

शङ्का–पदतत्त्व यदि '**अभाग**', '**अक्रम**' और '**अवर्ण**' रूप है तो वह अपने वास्तविक रूप से कभी अभिव्यक्त क्यों नहीं होता है? जिस प्रकार लाक्षारस (महावर) रूप उपाधि के सन्निधान से रक्तिमता को प्राप्त स्फटिक मणि उपाधि के निवृत्त हो जाने पर अपने स्वच्छ श्वेतिम रूप से अनुभव में नहीं आती है, ऐसा नहीं है। अर्थात् वह अपने निजी श्वेतिम रूप से प्रतिभासित होती है। किन्तु पद तो अपने '**अभाग**' '**अक्रम**' '**अवर्ण**' रूप से कभी भी अनुभव में नहीं आता है। इसलिये वर्ण ही पारमार्थिक अर्थात् वास्तविक हैं।

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**परत्रेति**।' दूसरों को अर्थ-बोध कराने की इच्छा से वक्ता के द्वारा उच्चार्यमाण और श्रोता के द्वारा श्रूयमाण वर्णों से ही वर्ण और पद का भेदमूलक यह अनादि वाग्व्यवहार चल रहा है और तज्जनित वासना भी अनादि ही है। ऐसे भिन्न-भिन्न वर्ण से निर्मित पद का अवगाहन करने वाली अनादि वासना से वासित लोकबुद्धि से 'सिद्धवत्'=परमार्थवत् '**सम्प्रतिपत्ति**' अर्थात् संवाद होने से वृद्धों को (वर्णात्मक) '**पद**' की प्रतीति होती है। तात्पर्य यह है–कोई उपाधि है, जो उपधेय से संयुक्त और वियुक्त होती है, जैसे लाक्षादि। अर्थात् लाक्षादि उपाधि उपधेय स्फटिक से संयुक्त और वियुक्त होती है। उपाधि-उपाधिमान् के इस प्रस्तूयमान दृष्टान्त में लाक्षादिरूप उपाधि के निवृत्त होने पर उपाधिमान् स्फटिक अपने नैसर्गिक उज्ज्वल वर्ण से प्रकाशित होता है–यह युक्तिसङ्गत है। किन्तु पदप्रत्यय की तो प्रयत्नविशेष से होने वाले ध्वनिविशेष से भिन्नता होने से और किसी अन्य उपाय से उत्पत्ति न होने से उसके उस समय सादृश्यदोष से दूषित होने के कारण वर्णात्मक रूप से ही ज्ञानजनकता है। अतः पद निरुपाधि है, यह प्रसिद्धि कैसे?

बालप्रिया–

'**कुतो निरुपाधिनः पदस्य प्रथा**'–अभिप्राय यह है–रुदित, हसित आदि में वर्णभेद से ध्वनि की सत्ता रहने पर भी सादृश्यदोष से संवलित होने के कारण वर्णरूप से ही ध्वनियों में ज्ञानजनकत्व उपलब्ध होता है, इसलिये निरुपाधिक पदत्वप्रतीति संभव नहीं है।

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार पदप्रत्यय में सदा सादृश्यदोष के कारण वर्णरूप से ही ज्ञानजनकता है, इसे परिपुष्ट करने के लिये वचन उद्धृत करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

यथाहुः–

ध्वनयः सदृशात्मानो विपर्यासस्य हेतवः।
उपलम्भकमेतेषां विपर्यासस्य कारणम्॥
उपायत्वाच्च नियतः पददर्शितदर्शिनाम्।
ज्ञानस्यैव च बाधेयं लोके ध्रुवमुपप्लवः॥ इति।

यतः पदात्मा विभक्तवर्णरूषितः प्रकाशतेऽतः **स्थूलदर्शी लोको वर्णानेव पदमभिमन्यमानस्तानेव प्रकारभेदभाजोऽर्थभेदे संकेतयतीत्याह–तस्येति। तस्य पदस्याजानत एकस्यापि** संकेतबुद्धितः **स्थूलदर्शिलोकहिताय वर्णात्मना विभागः। विभागमाह–**[1]**एतावतामिति।** एतावतां न न्यूनानामधिकानां वा, **एवंजातीयको नैरन्तर्यक्रमविशेषोऽनुसंहार एकबुद्ध्युपग्रह एतस्यार्थस्य गोत्वादेर्वाचक इति।** ननु यद्ये[2]**तस्यार्थस्यायं शब्दो वाचक इति संकेतः, हन्त** भोः शब्दार्थयोर्नेतरेतराध्यासस्तर्हीत्यत आह–**संकेतस्त्विति। स्मृतावात्मा स्वरूपं यस्य स** तथोक्तः। न हि कृत इत्येवं संकेतोऽर्थमवधारयति, अपि तु **स्मर्यमाणः। एतदुक्तं भवति**– अभिन्नाकार एव संकेते कथञ्चिद्भेदं [3]**परिकल्प्य षष्ठी प्रयुक्तेति। य एषां प्रविभागज्ञः स तत्र** संयमे भवति **सर्ववित्सर्वभूतरुतज्ञ इति।**

जैसा कि कहा गया है–'**ध्वनयः...ध्रुवमुपप्लवः**' अर्थात् 'समानाकार ध्वनियाँ विपर्यास (उलटा-पुलटा भ्रमात्मक ज्ञान) की कारण होती हैं। वस्तुतः समानाकार ध्वनियों की प्रतीति कराने वाला श्रवण ही विपर्यास का कारण है। 'यह एक पद है'–इस प्रकार प्रतीति करने वाले स्थूलदर्शी लोगों के लिये यह ध्वनि-श्रवण ही एकमात्र निश्चित उपाय है। निरुपाधिक पद की प्रतीति कहना यह पदज्ञान में बाधक है। अन्यथा लोकव्यवहार व्यवस्थित नहीं रह सकेगा।'

क्योंकि भिन्न-भिन्न वर्णों से युक्त होकर ही पद का स्वरूप प्रकाशित होता है, इसलिए साधारण लोग वर्णों को ही पद समझकर उन्हें भिन्न-भिन्न अर्थ में संकेतित करते हैं, ऐसा भाष्यकार बतलाते हैं–'**तस्येति।**' पद के ऐसे स्वरूप को न जानने वाले स्थलूदर्शी पुरुष के हित के लिये उस एक पद का भी संकेतबुद्धि से वर्णात्मक विभाग किया जाता है। किस प्रकार एक पद का वर्ण रूप से विभाग किया जाता

---

1. थ द ध–**एतावतामिति** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न–**एतावतामिति** नोपलभ्यते।
2. क च छ झ थ द ध–**एकस्य**, घ ज त न–**एतस्य**, ख ग–**एकस्य/एतस्य नोपलभ्यते।**
3. क थ द ध–**विकल्प्य**, ख घ च छ ज झ त न–**परिकल्प्य**, ग–**विकल्प०**।

है, उसे भाष्यकार प्रदर्शित करते हैं–**'एतावतामिति।'** **'एतावतां'** अर्थात् न्यून और अधिक से रहित, निश्चित संख्या वाले **'एवंजातीयकः'** अर्थात् अमुक-अमुक निश्चित वर्णों का **'अनुसंहारः'** अर्थात् इस प्रकार का नैरन्तर्यरूप क्रमविशेष एक बुद्धि का विषय होता है और वह गोत्वादि किसी एक अर्थ का वाचक होता है।

शङ्का–जब 'इस अर्थ का वाचक अमुक शब्द है'–ऐसा संकेत निर्धारित है, तो शब्द और अर्थ का इतरेतराध्यास कैसे हो सकता है?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–**'संकेतस्त्विति।'** पद-पदार्थों का परस्पर अध्यास-रूप अर्थात् आरोपित अभेदरूप उक्त संकेत **'स्मृत्यात्मक'** है। **'स्मृतावात्मा स्वरूपं यस्य स तथोक्तः'**–इसमें बहुब्रीहि समास है। जो यह शब्द है, वही अर्थ है और जो यह अर्थ है, वही शब्द है'–इस प्रकार का इतरेतराध्यासरूप **'संकेत'** अर्थ का निश्चय नहीं कराता है, किन्तु व्याकरण, स्मृति द्वारा शब्दसंकेत स्मृत है। अभिप्राय यह है–अभिन्नाकार में शब्द और अर्थ का संकेत होने पर भी किसी प्रकार से दोनों में अर्थात् पद-पदार्थ में भेद की परिकल्पना करके उनमें (**'पदपदार्थयोः'** रूप से) षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया जाता है। शब्द, अर्थ और ज्ञान के ठीक-ठीक भेद को जो योगी जानता है, वह शब्दादि के भेद में **'संयम'** करके **'सर्ववित्'** अर्थात् समस्त प्राणि-समुदाय की बोली का ज्ञाता हो जाता है।

अखण्ड पद की भाँति अखण्ड वाक्य के सिद्धान्त का विशदीकरण किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

तदेवं [1]कल्पितवर्णभागमेकमनवयवं पदं व्युत्पाद्य कल्पितपदविभागं वाक्यमेकमनवयवं व्युत्पादयितुमाह–सर्वपदेषु चास्ति वाक्यशक्तिरिति। अयमभिसंधिः–परप्रत्यायनाय शब्द प्रयुज्यते। [2]तत्र तदेव च परं प्रति प्रतिपादयितव्यं यत्तैः प्रतिपित्सितम्। तदेव तैः प्रतिपित्सितं यदुपादानादिगोचरः। न [3]च पदार्थमात्रं तद्गोचरः किं तु वाक्यार्थ इति वाक्यार्थपरा एव सर्वे शब्दाः। तेन स एव तेषामर्थः। अतो यत्रापि केवलस्य पदस्य प्रयोगस्तत्रापि पदान्तरेण सहैकीकृत्य ततोऽर्थो गम्यते, न तु केवलात्। कस्मात्? तन्मात्रस्यासामर्थ्यात्। तथा च वाक्यमेव तत्र तत्र वाचकं न तु पदानि। तद्भागतया तु तेषामप्यस्ति वाक्यार्थवाचकशक्तिः पदार्थ इव पदभागतया वर्णानाम्। तेन यथा वर्ण एकैकः सर्वपदार्थाभिधानशक्तिप्रचित एवं पदमप्येकैकं सर्ववाक्यार्थाभिधानशक्तिप्रचितम्। तदिदमुक्तम्–सर्वपदेषु चास्ति वाक्यशक्तिः।

---

1. क थ द ध–**विकल्पित०**, ख ग घ च छ ज झ त न–**कल्पित०**।
2. क ख ग घ च छ ज झ त न–**तत्र** उपलभ्यते, थ द ध–**तत्र** नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च छ ज झ त न–**च** उपलभ्यते, थ द ध–**च** नोपलभ्यते।

इस प्रकार कल्पित वर्ण भागरूप एक अनवयव (अवयवरहित, निरंश)पद को व्युत्पादित करके भाष्यकार कल्पित पद विभागरूप एक अनवयव वाक्य को व्युत्पादित करने के लिये कहते हैं–'**सर्वपदेषु चास्ति वाक्यशक्तिरिति**' गूढार्थ (अभिप्राय) यह है–दूसरे व्यक्ति को बोध कराने के लिये शब्द का प्रयोग किया जाता है। दूसरे व्यक्ति के प्रति वही प्रतिपादन के योग्य होता है, जिसे वक्ता प्रतिपादित करना चाहता है। किञ्च वक्ताओं द्वारा वही प्रतिपित्सित होता है जो ग्रहण करने योग्य रहता है। किञ्च पदार्थमात्र ग्रहण करने योग्य नहीं होता है, अपितु वाक्यार्थ ही ग्रहण करने योग्य होता है। अतः जितने शब्द हैं, वे सब वाक्यार्थपरक ही होते हैं और वही उन शब्दों का अर्थ होता हैं। इसलिये जहाँ केवल एक पद का भी प्रयोग होता है, वहाँ भी (आकांक्षित) पदान्तर के साथ उसको एकीकृत (संयोजित) करके अर्थ को समझा जाता है, न कि केवल एक शब्द से अर्थबोध होता है।

शङ्का–एक शब्द से अर्थावबोध क्यों नहीं होता है?

समाधान–क्योंकि एक पद में अर्थावबोध का सामर्थ्य निहित नहीं है। अर्थात् एक पद से अर्थबोध नहीं होता है। अतः वाक्य ही सर्वत्र वाचक होता है, न कि पद। पद के भाग होने से जैसे वर्णों में पदार्थशक्ति निहित है, वैसे ही वाक्य के भाग होने से पदों में भी वाक्यार्थशक्ति रहती है। अतः जैसे एक-एक वर्ण सर्वपदार्थबोधन की योग्यता से युक्त है, वैसे ही एक-एक पद सर्व वाक्यार्थाभिधानशक्ति से (वाक्यार्थज्ञान कराने के सामर्थ्य से) युक्त है। इसलिये कहा गया है कि सभी पदों में (अन्य अध्याहृत पदों की सहायता से) वाक्य बनने की शक्ति निहित है।

बालप्रिया–

'**पदान्तरेण...अर्थो गम्यते, न तु केवलात्**'–इस विषय में व्याकरणमहाभाष्यकार ने कहा है–'**यत्रान्यत्क्रियापदं नास्ति तत्रास्तिर्भवन्तीपरः प्रयोक्तव्यः**' अर्थात् जहाँ दूसरा क्रियापद न हो वहाँ '**अस्ति**', '**भवन्ति**' आदि क्रियापदों का प्रयोग करना चाहिये, क्योंकि एक पद में अर्थबोध कराने का सामर्थ्य नहीं रहता है।

'**पद**' में निहित '**वाक्यशक्ति**' के उंपरिवर्णित सिद्धान्त को उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

वृक्ष इत्युक्तेऽस्तीति गम्यत इति। अध्याहृतास्तिपदसहितं वृक्ष इति पदं वाक्यार्थे वर्तत इति तद्भागत्वाद् वृक्षपदं तत्र वर्तत इत्यर्थः। कस्मात्पुनरस्तीति गम्यत इत्यत आह–न सत्तां पदार्थो व्यभिचरतीति। लोक एव हि पदानामर्थावधारणोपायः। स च केवलं पदार्थमस्त्यर्थेनाभिसमस्य सर्वत्र वाक्यार्थीकरोति। सोऽयमव्यभिचारः सत्तया पदार्थस्य। अत एव शब्द-

वृत्तिविदां व्यवहारोऽ[1]यम्–यत्रान्यत्क्रियापदं नास्ति. तत्रास्तिर्भवन्तीपरः प्रयोक्तव्य इति।

पद में निहित वाक्यशक्ति को प्रदर्शित करने के लिये भाष्यकार दृष्टान्त देते हैं–'**वृक्ष इत्युक्तेऽस्तीति गम्यत इति।**' अर्थात् 'वृक्ष' पद कहने पर 'वृक्ष है' ऐसा वाक्यार्थ-बोध होता है। यहाँ पर अध्याहृत '**अस्ति**' पद के सहित '**वृक्ष**' पद 'वृक्ष है'–इत्याकारक वाक्यार्थ में पर्यवसित होता है। अतः '**अस्ति**' पद का भाग (अंश) होने से '**वृक्षः**' पद '**अस्ति**' क्रियापद के साथ रहता है। अर्थात् '**वृक्ष**' ऐसा कहने पर '**अस्ति**' ऐसा प्रतीत होता है।

शङ्का–किस कारण से '**वृक्षः**' ऐसा कहने पर '**अस्ति**' इस क्रियापद का उसके साथ अन्वय (सम्बन्ध) होता है?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**न सत्तां पदार्थो व्यभिचरतीति।**' पदों के अर्थावधारण का उपाय लोकव्यवहार है और लोकव्यवहार पदार्थ को केवल अस्त्यर्थ के साथ अन्वित करके उसे वाक्यार्थरूप बना देता है। पदार्थ का सत्ता के साथ यही अव्यभिचार है। इसीलिये वैयाकरणों (कात्यायन मुनि) का इस प्रकार का व्यवहार देखा जाता है–'**यत्रान्यत्...प्रयोक्तव्यः**' अर्थात् 'जहाँ कोई अन्य क्रियापद न हो तो वहाँ लट्परक '**अस्**' धातु का प्रयोग करना चाहिये।'

बालप्रिया–

'**शब्दवृत्तिविदाम्**'–'**अस्तिर्भवन्तीपरः प्रथमपुरुषोऽप्रयुज्यमानोऽप्यस्तीति गम्यते' इति वदतां कात्यायनमुनिमुख्यानामित्यर्थः। 'अस्तिः'=अस् धातुः, 'भवन्तीपरः'=लट्परक इत्यर्थः। 'भवन्ती' इति लटः संज्ञा प्राचाम्।**

जिस प्रकार क्रिया को छोड़कर संज्ञा पद नहीं रह सकता है, उसी प्रकार क्रिया पद भी संज्ञा पद के विना नहीं रह सकता है–इसी तथ्य का प्रतिपादन किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

क्रियाभेदाव्यभिचारिप्रातिपदिकमुक्त्वा क्रियाभेदं कारकाव्यभिचारिणं दर्शयति–तथा च पचतीत्युक्त इति। पचतीत्युक्ते हि कारकमात्रस्य तदन्वययोग्यस्यावगमादन्यव्यावृत्तिपरस्तद्भेदानामनुवादः। तदेवं भेद एव वाक्यार्थ इति।

क्रिया को छोड़कर कारक (प्रातिपदिक) नहीं रहता है, इस तथ्य को व्युत्पादित करके कारक को छोड़कर क्रिया भी नहीं रहती है, इस अर्थ को भाष्यकार प्रतिपादित करते हैं–(शब्दान्तर में क्रियाविशेष के साथ व्यभिचार न रखने वाले

1. क ख ग घ च छ ज झ त न–**अयम्** उपलभ्यते, थ द ध–**अयं** नोपलभ्यते।

प्रातिपदिक को बतलाकर अब कारक के साथ व्यभिचार न रखने वाले क्रियाविशेष को प्रदर्शित किया जा रहा है)–'**तथा च पचतीत्युक्त इति**।' 'पचति' अर्थात् पकाता है– ऐसा कहने पर क्रियापद के साथ अन्वय होने योग्य कारकमात्र अर्थात् सभी कारकों (यथा, देवदत्तः पचति, ओदनं पचति अग्निना पचति इत्यादि) का आक्षेप होता है, किन्तु कारकविशेषों में से जब किसी एक कारक का '**पचति**' क्रिया के साथ अन्वय किया जाता है, तब उसका तात्पर्य अन्य कारकों की व्यावृत्ति करने में होता है। इस प्रकार कारक- विशेष ही वाक्यार्थ होता है।

बालप्रिया–

'**सर्वकारकाणामाक्षेपः नियमार्थोऽनुवादः**'–भाव यह है–

शङ्का–यदि क्रियापद के लिये कारकमात्र के आक्षेप को स्वीकार करने की बात कही जाय तो कहीं भी कारकवाचक पदों का प्रयोग न हो सकेगा?

समाधान–'कारकमात्र के आक्षेप' के सामान्य सिद्धान्त को विशेष नियम से समन्वित करने के लिये भाष्यकार ने '**नियमार्थोऽनुवाद इति**' कहा है। अर्थात् कारकान्तरों की व्यावृत्ति के लिये ही चैत्रादि कर्त्रादि कारकों का प्रयोग किया जाता है। नियमन का अर्थ होता है–परिसीमित करना अर्थात् अन्य से व्यावृत्त करना। '**चैत्रः**' पद के कथन से '**पचति**' क्रिया का कारकत्व प्रकट नहीं होता है, प्रत्युत चैत्र में कर्तृत्व का परि-सीमन और मैत्रदेवदत्तादि के कर्तृत्व का व्यावर्तन होता है। यह तथ्य महाभाष्य में '**पदार्थाऽभिसंबन्धस्योपलब्धिर्भवति वाक्ये**'–प्रकरण में विस्तारपूर्वक विवेचित हुआ है। अतः वहीं द्रष्टव्य है।

शब्दान्तर में उक्त तथ्य का स्पष्टीकृत रूप यह है–क्रिया में क्रियात्वसम्पादन करने के लिये क्रिया को कारक की आकांक्षा रहती है। अतः क्रियापद को सुनकर कारक का आक्षेप होता है। परन्तु क्रियापद के द्वारा अन्वय-योग्य तथा अन्वय-अयोग्य सभी कारकों का सामान्यतया आक्षेप होता है, क्योंकि कारकसामान्य से ही क्रिया की आकांक्षा निवृत्त होती है। अतः ऐसा नियम विशेष नहीं है कि अन्वययोग्य जो कारकविशेष है, उसी का आक्षेप होता है, अन्य अन्वय-अयोग्य का नहीं। किन्तु आक्षेपलभ्य कारक का सामान्यनियम होने पर भी जब कारक का प्रयोग किया जाता है, तब यह प्रयोग व्यर्थ होकर नियम करता है कि जो अन्वय के योग्य कारकविशेष है, उसी का आक्षेप होता है, अन्य जो अन्वय के अयोग्य कारक हैं, उनका नहीं। इस नियम से सामान्यकारक की व्यावृत्ति हो जाती है। यही व्यावृत्तिप्रयुक्त कारक के प्रयोग का फल है। अतः वह व्यर्थ नहीं है। इस प्रकार '**क्रिया**' पद के लिये '**सर्वकारकाक्षेप**' का सिद्धान्त होने पर कारक-प्रयोग की अनुपलब्धता का आरोप भी निरस्त हो जाता है।

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार **'क्रियाक्षेप'** अथवा **'कारकाक्षेप'** के विना भी पद में वाक्यशक्ति निहित है, इस सिद्धान्त को सोदाहरण स्पष्ट करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

तथानपेक्षमपि पदं वाक्यार्थे वर्तमानं दृश्यत इति सुतरामस्ति वाक्यशक्तिः पदाना-मित्याह–दृष्टं चेति। न चैतावतापि श्रोत्रियादिपदस्य स्वतन्त्रस्यै[1]वंविधार्थप्रत्यायनं न यावदस्त्यादिभिरभिसमासोऽस्य भवति। तथा चास्यापि वाक्यावयवत्वात्कल्पितत्वमेवेति भावः। स्यादेतत्–पदानामेव चेद्वाक्यशक्तिः कृतं तर्हि वाक्येन, तेभ्य एव तदर्थावसायादित्यत आह–तत्र वाक्य इति। उक्तमेतन्न [2]केवलात्पदात्पदार्थः प्रतिपित्सितः प्रतीयते न यावदेतत्पदान्त-रेणाभिसमस्यत इति। तथा [3]च वाक्यात्पदान्यपोद्धृत्य कल्पितानि [4]वाक्यार्थाच्चापोद्धृत्य तदेकदेशं [5]कारकं क्रियां वा तत्पदं प्रकृत्यादिविभागकल्पनया व्याकरणीयम[6]न्वाख्येयम्। किमर्थं पुनरेतावता क्लेशेनान्वाख्यायत इत्यत आह–अन्यथेति। घटो भवति, भवति भिक्षां देहि, भवति तिष्ठतीति [7]नामाख्यातयोश्च साम्यात्। एवमश्वस्त्वमश्वो यातीति। एवमजापयः पिब, अजापयः शत्रूनिति। नामाख्यातसारूप्यादनिर्ज्ञातं नामत्वेनाख्यातत्वेन वान्वाख्यानाभावे निष्कृष्याज्ञातं कथं [8]क्रियायां कारके वा व्याक्रियेत? तस्माद्वाक्यात्पदान्यपोद्धृत्य व्याख्यात-व्यानि, न त्वन्वाख्यानादेव पारमार्थिको विभागः पदानामिति।

(इतना ही नहीं, अपितु) किसी अन्य क्रिया या कारकवाचक पद की अपेक्षा किये विना भी (आक्षेप से निरपेक्ष रहकर भी) पद वाक्यार्थ में विद्यमान दिखाई पड़ता है। अतः यह अच्छी प्रकार से सिद्ध होता है कि पद में वाक्यशक्ति अन्त-र्निहित है, इसी तथ्य को भाष्यकार बतलाते हैं–**'दृष्टञ्चेति।'** ('वेद का अध्ययन करता है', 'प्राणों को धारण करता है'–इस अर्थ वाले वाक्यों के लिये क्रमशः 'श्रोत्रियः', **'जीवति'** पदों की संरचना देखी जाती है)। यहाँ **'श्रोत्रिय'** आदि स्वतन्त्र पद से उक्त प्रकार का वाक्यार्थबोध नहीं हो सकता है, यदि **'अस्त्यादि'** के साथ उनका समास न

---

1. क थ द ध–**एवं**, ख ग घ च छ ज झ त थ न–**एव**।
2. क ख ग घ च छ ज झ त न–**केवलात्**, थ द ध–**केवलम्**।
3. क थ द ध–**च** उपलभ्यते, ख ग घ च छ ज झ त न–**च** नोपलभ्यते।
4. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न–**वाक्यार्थाच्चापोद्धृत्य तदेकदेशम्**, ज–**वाक्यार्थप्रति-पित्सितदेशम्**।
5. क ख ग घ च छ ज झ त न–**कारकं**, थ द ध–**कारकं वा**।
6. क थ द ध–**व्याख्येयम्**, ख ग घ च छ ज झ त न–**अन्वाख्येयम्**।
7. क छ ज त–**नाम्नोः नाम**, ख ग घ च झ थ द ध न–**नाम**।
8. क ख ग घ च छ ज झ त न–**क्रियायां**, थ द ध–**क्रियायां वा**।

हो। अर्थात् उनमें इस प्रकार के वाक्यार्थबोधन की शक्ति न रहे। और यह निरपेक्ष पद भी वाक्य के अवयव रूप से कल्पित होता है।

शङ्का–यदि पदों में ही वाक्यशक्ति विद्यमान है, तो वाक्य-रचना व्यर्थ है, क्योंकि पदप्रयोग से ही वाक्यार्थबोध हो जायेगा?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**तत्र वाक्य इति**।' यह बात पहले कही जा चुकी है कि पद से इष्ट पदार्थ की प्रतीति तब तक नहीं होती है, जब तक वह दूसरे पद के साथ अन्वित न हो जाय। अर्थात् पद में वाक्यशक्ति विद्यमान है फिर भी पद से उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती है। वाक्य से ही उसकी स्पष्टतः अभिव्यक्ति होती है। इसलिये वाक्य से कल्पित पदों को निकालकर और वाक्यार्थ से उसके एकदेश कारक अथवा क्रिया को निकालकर उस पद का प्रकृत्यादि (प्रकृति, प्रत्ययादि) विभाग द्वारा व्याकरणसम्मत व्याख्यान अर्थात् अन्वाख्यान करना चाहिये।

शङ्का–पदों की इस प्रकार की व्याकरणसम्बन्धी कष्टदायी व्याख्या करने का प्रयोजन क्या है?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**अन्यथेति**।' यदि सन्दिग्ध पदों का व्याकरण की रीति से प्रकृति-प्रत्यय द्वारा विभाग न किया जाय तो '**घटो भवति**' (घट है), '**भवति भिक्षां देहि**' (आप भिक्षा दें) '**भवति तिष्ठति**' (तुम्हारे रुकने पर)–में सर्वनाम (नाम) तथा आख्यात में '**भवति**' पद की समानता है। इसी प्रकार '**अश्वस्त्वम्**' (तुमने गमन किया) '**अश्वो याति**' (घोड़ा जा रहा है)–में '**अश्व**': पद की समानता है। इसी प्रकार '**अजापयः पिब**' (बकरी का दूध पिओ) '**अजापयः शत्रून्**' (तुमने शत्रुओं को हराया)–में '**अजापयः**' पद की समानता है। उपर्युक्त सभी उदाहरणों में क्रियापद और कारक-पद की समानता होने से उनका नामत्व अथवा आख्यातत्व में से किस रूप से प्रयोग हुआ, यह अनिर्ज्ञात रहता है। इस प्रकार प्रकृति-प्रत्यय रूप से व्याख्या न करने पर यह सन्दिग्ध रह जाता है कि अन्ततोगत्वा इस पद को कैसे व्याख्यात किया जाय–क्रियारूप से अथवा कारक रूप से? इसलिये वाक्य से पदों को निकालकर उनकी प्रकृतिप्रत्ययपूर्वक व्याख्या करनी चाहिये। केवल उल्लेखमात्र से पदों का वास्तविक विभाग विदित नहीं होता है।

बालप्रिया–

'**प्रकृत्यादिविभागकल्पनया व्याकरणीयम्**'–सारांश यह है कि पद से भी वाक्यबोध होता है। अतः सन्देहस्थल में प्रकृति-प्रत्यय के विभागपूर्वक पद का निर्वचन करके वाक्य के साथ उसे समन्वित करना चाहिये। ऐसा न करने पर संभावित बाधक को भाष्यकार ने '**अन्यथेति**' वाक्य द्वारा सुस्पष्ट किया है। उदाहरण के लिये '**भवति**' पद

को लिया जाय। जिज्ञासा है कि '**भवति**' यह पद आख्यातत्वरूप से '**घटो भवति**' इस अर्थ वाला है, अथवा संबुद्ध्यन्तत्व (सम्बोधन एकवचन) रूप से '**भवति! भिक्षां देहि**' इस अर्थ वाला है, अथवा सप्तम्यन्तत्वरूप से '**भवति तिष्ठति**' इस अर्थ वाला है। पहले उदाहरण में '**भवति**' (भू+लट्+तिप्) पद क्रियारूप है और दूसरे उदाहरण में सम्बोधन के एकवचन में '**भवत्**' के एकवचन के रूप में यह सर्वनाम पद है। इसी प्रकार '**अश्वः**' पद श्विधातु से लुङ्लकार में निष्पन्न होने से '**त्वं गमनमकार्षीः**' इस अर्थ वाला क्रियारूप है अथवा 'घोटक' वाचक होने से '**अश्वो याति**' इस अर्थ वाला संज्ञारूप है—ऐसा सन्देह होता है। इसी प्रकार '**अजापय**' यह पद षष्ठीतत्पुरुष-समास द्वारा '**अजाया दुग्धं पिब**' इस अर्थ वाला संज्ञारूप है अथवा ण्यन्त 'जि' धातु से लुङ्लकार में निष्पन्न होने से '**शत्रून् पराभूतवान्**' इस अर्थ वाला क्रियारूप है—ऐसा सन्देह होता है। इस प्रकार नामपद और क्रियापद की बाह्य समानता के स्थल में यदि वाक्यार्थबोध न हो सके अथवा वाक्यार्थबोधन में किसी प्रकार का सन्देह हो तो प्रकृति-प्रत्यय के विभागपूर्वक अर्थ करना चाहिये।

पद के क्रियारूप और नामरूप की मिश्रणता के अन्य उदाहरणों को प्रस्तुत किया जा रहा है—

तत्त्ववैशारदी

तदेवं शब्दरूप व्युत्पाद्य शब्दार्थप्रत्ययानां संकेतापादितसंकराणामसंकरमाख्यातुमुपक्रमते— तेषां शब्दार्थप्रत्ययानां प्रविभाग इति। तद्यथा श्वेतते प्रासाद इति क्रियार्थः शब्दः, स्फुटतरो ह्यत्र पूर्वापरीभूतायाः क्रियायाः [1]साध्यरूपत्वम्। तत्राप्यर्थादस्ति शब्दस्य भेद इत्याह—श्वेतः प्रासाद इति कारकार्थः शब्द इति। अभिहितत्वाच्च कारकविभक्तेरभावः।

इस प्रकार शब्द का स्वरूप प्रतिपादित कर संकेत द्वारा आपादित सांकर्ययुक्त शब्द, अर्थ तथा ज्ञान की असंकरता को व्युत्पादित करने के लिये भाष्यकार कहते हैं—'**तेषां शब्दार्थप्रत्ययानां प्रविभाग इति**।' पूर्वोक्त शब्द, अर्थ तथा ज्ञान का सांकर्य होने पर भी उनका परस्पर विभाग है। जैसे '**श्वेतते प्रासादः**' अर्थात् 'महल सफेद हो रहा है'—इस वाक्य में '**श्वेतते**' यह क्रियार्थक शब्द है। यहाँ पूर्वापरीभूत क्रिया का साध्यरूप (निष्पन्न होने योग्य रूप) अत्यन्त स्पष्ट है। यहाँ भी अर्थ की दृष्टि से शब्द का भेद होता है, इसे भाष्यकार बतलाते हैं—'**श्वेतः प्रासाद इति**' अर्थात् 'महल सफेद है'—इस वाक्य में '**श्वेत**' पद सिद्धरूप कारकार्थ शब्द है। किन्त्व ऐसा विवक्षित होने के कारण ही यहाँ कारक विभक्ति हुई है।

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध—**सिद्धरूपत्वं**, न—**साध्यरूपम्**।

बालप्रिया–

'**श्वेतते**'–**इति तिङन्ताऽभिहितसाध्यरूपक्रियायाः सकाशात्, 'श्वेत' इति कृदभिहितः सिद्धरूपः क्रियार्थो भिन्न इति भावः** अर्थात् तिङन्त से अभिहित साध्यरूप क्रिया से '**श्वेतः**' यह कृदभिहित सिद्धरूप क्रियार्थ भिन्न है।

'**शब्द**' का '**क्रियारूप**' और '**संज्ञारूप**' भेद बतला कर '**अर्थ**' तत्त्व पर विचार किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

अर्थं विभजते–क्रियाकारकात्मा [1]यदर्थ इति। तयोः शब्दयोरर्थः क्रियात्मा कारकात्मा च।

भाष्यकार 'अर्थ' तत्त्व के बारे में बताते हैं–'**क्रियाकारकात्मा तदर्थ इति**। '**श्वेतते**' और '**श्वेतः**' इन दोनों शब्दों का क्रमशः क्रियारूप तथा कारकरूप अर्थ है।

बालप्रिया–

'**श्वेतते**'–इस पद की क्रिया '**साध्यरूप**' अर्थ है और '**श्वेतः**' इस पद का कारक '**सिद्धरूप**' अर्थ है।

'**अर्थ**' तत्त्व का '**साध्यरूप**' और '**सिद्धरूप**' भेद बताने के पश्चात् '**ज्ञान**' तत्त्व पर विचार किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

प्रत्ययं विभजते–प्रत्ययश्चेति। चशब्देन तदर्थ इत्येतत्पदमत्रानुकृष्यते। तदत्रान्य[2]पदार्थ-प्रधानं [3]संबध्यते। स एव क्रियाकारकात्मार्थो यस्य स तथोक्तः। नन्वभेदेन प्रतीतेः शब्दार्थ-प्रत्ययानां संकरात्कुतः प्रविभाग इत्याशयवान्पृच्छति–कस्मादिति। उत्तरमाह–सोऽयमित्य-भिसंबन्धादिति। संकेतोपाधिरे[4]वैकाकारप्रत्ययो न तु तात्त्विक इत्यर्थः। [5]संकेतस्य निमित्तता दर्शिता संकेत इति सप्तम्या।

भाष्यकार '**ज्ञान**' तत्त्व के बारे में बताते हैं–'**प्रत्ययश्चेति**।' ज्ञान भी क्रियारूप और कारकरूप होता है। यहाँ '**च**' शब्द के द्वारा '**तदर्थः**' इस पद की अनुवृत्ति की जाती है। इस अनुवर्त्तमान '**तदर्थः**' पद में अन्यपदार्थप्रधान बहुब्रीहि समास है। इसका स्वरूप है–'**स एव क्रियाकारकात्माऽर्थो यस्य स तथोक्तः**' (**प्रत्ययः**)। इस प्रकार प्रत्यय (ज्ञान) भी क्रियारूप और कारकरूप होता है।

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध–**तदर्थः**, न–**यदर्थः**।
2. क छ–**पदार्थप्रधाने**, ख ग घ च ज झ थ द ध न–**पदार्थप्रधानं**, त–**पदार्थे प्रधाने**।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध–**संबध्यते**, न–**संबाध्यते**।
4. ख ग घ च छ ज झ त न–**एव** उपलभ्यते, क थ द ध–**एव** नोपलभ्यते।
5. क ख ग घ च छ ज झ त द ध न–**संकेतस्य निमित्तता दर्शिता संकेत इति सप्तम्या**, थ–**संकेत इति सप्तम्या संकेतस्य निमित्तता दर्शिता**।

शङ्का–जब शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों की अभिन्नरूप से प्रतीति होती है, तो सम्मिश्रित (सङ्करित) इनका विभाग कैसे हो सकता है? इसी अभिप्राय से पूर्वपक्षी पूछता है–'**कस्मादिति**।'

समाधान–भाष्यकार उत्तर देते हैं–'**सोऽयमित्यभिसंबन्धादिति**।' यहाँ संकेतरूप उपाधि ही एकाकार ज्ञान का कारण है, न कि तात्त्विक रूप से एकाकार ज्ञान होता है। अर्थात् यथार्थ दृष्टि से शब्द, अर्थ और ज्ञान परस्पर भिन्न-भिन्न हैं। शब्द, अर्थ और ज्ञान के इतरेतराध्यास में संकेत की निमित्तता अर्थात् हेतुता को प्रदर्शित करने के लिये भाष्यकार ने '**संकेते**' इस सप्तम्यन्त पद का प्रयोग किया है। (जैसे '**निमित्तात्कर्मयोगे**' वार्तिक से निमित्त अर्थ में सप्तमी '**चर्मणि द्वीपिनं हन्ति**' उदाहरण में प्रदर्शित की गई है)।

बालप्रिया–

'**सोऽयमित्यभिसंबन्धात्**'–अभिप्राय यह है–'**श्वेतनं या क्रिया सोऽयं श्वेतरूपः कारको गुणो यश्च श्वेतत इत्यस्मात् श्वेताकारः प्रत्ययः सोऽयं श्वेत इत्यस्मादपि श्वेताकारः प्रत्यय इत्यभेदप्रत्यभिज्ञानादित्यर्थ इति विज्ञानः**' अर्थात् 'श्वेत होना' जो क्रिया है, वह श्वेतरूप कारकगुण है और '**श्वेतते**' पद से जो श्वेताकार ज्ञान होता है, वही श्वेताकार ज्ञान '**श्वेतः**' इस पद से भी होता है। इस प्रकार अभेदज्ञान होने से प्रत्यय भी एकाकार ही होता है।

अब परमार्थदृष्टि से उक्त विषय का विवेचन किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

परमार्थमाह–यस्तु श्वेतोऽर्थ इति। अवस्था नवपुराणत्वादयः। सहगतः संकीर्णः।

सम्प्रति, भाष्यकार परमार्थदृष्टि से कहते हैं–'**यस्तु श्वेतोऽर्थ इति**।' जो श्वेत गुण-रूप अर्थ है, वह शब्द और ज्ञान के आश्रित है, इसलिये पृथक् है। क्योंकि वह अर्थ अपनी नवीन-प्राचीन आदि अवस्थाओं के द्वारा विक्रिया को प्राप्त होता हुआ न तो शब्द के साथ संकीर्ण है और न ज्ञान के साथ ही संकीर्ण है। अतः सर्वथा भिन्न है। इसी प्रकार शब्द और ज्ञान भी परस्पर संकीर्ण नहीं हैं, सर्वथा पृथक् हैं। यही कारण है कि दूसरे प्रकार का '**शब्द**' है, दूसरे प्रकार का '**अर्थ**' है और दूसरे प्रकार का '**ज्ञान**' है–ऐसा विभाग किया जाता है। भाष्य में '**अवस्था**' शब्द से नवत्व, पुराणत्व आदि अवस्थाएँ गृहीत होती हैं तथा '**सहगत**' शब्द का अर्थ है–संकीर्ण।

बालप्रिया–

'**एवं शब्द एवं प्रत्ययो नेतरेतरसहगतः**'–तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार '**अर्थ**' तात्त्विक दृष्टि से '**शब्द**' तथा '**प्रत्यय**' से सहगत अर्थात् संकीर्ण नहीं होता है उसी प्रकार '**शब्द**' तथा '**ज्ञान**' भी अन्य दो से परमार्थतः संकीर्ण नहीं होते हैं।

सूत्रार्थ को उपसंहृत करते हुए तत्त्ववैशारदीकार आगे कहते हैं–

तत्त्ववैशारदी

एवं च प्रविभागसंयमाद्योगिनः सर्वेषां भूतानां पशुमृगसरीसृपवयःप्रभृतीनां यानि रुतानि तत्राप्यव्यक्तं पदं तदर्थस्तत्प्रत्ययश्चेति। तदिह मनुष्यवचनवाच्यप्रत्ययेषु कृतः संयमः समानजातीयतया तेष्वपि कृत एवेति तेषां रुतं तदर्थभेदं तत्प्रत्ययं च योगी जानातीति सिद्धम्॥१७॥

इस प्रकार शब्द, अर्थ तथा ज्ञान के विभाग में संयम करने से पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप आदि प्राणियों की बोलियों में निहित अव्यक्त शब्द, अर्थ और ज्ञान को योगी जान लेता है। मनुष्य के वचन (शब्द), वाच्य (अर्थ) और प्रत्यय (ज्ञान)– इन तीनों में सिद्ध संयम, शब्दादि के समानजातीय होने से, पश्वादि प्राणियों के शब्दादि में भी सिद्ध ही माना जाता है। फलतः योगी पश्वादि प्राणियों के शब्दभेद, उनके अर्थभेद और ज्ञानभेद को जानता है–ऐसा सुनिश्चित होता है॥१७॥

बालप्रिया–

'**तत्प्रविभागसंयमात्**'–इस कथन के मूल में निम्नाङ्कित प्रश्न अन्तर्निहित है–

शङ्का–परीक्षक भी शास्त्रीय दृष्टि से शब्द, अर्थ एवं ज्ञान के विभाग को जानते ही हैं, तो फिर परीक्षकों को प्राणिमात्र की बोलियों का परिज्ञान क्योंकर नहीं होता है?

समाधान–इस अन्तर का उत्तर पतञ्जलि ने तथाकथित विभूति को '**संयम**' द्वारा ही हस्तगत बतला कर दिया है। अर्थात् योग की प्रयोगशाला में धारणा, ध्यान तथा समाधि द्वारा परीक्षित शब्दादि का भेदज्ञान ही '**सर्वभूतरुतज्ञान**' का हेतु है।

'**मनुष्यवचनवाच्यप्रत्ययेषु**'–इस कथन के मूल में निम्नाङ्कित प्रश्न अन्तर्निहित है–

शङ्का–योगी मनुष्य होता है। अतः वह मनुष्यगत शब्दादिविषयक संयम से मनुष्य की बोली पर भले ही विजय प्राप्त कर ले, किन्तु मनुष्यभिन्न पश्वादि बोलियों पर संयम किये विना उसे भला कैसे '**सर्वभूतरुतज्ञान**' हो सकता है?

समाधान–उपरिनिर्दिष्ट सम्भावित शंका को ध्यान में रखकर ही तत्त्ववैशारदीकार ने कहा है–'**मनुष्यवचनवाच्यप्रत्ययेषु...समानजातीयतया...**।' प्राणिमात्र की बोली में शब्दत्व-जाति रहती है। अतः सारे शब्द सजातीय हैं। अतः नीरक्षीरविवेकी हंस के समान योगी को शब्दादिविषयक संयम से '**सर्वभूतरुतज्ञान**' हो सकता है–इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं करना चाहिये॥१७॥

योगवार्त्तिकम्

संयमान्तरस्य सिद्ध्यन्तरमाह–शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम्। गौरित्यादिः शब्दः, गौरित्यादिरर्थः, गौरित्यादिः प्रत्ययः, तेषां वक्ष्यमाणं संकेतरूपादध्यासात्संकरो विवेकाग्रहणं भवति। वस्तुतस्तु तेषां भेदोऽस्ति;

अतस्तेषां प्रविभागे भेदे संयमात्साक्षात्कृते सति सर्वभूतानां रुतानि ज्ञायन्ते। अयं काकादिरिममर्थमेवं प्रतीत्यानेन शब्देन कथयतीत्येवमित्यर्थः। यद्यपि साक्षात्कृते सतीति सूत्रे नास्ति तथाऽपि संस्कारसाक्षात्करणादित्युत्तरसूत्रेण साक्षात्कारपर्यन्तस्यैव संयमस्य सिद्धिकथनात्सर्वत्र सूत्रे संयमस्य साक्षात्कारद्वारकत्वं व्याख्येयम्। अत एव भाष्यकारोऽप्यनेक[1]सूत्रेषु दृग्दर्शनार्थसाक्षात्कारपर्यन्ततां संयमस्य व्याख्यास्यति। त्रिविधैरेव शब्दैरर्थप्रत्यययोस्तेषां शब्दानामन्योन्यं च संकरं दर्शयितुं शब्दानामेवादौ त्रैविध्यं दर्शयति भाष्यकारः-तत्र वागिति। तत्र शब्दमध्ये वागिन्द्रियं वर्णेष्वेव प्रयोजनवत् शब्देषु मध्ये वागिन्द्रियजन्यः शब्दो [2]वर्ण एव न तु शृङ्गादिशब्दो नापि वाचकं पदमित्यर्थः। उरआदिषूत्पद्यमानः शब्दो वर्णः—

अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकौष्ठौ च तालु च॥

इति स्मरणात्।

सम्प्रति, सूत्रकार अन्यविषयक संयमजन्य सिद्ध्यन्तर को बताते हैं—'**शब्देति**।' '**गौः**' इत्यादि शब्द है, '**गौः**' इत्यादि अर्थ है तथा '**गौः**' इत्यादि ज्ञान है—ऐसे शब्दार्थ-ज्ञान के '**संकेतरूप**' अध्यास के कारण आगे प्रतिपादित होने वाला '**विवेकाग्रहण**' (अविवेकग्रह) रूप '**संकर**' होता है। पारमार्थिक रूप से शब्द, अर्थ तथा ज्ञान तीनों में भिन्नता है। अतः शब्दादि के '**प्रविभाग**' अर्थात् भेद के विषय में संयम करने में तद्विषयक शब्दादिभेद का साक्षात्कार होने पर योगी को सभी प्राणियों की बोलियों का ज्ञान होता है। जैसे 'यह काकादि पक्षी इस '**अर्थ**' (पदार्थ) का इस प्रकार '**ज्ञान**' करके अमुक '**शब्द**' के द्वारा उसे कह रहा है'—ऐसा अपरोक्षज्ञान योगी को होता है। यद्यपि प्रकृत सूत्र में '**साक्षात्कृते सति**' यह अंश नहीं है तथापि '**संस्कारसाक्षात्करणात्**' (३/१८) इस आगामी सूत्र के द्वारा विषयसाक्षात्कारपर्यन्त संयमजन्य सिद्धियाँ उल्लिखित होने से सिद्धिसूचक सभी सूत्रों में '**संयम**' को साक्षात्कार का द्वार समझना चाहिये। अर्थात् संयम, पदार्थसाक्षात्कार के द्वारा ही, सिद्धिदायक होता है। अत एव भाष्यकार भी अनेक सूत्रों में '**दृक्**' और '**दर्शन**' रूप अर्थ के साक्षात्कार-पर्यन्त संयम की व्याख्या करेंगे। (वर्ण, ध्वनि और पदरूप) तीन प्रकार के '**शब्दों**' के साथ '**अर्थ**' और '**प्रत्यय**' का तथा उन त्रिविध शब्दों का भी परस्पर '**अध्यास**' दिखाने के लिये भाष्यकार शब्दों का ही त्रैविध्य सर्वप्रथम प्रदर्शित करते हैं—'**वागिति**।' '**वर्ण**' '**ध्वनि**' तथा '**पद**' रूप इन तीन प्रकार के शब्दों में से अकारादि वर्णों में ही वागिन्द्रिय प्रवृत्त होती है। अर्थात् वाणी वर्ण को ही विषय करती है। वागिन्द्रियजन्य शब्द '**वर्ण**' ही है, न कि शृङ्गादि शब्द तथा वाचक पद। वागिन्द्रिय के उरस् आदि

1. क ख ग घ च छ—**सूत्रे**।
2. क ग घ च छ—**वर्णः** उपलभ्यते, ख—**वर्णः** नोपलभ्यते।

आठ स्थानों से उत्पन्न होने वाला शब्द '**वर्ण**' है, ऐसा वाक्य है–'**अष्टौ स्थानानि...तालु च** (पाणिनीय शिक्षा १३) अर्थात् 'उर, कण्ठ, शिर, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठ तथा तालु–ये आठ वर्णों के उच्चारणस्थान हैं।'

योगवार्त्तिककार उक्त विषय को स्पष्ट करते हुए आगे कहते हैं–

योगवार्त्तिकम्

वागिन्द्रियस्य च शरीराद्बहिर्वृत्तिर्नास्ति; अतो न श्रोत्रग्राह्यवक्ष्यमाणशब्दो नापि तदनन्तरं श्रोतृबुद्धिग्राह्यो वाचकशब्दो वागिन्द्रियकार्यः, श्रोतृश्रोत्रदेशे वक्तृवागिन्द्रियासम्बन्धेन श्रोत्र- ग्राह्य-शब्दोत्पादकत्वासम्भवाद् इति। वागिन्द्रियजन्याच्छब्दाच्छब्दान्तरमाह–श्रोत्रं चेति। ध्वनिर्नाम वागिन्द्रियशङ्खादिष्वभिहतस्योदानवायोः परिणामभेदः, येन परिणामेनोदानवायुर्वक्तृदेहादुत्थाय शब्दधारां जनयन् श्रोतृश्रोत्रं प्राप्नोति तस्य ध्वनेः परिणामभूतं वर्णावर्णसाधारणं नादाख्यं शब्दसामान्यमेव श्रोत्रस्य विषयः न तु ध्वन्यपरिणामभूतं वाचकं पदमित्यर्थः। स च शब्दो वर्णजातीयत्वेन वर्ण इत्युच्यते। तृतीयं शब्दमाह–पदं पुनर्नादानुसंहारबुद्धिनिर्ग्राह्यमिति। यथाप्रतीतिसिद्धान्नादाख्यान् गकारादिवर्णान् प्रत्येकं [1]पदमिति गृहीत्वाऽनु पश्चाद्या बुद्धिः संहरति=एकत्वमापादयति, गौरित्येकं पदमिति, तया बुद्ध्या निर्ग्राह्यः वर्णेभ्योऽतिरिक्तमखण्डमेकदैवोत्पद्यमानं वक्ष्यमाणं स्फोटाख्यमिति शेषः। तथा चायं तृतीयः शब्दोऽन्तःकरणस्यैव ग्राह्य इत्यर्थः, तस्य हि पदस्य श्रोत्रग्राह्यत्वेऽनुसंहारबुद्धेरन्तःकरणनिष्ठायाः वैयधिकरण्येन हेतुत्वं स्यात्, तच्चायुक्तम्, सामानाधिकरण्यस्य प्रत्यासत्तितायां लाघवात्। न चानुसंहारबुद्धिरपि श्रोत्रादेरेवास्त्विति वाच्यम्, असम्भवात्। वर्णानां ह्यैक्यापादनमानुपूर्व्यैक्यात्; सा चानुपूर्वी गकारोत्तरौकारादिरूपिणी नानेकवर्णपदेषु श्रोत्रेण ग्रहीतुं शक्यते, आशुविनाशितया वर्णानां मेलनाभावात् पूर्वपूर्ववर्णसंस्काराणां तत्स्मृतीनां चान्तःकरणनिष्ठानामन्तःकरणसहकारित्वमेवोचितम्। अतः स्मृतानां वर्णानां मनसैवानुपूर्वी ग्रहीतुं शक्यत इति भावः। ननु स्फोटाख्यः शब्दः कीदृशः किङ्कारणकः किंप्रमाणक इति? अत्रोच्यते– यथा बीजाङ्कुराद्यनेकावस्थो वृक्षधर्मी क्रमिकाभ्यस्ताभ्योऽतिरिक्तः पल्लवादिरूपाशेषावस्थया व्यज्यते अयमाम्रवृक्षो न वृक्षान्तरमेवंरूपेण, स च बीजादिभ्यो [2]भिन्नाभिन्नः, भेदाभेदयोरनुभवात्; [3]तथैव गकारौकाराद्यनेकावस्थो गौरित्यादिरखण्डः स्फोटशब्दः क्रमिकाभ्यो गकाराद्यवस्थाभ्योऽतिरिक्त आनुपूर्वीविशेषविशिष्टया विसर्जनीयादिरूपचरमावस्थया व्यज्यते इदं गौरिति पदं न तु गौर इतीत्यादिरूपेण। तच्च स्फोटपदं गकारादिवर्णोक्तेभ्यो भिन्नाभिन्नम्, भेदाभेदयोरनुभवात्।

---

1. क ख ग च छ–**पदमिति** उपलभ्यते, घ–**पदमिति** नोपलभ्यते।
2. क–**भिन्नः**, ख ग घ च छ–**भिन्नाभिन्नः**।
3. क ग घ च छ–**तथा**, ख–**यथा**।

वागिन्द्रिय का शरीर से बाहर व्यापार नहीं होता है, अतः श्रोत्रेन्द्रिय से ग्राह्य वक्ष्यमाण **'शब्द'** और श्रोता की बुद्धि से ग्राह्य **'वाचक'** शब्द वागिन्द्रिय का विषय नहीं होता है। क्योंकि श्रोता के श्रोत्रदेश में वक्ता की वागिन्द्रिय का सम्बन्ध न होने से वागिन्द्रिय में श्रोत्रग्राह्य शब्द की उत्पादकता संभव नहीं है। अर्थात् वागिन्द्रिय श्रोत्रग्राह्य शब्द को उत्पन्न नहीं कर सकती है। भाष्यकार वागिन्द्रिय से जन्य शब्द से भिन्न शब्द का प्रतिपादन करते हैं–**'श्रोत्रं चेति।'** वागिन्द्रिय तथा शंखादियों से प्रहृत (अभिहत) उदानवायु के परिणामविशेष का नाम **'ध्वनि'** है। अर्थात् जब उदानवायु वागिन्द्रिय तथा शंखादियों से टकराती है, तब दोनों के घर्षण से जो आवाज प्रकट होती है उसे **'ध्वनि'** कहते हैं। इस परिणामभेद से उदानवायु वक्ता के देह से उठ कर शब्दवीचि (शब्दतरङ्ग) को उत्पन्न करती हुई श्रोता के श्रोत्रदेश तक पहुँचती है। उक्त ध्वनि का परिणामभूत वर्णावर्णसाधारण **'नादाख्य'** शब्दसामान्य ही श्रोत्र का विषय बनता है, न कि ध्वनि का अपरिणामभूत वाचक पद श्रोत्रग्राह्य होता है। श्रोत्र का विषयीभूत यह शब्द वर्णजाति वाला होने से **'वर्ण'** कहलाता है। भाष्यकार अब तृतीय प्रकार के शब्द को बताते हैं–**'पदं पुनर्नादानुसंहारबुद्धिनिर्ग्राह्य-मिति।'** प्रतीतिसिद्ध (अनुभवसिद्ध) **'नादाख्य'** गकारादि वर्णों में से प्रत्येक वर्ण को पद मानते हुए जो बुद्धि अन्त में **'गौ** यह एक पद है'–इत्याकारक एकत्व का आपादन (ग्रहण) करती है, उस एकत्वापादिका बुद्धि से निर्ग्राह्य पद **'वर्णों से भिन्न'**, एक ही क्षण में उत्पन्न होने के कारण **'अखण्ड'** तथा वक्ष्यमाण **'स्फोट'** संज्ञा वाला होता है। किञ्च यह तृतीय प्रकार का शब्द अन्तःकरण का ही विषय है। अर्थात् वह अन्तः-करण से ही गृहीत होता है। **'स्फोटाख्य'** पद को श्रोत्रग्राह्य (श्रोत्रेन्द्रिय का विषय) मानने पर (**'गौरित्येकं पदम्'** इत्याकारक) 'अनुसंहारबुद्धि' के अन्तःकरणनिष्ठ होने के कारण पद से होने वाली अर्थप्रतीति में वैयधिकरण्येन हेतुता कहनी पड़ेगी, जो कि युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि पद से होने वाली अर्थप्रतीति में पद और अनुसंहारबुद्धि का सामानाधिकरण्य मानने पर लाघव है।

शङ्का–यदि **'सामानाधिकरण्य'** ही **'प्रत्यासत्ति'** में हेतु है तो **'अनुसंहारबुद्धि'** को भी श्रोत्रादि का विषय मान लिया जाय?

समाधान–ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि यह संभव नहीं है। वर्णों में एकत्वापादन **'आनुपूर्वी'** से होता है। गकारोत्तरवर्त्ती औकारादिस्वरूप वाली यह आनुपूर्वी अनेक वर्णात्मक पदों में श्रोत्र के द्वारा ग्रहण होने योग्य नहीं होती है। अर्थात् **'आनुपूर्वी'** श्रोत्र का विषय नहीं है। क्योंकि **'आशुविनाशी'** (विनाशशील) होने के कारण वर्णों की **'सहावस्थिति'** (एकत्र मिलन) संभव नहीं है। अन्तःकरणनिष्ठ पूर्व-पूर्व वर्णानुभव-

जन्य संस्कार तथा संस्कारजन्य स्मृतियों का सहकारी अन्तःकरण को ही मानना उचित है। अतः '**मन**' के द्वारा ही स्मृत '**वर्णों**' की '**आनुपूर्वी**' ग्रहण होने योग्य है।

शङ्का—'**स्फोटाख्य**' शब्द का '**स्वरूप**' क्या है, उसका '**उत्पादक**' कौन है तथा उसके मानने में क्या '**प्रमाण**' है?

समाधान—इस पर वार्त्तिककार कहते हैं—जिस प्रकार बीज, अंकुर आदि अनेक अवस्था वाला वृक्ष-धर्मी अपने बीजादि क्रमिक धर्मों से भिन्न (पृथक्) होता हुआ पल्लवादिरूप पूर्ण विकसित अवस्था से अभिव्यक्त होता है। जैसे 'यह आम्र वृक्ष है, दूसरे फल का वृक्ष नहीं है'—इत्यादि रूप से। यह 'वृक्ष-धर्मी' अपने बीजादि धर्मों से पृथक् तथा अपृथक् (भिन्नाभिन्न) उभयरूप है, क्योंकि '**धर्म-धर्मी**' का '**भेदाभेद**' अनुभवसिद्ध है। इसी प्रकार गकार, औकार आदि अनेक (वर्णात्मक) अवस्था वाला '**गौ**' इत्याकारक अखण्डरूप '**स्फोटात्मक**' शब्द क्रमयुक्त गकारादि (वर्णात्मक) अवस्था से भिन्न (पृथक्) होता हुआ वर्णों के पौर्वापर्यरूप आनुपूर्वीविशेष से विशिष्ट होने के कारण विसर्जनीयादि रूप चरमावस्था से अभिव्यक्त होता है। इस अभिव्यक्ति का स्वरूप है—'**इदं गौः**' अर्थात् यह '**गौ**' पद है न कि '**गौरः**' अर्थात् '**गौर**' आदि रूप कोई दूसरा पद। किञ्च यह '**स्फोटात्मक**' पद कथित गकारादि वर्णों से भिन्न भी है और अभिन्न भी है, क्योंकि गकारादि '**वर्ण**' और 'गौ' इस स्फोटात्मक 'पद' का भेदाभेद अनुभवसिद्ध है।

'**स्फोट**' शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुए वार्त्तिककार आगे कहते हैं—

योगवार्त्तिकम्

स च पदाख्यः शब्दोऽर्थस्फुटीकरणात् स्फोट इत्युच्यते। स्फोटशब्दस्य च कारणम् एकप्रयत्नजन्यो ध्वनिविशेषः, प्रयत्नभेदेनोच्चारणे व्यवधाने सत्येकपदव्यवहाराभावात्। गौरित्येकपदमिति व्यवहारस्तु स्फोटे प्रमाणम्, वर्णानामनेकत्वेन तैरेकत्वव्यवहारस्याञ्जस्येनानुपपत्तेः। तथा प्रत्येकवर्णादनुत्पद्यमानस्यार्थप्रत्ययस्य हेतुत्वं च स्फोटे प्रमाणम्। यदि चानुपूर्वीविशिष्टसमूहस्यैकत्वादेकत्वव्यवहारः तेनैव रूपेणार्थप्रत्ययहेतुत्वं च स्वीक्रियते तर्हि संयोगविशेषावच्छिन्नावयवसमूहादेवैकत्वव्यवहारजलाद्याहरणयोरुपपत्त्या घटाद्यवयविमात्रोच्छेदप्रसङ्गः, [1]युक्तिसाम्यात्। नन्वेवं युक्तिसाम्याद्वाक्यमपि स्फोटरूपम् एकैकं स्याद् इति चेत्? बाधकाभावे सतीष्टत्वादिति दिक्।

1. ख—किं चाऽऽनुपूर्व्या गुरुत्वेन लाघवात्तदर्थोपस्थापकतावच्छेदकतया घटत्वादिरूपा शब्दनिष्ठा जातिः सिध्यति। तदाश्रयतया चाखण्डः सिद्ध्यति स्फोटः। न चाखण्डपदमभ्युपेत्याऽपि तदभिव्यञ्जकतयाऽवश्यमानुपूर्वीकल्पनीयात्। तथा चाऽपरिहार्यमिदं गौरवमिति वाच्यं, फलमुखगौरवत्वेन तस्यादोषत्वात् (युक्तिसाम्यात्—पश्चात्) उपलभ्यते, कं ग घ च छ—किं च...अदोषत्वात् नोपलभ्यते।

यह **'पदाख्य'** शब्द 'अर्थ' को स्फुट करता है अर्थात् अर्थ का प्रत्यायक होता है इसीलिए **'स्फोट'** कहलाता है। **'एकप्रयत्नजन्य'** ध्वनिविशेष स्फोटात्मक शब्द का कारण होता है, क्योंकि प्रयत्नभेद से उच्चारण करने पर व्यवधान होता है, जिससे एकात्मक पद का व्यवहार नहीं किया जा सकता है। 'गौ यह एक पद है'–इत्याकारक व्यवहार ही स्फोटात्मक शब्द के होने में प्रमाण है, क्योंकि अनेक वर्णों से एकत्वव्यवहार सरलता से उपपन्न नहीं होता है। किञ्च प्रत्येक वर्ण से अर्थज्ञान नहीं होता है। अतः अर्थज्ञान के हेतुरूप से भी **'स्फोट'** की सिद्धि होती है।

शङ्का–आनुपूर्वीविशिष्ट वर्णसमूह के एक होने से 'यह एक पद है'–इत्याकारक व्यवहार उपपन्न हो जायेगा। अतः आनुपूर्वीविशिष्ट वर्णसमूह को ही अर्थज्ञान का हेतु स्वीकार किया जाय?

समाधान–आनुपूर्वीविशिष्ट वर्णसमूह को अर्थप्रत्यायन का हेतु मानने पर संयोगविशेष से अवच्छिन्न जो अवयवसमूह है, उससे ही जब अनन्त अवयवों में एकत्वव्यवहार तथा जलाहरणादि अर्थक्रिया हो जायेगी तो घट आदि अवयविवाद के उच्छेद का प्रसङ्ग आयेगा, जिस युक्ति से आप स्फोट का खण्डन कर रहे हैं।

शङ्का–पद को स्फोटरूप मानने में जो युक्ति बताई गई है, उसी युक्ति से एक-एक वाक्य को भी स्फोटरूप मान लिया जाय?

समाधान–किसी प्रकार की सैद्धान्तिक बाधा न होने के कारण **'वाक्यस्फोट'** तो हमें मान्य ही है।

सम्प्रति, **'वर्ण'** को **'पद'** नहीं कहते हैं–इस तथ्य को शंकोपस्थापनपूर्वक स्थापित किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

भाष्यकारस्तु संक्षेपतो वर्णानां पदत्वं निराकरोति–वर्णा एकेति। अनेकवर्णा एकसमयस्थित्यनर्हत्वात् परस्परं निरनुग्रहात्मानः=असम्बद्धस्वभावाः। अतस्ते पदमसंस्पृश्य पदत्वमप्राप्य अत एवार्थमनुपस्थाप्याविर्भूयैव क्षणात्तिरोभूताश्चेति कृत्वा प्रत्येकमपदस्वरूपा विवेकिभिरुच्यन्त इत्यर्थः। अत्र स्वरूपग्रहणादवस्थाऽवस्थावतोरभेदेन वर्णानां पदत्वं [1]न निराकृतम्। ननु यदि वर्णाः पदस्वरूपा न भवन्ति तर्हि कथमियन्तो वर्णाः क्रमविशेषावच्छिन्ना अस्यार्थस्य वाचका इति लोकैः संकेत्यन्त इत्याशङ्कां परिहरति–वर्णाः पुनरित्यादिना संकेत्यन्त इति पर्यन्तेनेत्येकवाक्येन। अयमर्थः–यद्यपि वर्णाः पदाद् भिन्नास्तथाऽप्यवस्थाऽवस्थावतोरभेदस्यापि सत्त्वादेकैकोऽपि वर्णः पदात्मा पदाभिन्नो भवति बीजाङ्कुरादिरिव वृक्षाभिन्नः। अत एव पदरूपेण सर्वपदार्थाभिधानयोग्यतासम्पन्नः। अत्र हेतुमाह–सहकारीति। पद-

1. क ग घ च छ–न उपलभ्यते, ख–न नोपलभ्यते।

भावे सहकारीणि यानि वर्णान्तराणि तत्प्रतियोगित्वात् तत्सम्बन्धित्वाद् अनन्तपदरूपतामिवापन्नो भवति। इवशब्दोऽत्र वैश्वरूप्ययोग्यतामात्रप्रतिपादनार्थः। वैश्वरूप्यप्रकारमाह–पूर्वो गकार उत्तरेणौरिति वर्णद्वयेन गण इत्यादिपदात् व्यावर्त्यते, उत्तरश्च विसर्जनीयः पूर्वेण गौरितिवर्णद्वयेन गौर इत्यादिपदेभ्यो व्यावर्त्य विशेषे गौरिति स्फोटपदेऽखण्डे तादात्म्येनावस्थापितो भवति, इति हेतोरेवंरूपा बहवो वर्णाः क्रमानुरोधिन आनुपूर्वीविशेषसापेक्षाः पदाभेदतोऽर्थसंकेतेनावच्छिन्ना नियमिता भूत्वा सर्वाभिधानसमर्था अपि इयन्त एतावत्संख्यका एते गकारादयो गामेवोपस्थापयन्ति इत्यतस्तु तेन प्रकारेण वर्णमुखेन तत्पदमेवाविवेकतः संकेत्यत इत्यन्वयः। तत्र हेतुर्वाच्यस्य वाचकमिति। पदमेव हि वाच्यस्य वाचकमुपस्थापकम्। अन्यस्यान्यरूपेण संकेते हेतुरेतेषामित्यादिनिर्भास इत्यन्तम्। यः पदाख्यो बुद्धिमात्रग्राह्यः स्फोट एतेषां वर्णानाम् अर्थसंकेतेनावच्छिन्नानां तथा समाप्तो ध्वनिजन्यः क्रम आनुपूर्वीविशेषो येषां तादृशानाम्। एकोऽभिन्न इति पदस्य स्वरूपाख्यानम्। समाप्तो वाक्यार्थः। अयं भावः-यथा संयुक्तं कपालद्वयं जलाहरणहेतुरित्यविवेकतो बालकेभ्य उपदिश्यते, [1]कपालादिभ्यो घटस्य व्यावर्त्तकान्तरासंभवात्; ततश्च बालकः कपालाविवेकेन घटस्यैव जलाहरणहेतुत्वं गृह्णाति, एवमेव स्फोटान्तरव्यावर्त्तनाय वर्णाविवेकेनैव स्फोटे संकेतोपदेशः संकेतग्रहश्च भवतीति न वर्णेषु संकेतताऽनुपपत्तिरिति।

अधुना भाष्यकार वर्णों के पदत्व का संक्षेपतः निराकरण करते हैं–'**वर्णा एकेति**।' आशुविनाशी अनेक वर्ण एक ही समय (तुल्य क्षण में) अवस्थान के योग्य न होने से परस्पर '**निरनुग्रहात्मा**' अर्थात् असम्बद्ध स्वभाव वाले होते हैं। अतः वर्ण पदत्व से '**असंस्पृष्ट**' रहकर अर्थात् पदत्व को प्राप्त न होकर अत एव '**अर्थ**' को उपस्थापित न करते हुए आविर्भूत होकर ही उसी क्षण तिरोभूत हो जाते हैं। इस प्रकार '**आविर्भूतता**' तथा '**तिरोभूतता**' वाले '**वर्ण**' योगियों द्वारा **अपदस्वरूप**' कहे जाते हैं। यहाँ अवस्था-अवस्थावान् में अभेदविवक्षया अवयवभूत वर्णों में पदत्व की स्वरूपयोग्यता होने के कारण उनके पदत्व का निराकरण नहीं किया गया है।

शङ्का–यदि वर्ण पदस्वरूप नहीं हैं तो मनुष्यों द्वारा इस प्रकार का संकेत कैसे किया जाता है कि अमुक क्रमविशेष (सुनिश्चित क्रम) से युक्त इतने वर्ण अमुक अर्थविशेष के वाचक होते हैं?

समाधान–उक्त शंका का निराकरण भाष्यकार करते हैं–'**वर्णाः पुनरित्यादिना संकेत्यन्त इति**।' **वर्णाः** पुनः यहाँ से लेकर '**संकेत्यन्ते**' यहाँ तक के एक वाक्य से भाष्यकार पूर्वपक्षी की उपरिनिर्दिष्ट शंका का समाधान करते हैं। वाक्य का अर्थ यह है–यद्यपि वर्ण पद से भिन्न हैं, तथापि '**अवस्था**' और '**अवस्थावान्**' में '**अभेद**' होने से

---

1. क घ च छ–पट०, ख ग–घट०।

प्रत्येक वर्ण भी '**पदात्मा**' अर्थात् पद से अभिन्न उसी प्रकार है जिस प्रकार बीज, अंकुरादि '**वृक्ष**' से अभिन्न होते हैं। अत एव वर्ण पदरूप से '**सर्वपदार्थाभिधान**' अर्थात् अर्थबोधन की क्षमता से युक्त है। भाष्यकार इसमें हेतु उपन्यस्त करते हैं– '**सहकारीति**।' वर्ण के पदभाव (पद बनने) में सहकारीभूत जितने भी दूसरे वर्ण हैं, वे सब उस प्रथम वर्ण के प्रतियोगी अर्थात् सम्बन्धी होते हैं। अतः पद का प्रथम '**वर्ण**' अनन्त '**पदरूपता**' को प्राप्त हुए की भाँति प्रतीत होता है। भाष्यकार ने यहाँ '**इव**' शब्द का प्रयोग वर्णनिष्ठ विविधरूपता की योग्यता के प्रतिपादन के लिये ही किया है। भाष्यकार '**वर्ण**' की '**विश्वरूपता**' की विधा को बताते हैं–'**पूर्वो गकार उत्तरेणौरिति**।' पूर्ववर्ती '**गकार**' उत्तरवर्ती '**औकार**' ऐसे वर्णद्वय के द्वारा '**गण**' इत्यादि पदों से व्यावृत्त (पृथक्) होता है। इसी प्रकार उत्तरवर्ती '**विसर्जनीय**' पूर्ववर्ती '**गौ**' इत्याकारक वर्णद्वय के द्वारा '**गौर**' इत्यादि पदों से व्यावृत्त (पृथक्) होता हुआ '**गौः**' इत्याकारक '**अखण्डात्मक स्फोट**' पद में तादात्म्यसम्बन्ध से अवस्थित रहता है। इस कारण से '**क्रमानुरोधी**' अर्थात् आनुपूर्वीविशेषसापेक्ष वैश्वरूप्य को प्राप्त बहुत से वर्ण पद से अभिन्न अर्थात् अर्थसंकेत से अवच्छिन्न (नियमित) होकर सर्वाभिधान में समर्थ होते हुए भी '**इयन्तः**' अर्थात् इतनी संख्या वाले ये गकारादि वर्ण (सास्नादि-युक्त) गोव्यक्तिरूप अर्थ का बोधन कराते हैं। इस प्रकार अविवेकिजन वर्ण के मुख से ही वर्ण को पदरूप से संकेतित करते हैं। पद ही अर्थ का वाचक है इसमें हेतु है–'**वाच्यस्य वाचकमिति**।' पद ही वाच्य का वाचक अर्थात् उपस्थापक होता है। अन्य का अन्य रूप से संकेत होने में हेतु है–'**एतेषामित्यादि निर्भास इत्यन्तम्**।' भाष्यकार ने '**एतेषाम्**' से लेकर '**निर्भासः**' पर्यन्त पद के भाष्य द्वारा उस हेतु को बतलाया है जिससे अन्य का अन्य प्रकार से बोध होता है। बुद्धिमात्र से ग्राह्य जो '**पदस्फोट**' है, वह अर्थसंकेत से अवच्छिन्न तथा ध्वनिजन्य आनुपूर्वीविशेष से युक्त क्रम जिनका समाप्त हो गया है ऐसे, वर्णों का निर्भास करता है। भाष्य में प्रयुक्त '**एक**' शब्द का अर्थ '**अभिन्न**' है और इससे भाष्यकार ने पद के स्वरूप को व्याख्यात किया है। इस प्रकार भाष्य का वाक्यार्थ समाप्त होता है। तात्पर्य यह है–जिस प्रकार संयुक्त कपालद्वय जलाहरण का हेतु होता है अर्थात् संयुक्त कपालद्वय से जलाहरण- क्रिया निष्पन्न होती है–ऐसा मूढ (अविवेकी) के प्रति उपदेश किया जाता है, क्योंकि कपालादियों से घट का व्यावर्त्तकान्तर संभव नहीं है। अतः जिस प्रकार बालक कपाल से अभिन्न होने के कारण घट को ही जलाहरण का हेतु समझता है उसी प्रकार स्फोटान्तर के व्यावर्त्तन के लिये वर्णों के अविवेक से ही स्फोट में संकेतोपदेश तथा संकेतग्रह होता है। अतः वर्णों में संकेतत्व अनुपपन्न नहीं है।

सम्प्रति, वार्त्तिककार '**संकेतग्रह**' को विश्लेषित करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

त्रिविधं शब्दं प्रदर्श्येदानीं तेषां मध्यात्संकेतकारणं प्रतिपादयति—तदेकमिति। प्रतीयत इत्यनेनान्वयः। अयमर्थः—यद्यपि तत्पदं स्फोटाख्यम् एकमेव, न तु वर्णवदनेकम्; एकत्वे प्रमाणमेकबुद्धिविषयमिति, तथा वक्तुरेकेनैव प्रयत्नेन ध्वन्यादिद्वारोत्पादितम्; वर्णास्तु प्रयत्न-भेदेनाप्युत्पद्यन्ते; तथाऽभागं निरंशम्, वर्णव्यूहस्तु वनवत् सांशः; तथाऽक्रमम् एकदैवोत्पद्य-मानं न तु वर्णवत् क्रमेण, अत एभिर्हेतुभिर्वर्णभिन्नम्, किञ्च बौद्धं बुद्धिमात्रग्राह्यं तथाऽन्त्यवर्णस्य प्रत्ययरूपव्यापारेणाभिव्यक्तम् वर्णास्तु नैवं तथाऽपि परप्रतिपिपादयिषया-वक्तृभिरभिधीयमानैः श्रोतृभिश्च श्रूयमाणैर्वर्णैरेवंरूपैः सिद्धवत्परमार्थवदन्योन्यसम्प्रतिपत्त्या संवादेन [1]प्रतीयते व्यवह्रियते, न तु वर्णेभ्योऽन्येन रूपेण। तत्र हेतुरनादिवाग्व्यवहार-वासनावशीकृतया लौकिकबुद्ध्येति। अत्राभिधीयमानैरित्यनेन वागिन्द्रियविषयवर्णाविवेकः पदस्येति, श्रूयमाणैरित्यनेन श्रोत्रविषय[2]शब्दाविवेकः पदस्येति बोध्यम्।

तीन प्रकार के शब्दों को प्रदर्शित करके उनके मध्य से '**संकेत**' के कारणभूत शब्द का प्रतिपादन भाष्यकार करते हैं—'**तदेकमिति**।' इस वाक्य के द्वारा वर्णित '**एक**' पद का '**प्रतीयत इति**' इत्याकारक '**प्रतीयते**' क्रियापद के साथ अन्वय किया जाता है। इसका अर्थ यह है—यद्यपि स्फोटात्मक पद एक ही है, न कि वर्णों की भाँति अनेक। एकबुद्धिविषयत्व ही स्फोट के एकत्व में प्रमाण है और यह स्फोट वक्ता के एक ही प्रयत्न से ध्वन्यादि द्वारा उत्पन्न होता है, जब कि वर्ण तो प्रयत्नभेद से भी उत्पन्न होते हैं। यह स्फोटात्मक पद '**अभाग**' अर्थात् निरवयव (अंशरहित) है, जब कि वर्णसमूह तो वन की भाँति '**सांश**' अर्थात् सावयव है। यह पदात्मक स्फोट '**अक्रम**' अर्थात् एक काल में ही उत्पन्न होने वाला है, न कि वर्ण की भाँति क्रमशः। इन हेतुओं से '**पदस्फोट**' वर्ण से भिन्न कहलाता है। किञ्च स्फोट '**बौद्ध**' अर्थात् बुद्धिमात्र से ग्राह्य होता है तथा पदगत अन्तिम वर्ण के प्रत्ययरूप व्यापार के द्वारा अभिव्यक्त होता है, किन्तु वर्ण ऐसे नहीं होते हैं। तथापि (पदस्फोट से वर्ण के अभिन्न न होने पर भी) दूसरों के प्रति प्रतिपादन करने की इच्छा से वक्ता के द्वारा बोले गये तथा श्रोता के द्वारा सुने गये एवं रूप अर्थात् आनुपूर्वीविशिष्ट वर्णों के द्वारा यह स्फोटरूप पद '**सिद्धवत्**' अर्थात् परमार्थवत् अर्थात् नित्य स्थित के समान '**सम्प्रतिपत्ति**' अर्थात् सदृश व्यवहार चलने की परम्परा के कारण अर्थात् संवाद के कारण व्यवहार किया जाता है अर्थात् अनुभूत होता है, न कि वर्णों से पृथक् रूप से। वर्णों से अभिन्न रूप से पदस्फोट की प्रतीति में कारण यह है—'**अनादिवाग्व्यवहार-वासनावशीकृतया लौकिकबुद्ध्येति**।' अर्थात् अनादिकालिक वाग्व्यवहार (बात करने

---

1. क—**प्रलीयते**, ख ग घ च छ—**प्रतीयते**।
2. क ग घ च छ—**शब्द**०, ख—**वर्ण**०।

तथा सुनने) की वासना से अनुप्राणित लोगों की बुद्धि के कारण यह पदस्फोट परमार्थवत् समझा जाता है। भाष्य में '**अभिधीयमानैः**' पद के द्वारा भाष्यकार ने यहाँ '**पद**' का वागिन्द्रिय के विषयभूत वर्ण से अभेद (अविवेक) बताया है तथा '**श्रूयमाणैः**' पद के द्वारा '**पद**' का श्रोत्रेन्द्रिय के विषयभूत शब्द से अभेद (अविवेक) बताया है।

सम्प्रति, शब्दव्यवहार की '**संकेतग्रहमूलकता**' को विश्लेषित किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

तदेवं त्रिविधशब्दानामन्योन्याध्यासात्सङ्करो दर्शितः। इदानीं त्रिविधशब्देनार्थप्रत्यययोरध्यासं प्रतिपादयितुं शब्दव्यवहारस्य संकेतग्रहमूलकत्वमाह–तस्येति। तस्य पदस्य प्रविभागो विषयव्यवस्था संकेतग्रहादेव भवति। प्रविभागमेवाह–एतावतामिति। एतावतां वर्णानाम् एवंजातीयक एवमानुपूर्वीकोऽनुसंहारो मिलनमेतस्यार्थस्य वाचक उपस्थापक इत्येवंरूपो विभाग इत्यर्थः। एकस्यार्थस्येति पाठेऽर्थ[1]विशेषस्येत्यर्थः। संकेतशब्दार्थमाह–संकेतस्त्विति। अध्यासः संकेतकर्त्तुराहार्यारोपः, आरोपिताभेद इति यावत्। तस्यैव च ज्ञानं पदार्थोपस्थापकम्। तत्राधुनिकनामादिकल्पनाव्यावर्त्तनाय स्मृत्यात्मक इति। विषयविषयिणोरभेदात् पाणिन्यादिस्मृत इत्यर्थः। न च कल्पिताभेदस्यासतः कथंसंकेतत्वमिति वाच्यम्, असत्ख्यात्यनभ्युपगमेनान्यत्र सत एवाभेदस्यान्यत्र कल्पनादिति। अध्यासस्य संकेतत्वे प्रमाणमाह–योऽयं शब्द इत्यादिना भवतीत्यन्तेन। ओमित्येकाक्षरं ब्रह्मेत्यादिशास्त्रेषु, कम्बुग्रीवादिमान् घट इत्यादिर्लोके च पदपदार्थयोरभेदारोप एव संकेतो दृश्यत इत्यर्थः, ओमित्यादिशब्दवाच्यत्वलक्षणायां प्रमाणाभावादिति। अत एव कोशेषु अमरा निर्जरा देवा इत्यादिना शब्दार्थयोरारोप्यमाणाभेद एव संकेतो दृश्यत इति। अत एवैतेनानाद्यभेदारोपेणागमिनो मन्त्रार्थयोरभेदोपासनामुपदिशन्ति, मीमांसकाश्च मन्त्रमयीं देवतामाहुः। या त्वस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरेच्छाविषयत्वं [2]शक्तिरिति तन्त्रान्तरे [3]लक्षिता साऽप्रामाणिकी लक्षणाऽदिसाधारणी च। अपि चेश्वरमजानतोऽपि शब्दार्थप्रत्ययो दृश्यते, तथा पदपदार्थयोरभेदेन संकेतोऽपि न युज्येतेत्यादिदोषो बोध्यः। इदानीमुक्तसंकेतबुद्धिनिमित्तकः त्रयाणां [4]संकेत

---

1. ख–**अत्र संकेतशक्तिग्राहकत्ववचनाच्छक्तिरतिरिक्तः पदार्थः। तस्य वाचकः प्रणव इति सूत्रे च संकेतस्य शक्तिग्राहकत्वमेव भाष्यकृतोक्तं न च संकेतेनोपपत्तौ शक्तिर्व्यर्था देवदत्तादिशब्दानामिव प्रणवादीनामपि संकेतभेदेनानर्थव्यवस्थापत्तिरिति** (**विशेषस्येत्यर्थः**–पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ–**अत्र...पत्तिरिति** नोपलभ्यते।
2. ख–**अस्येदं वाचकमिति संकेतस्तु तद्ग्राहक इति** (**शक्तिः**–पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ–**अस्य...इति** नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ–**कल्पना**, च छ–**लक्षिता**।
4. क ग घ च छ–**संकेतः**, ख–**संकरः**।

इत्याह—एवमेत इति। एवं संकेतबुद्धेः कारणाद् एते त्रिविधाः शब्दा अर्थप्रत्ययौ च सङ्कीर्णावविविक्तौ च। तत्र संकेतग्रह एव शब्दार्थयोरितरेतराध्यासः, शब्दार्थयोस्तु प्रत्ययेन सहैकाकारत्वादन्योन्याध्यासः प्रसिद्ध एवेति भावः। संकराकारमाह—गौरिति। य इति। स एव शब्दादीनां तत्त्वज्ञो नान्य इत्यर्थः।

इस प्रकार वर्ण, ध्वनि तथा पद रूप तीन प्रकार के शब्दों का परस्पर (संकेतरूप) अध्यास होने से विवेकाग्रहरूप '**सङ्कर**' को प्रदर्शित किया गया। सम्प्रति, त्रिविध '**शब्द**' के साथ '**अर्थ**' तथा '**प्रत्यय**' (ज्ञान) का '**अध्यास**' प्रतिपादित करने के लिये भाष्यकार 'शब्दव्यवहार संकेतग्रहमूलक होता है', इस अर्थ की व्याख्या करते हैं—'**तस्येति**।' उस पद के विषयों की पृथक्-पृथक् व्यवस्था (प्रविभाग) संकेतग्रह से ही होती है। पद के '**प्रविभाग**' अर्थात् विषय-व्यवस्था को ही भाष्यकार इस प्रकार बताते हैं—'**एतावतामिति**।' इतने निश्चित (न कि अनिश्चित) वर्णों की '**एवं जातीयक**' अर्थात् इस प्रकार की आनुपूर्वी (पौवापर्य) वाला '**अनुसंहार**' अर्थात् एकत्वबुद्धि इस अर्थ की वाचक अर्थात् उपस्थापक होती है—इत्याकारक विषय-व्यवस्था (प्रविभाग) की जाती है। भाष्य में जहाँ-कहीं '**एतस्यार्थस्य**' के स्थान पर '**एकस्यार्थस्य**' ऐसा पाठभेद मिलता है वहाँ इस पद का '**अर्थविशेष**' अर्थ किया जाता है। भाष्यकार '**संकेत**' शब्द का अर्थ बताते हैं—'**संकेतस्त्विति**।' संकेतकर्त्ता का आहार्यारोप '**अध्यास**' कहलाता है। '**आहार्यारोप**' आरोपित अभेद को कहते हैं। (इस प्रकार यहाँ शब्द और अर्थ के बीच होने वाले अन्योन्याध्यास को आहार्यारोप कहा गया है)। इस आरोपित अभेद का ही ज्ञान पदार्थ का उपस्थापक (अभिधायक) होता है। आधुनिक नामादि कल्पना की व्यावृत्ति के लिये भाष्यकार ने '**स्मृत्यात्मकः**' पद का प्रयोग किया है। पद-पदार्थ-विषयक '**संकेत**' स्मृत्यात्मक होता है, क्योंकि विषय-विषयी का अभेद पाणिनि आदि शास्त्रों में स्मृत है।

शङ्का—कल्पित अभेद तो असद्रूप है। अतः असद्रूप कल्पित अभेद कैसे संकेत का कारण हो सकता है?

समाधान—ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि (असत्ख्यातिवादी तो हम हैं नहीं, हम तो अन्यथाख्यातिवादी हैं) असत्ख्याति को स्वीकार न करने पर अन्यत्र सद्रूप अभेद की अन्यत्र कल्पना की जा सकती है। '**संकेत**' में शब्द और अर्थ का '**इतरेतराध्यास**' होता है, इस तथ्य को भाष्यकार प्रमाणित करते हैं—'**योऽयं शब्द इत्यादिना भवतीत्यन्तेन**।' '**ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म**' (गीता ८/१३) अर्थात् '**ओम्**' यह एकाक्षर ब्रह्म है'—इत्यादि शास्त्रों में तथा '**कम्बुग्रीवादिमान् घटः**' अर्थात् 'घट कम्बुग्रीवादिमान् है'—इत्यादि लोक में '**पद**' तथा '**पदार्थ**' का अभेदारोपात्मक '**संकेत**' (जो यह शब्द है वह यह अर्थ है और जो यह अर्थ है वह यह शब्द है—इस प्रकार शब्द में अर्थ और

अर्थ में शब्दबुद्धिरूप परस्पराध्यासात्मक संकेत) ही परिलक्षित होता है, क्योंकि **'ओम्'** इत्यादि शब्द में वाच्यत्वपरक लक्षणा करने में कोई प्रमाण नहीं है। अत एव कोशग्रन्थों में **'अमरा निर्जरा देवा'** (१/१/२) अर्थात् देव के अमर, निर्जर पर्याय हैं– इत्यादि से शब्द और अर्थ के आरोप्यमाण **'अभेद'** में **'संकेत'** दिखलाई पड़ता है। अत एव शब्द और अर्थ में अनादि अभेद का आरोप होने से ही आगमिक अर्थात् वेदवेत्ता मंत्र और अर्थ की अभेदोपासना का उपदेश करते हैं और मीमांसक लोग मन्त्रमयी (शब्दमयी) देवता को कहते हैं। किञ्च न्यायशास्त्र में **'अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्यः'** अर्थात् 'इस शब्द से यह अर्थ जाना जाय'–एवंविधा शक्ति को ईश्वरेच्छा के विषयरूप से जो लक्षित किया गया है, वह अप्रामाणिकी तथा लक्षणादि-साधारणी है। किञ्च ईश्वर को न जानने वाले को भी शब्दार्थप्रत्यय होता है और (न्यायमतानुसार) पद-पदार्थ में अभेदविधया **'संकेत'** भी नहीं बन सकेगा–इत्यादि दोष सूच्य हैं। अधुना, उक्त संकेतबुद्धिनिमित्तक शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों के इतरेतराध्यासरूप **'संकेत'** को भाष्यकार बताते हैं–**'एवमेत इति।'** इस प्रकार संकेतबुद्धि के कारण ये तीन प्रकार के वर्ण, ध्वनि तथा पद रूप **'शब्द'**, **'अर्थ'** तथा **'ज्ञान'** 'अविविक्त' अर्थात् **'संकीर्ण'** हो जाते हैं। इनमें से **'संकेतग्रह'** होने पर ही **'शब्द'** और **'अर्थ'** का **'अन्योन्याध्यास'** होता है किन्तु शब्दार्थ का प्रत्यय के साथ एकाकारत्व होने से जो **'इतरेतराध्यास'** होता है, वह तो प्रसिद्ध ही है। भाष्यकार अध्यासप्रयुक्त संकीर्णता के प्रकार को बताते हैं–**'गौरिति।'** अर्थात् 'गो' यह **'शब्द'** है, 'गो' यह **'अर्थ'** है तथा 'गो' यह **'ज्ञान'** है। शब्दार्थज्ञान की अविविक्तता की प्रतीति अविवेकिजन को होती है, न कि विवेकिजन को भी, इसी तथ्य को भाष्यकार कहते हैं–**'य इति।'** जो व्यक्ति शब्द, अर्थ और ज्ञान के विभाग को जानता है वही तत्त्वज्ञ है, अन्य व्यक्ति नहीं।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार पद और वाक्य तथा उनके अर्थों के सांकर्य की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

वर्ण[1]ध्वनिपदानामन्योन्यसंकरवदिदानीं पदवाक्ययोस्तदर्थयोश्च सङ्करेणापि शब्दार्थ-प्रत्ययानां सङ्करं दर्शयति–सर्वपदेष्विति। वाक्यशक्तिः पदार्थान्तरसहकारेण [2]वाक्यभवन-शक्तिः। तथा [3]च वृक्ष इत्यादिपदानां वृक्षोऽस्ति वृक्षश्चलति वृक्षश्छिद्यत इत्यादिवाक्यै

1. ख ग–**परिणाम०** (**ध्वनि०**–पश्चात्) उपलभ्यते, क घ च छ–**परिणाम०** नोपलभ्यते।
2. क ग घ च छ–**वाक्यभवनशक्तिः**, ख–**वाक्यार्थबोधजननशक्तिः**।
3. ख–**अर्थाभेदात्** (**च**–पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ–**अर्थाभेदात्** नोपलभ्यते।

सङ्करोऽविवेक इति भावः। पदेषु **वाक्यशक्तिमुदाहरति–वृक्ष इत्युक्त इति। वृक्ष इत्युक्ते सत्याकाङ्क्षापूरणार्थं योग्यताऽऽदिवशादस्तीति शब्दो गम्यतेऽध्याह्रियत इत्यर्थः।** [1]**तथा च पदे** वाक्यसंकर इति भावः। [2]**ननु शब्दाध्याहारो न संभवति, एकस्मिन्नेवार्थे शब्दानामानन्त्यात् शब्दविशेषानुमापकलिङ्गाद्यनुपस्थितेरि**[3]**ति चेत्? न; स्वेच्छया स्वयं कल्पितेन केनाप्याकाङ्क्षा-पूरकशब्देन वक्तृतात्पर्यविषयार्थ**[4]**बोधसम्भवात्। अर्थविशेषानुमाने तु योग्यताऽऽकांक्षातात्पर्या-दिकमेव** लिङ्गमस्ति। एतदेवाह–**न सत्तामिति। योग्यताप्रदर्शनेनाकांक्षातात्पर्यादयोऽप्युप-**लक्षिताः, केवलयोग्यताया **अर्थान्तरसाधारण्यादिति।** उदाहरणान्तरमाह–**तथा न हीति।** आक्षेपोऽनुमानम्। **नन्वेवं** कारकवाचकपदानां **कुत्रापि प्रयोगो न स्यादित्यत्राह–नियमार्थ इति। योग्यताऽऽदिभिः सर्वत्रार्थविशेषानुमानं न सम्भवति, अतः** कारकाणां **सामान्यतोऽनुमिताना-मपि नियमार्थः** कारकान्तरव्यावृत्त्यर्थश्चैत्रोऽग्निना [5]**भर्जनमित्यादिपदैश्चैत्राग्निभर्जनानां कर्तृ-**करणकर्मणामनुवाद **इत्यर्थः।**

वर्ण, ध्वनि और पदों के अन्योन्य संकर की भाँति सम्प्रति '**पद**' और '**वाक्य**' के तथा उनके '**अर्थों**' के '**सांकर्य**' से भी शब्द, अर्थ और प्रत्यय में होने वाली संकीर्णता को भाष्यकार प्रदर्शित करते हैं–'**सर्वपदेष्विति।**' सभी पदों में अन्य पदों की सहायता से वाक्यनिर्माण की शक्ति निहित है। जैसे '**वृक्षः**' इत्यादि पदों का '**वृक्षोऽस्ति**', '**वृक्षश्चलति**', '**वृक्षश्छिद्यते**' अर्थात् 'वृक्ष है', 'वृक्ष चल रहा है', 'वृक्ष कट रहा है'– इत्यादि वाक्यों के साथ '**संकर**' अर्थात् विवेकाग्रह होता है। भाष्यकार पदों में वाक्य-शक्ति का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं–'**वृक्ष इत्युक्त इति।**' 'वृक्ष' ऐसा कहने पर आकांक्षा के निवृत्त्यर्थ योग्यतादि (योग्यता तथा आसत्ति) के कारण '**अस्ति**' अर्थात् 'है'–इत्या-कारक क्रियापद का अध्याहार किया जाता है। इस प्रकार पद में वाक्य का '**संकर**' अर्थात् अविभाग होता है।

शङ्का–शब्द का अध्याहार करना संभव ही नहीं है, क्योंकि एक ही अर्थ के वाचक एकाधिक शब्द होने से किसी शब्दविशेष का अध्याहार करने में अनुमापक लिङ्ग आदि का अभाव रहता है? अर्थात् अर्थविशेष में तात्पर्यग्रह होने पर भी उसी अर्थ वाले पदों के अनन्त होने से किसी शब्दविशेष का अध्याहार करने में कोई मापदण्ड नहीं रहता है?

---

1. क ग घ च छ–**तथा च पदे वाक्यसंकर इति भावः**, ख–**पचतीत्युक्ते सर्वकारकाणामाक्षेप इति वक्ष्यमाणादर्थाध्याहार एवाचार्याभिप्रेतः।**
2. क ग घ च छ–**ननु**, ख–**यतः।**
3. क ग घ च छ–**इति चेन्न** उपलभ्यते, ख–**इति चेन्न** नोपलभ्यते।
4. क ग घ च छ–**बोधसम्भवात्**, ख–**बोधस्वीकारे तु कल्पनागौरवः।**
5. क ग घ च छ–**भर्जनमित्यादिपदैश्चैत्राग्निभर्जनानां कर्तृकरणकर्मणां**, ख–**तण्डुलानित्यादिकपद-श्चैत्राग्निकरणकर्मणाम्।**

समाधान–ऐसी बात नहीं है, क्योंकि अपनी इच्छा से स्वकल्पित किसी भी आकांक्षा-पूरक शब्द के अध्याहार द्वारा वक्तृतात्पर्य के विषयभूत अर्थ का ज्ञान हो सकता है। किञ्च अर्थविशेष का अनुमान कराने में तो योग्यता, आकांक्षा तथा तात्पर्य आदि ही **'लिङ्ग'** होते हैं। इसी बात को भाष्यकार कहते हैं–**'न सत्तामिति।'** पदार्थ सत्ता से व्यभिचरित नहीं होता है। **'पदार्थ'** में अस्तित्वरूप योग्यता के प्रदर्शन (अभिधान) से आकांक्षा, तात्पर्य आदि भी उपलक्षित होते हैं, क्योंकि केवल योग्यता तो अर्थान्तर में भी समानरूप से रहने वाली होने से वह अर्थविशेष का अनुमान कराने में समर्थ नहीं होती है। पद में वाक्यशक्ति को परिपुष्ट करने के लिये भाष्यकार दूसरा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं–**'तथा न हीति।'** ऐसे ही साधन के विना क्रिया की निष्पत्ति नहीं हो सकती है। अर्थात् क्रियापद के श्रवण के पश्चात् साधनबोधक पद का अध्याहार किया जाता है। भाष्य में प्रयुक्त **'आक्षेप'** शब्द का अर्थ **'अनुमान'** है। जैसे **'पचति'** कहने पर सभी कारक आक्षिप्त अर्थात् अनुमित होते हैं। अर्थात् क्रिया को कर्त्ता, कर्म आदि कारकों की आकांक्षा होती है।

शङ्का–यदि क्रियापद का प्रयोग होने पर सभी कारकों के आक्षेप की बात कही जाय तो कारकवाचक पदों का कहीं भी प्रयोग नहीं हो सकेगा?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–**'नियमार्थ इति।'** योग्यता आदि से सर्वत्र अर्थ-विशेष का अनुमान तो संभव नहीं है। अतः सामान्यरूप से अनुमित कारकों को भी **'नियमार्थ'** अर्थात् विशेषातिरिक्त कारकान्तरों से व्यावृत कराने के लिये **'चैत्रोऽग्निना भर्जनम्'** इत्यादि पदों के द्वारा कर्त्ता, करण और कर्मरूप चैत्र, अग्नि तथा भर्जन (भूनने की क्रिया के रूप कर्म) का अनुवाद किया जाता है।

बालप्रिया–

'कारकान्तरव्यावृत्त्यर्थः...अनुवादः'–भावार्थ यह है–नियमन का अर्थ होता है–परिसीमित करना या अन्य व्यावर्तन करना। **'चैत्रः'** पद के कथन से **'पचति'** क्रिया का कारकत्व प्रकट नहीं होता है, प्रत्युक्त चैत्र में कर्तृत्व का परिसीमन और मैत्र, देवदत्तादि के कर्तृत्व का व्यावर्तन होता है। अतः अर्थविशेष के ज्ञान के लिये क्रियापद से अतिरिक्त कारकान्तरों का प्रयोग सार्थक एवं स्वाभाविक है। इस प्रकार पूर्वपक्षी की यह आशंका निरस्त हो जाती है कि क्रियापद के प्रयोग से ही सभी कारकों के आक्षेपलभ्य हो जाने से कारकवाचक पदों का प्रयोग व्यर्थ है।

सम्प्रति, **'पद'** और **'वाक्य'** के **'सांकर्य'** को विश्लेषित किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

इदानीमध्याहारं विनाऽपि पदवाक्ययोः सङ्करमर्थाभेदनिमित्तकं दर्शयति–दृष्टश्चेति।

छन्दोऽधीत इति वाक्यस्यार्थे श्रोत्रिय इति पदस्य; तथा प्राणान् धारयतीति वाक्यस्यार्थे जीवतीति पदस्य च वचनमित्यर्थः,

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्काराद् द्विज उच्यते।
विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते॥

इतिस्मृतेः, जीव बलप्राणधारणयोरित्यनुशासनाच्चेति। [1]ननु यदि वाक्यार्थप्रतिपत्तिः पदादपि भवति, तर्हि गुरुतरस्य छन्दोऽधीत इति वाक्यस्य वचनं कदाऽपि न स्यादित्याशङ्कायामाह—तत्र वाक्य इति। अत एव पदवाक्ययोः साङ्कर्यात् संशयस्थले पदं वाक्येन विवरणीयमिति। प्रसङ्गादाह—तत इति। यतो वाक्यार्थेऽपि पदरचना भवति; अतः संदेहस्थले पदमंशभेदैर्वाक्येन विवरणीयमित्यर्थः। [2]अव्याकरणेऽर्थाप्रत्ययाद्वाक्यव्यवहरणमेव व्यर्थं स्यादित्याह—अन्यथेति। भवतीति प्रयुक्ते नामाख्यातयोः सारूप्याद्भवति घटो भवति भिक्षां देहीत्यर्थद्वयसंदेहेऽनवधारितं पदं कथं किमर्थं क्रियायां कारके वा [3]व्याक्रियेत, श्रोतुरर्थप्रत्ययासंभवात्, एवमश्व इति प्रयुक्ते गतिमकार्षीर्घोटको वेति संशयो नामाख्यातसारूप्यात्, तथाऽजापय इति प्रयुक्ते छाग्याः पयः शत्रून् पराभावितवान्वेत्यर्थसंशयो नामाख्यातसारूप्याद् इत्यर्थः।

अधुना, दूसरे पद का अध्याहार किये विना भी पद और वाक्य के अर्थ की समानता के आधार पर होने वाले (अर्थाभेदनिमित्तक) **'सांकर्य'** अर्थात् इतरेतराध्यास को भाष्यकार प्रदर्शित करते हैं—**'दृष्टश्चेति।'** जैसे **'छन्दोऽधीते'** अर्थात् 'छन्द पढ़ता है'—इस वाक्यार्थ में **'श्रोत्रियः'** पद का अध्याहार किया जाता है तथा **'प्राणान् धारयति'** अर्थात् 'प्राणों को धारण करता है'—इस वाक्यार्थ में **'जीवति'** पद का अध्याहार किया जाता है। इस विषय में **'जन्मना...उच्यते'** (अत्रिसंहिता १४०) अर्थात् 'व्यक्ति जन्म से 'ब्राह्मण' कहलाता है' संस्कार से 'द्विज' कहा जाता है और विद्या से 'विप्रत्व' को प्राप्त करता है तथा तीनों से 'श्रोत्रिय' कहलाता है'—ऐसी

---

1. क ग घ च छ—ननु यदि वाक्यार्थप्रतिपत्तिः पदादपि भवति, तर्हि गुरुतरस्य छन्दोऽधीत इति वाक्यस्य वचनं कदापि न स्यादित्याशङ्कायामाह—तत्र वाक्य इति। अत एव पदवाक्ययोः साङ्कर्यात् संशयस्थले पदं वाक्येन विवरणीयमिति। प्रसङ्गादाह—तत इति। यतो वाक्यार्थेऽपि पदरचना भवति, अतः संदेहस्थले पदमंशभेदैर्वाक्येन विवरणीयमित्यर्थः।
   ख—ननु पदवाक्ययोरेकार्थत्वे श्रोत्रियश्छन्दोऽधीत इत्येवं विधेषु वाक्येषु पौनरुक्त्यं स्यात्तत्राह—तत्र वाक्य इति। यतस्तत्र वाक्ये श्रोत्रियश्छन्दोऽधीत इत्यादौ श्रोत्रियपदतदर्थयोर्वाच्यवाचकभावेनाभिव्यक्तिर्भवति। ततस्तस्माच्छ्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठमित्यादिवाक्यतः श्रोत्रियादिपदं प्रविभज्य यथोक्तवाक्यैर्व्याख्यातृभिर्व्याख्येयमित्यतो न पौनरुक्त्यमित्यर्थः। अत्र पदमनुद्य सामानाधिकरण्येनार्थविवरणादपि शब्दार्थयोः सङ्करश्च दर्शित इति।
2. ख—अर्थद्वयसंशयस्थलेषु पद०—(अव्याकरणे—प्राक्) उपलभ्यते, क ग घ च छ—अर्थ...पद० नोपलभ्यते।
3. ख ग—प्रयुज्येत (व्याक्रियेत—पश्चात्) उपलभ्यते, क घ च छ—प्रयुज्येत नोपलभ्यते।

स्मृति तथा '**जीव बलप्राणधारणयोः**'—अर्थात् 'बल और प्राण को धारण करने से 'जीव' कहलाता है—ऐसा अनुशासन (धातुपाठ) प्राप्त होता है।

शङ्का—यदि पद से भी वाक्यार्थज्ञान होता है तो **श्रोत्रियः** पद के स्थान पर '**छन्दोऽधीते**' इस गौरवपूर्ण वाक्य का प्रयोग कभी न हो सकेगा?

समाधान—उक्त आशंका होने पर भाष्यकार कहते हैं—'**तत्र वाक्य इति**।' पद और वाक्य में से वाक्य द्वारा पद के अर्थ का प्रकाशन होता है। अत एव पद और वाक्य का सांकर्य होने पर संशय के स्थल में वाक्य के द्वारा पद को विवृत करना चाहिये। अर्थात् वाक्य के द्वारा व्युत्पादित पद व्याख्यान के योग्य होता है। भाष्यकार प्रसङ्गवश आगे कहते हैं—'**तत इति**।' चूँकि वाक्यार्थ में भी पद-रचना होती है अर्थात् सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ एक पद के द्वारा भी अभिहित होता है, इसलिये पद के अर्थ के विषय में सन्देह होने पर (प्रकृति-प्रत्ययरूप) अंशभेदों से युक्त पद का वाक्य के द्वारा विवरण करना चाहिये। पद के अर्थ को प्रकृति-प्रत्यय द्वारा विश्लेषित न करने पर अर्थात् पद-पृथक्करण-प्रक्रिया का प्रयोग न करने पर पदार्थ- ज्ञान (पद के अर्थ का बोध) न होने से (पद के अर्थबोध के लिये) वाक्य का व्यवहार (प्रयोग) करना ही व्यर्थ हो जायेगा। इस तथ्य को भाष्यकार इस प्रकार बताते हैं—'**अन्यथेति**।' ऐसा न करने पर '**भवति**' इस प्रयोग में '**नाम**' और '**आख्यात**' की समानता होने से (भू+लट् प्रथमपुरुष एकवचन में तथा 'भवत्' शब्द से सम्बोधन के एक वचन में '**भवति**' पद निष्पन्न होने से) '**घटो भवति**' तथा '**भवति भिक्षां देहि**'—इन दो वाक्यों में प्रयुक्त '**भवति**' पद के अर्थद्वय के विषय में सन्देह होने पर यह अनवधारित=अनिर्णीत पद क्रियारूप अथवा कारकरूप में से किस रूप में व्याख्यात किया जाय? ऐसा सन्देह बना रहता है। अन्यथा श्रोता को अर्थज्ञान होना संभव न हो सकेगा। इसी प्रकार '**अश्वः**' कहने पर '**नाम**' और '**आख्यात**' की समानता होने से (श्वस् प्राणने+लुङ् मध्यमपुरुष एकवचन में तथा 'अश्व' शब्द से प्रथमा विभक्ति एकवचन में '**अश्वः**' पद निष्पन्न होने से) '**अश्वस्त्वम्**' तथा '**अश्वो धावति**' इन दो वाक्यों में प्रयुक्त '**अश्वः**' पद के अर्थद्वय 'साँस ली' अथवा 'घोड़ा है'—के विषय में सन्देह होता है। इसी प्रकार '**अजापयः**' इस प्रयोग में '**नाम**' और '**आख्यात**' की समानता होने से (जय्+णिच् लङ् मध्यमपुरुष एकवचन में तथा '**अजायाः पयः**' द्वितीया विभक्ति के एकवचन में '**अजापयः**' पद निष्पन्न होने से) '**अजापयः शत्रून्**' तथा '**अजापयः पिब**' इन दो वाक्यों में प्रयुक्त '**अजापयः**' पद के अर्थद्वय 'शत्रुओं को पराजित कराया' तथा 'बकरी का दूध पीना चाहिये'—के विषय में सन्देह होता है। (अतः पद से वाक्यार्थज्ञान होने पर भी वाक्य-प्रयोग निरर्थक नहीं रहता है)।

सम्प्रति, वार्त्तिककार शब्द-अर्थ-ज्ञान के '**प्रविभाग**' पक्ष का विश्लेषण करते हैं—

योगवार्त्तिकम्

तदेवं शब्दार्थप्रत्ययानां सङ्करं प्रदर्श्येदानीं प्रविभागं दर्शयति–तेषामित्यादिना। तत्रादौ शब्दभेदेऽप्यर्थप्रत्यययोरभेदेन शब्दार्थयोर्भेदं दर्शयति–श्वेतत इत्यादिना प्रत्ययश्चेत्यन्तेन। क्रिया साध्यरूपोऽर्थो यस्य स क्रियाऽर्थः। श्वेतत इतिशब्द; तथा कारकः सिद्धरूपोऽर्थो यस्य स कारकार्थः, श्वेत इति शब्दः, एतौ शब्दौ भिन्नौ, एतयोरर्थस्तु क्रियाकारकरूप एक एव श्वेतगुणमात्रः, एवं प्रत्ययोऽपि। क्रियाकारकात्मक[1]गुणाकारत्वे प्रमाणं पृच्छति–कस्मादिति। उत्तरम्–सोऽयमित्यभिसम्बन्धादिति। श्वेतनं या क्रिया सोऽयं श्वेतरूपः कारको गुणो यश्च श्वेतत इत्यस्मात् श्वेताकारप्रत्ययः सोऽयं श्वेत इत्यस्मादपि श्वेताकारः प्रत्यय इत्यभेद-प्रत्यभिज्ञानादित्यर्थः। कथं तर्ह्यभेदेन शब्दार्थयोः संकेत इति? तत्राह–एकाकार इति। एकाकार आरोपरूपः प्रत्यय एव संकेतः, आरोपिताभेद एव संकेतो न तु पारमार्थिकाभेदरूप इत्यर्थः। ननु शब्दार्थयोरभेदप्रत्ययेन प्रत्यभिज्ञैव कथं न बाध्यते? तत्राह–यस्त्विति। यस्तु श्वेतोऽर्थः [2]शब्दप्रत्यययोर्विषयत्वात् स्वाभिः शब्दादिव्यावृत्ताभिरवस्थाभिर्नवपुराणादिभि[3]र्विक्रियमाण-त्वाच्च न शब्दप्रत्यययोः सहगतो न कालतः सहचरो वैयधिकरण्यादित्यर्थः। एवं देशतो न सहचरो यतः शब्द आकाशे प्रत्ययो बुद्धावर्थस्तु श्वेतगुणादिः प्रासादादिष्विति भावः। एव-मिति। एवं शब्दोऽपि स्वावस्थाभिः विक्रियमाणो नाप्यर्थबुद्ध्योः सहचरः, एवं प्रत्ययोऽपी-त्यर्थः। उपसंहरति–इत्यन्यथेति। सूत्रार्थमुपसंहरति–एवं तत्प्रविभागेति। एवं मनुष्यविषये शब्दार्थप्रत्ययेषु प्रविभागसंयमात् साक्षात्कारपर्यन्तात्सर्वभूतानां रुतं तदर्थप्रत्ययं च योगी जानाति, योगजधर्मस्याचिन्त्यशक्तित्वाद् धर्माणां स्वसदृशफलदानस्यौत्सर्गिकत्वाच्चेत्यर्थः। अस्मदादीनां च शब्दार्थप्रत्ययभेदसाक्षात्कारे सत्यपि तस्य साक्षात्कारस्य संयमाजन्यत्वान्न सर्वभूतरुतज्ञानं भवति, संयमस्यैव हीयं सिद्धिरिति। एवमुत्तरसूत्रेष्वपि यथास्थलमिदमेव समाधानम् ॥१७॥

इस प्रकार शब्द, अर्थ तथा ज्ञान के सांकर्य को प्रदर्शित करने के पश्चात् भाष्यकार अधुना उनके प्रविभाग को दिखाते हैं–'तेषामित्यादिना।' इन तीन प्रकार के शब्द, अर्थ और ज्ञान में से सर्वप्रथम शब्दभेद होने पर भी उनके अर्थ और ज्ञान में अभेद होने से शब्द और अर्थ का जो भेद होता है, उसे भाष्यकार प्रदर्शित करते हैं–'श्वेतत इत्यादिना प्रत्ययश्चेत्यन्तेन।' योगवार्त्तिककार 'क्रियार्थ' और 'कारकार्थ'

---

1. क ग घ च छ–गुणाकारत्वे प्रमाणं, ख–गुणाकार एक एवेति शब्दादर्थप्रत्यययोर्भेद इत्यर्थः। अर्थस्य प्रत्ययस्य च क्रियाकारकात्मकस्यैकत्वे प्रमाणम्।
2. क ग घ च छ–शब्दप्रत्यययोर्विषयत्वात्, ख–स शब्दप्रत्यययोर्विषयः अतः कर्मकर्तृविरोध इति भावः। तथा स हि स एव।
3. क ग घ च छ–विक्रियमाणत्वाच्च न शब्दप्रत्यययोः सहगतो न कालत सहचरो वैयधिकरण्या-दित्यर्थः, ख–विक्रियमाणेन शब्दप्रत्यययोः सहगतो न तदुभयसाहित्येन विक्रियत इत्यर्थः।

इन दोनों पदों का विग्रह करते हैं–'**क्रिया साध्यरूपोऽर्थो यस्य स क्रियार्थः**' अर्थात् जिसका '**साध्यरूप**' अर्थ होता है उसे क्रियार्थ कहते हैं, जैसे '**श्वेतते**' यह क्रियार्थक पद है तथा '**कारकः सिद्धरूपोऽर्थो यस्य स कारकार्थः**' अर्थात् जिसका '**सिद्धरूप**' अर्थ होता है, उसे कारकार्थ कहते हैं, जैसे '**श्वेतः**' यह कारकार्थ पद है। ये दोनों क्रियावाची और कारकवाची शब्द भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु इन दोनों पदों का क्रिया और कारकरूप अर्थ एक ही है और वह है–'श्वेतगुण।' इसी प्रकार इन दोनों '**श्वेतते**' और '**श्वेतः**' पदों का ज्ञान भी एकरूप है।

शङ्का–इन दोनों पदों के क्रियाकारकात्मक गुणाकार होने में पूर्वपक्षी प्रश्न करता है–'**कस्मादिति।**'

समाधान–उत्तर है–'**सोऽयमित्यभिसम्बन्धादिति।**' श्वेतनरूप जो क्रिया है वही श्वेतरूप कारकगुण है और जो '**श्वेतते**' इससे श्वेताकार ज्ञान (प्रत्यय) होता है, वह '**श्वेतः**' इस पद से भी होता है। इस प्रकार अभेदात्मक प्रत्यभिज्ञान से (अभेदसम्बन्ध की कल्पना से) ये दोनों पद क्रियाकारकात्मक गुणाकार प्रतीत होते हैं।

शङ्का–तो फिर कैसे शब्द और अर्थ का अभेदरूप से संकेत किया जाता है?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**एकाकार इति।**' एकाकार आरोपरूप प्रत्यय ही '**संकेत**' कहलाता है। यह संकेत आरोपित अभेदरूप ही है, न कि पारमार्थिक अभेदरूप।

शङ्का–शब्द और अर्थ के अभेदप्रत्यय से प्रत्यभिज्ञा का ही बाध क्यों नहीं हो जाता है?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**यस्त्विति।**' यह तो श्वेतवस्तुरूप वाला '**अर्थ**' है, वह तो अपने वाचक '**श्वेत**' शब्द और अपने आकार से आकारित '**श्वेताकार ज्ञान**' का विषय (आलम्बन) होने से और स्वशब्दादि से व्यावृत्त, नूतनता और पुराणता आदि अवस्थाओं के रूप से परिणाम को प्राप्त होने से न तो शब्दप्रत्ययसहगत है और न कालसहचर है, क्योंकि अर्थ का शब्द और ज्ञान से वैयधिकरण्य है। (भाव यह है कि जब वह अर्थ अपने धर्मों, लक्षणों तथा अवस्थाओं के द्वारा परिणत होता रहता है उस समय उसके वाचक शब्द और तदाकारित ज्ञान में अर्थगत परिणाम नहीं होता है। उन शब्दों एवं ज्ञानों के परिणाम अर्थगतपरिणाम से पृथक् होते हैं)। इसी प्रकार '**अर्थ**' देश के साथ नहीं जाता है, क्योंकि शब्द आकाश में, ज्ञान बुद्धि में तथा श्वेतगुणादिरूप अर्थ प्रासादादि में रहता है। '**एवमिति।**' इसी प्रकार '**शब्द**' भी अपनी अवस्थाओं द्वारा परिणत होता हुआ न तो 'अर्थ' के साथ जाता है और न प्रत्ययरूप बुद्धि के साथ जाता है। अर्थात् शब्द अपने वाच्यार्थ तथा तदाकारित ज्ञान से भिन्नरूप में ही परिणत होता है। इसी प्रकार '**प्रत्यय**' भी

अपनी अवस्थाओं के द्वारा परिणत होता हुआ अपने आलम्बनीभूत अर्थ और तद्वाचक शब्द के रूप से परिणत नहीं होता है। उक्त तथ्य को उपसंहृत करते हुए भाष्यकार कहते हैं–'**इत्यन्यथेति**।' इससे यह सिद्ध होता है कि '**शब्द**' अन्य प्रकार के पदार्थ हैं, '**अर्थ**' अन्य प्रकार के पदार्थ हैं तथा '**प्रत्यय**' अन्य प्रकार के पदार्थ हैं। इस प्रकार इन तीनों में वस्तुतस्तु भिन्नता ही होती है। प्रकृत सूत्रार्थ का अवसान करते हुए भाष्यकार कहते हैं–'**एवं तत्प्रविभागेति**।' इस प्रकार प्राणिविषयक शब्द, अर्थ तथा ज्ञान के प्रविभाग के विषय में साक्षात्कारपर्यन्त संयम करने से योगी को अखिल प्राणियों के '**रुत**' अर्थात् शब्द का अवबोध होता है, क्योंकि योगजधर्म अचिन्त्य शक्ति वाला होता है तथा धर्मों का यह सामान्यनियम होता है कि वे स्वसदृश फल को प्रदान करते हैं। हम जैसे साधारण लोगों को शब्द, अर्थ और ज्ञान के भेद का साक्षात्कार (ज्ञान) होने पर भी उस साक्षात्कार के संयमजन्य न होने से सब भूतों के शब्द का ज्ञान नहीं होता है। यही संयमजन्य सिद्धि है। इसी प्रकार उत्तरवर्ती सूत्रों में भी यथास्थान संयमजन्य सिद्धि का तुल्य समाधान किया गया है॥१७॥

योगसूत्रम्

संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम्॥१८॥

(संयम द्वारा) संस्कार का साक्षात्कार होने से (योगी को) पूर्व जन्मों का ज्ञान (अपरोक्षानुभव) होता है॥१८॥

व्यासभाष्यम्

द्वये खल्वमी संस्काराः स्मृतिक्लेशहेतवो वासना[1]रूपाः, विपाकहेतवो धर्मा-[2]धर्मरूपाः। ते पूर्वभवाभिसंस्कृताः परिणामचेष्टानिरोधशक्तिजीवन[3]धर्मवदपरि-दृष्टाश्चित्तधर्माः। तेषु संयमः [4]संस्कारसाक्षात्क्रियायै समर्थः। न च देशकाल-निमित्तानुभवैर्विना तेषामस्ति साक्षात्करणम्। तदित्थं संस्कारसाक्षात्कारणात्पूर्व-जातिज्ञानमुत्पद्यते योगिनः। परत्राप्येवमेव संस्कारसाक्षात्करणात्पर[5]जातिसंवेदनम्। अत्रेदमाख्यानं श्रूयते–भगवतो जैगीषव्यस्य संस्कारसाक्षात्करणाद्दशसु महासर्गेषु

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–**रूपाः**, ब–**अभिधानाः**।
2. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न प फ ब भ म य र–**अधर्म०** उपलभ्यते, झ–**अधर्म०** नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–**धर्मवत्**, ब–**धर्माः**।
4. ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र–**संस्कार०** उपलभ्यते, क छ थ–**संस्कार०** नोपलभ्यते।
5. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न प फ ब भ म य र–**जातिसंवेदनं**, ज–**चित्तज्ञानम्**।

जन्म[1]परिणामक्रममनुपश्यतो विवेकजं ज्ञानं प्रादुर[2]भवत्। अथ भगवानावट-यस्तनुधरस्तमुवाच—दशसु महासर्गेषु भव्यत्वादनभिभूतबुद्धि[3]सत्त्वेन त्वया नरक-तिर्यग्[4]गर्भसंभवं दुःखं [5]संपश्यता देवमनुष्येषु पुनःपुनरुत्पद्यमानेन सुखदुःखयोः किमधिकमुपलब्धमिति? भगवन्तमावट्यं जैगीषव्य उवाच—दशसु महासर्गेषु भव्य-त्वादनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन मया नरक[6]तिर्यग्भवं दुःखं संपश्यता देवमनुष्येषु पुनः-पुनरुत्पद्यमानेन यत्किञ्चिदनुभूतं तत्सर्वं दुःखमेव प्रत्यवैमि। भगवानावट्य उवाच—यदिदमायुष्मतः प्रधानवशित्वमनुत्तमं च सन्तोषसुखं किमिदमपि दुःखपक्षे निक्षिप्तमिति? भगवाञ्जैगीषव्य उवाच—विषयसुखापेक्षयैवेदमनुत्तमं सन्तोषसुख-मुक्तम्, कैवल्य[7]सुखापेक्षया दुःखमेव। बुद्धिसत्त्वस्यायं धर्म[8]स्त्रिगुणः, त्रिगुणश्च प्रत्ययो हेयपक्षे न्यस्त इति। [9]दुःखस्वरूपस्[10]तृष्णातन्तुः, [11]तृष्णादुःखसंतापापगमात्तु प्रसन्नम[12]बाधं सर्वानुकूलं सुखमिदमुक्तमिति॥१८॥

ये संस्कार दो प्रकार के हैं—स्मृति और क्लेश के कारणभूत 'वासनारूप' संस्कार तथा विपाक (फल) के कारणभूत 'धर्माधर्मरूप' संस्कार। ये (दोनों प्रकार के) संस्कार पूर्वजन्मों में संगृहीत अथवा निष्पादित हुए रहते हैं। ये परिणाम, चेष्टा, निरोध, शक्ति तथा जीवन आदि धर्मों की भाँति चित्त के 'अपरिदृष्ट' धर्म हैं। इन संस्कारों में साधित संयम संस्कारों का साक्षात्कार कराने में सक्षम होता है। और इन संस्कारों का साक्षात्कार देश, काल तथा

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**परिणामक्रमं**, ब—**परिणामम्**।
2. क ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ—**अभूत**, ख घ प फ म य र—**अभवत्**।
3. क ख ग घ च छ ज थ द ध न प फ ब भ म य र—**सत्त्वेन** (उभयत्र), झ त—**संवेदनत्वेन** (उभयत्र)।
4. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**गर्भसंभवं**, ख—**भवं**, ब—**गमन०**।
5. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**सम्पश्यता**, ब—**अनुपश्यता**।
6. क—**तिर्यग्भावं दुःखं सम्पश्यता**, ख—**तिर्यग्भवं दुःखं पश्यता**, ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**तिर्यग्भवं दुःखं सम्पश्यता**, ब—**तिर्यग्गमनं अनुपश्यता**।
7. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म—**सुख०** उपलभ्यते, घ प फ य र—**सुख०** नोपलभ्यते।
8. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न प फ ब भ म य र—**त्रिगुणः** उपलभ्यते, झ—**त्रिगुणः** नोपलभ्यते।
9. क ख ग च ज झ त थ द ध न ब भ य—**दुःखरूपः**, घ प फ म र—**दुःखस्वरूपः**, छ—**दुःखरूपा**।
10. क ख ग घ च ज झ त थ द ध न प ब भ म य र—**तृष्णातन्तुः**, छ—**तृष्णा ततः**, फ—**तृष्णा**।
11. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न ब भ म र—**तृष्णादुःखसन्तापापगमात्**, प य—**तृष्णादुःखसन्तानापगमात्**, फ—**दुःखसन्तापापगमात्**।
12. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**अबाधं**, ब—**अनाबाधम्**।

निमित्त के अनुभवों से रहित नहीं होता है। इस प्रकार संस्कारों का साक्षात्कार हो जाने से योगी को पूर्वजन्मों का ज्ञान उत्पन्न होता है। इसी प्रकार दूसरे जीवों के संस्कारों का संयम द्वारा साक्षात्कार होने से दूसरों के जन्मों का ज्ञान योगी को होता है। इस विषय में यह आख्यान सुनने में आता है—संस्कारों का साक्षात्कार होने से दश महाकल्पों में गृहीत जन्मादि के परिणामक्रम को जानने वाले भगवान् जैगीषव्य को विवेकज्ञान उत्पन्न हुआ था। एक समय तनुधारी भगवान् आवट्य ने महर्षि जैगीषव्य से पूछा— 'दश महाकल्पों में उत्पन्न हो चुकने के कारण अनभिभूत सात्त्विक बुद्धि वाले, नारकीय तथा तिर्यक् योनियों में मिलने वाले दुःख का अनुभव कर चुकने वाले तथा देवताओं और मनुष्यों में बार-बार उत्पन्न होने वाले तुम्हारे द्वारा सुख-दुःख में से किसका अधिक अनुभव किया गया?' जैगीषव्य ने उत्तर दिया—'दश महाकल्पों में होने वाले सम्पूर्ण पदार्थों से सम्बद्ध ज्ञान से सम्पन्न होने के कारण, रजोगुण तथा तमोगुण से अनभिभूत शुद्ध सात्त्विक बुद्धि से युक्त होने से मैंने दश महासर्गों में नरक्-तिर्यक् जन्म के दुःख का अनुभव करके और देव-मनुष्य योनियों में बारम्बार उत्पन्न होकर जो कुछ अनुभव किया है, उन सबको मैं दुःख ही मानता हूँ।' (महर्षि जैगीषव्य के उत्तर को सुनकर) आवट्य ऋषि ने पुनः प्रश्न किया—'हे दीर्घायुःसम्पन्न आपका यह जो प्रकृतिजय और सन्तोषरूप अनुत्तम सुख है, क्या यह भी दुःखकोटि में न्यस्त होता है?' इस पर भगवान् जैगीषव्य ने उत्तर दिया—'केवल विषय-सुख की तुलना में ही यह सन्तोष-सुख सर्वातिशायी कहा गया है। किन्तु कैवल्यसुख की तुलना में तो यह सन्तोष सुख भी दुःखरूप ही है।' क्योंकि बुद्धिसत्त्व का धर्मभूत यह सन्तोष भी त्रिगुणात्मक है और त्रिगुणात्मक धर्म त्याज्यकोटि में ही डाला जाता है। तृष्णा-तन्तु दुःखस्वरूप होता है और तृष्णारूपी दुःख की धारा के दूर हो जाने से सन्तोष को निर्मल, निर्बाध, सर्वप्रिय सुख कहा गया है। कैवल्य की दृष्टि से तो यह भी दुःख ही है॥१८॥

तत्त्ववैशारदी

संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम्। ज्ञानजा हि संस्काराः स्मृते[1]र्हेतवः। अविद्यादिसंस्कारा अविद्यादीनां क्लेशानां हेतवः। [2]विपाकहेतवो विपाको जात्यायुर्भोगरूपः। तस्य हेतवो धर्माधर्मरूपाः। पूर्वेषु भवेष्वभिसंस्कृता निष्पादिताः स्वकारणैर्यथा संस्कृतं व्यञ्जनं कृतमिति

---

1. क ख ग घ च ज झ थ द ध न—**हेतवः**, छ त—**विपाकहेतवः**।
2. क ख थ द ध—**विपाकहेतवः** उपलभ्यते, ग घ च छ ज झ त न—**विपाकहेतवः** नोपलभ्यते।

गम्यते। परिणामचेष्टानिरोधशक्तिजीवनान्येव धर्माश्चित्तस्य, तद्वदपरिदृष्टाश्चित्तधर्माः। तेषु श्रुतेष्वनुमितेषु सपरिकरेषु संयमः, संस्काराणां द्वयेषां साक्षात्क्रियायै समर्थः।

'**संस्कारेति**।' ज्ञानजन्य '**संस्कार**' स्मृति के हेतु होते हैं और अविद्यादिजन्य संस्कार अविद्यादि क्लेश के हेतु होते हैं। जाति, आयु तथा भोग को '**विपाक**' कहते हैं। धर्माधर्मरूप संस्कार विपाक के हेतु होते हैं। ये पूर्वोक्त '**वासनारूप**' और '**धर्माधर्मरूप**' संस्कार पूर्व के अनेक जन्मों में अपने-अपने कारणों से '**अभिसंस्कृत**' अर्थात् निष्पादित होते हैं। भाष्य में प्रयुक्त '**अभिसंस्कृत**' पद का अर्थ '**निष्पादित**' है, इसे स्पष्ट करते हुए तत्त्ववैशारदीकार दृष्टान्त देते हैं, जैसे–'**संस्कृतं व्यञ्जनम्**' अर्थात् 'भोजन बन गया'–यहाँ '**संस्कृत**' शब्द 'निष्पादित' अर्थ में बोध्य है। जिस प्रकार परिणाम, चेष्टा, निरोध, शक्ति, जीवन और धर्म ये चित्त के अपरिदृष्ट धर्म हैं, उसी प्रकार पूर्वकथित 'संस्कार' भी चित्त के अपरिदृष्ट धर्म हैं। श्रुत तथा अनुमित संस्कारसमूह में निष्पादित संयम दोनों प्रकार के संस्कारों का साक्षात्कार कराने में समर्थ होता है।

बालप्रिया–

'**संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम्**'–सूत्र के प्रारम्भ में '**संस्कारसंयमेन**'–इत्यंश का सन्निवेश करना चाहिये, जिससे संयमजन्य सिद्धि के प्रकरण से एकवाक्यता स्थापित की जा सके।

'**पूर्वभवाऽभिसंस्कृताः**'–यहाँ '**संस्कृत**' शब्द '**निष्पादित**' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जैसे '**संस्कृतं व्यञ्जनम्**' अर्थात् 'व्यञ्जन सिद्ध हो गया' में संस्कृत (सम् कृ+क्त) शब्द क्रिया-निष्पत्ति की भूतकालिकता को द्योतित करता है। अभिप्राय यह है कि 'अतीत जन्मों में सञ्चित संस्कारों में संयम करने से अतीत जन्मों का ज्ञान होता है'–इस कथन से साधन और साध्य की अन्तःसंगति स्थापित की गई है।

'**परिणामचेष्टा**'...–वाक्य द्वारा चित्त के परिणामादि अपरिदृष्ट धर्मों की भाँति संस्कार भी चित्त के ही धर्म हैं, आत्मा के नहीं, यह द्योतित किया गया है। तदर्थ कारिका भी पूर्व संगृहीत है–

निरोधधर्मसंस्काराः परिणामोऽथ जीवनम्।
चेष्टा शक्तिश्च चित्तस्य धर्मा दर्शनवर्जिताः॥

'**श्रुतेष्वनुमितेषु सपरिकरेषु**'–वाक्यांश के मूल में निम्नाङ्कित शंका अन्तर्निहित है–
शङ्का–संयम द्वारा जिस संस्कार का साक्षात्कार अभिहित हुआ है, वह संस्कार संयम से पूर्व ज्ञात है अथवा अज्ञात? यदि प्रथम विकल्प के अनुसार संयम से पूर्व संस्कार को ज्ञात माना जाय तो संयमाभ्यास व्यर्थ होगा। यदि संयमाभ्यास की व्यर्थता से बचने के लिये द्वितीय विकल्प के अनुसार संस्कार को संयमाभ्यास से

पूर्व अज्ञात माना जाय, तो संस्कारविषयक संयम ही संभव न होगा, **क्योंकि** अज्ञातवस्तुविषयक संयम अशक्य है। अन्यथा आकाशकुसुमादि अलीक तत्त्वों को भी संयम द्वारा साक्षात्कृत मानना पड़ेगा?

समाधान–उक्त शंका के समाधानार्थ ही तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं कि सर्वप्रथम शास्त्र तथा अनुमानप्रमाण से परोक्षतया ज्ञात संस्कारविषयक संयम किया जाता है। अतः संस्कारविषयक संयम असंभव नहीं है और शास्त्र तथा अनुमान द्वारा परोक्षतया ज्ञात संस्कार का संयमाभ्यास द्वारा अपरोक्षज्ञान किया जाता है, अतः संयमाभ्यास भी व्यर्थ नहीं है। इस प्रकार संस्कार-साक्षात्कार की असम्भवता तथा संयमाभ्यास की व्यर्थता-सम्बन्धी शङ्काओं का समाधान हो जाता है।

सम्प्रति, संस्कारसाक्षात्कारजन्य सिद्धि के विषय में विचार प्रस्तुत हो रहा है–

तत्त्ववैशारदी

अस्तु तत्र **संयमात्तत्साक्षात्कारः, पूर्वजातिसाक्षात्कारस्तु कुत इत्यत आह–न च देशेति।** निमित्तं पूर्वशरीरमिन्द्रियादि **च। सानुबन्धसंस्कारसाक्षात्कार एव नान्तरीयकतया जात्यादि-** साक्षात्कारमाक्षिपतीत्यर्थः। **स्वसंस्कारसंयमं परकीयेष्वतिदिशति–परत्राप्येवमिति।**

शङ्का–ठीक है, संस्कारों में संयम करने से संस्कारों का साक्षात्कार होना माना जाय, किन्तु संस्कारविषयक सयम से कैसे '**पूर्वजाति**' (अतीत जन्मों) का अपरोक्षज्ञान होता है?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**न च देशेति**।' भाष्य में आये '**निमित्त**' शब्द का अर्थ है–पूर्वशरीर और इन्द्रियादि। इस प्रकार देश, काल और निमित्तरूप अनुबन्ध-सहित संस्कारों का साक्षात्कार ही अविनाभावितया जात्यादिसाक्षात्कार का आक्षेप कराता है। अतः उक्त शङ्का निर्मूल है। सम्प्रति, भाष्यकार स्वसंस्कारविषयक संयम को परचित्तनिष्ठ संस्कारविषयक संयम में अतिदिष्ट करते हैं–'**परत्राप्येवमिति**।' इसी प्रकार संयम द्वारा दूसरे पुरुष के चित्तगत संस्कारों का साक्षात्कार होने से उसके भी पूर्वकालिक जन्मों का ज्ञान योगी को होता है।

बालप्रिया–

'**सानुबन्ध**'–माता-पिता के जन्मभूम्यादि देश, सत्ययुग आदि काल तथा पूर्व-शरीर, इन्द्रियादि को '**अनुबन्ध**' कहते हैं और अनुबन्धों के सहित **तैः सह वर्त्तते**' को '**सानुबन्ध**' कहते हैं। इस प्रकार सानुबन्ध संस्कारविषयक संयम से अतीत जन्मों का ज्ञान होता है। स्वसंस्कारविषयक संयम स्वजातिज्ञान तथा परसंस्कारविषयक संयम परजातिज्ञान कराता है-यह अन्तर है। स्वसंस्कारविषयक संयम से साधक को यह ज्ञान होता है कि 'मैं पूर्वजन्म में कौन था, किस देश में था, मेरे माता-पिता कौन थे, किस स्तर की सुख-दुःखानुभूति हुई इत्यादि।'

सम्प्रति, संस्कारविषयक संयम-साधना की प्रामाणिकता के प्रतिपादनार्थ पौराणिक आख्यान को प्रस्तुत किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

अत्र श्रद्धोत्पादे हेतुमनुभवत आवट्यस्य जैगीषव्येण संवादमुपन्यस्यति–अत्रेदमाख्यानं श्रूयत इति। [1]महाकल्पो महासर्गः। तनुधर इति निर्माणकायसंपदुक्ता। भव्यः शोभनो विगलितरजस्तमोमल इत्यर्थः। प्रधानवशित्वमैश्वर्यम्। तेन हि प्रधानं [2]विक्षोभ्य यस्मै यादृशीं कायेन्द्रियसंपदं दित्सति तस्मै तादृशीं दत्ते, स्वकीयानि च [3]कायेन्द्रियसहस्राणि निर्मायान्तरिक्षे दिवि भुवि च यथेच्छं विहरतीति। संतोषो हि तृष्णाक्षयः, बुद्धिसत्त्वस्य प्रशान्तता धर्मः॥१८॥

उक्त संयम के विषय में (योगसाधनानुरागियों में) श्रद्धा को जागरित करने के लिये, सानुबन्धानुभवसिद्ध आवट्य ऋषि का जैगीषव्य के साथ जो वार्तालाप हुआ, उस को भाष्यकार उपन्यस्त करते हैं–'**अत्रेदमाख्यानं श्रूयत इति**।' '**महासर्गः**' पद का अर्थ है–**महाकल्प**। '**तनुधरः**' शब्द के द्वारा आवट्य ऋषि को '**निर्माणकाय**' विभूतियुक्त कहा गया है। '**भव्य**' शब्द का अर्थ है–'**शोभन**' (सुन्दर)। अर्थात् जिसमें से रजोगुण और तमोगुणरूप मालिन्य प्रक्षालित (नष्ट) हो चुका है, उसे '**शोभन**' कहते हैं। '**प्रधानवशित्व**' एक ऐश्वर्यविशेष है। इस प्रधानवशित्व नामक सिद्धि से योगी प्रधान को विक्षुब्ध कर जिसको जिस प्रकार का कायेन्द्रियसामर्थ्य प्रदान करना चाहता है, उसको उसी प्रकार का ऐश्वर्य प्रदान करता है और स्वेच्छानुसार सहस्र शरीरों (निर्माणकायों) और इन्द्रियों (निर्माणचित्तों) का निर्माण कर अन्तरिक्ष और पृथ्वीलोक में यथेच्छ विचरण करता है। '**सन्तोष**' तृष्णा अर्थात् लोभनाश को कहते हैं और यह सात्त्विक बुद्धि का '**प्रशान्तता**' (निश्चलता, स्थिरता) रूप '**धर्म**' है अर्थात् सात्त्विक बुद्धि में तृष्णाक्षयरूप सन्तोष प्रादुर्भूत होता है॥१८॥

बालप्रिया–

'**प्रशान्तता धर्मः**'–वस्तुतस्तु चित्त का प्रशान्ततारूप सन्तोष धर्म भी दुःखरूप ही है और '**सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः**' सूत्र द्वारा सन्तोष को जो अनुत्तम सुखलाभ का हेतु कहा गया है, वह तृष्णारूपी दुःख से उसे पृथक् करना अभिप्रेत है। अतः मोक्ष की अपेक्षा सुख भी दुःखरूप ही है॥१८॥

योगवार्त्तिकम्

संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्। संस्कारसंयमेनेति सूत्रस्यादौ पूरणीयं संयम-

---

1. क ख घ च छ ज झ त थ ध न–**महाकल्पो महासर्गः**; ग द–**महासर्गः महाकल्पः**।
2. क छ–**विक्षुभ्य**, ख ग घ च ज झ त थ द ध न–**विक्षोभ्य**।
3. क ख ग घ च छ ज झ त न–**कायेन्द्रिय**, थ द ध–**कायेन्द्रियाणि**।

सिद्धिप्रकरणत्वात्। अत्र ज्ञानसंस्कारवद्रागादिवासना[1]धर्माधर्मा अपि ग्राह्या इत्याह—द्वय इति। अमी सूत्रोक्ताः। स्मृतिर्ज्ञानविशेषः, क्लेशोऽत्र रागादिरेव, [2]अविद्याऽस्मितयोः स्मृतिमध्यप्रवेशात्। न चाविद्यात एव रागादिसम्भवे तत्संस्कारे प्रमाणं नास्तीति वाच्यम्, अविद्यासाम्येऽपि कस्यचिद् दुग्ध एव प्रीतिर्न दध्नि, कस्यचिद्वैपरीत्यमित्यत्र वासनां विना [3]नियामकान्तराभावे न तत्सिद्धेः। तेषां दृष्टान्तेनाप्रत्यक्षत्वमनात्मधर्मत्वं चाह—त इति। अभिसंस्कृता उपचिताः परिणामादिजीवनान्तचित्तधर्मवन्न साक्षिभास्याः, चित्तधर्माश्चानात्मधर्मा इत्यर्थः। एतेन धर्मादयः प्रलयेऽपि चित्त एव तिष्ठन्ति, तेन चित्तं बीजरूपेण नित्यमित्यायातम्।

'**संस्कारेति।**' संयमजन्य सिद्धि का प्रकरण होने से प्रकृत सूत्र के प्रारम्भ में '**संस्कारसंयमेन**' इस अंश को जोड़ना चाहिये। यहाँ ज्ञानात्मक संस्कार की भाँति रागादिवासनाजन्य धर्माधर्मात्मक संस्कार भी ग्राह्य हैं, ऐसा भाष्यकार बताते हैं— '**द्वय इति।**' भाष्यगत '**अमी**' पद का अर्थ है—(सूत्र में कथित) संस्कार के दो प्रकार। '**स्मृति**' ज्ञानविशेष को कहते हैं। यहाँ '**क्लेश**' शब्द से रागादि का ही ग्रहण होता है, क्योंकि अविद्या और अस्मिता का तो स्मृति में प्रवेश होता है।

शङ्का—जब अविद्या से ही रागादि सम्भव हो सकते हैं तब पृथक् रूप से उनके रागात्मक, द्वेषात्मक तथा अभिनिवेशात्मक संस्कार होने में कोई प्रमाण नहीं रह जाता है?

समाधान—पूर्वपक्षी को ऐसा नहीं कहना चाहिये। राग का अविद्या के साथ साम्य होने पर भी अर्थात् रागरूप कार्य के अविद्याकारणात्मक होने पर भी रागबुद्धि का यह वैचित्र्य देखने में आता है कि किसी का दूध के प्रति राग होता है तो दधि के प्रति नहीं और किसी को इसके विपरीत दधि ही प्रिय होता है तो दुग्ध नहीं—ऐसे प्रीत्यात्मक अनुभवों में रागजन्य वासना (रागात्मक संस्कार) को मांने विना उन विभिन्न प्रकार के प्रीत्यात्मक अनुभवों को सिद्ध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि प्रीत्यात्मक अनुभवों का नियामक (प्रयोजक) कोई अन्य नहीं है। अर्थात् इस प्रकार की भिन्न-भिन्न रुचियों में रागजन्य रागात्मक संस्कार (वासना) ही नियामक होता है, कोई अन्य नहीं। अतः रागात्मक संस्कार की सिद्धि होती है। इन वासनारूप संस्कारों तथा धर्माधर्मरूप संस्कारों की '**अप्रत्यक्षविषयता**' तथा '**अनात्मधर्मता**' को भाष्यकार उदाहरण सहित बतलाते हैं—'**त इति।**' पूर्वजन्मों में निष्पादित (संगृहीत) ये पूर्वोक्त दो प्रकार के संस्कार उसी प्रकार साक्षिभास्य नहीं हैं जिस प्रकार '**परिणाम**'

1. क ख ग—**धर्माधर्मौ च ग्राह्यौ**, घ च छ—**धर्माधर्मा अपि ग्राह्याः।**
2. क ग घ च छ—**अविद्याऽस्मितयोः स्मृतिमध्यप्रवेशात्**, ख—**अविद्याऽस्मिताहेतुसंस्काराणां स्मृतिहेतुत्वेनैव ग्रहणात्।**
3. क ग—**नियामकान्तराभावं न**, ख—**नियामकाभावेन**, घ च छ—**नियामकान्तराभावेन।**

से लेकर '**जीवन**' पर्यन्त चित्तधर्म साक्षिभास्य नहीं हैं। अतः इनमें अप्रत्यक्षविषयता (अपरिदृष्टता) है। इन संस्कारों को चित्त का धर्म कहने से यह पर्यवसित होता है कि ये आत्मा के धर्म नहीं हैं अर्थात् '**अनात्मभूत**' हैं। इससे यह सिद्धान्तित होता है कि प्रलयावस्था में भी धर्मादि संस्कार चित्त में ही अवस्थित रहते हैं। इससे संस्कारात्मक बीजरूप से चित्त भी नित्य सिद्ध होता है।

सम्प्रति, संस्कार-साक्षात्कार के कारणभूत '**संयम**' को विश्लेषित किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

संस्कारसाक्षात्कारकारणतया संयमं व्याचष्टे–तेषु संयम इति। नन्वज्ञाते संस्कारे संयमो न घटते, ज्ञाते च व्यर्थ इति चेत्? न; शब्दानुमानाभ्यां सामान्यतो ज्ञाते विशेषज्ञानफलकस्य संयमस्य संभवात्।

सम्प्रति, भाष्यकार (द्विविधात्मक) संस्कार के साक्षात्कार के कारण (साधन) रूप से '**संयम**' की व्याख्या करते हैं–'**तेषु संयम इति।**'

शङ्का–संस्कार के अज्ञात रहने पर तद्विषयक संयम नहीं बन पायेगा और संस्कार को ज्ञात मानने पर तद्विषयक संयम व्यर्थ कहा पायेगा ?

समाधान–ऐसी बात नहीं है, क्योंकि शब्द तथा अनुमान से संस्कार का सामान्यरूप से ज्ञान रहने पर भी सामान्यतः ज्ञात संस्कार के विषय में विशेषज्ञानफलक संस्कार के विशेषरूप का ज्ञान कराने वाला संयम किया जा सकता है

सम्प्रति, सूत्रगत '**पूर्वजातिज्ञानम्**' पद को विवेचित किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

संस्कारसाक्षात्कारे जायमाने पूर्वजन्मज्ञानं भवतीत्यत्र युक्तिमप्याह–न चेत्यादिना साक्षात्करणमित्यन्तेन। देशो जन्मभूमिर्नगरादिः, कालो युगादिः, निमित्तं मातापित्रादिः, एतेषां संस्कारविषयतया तदनुभवैर्विना तान्यविषयीकृत्य संस्काराणां साक्षात्कारो न सम्भवति, सविषयकगुणग्रहणस्य विषयोपरागेणैव ज्ञानेच्छाऽऽदिस्थले दृष्टत्वात्। अतः संस्कार-साक्षात्कारे पूर्वजन्मनां देशकालनिमित्तादिरूपाशेषविशिष्टानामपि साक्षात्कारो भवति विषय-विधयेत्यर्थः। सूत्रार्थं व्याचष्टे–तदित्थमिति। न केवलं संस्कारसाक्षात्कारात् पूर्वजातिज्ञानमेव, अपि तु भाविजन्मज्ञानमपीति। स्वयं पूरयति–परत्रापीति। भाविजन्मसंस्काराणामनागताव-स्थानां साक्षात्कारादिति [1]शेषः।

संयम द्वारा पूर्वोक्त संस्कार का अपरोक्षात्मक ज्ञान उत्पन्न होने पर योगी को '**पूर्वजन्म**' का ज्ञान होता है, इस विषय में भाष्यकार युक्ति भी बताते हैं–'न **चेत्यादिना**

1. क च छ–**शेषः**, ख ग घ–**विशेषः**।

साक्षात्करणमित्यन्तेन।' '**देश**' शब्द का अर्थ जन्मभूमिसम्बन्धी नगरादि है, '**काल**' शब्द का अर्थ युगादि है, '**निमित्त**' शब्द का अर्थ माता-पिता आदि है। ये देशादि संस्कार के विषय होते हैं। अतः संस्कार के विषयभूत देशादि का अनुभव हुए विना अर्थात् देशादि को विषय किये विना द्विविधात्मक संस्कारों का साक्षात्कार संभव नहीं होता है, क्योंकि ज्ञानेच्छा आदि स्थल में सविषयक गुण का ज्ञान विषयोपराग के द्वारा ही दिखाई पड़ता है। अतः संस्कार का साक्षात्कार होने पर योगी को पूर्वजन्मों के देश, काल, निमित्तादिरूप अशेषविशेष का भी साक्षात्कार विषयविधया होता है। भाष्यकार सूत्र का अर्थ बतलाते हैं–'**तदित्थमिति।**' संयम द्वारा संस्कार का साक्षात्कार होने से योगी को केवल पूर्वजन्म का ही अपरोक्षज्ञान नहीं होता है, अपितु उसे परवर्ती (आगामी) जन्मों का भी प्रत्यक्ष होता है। भाष्यकार सूत्रार्थ को पूरा करते हुए स्वयं कहते हैं–'**परत्रापीति।**' योगी को भावी जन्मों का ज्ञान इसलिये होता है, क्योंकि वह भाविजन्म के अनागतावस्थ संस्कारों का साक्षात्कार कर लेता है।

बालप्रिया–

'न **केवलं संस्कारसाक्षात्कारात् पूर्वजातिज्ञानमेव, अपितु भाविजन्मज्ञानमपि...भाविजन्मसंस्काराणामनागतावस्थानां साक्षात्कारादिति शेषः**'–**मिश्र-भिक्षु-मतभेद**–प्रकृत सूत्र की व्याख्या करते हुए '**परत्राप्येवमेव संस्कारसाक्षात्करणात् परजातिसंवेदनम्**' इस भाष्य को वाचस्पति मिश्र ने स्वलिखित '**स्वसंस्कारसंयमं परकीयेष्वतिदिशति**' इस वाक्य द्वारा उठाया है। इस पंक्ति से मिश्र का यह मत सामने आता है कि 'संस्कार का साक्षात्कार होने पर जैसे अपने पूर्वजन्म का ज्ञान योगी को होता है, वैसे ही तुल्य-न्याय से अन्य के पूर्वजन्म का ज्ञान भी होता है।' किन्तु विज्ञानभिक्षु ने योगी के पूर्वजातिज्ञान के साथ भाविजातिज्ञान की बात कही है और इसमें हेतु दिया है–'**भाविजन्मसंस्काराणामनागतावस्थानां साक्षात्कारात्।**'

मिश्र तथा भिक्षु के परस्पर विरोधी मतों में से कौन सा युक्तिसंगत मत है, इसमें योगी का अनुभव ही प्रमाण है। फिर भी भाष्य की पंक्तियों की अन्तःसंगति बैठाते हुए ऐसा कहना समीचीन प्रतीत होता है कि योगी का अनागत जन्म होता ही नहीं है, क्योंकि उसके अनागतजन्म के कारणभूत रागादि नष्ट हो चुकते हैं। यदि कहें कि अनेक जन्म के हेतुभूत प्रारब्ध के रहने पर अनागतजन्म भी योगी का होता है तो यह भी समीचीन नहीं है। क्योंकि वक्ष्यमाण '**सोपक्रम**' और '**निरुपक्रम**' रूप दोनों प्रकार के प्रारब्ध को योगी एक ही समय में अनन्त शरीरों को धारण करके भोग लेता है। अत एव भाष्यकार ने इसी पाद के बाईसवें सूत्र में उक्त दोनों प्रकार के कर्मों को एकभविक कहा है। अतः वाचस्पति मिश्रकृत अर्थ ही समीचीन प्रतीत होता है, विज्ञानभिक्षुकृत अर्थ नहीं।

सम्प्रति, सूत्रगत '**पूर्वजातिज्ञानम्**' के पुष्ट्यर्थ पौराणिक आख्यान को प्रस्तुत किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वादिजन्मन्यशेषविशेषैर्ज्ञायन्त इत्यत्र प्रमाणतया जैगीषव्यावट्ययोः संवादमा[1]ह–अत्रेदमाख्यानमिति। अत्र पूर्वजातिज्ञानविषये महासर्गेषु प्राकृतसर्गेषु जन्मक्रमं बाल्ययौवनवार्द्धक्यादिरूपं च तत्परिणामक्रमं च साक्षात्कुर्वतो जैगीषव्यस्य तारकं सर्वविषयकमित्यागामिसूत्रलक्षणीयं विवेकजं ज्ञानमुदभूत्; अथानन्तरं तमाहावट्यनामा योगी लिङ्गशरीरमात्रविहारी परीक्षाऽर्थं तनुधरो निर्माणकायं धृत्वा पप्रच्छेत्यर्थः। भव्यत्वात् कुशलत्वादनभिभूतवृत्तिसत्त्वेनेत्यस्याधिकं किमुपलब्धमित्यनेनान्वयः। यथाश्रुते भव्यत्वाख्यजीवन्मुक्त्यनन्तरम् [2]आकाशादिगमनासम्भवादिति। सम्पश्यता=उपभुञ्जानेन, देवतामनुष्येषु जायमानेनेत्यनेन च तत्रत्यसुखमुपभुञ्जानेनेत्युपलक्षितम्। सुखदुःखयोर्मध्ये संसारे किं बहुलमिति पृष्टः स दुःखबहुत्वप्रतिपादनाय सर्वमेव दुःखमित्याह–दशस्विति। अनुभूतं सुखमिति शेषः। सुखस्यापि दुःखत्वं गुणवृत्त्यविरोधाच्चेत्यनेनोक्तम्। प्रधानवशित्वं स्वेच्छया प्रकृतिनियोक्तृत्वं तत्कार्यत्वात्तद्रूपम् ऐश्वर्यसुखं तथा सन्तोषसुखं सन्तोषोत्थं [3]स्वाभाविकं सुखं प्रधानवशित्वेन हि कामसमाप्त्या विषयेष्वलम्प्रत्ययरूपं वैतृष्ण्याख्यं सन्तोषमुत्पाद्य चित्तस्य स्वाभाविकं सुखमभिव्यज्यत इति। कैवल्यापेक्षया दुःखमुपपादयति–बुद्धिसत्त्वस्येति। बुद्धिसत्त्वस्यायं धर्मः सन्तोषाख्योऽलम्प्रत्ययः त्रिगुणः सुखादिगुणत्रयवान् सुखादिगुणवांश्च प्रत्ययो बुद्धिपरिणामो हेयपक्षे दुःखपक्षे न्यस्तो मधुविषसम्पृक्तान्नवदित्यर्थः। कैवल्यस्य च सुखत्वम् आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिरूपतयोक्तम्। सुखं दुःखसुखात्यय इति मोक्षशास्त्रे परिभाषणात्; निरुपाधिप्रियत्वस्यैव सुखत्वाच्चेति। यथा वाऽत्र कैवल्ये सुखशब्दो दुःखनिवृत्त्यादिपरतया निर्णीतः एवं श्रुतिस्मृत्योरपि निर्णयः, सर्वशास्त्रेष्वेकरूपव्यवहारौचित्यादिति। नन्वेवं कथं सन्तोषसुखस्यानुत्तमत्वं श्रुतिस्मृत्युक्तमुपपद्येत? तत्राह–दुःखरूप इति। दुःखसाधनतया दुःखरूपस्तृष्णाऽऽख्यस्तन्तुर्बन्धकरज्जु[4]हेतुस्ततो [5]दृष्टोऽर्थो बन्धरूपो यः सम्यक्तयोद्वेजकस्तस्यापगमात् प्रसन्नं वैषयिकदुःखाकलुषितम् अबाधमक्षयं यावद्बुद्धिस्थायि सर्वेषामेवानुकूलं प्रियमिदं सन्तोषोत्थं प्रधानवशित्वमूलकं सुखमुक्तं शास्त्रेष्वित्यर्थः॥१८॥

संयम द्वारा संस्कार का साक्षात्कार होने से अशेष-विशेष के साथ पूर्वादिजन्मों का ज्ञान योगी को होता है, इस विषय में भाष्यकार जैगीषव्य-आवट्य-संवाद को

1. क घ च छ–**आह**, ख ग–**अवतारयति**।
2. क ग घ च छ–**आकाशादि०**, ख–**नरकादि०**।
3. क ख ग घ च–**स्वाभाविकं** उपलभ्यते, छ–**स्वाभाविकं** नोपलभ्यते।
4. क ख ग–**हेतुरतः**, घ च–**हेतुस्ततः**, छ–**ततः**।
5. क च छ–**दृष्टोऽर्थो बन्धरूपो यः**, ख–**तृष्णोत्थो दुःखरूपो यः**, ग घ–**दृष्टोऽर्थो बध्यरूपो यः**।

प्रमाणरूप से कहते हैं–'**अत्रेदमाख्यानमिति**।' पूर्वजाति के ज्ञान के विषय में '**महासर्ग**' अर्थात् प्राकृतसर्गों में बाल्य, यौवन, वार्द्धक्यादिरूप जन्मक्रम तथा उनके परिणाम-क्रम का साक्षात्कार करने वाले जैगीषव्य ऋषि को '**तारकं सर्वविषयम्**' (३/५४) आगामी सूत्र द्वारा विधीयमान '**विवेकजज्ञान**' प्रादुर्भूत हुआ। फिर कालान्तर में केवल सूक्ष्मशरीर से विचरण करने वाले आवट्य नामक योगी ने जैगीषव्य की परीक्षा लेने के लिये निर्माणकाय धारण करके अर्थात् तनुधर होकर जैगीषव्य से पूछा – दश महासर्गों में '**कुशल**' अर्थात् सर्वपदार्थविषयक ज्ञान वाला होने से रजोगुण एवं तमोगुण से अनभिभूत शुद्ध सात्त्विक बुद्धि द्वारा आपने सुख-दुःख में से किसे अधिक पाया'–इस प्रकार प्रश्न का अन्वय किया जाता है। यहाँ '**भव्यत्व**' के यथाश्रुत अर्थ '**विदेहमुक्तत्व**' को नहीं लेना है, अन्यथा जीवन्मुक्ति के अनन्तर योगी की आकाशगमनादिक्रिया संभव न हो सकेगी। भाष्यगत '**सम्पश्यता**' पद का अर्थ है–उपभुञ्जान अर्थात् अनुभव करने से। अर्थात् देवता और मनुष्य योनियों में उत्पन्न होने से यहाँ सुख का अनुभव ही उपलक्षित है, क्योंकि नरक, तिर्यगादि में दुःख-बहुलता विवक्षित है। 'संसार में सुख और दुःख में से किसका बाहुल्य है'–इस प्रकार पूछे गये जैगीषव्य '**दुःखबहुलत्व**' को प्रतिपादित करने के लिये '**सर्वमेव दुःखम्**' अर्थात् सब कुछ दुःखमय ही है, ऐसा बताते हैं–'**दशस्विति**।' यहाँ '**यत्किञ्चिदनुभूतं**'–अर्थात् जो कुछ भी अनुभव किया–का '**सुखमिति शेषः**' यह वाक्यशेष है। अर्थात् 'जो कुछ भी सुख का अनुभव किया' यह अर्थ निकलता है। सुख की दुःखरूपता '**गुण-वृत्त्यविरोधाच्च**' (२/१५) सूत्र द्वारा उक्त है। स्वेच्छापूर्वक प्रकृति को नियंत्रित रखना '**प्रधानवशित्व**' है। अतः प्रकृति का कार्य होने से सुख भी ऐश्वर्यसुख वाला हो जाता है। '**सन्तोषोत्थं सुखम्**' अर्थात् सन्तोष से प्रादुर्भूत सुख '**सन्तोषसुख**' कहलाता है। '**प्रधानवशित्व**' संज्ञक सिद्धि से योगी के चित्त की समस्त कामनाएँ समाप्त हो जाती हैं। इससे भोग पदार्थों में अलंप्रत्ययरूप वैतृष्ण्यसंज्ञक सन्तोष प्रादुर्भूत होकर चित्त में स्वाभाविक रूप से सुख को अभिव्यक्त करता है। किन्तु कैवल्य की अपेक्षा सन्तोषजन्य सुख भी दुःखरूप है, इसे भाष्यकार प्रतिपादित करते हैं–'**बुद्धिसत्त्वस्येति**।' बुद्धिसत्त्व अर्थात् सत्त्वगुणप्रधान बुद्धि का यह अलंप्रत्ययरूप '**सन्तोषाख्य**' धर्म त्रिगुणात्मक है। अर्थात् सन्तोष धर्म सुखादिगुणत्रय स्वरूप वाला है और सुखादि-गुणविषयक प्रत्यय बुद्धि का परिणाम है। अतः सुखाकारा वृत्ति मधुरात्मक विष से सम्पृक्त (युक्त) अन्न की भाँति '**हेयपक्ष**' अर्थात् दुःख की परिसीमा में न्यस्त है। यहाँ कैवल्य की सुखरूपता '**आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूपता**' की दृष्टि से कथित है। जैसा कि '**सुखं दुःखसुखात्ययः**' (श्रीमद्भागवत ११/१९/४१) इस मोक्षशास्त्र में सुख-दुःख के नाश को सुख अर्थात् मोक्ष कहा गया है। किञ्च 'जिसमें निरुपाधिक प्रियता होती है'

है' उसे ही सुख कहते हैं। अथवा प्रकृत योगशास्त्र में '**कैवल्य**' के लिये '**सुख**' शब्द '**दुःखनिवृत्त्यादिरूप**' से स्थिरीकृत (निर्धारित) है। श्रुति-स्मृतिशास्त्रों में भी इसी अर्थ में कैवल्य का निर्धारण हुआ है, क्योंकि सभी शास्त्रों में कैवल्य का एक रूप से व्यवहार किया जाना उचित है।

शङ्का–यदि कैवल्यरूप सुख ही अनुत्तम है तो श्रुति-स्मृतियों में कथित सन्तोषसुख की अनुत्तमता कैसे उपपन्न होगी?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**दुःखरूप इति**।' बन्धनकारी रज्जु की भाँति दुःख का साधन (हेतु) होने से तृष्णाख्य तन्तु दुःखरूप ही है। इससे यह पुरोदृश्यमान पदार्थ भी बन्धनकारी सिद्ध होता है, जो विषयभोग का सेवन करने वाले प्राणी को पूरी दृढता के साथ उद्वेलित करता है। इस तृष्णाख्य दुःख का नाश होने पर '**प्रसन्न**' अर्थात् वैषयिक दुःखरूप कालिमा से रहित, '**अबाध**' अर्थात् बुद्धि की अवस्थिति तक क्षीण न होने वाला, सभी प्राणियों को '**अनुकूल**' अर्थात् प्रिय लगने वाला सन्तोषजन्य सुख शास्त्रों में प्रधानवशित्वमूलक कहा गया है। इस प्रकार जिज्ञासु की शंका का समाधानपक्ष यह है कि वैषयिक सुख की अपेक्षा सन्तोषजन्य सुख '**अनुत्तम**' है, न कि कैवल्यरूप सुखापेक्षया उसे '**अनुत्तम**' कहते हैं ॥१८॥

योगसूत्रम्

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्॥१९॥

'प्रत्यय' में संयम करने से परचित्त का ज्ञान होता है॥१९॥

व्यासभाष्यम्

प्रत्यये संयमात्प्रत्ययस्य साक्षात्[1]करणात्ततः परचित्तज्ञानम्॥१९॥

(दूसरे के) प्रत्यय में संयम करने से प्रत्यय का साक्षात्कार होने पर दूसरे के चित्त का ज्ञान होता है॥१९॥

तत्त्ववैशारदी

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्। [2]परप्रत्ययस्य चित्तमात्रस्य साक्षात्करणादिति॥१९॥

'**प्रत्ययस्येति**।' सूत्र में प्रयुक्त '**प्रत्यय**' शब्द का अर्थ है–परचित्तमात्र का साक्षात्कार होने से। भाव यह है–प्रत्यय चित्त की वृत्ति है। क्रिया-क्रियावान् में अभेद विवक्षित होने से चित्तविषयक संयम के कथन के लिये सूत्रकार ने '**प्रत्यय**' शब्द का प्रयोग किया है। दूसरी बात यह है कि साध्य-साधन में समानरूपता होती है। अतः

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–**करणात्**, ब–**करणम्**।
2. क ख ग घ च छ ज झ त न–**परप्रत्ययस्य चित्तमात्रस्य**, थ द ध–**प्रत्ययस्य परचित्तमात्रस्य**।

परचित्तज्ञानरूप विभूति (साध्य) का साधन भी '**परप्रत्यय**' ही होगा। अतः परप्रत्यय-विषयक संयम से परचित्त का अपरोक्षज्ञान योगी को होता है॥१९॥

योगवार्त्तिकम्

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्। व्याचष्टे–प्रत्यय इति। प्रत्ययस्य रागादिमत्याः स्वकीयचित्तवृत्तेः संयमेनाश्रयादिरूपैरशेषविशेषैः साक्षात्करणात्ततस्तस्माच्चित्तात् परस्य भिन्नस्य चित्तान्तरस्याप्यशेषविशेषतो ज्ञानं सङ्कल्पमात्रेणैव भवतीत्यर्थः॥१९॥

'प्रत्ययस्येति।' भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं–'**प्रत्यय इति।**' संयम द्वारा '**प्रत्यय**' =रागादिमती (रागादिविषयिणी) स्वचित्तवृत्ति का आश्रयादिरूप अशेषविशेष के साथ साक्षात्कार होने पर योगी को उस साक्षात्कृत चित्त से स्वभिन्न चित्तान्तर का भी अशेषविशेष के साथ साक्षात्कार संकल्पमात्र से ही होता हैं॥१९॥

बालप्रिया–

'**प्रत्ययस्य...स्वकीयचित्तवृत्तेः संयमेन...साक्षात्करणात्**'–**मिश्र-भिक्षु-मतभेद**–सूत्रगत '**प्रत्ययस्य**' पद के अर्थ के विषय में वाचस्पति मिश्र तथा विज्ञानभिक्षु में मतभेद है। मिश्र ने '**प्रत्यय**' पद से परप्रत्यय का ग्रहण करके सूत्र का संक्षिप्तार्थ इस प्रकार प्रस्तुत किया है–'**परप्रत्ययस्य चित्तमात्रस्य साक्षात्करणादिति।**' विज्ञानभिक्षु ने '**प्रत्यय**' शब्द से स्वप्रत्यय को लेते हुए ऐसा सूत्रार्थ किया है–'**प्रत्ययस्य रागादिमत्याः स्वकीयचित्तवृत्तेः संयमेनाश्रयादिरूपैरशेषविशेषैः साक्षात्करणात्।**'

वाचस्पति मिश्र ने '**यत्र संयमस्तत्रैव साक्षात्करणम्**' (३/१६)–सूत्र में कथित स्वाभिप्राय को दृष्टिगत रखते हुए यहाँ भी स्पष्टतः उल्लिखित '**परचित्तज्ञानम्**' सिद्धि के आधार पर संयम के विषयभूत प्रत्यय को '**परप्रत्यय**' के द्वारा संकेतित एवं मर्यादित किया है। दूसरी ओर विज्ञानभिक्षु ने '**अन्यविषयकसंयमात् प्रतिनियतपदार्थान्तरसाक्षात्कारश्च योगजधर्मबलाद्भवति**' (३/१६) सूत्र में कथित अपने पूर्वकथन को दृष्टिगत रखते हुए स्वप्रत्ययविषयक संयम को परचित्तज्ञान का हेतु बताया है। ध्यातव्य है कि भाष्यकार ने प्रकृत सूत्र का अर्थ करते हुए लिखा है–'**प्रत्यये संयमात् प्रत्ययस्य साक्षात्करणात्ततः परचित्तज्ञानम्।**' इससे यह स्पष्ट नहीं हो पाता है कि सूत्रगत '**प्रत्ययस्य**' पद से स्वप्रत्यय अथवा परप्रत्यय में से किसे गृहीत किया जाय? अतः योगिजन के अनुभव द्वारा ही यह समाधेय है॥१९॥

योगसूत्रम्

[1]न च तत्सालम्बनं तस्याविषयी[2]भूतत्वात्॥२०॥

---

1. **न तद् ग्राह्यस्तं विषयीभूतत्वात्**–इति सूत्रपाठान्तरम्।
2. **कृतत्वात्**–इति पाठान्तरम्।

और वह परचित्तज्ञान आलम्बनसहित नहीं होता है, क्योंकि सालम्बन चित्त (योगी के) संयम का विषय नहीं होता है॥२०॥

व्यासभाष्यम्

रक्तं प्रत्ययं जानात्यमुष्मिन्नालम्बने [1]रक्तमिति न जानाति। पर[2]प्रत्ययस्य यदालम्बनं तद्योगिचित्तेन [3]नालम्बनीकृतम्। परप्रत्ययमात्रं तु योगि[4]चित्तालम्बनीभूतमिति॥२०॥

(योगी संयम द्वारा) 'चित्त अनुरक्त है'—इतना तो जानता है, किन्तु 'अमुक विषय में अनुरक्त अर्थात् आसक्त' है—ऐसा नहीं जान पाता है। क्योंकि योगी के चित्त द्वारा परप्रत्यय के आलम्बन को संयम का विषय नहीं बनाया रहता है। दूसरे का चित्तमात्र ही तो योगी के चित्त का विषय बना रहता है॥२०॥

तत्त्ववैशारदी

यथा संस्कारसाक्षात्कारस्तद[5]नुबन्धपूर्वजन्मसाक्षात्कारमाक्षिपत्येवं परचित्तसाक्षात्कारोऽपि तदालम्बनसाक्षात्कारमाक्षिपेदिति प्राप्त आह—न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात्। सानुबन्धसंस्कारविषयोऽसौ संयमः। अयं तु परचित्तमात्रविषय इत्यभिप्रायः॥२०॥

शङ्का—जिस प्रकार पूर्ववर्ती सूत्र (३/१८) में निर्दिष्ट '**संस्कारसाक्षात्कार**' सानुबन्ध संस्कारसाक्षात्कार का आक्षेप कराता है उसी प्रकार यहाँ भी परचित्तसाक्षात्कार सालम्बन परचित्तसाक्षात्कार का आक्षेप कराये? अर्थात् परचित्तविषयक संयम से परचित्त के ज्ञान के साथ ही परचित्त के विषय का भी ज्ञान होना चाहिये। जैसे सानुबन्ध संस्कारसाक्षात्कार से योगी को सानुबन्ध पूर्वजाति का ज्ञान 'मैं पूर्वजन्म में कौन था, किस देश में था, मेरे माता-पिता कौन थे'—इत्यादि रूप से होता है—

समाधान—उक्त शंका होने पर सूत्रकार कहते हैं—'**न चेति**।' पूर्वसिद्धि में कथित संयम जाति, देश और निमित्तरूप अनुबन्ध के सहित संस्कारविषयक होता है। अर्थात् सानुबन्ध संस्कार में संयम करने से सानुबन्ध संस्कार का साक्षात्कार योगी को होता है। किन्तु प्रकृत में यह संयम परचित्तमात्रविषयक है। अतः परचित्तमात्र में

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**रक्तं**, ब—**रक्तः**।
2. क ग—**चित्तस्य**, ख च ज झ त द ध प फ ब भ म य र—**प्रत्ययस्य**, छ थ न—**चित्तस्य प्रत्ययस्य**।
3. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—**न** उपलभ्यते, ज—**न** नोपलभ्यते।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ य र—**चित्तस्य**, म—**चित्त**०।
5. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न—**अनुबन्ध**०, ज—**अनुबद्ध**०।

संयम करने से परचित्तमात्र का ज्ञान होता है, न कि आलम्बनसहित चित्त का ज्ञान होता है। अतः किसी प्रकार की विसंगति नहीं है॥२०॥

योगवार्त्तिकम्

ननु यथा संस्कारसाक्षात्कारे तद्विषयदेशादिकमपि साक्षात्क्रियते किमेवं चित्तान्तर-साक्षात्कारे तद्विषयोऽपि नियमेन साक्षात्क्रियते न वेति जिज्ञासायामाह–न च तत् सालम्बनमिति। तत् परचित्तज्ञानं सालम्बनं न नियमेन भवति, तस्य परचित्तालम्बनस्य संयमविषयेण स्वचित्तेनाविषयीकरणादित्यर्थः। तत्प्रतिपादकशास्त्राभावाच्चेत्यपि [1]द्रष्टव्यम्। न च तत् सालम्बनमित्युक्तं विवृणोति–रक्तमिति। तस्येत्यादि हेतुं विवृणोति–परप्रत्ययस्येति। उपसंहरति–परप्रत्ययेति। तस्मात्परप्रत्ययमात्रं योगिचित्तस्यालम्बनीभूतं न तु परचित्त-स्यालम्बनमपीति तुशब्दार्थः॥२०॥

शङ्का–जिस प्रकार संस्कार का साक्षात्कार होने पर योगी उसके विषयभूत देशादि का भी साक्षात्कार कर लेता है, उसी प्रकार चित्तान्तर का साक्षात्कार होने पर योगी को चित्तान्तर के विषय (आलम्बन) का भी नियमतः साक्षात्कार होता है अथवा नहीं?

समाधान–ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा जा रहा है–'**न च तत् सालम्बनमिति**।' योगी को **तत्**' अर्थात् परचित्त का ज्ञान नियमतः सालम्बन नहीं होता है, क्योंकि परचित्ता-लम्बन अर्थात् दूसरे पुरुष के चित्त का विषय संयम के विषयभूत योगी के स्वचित्त का विषय नहीं बनता है। दूसरी बात यह है कि 'परचित्त का ज्ञान सालम्बन होता है' इसमें शास्त्रीय प्रमाण भी उपलब्ध नहीं होता है। योगी को सालम्बन परचित्त का ज्ञान नहीं होता है, इस कथित मन्तव्य को भाष्यकार खोलते हैं–'**रक्तमिति**।' चित्त रागयुक्त है–केवल इतना योगी जानता है। चित्त अमुक विषय में अनुरक्त है–ऐसा योगी नहीं जान पाता है। सूत्रस्थ '**तस्य**' इत्यादि पद के द्वारा भाष्यकार हेतु को वर्णित करते हैं–'**परप्रत्ययस्येति**।' भाष्यकार उपसंहार करते हैं–'**परप्रत्ययेति**' परप्रत्यय-मात्र योगी के चित्त का आलम्बन होता है, न कि परचित्त का आलम्बन भी–यह भाष्यगत 'तु' शब्द का (व्यावृत्तिपरक) अर्थ है॥२०॥

बालप्रिया–

'**न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात्**'–**मिश्र-भिक्षु-मतभेद**–तत्त्ववैशारदीकार के अनुसार यह स्वतन्त्र सूत्र है किन्तु योगवार्त्तिककार इसे पृथक् सूत्र नहीं मानते हैं। वे इसे पूर्व सूत्र '**प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्**' का ही भाष्य मानते हैं॥२०॥

---

1. क ख ग–**बोध्यं**, घ च छ–**द्रष्टव्यम्**।

योगसूत्रम्

कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्ति[1]स्तम्भे चक्षुःप्रकाशा[2]संप्रयोगेऽन्तर्द्धानम्॥२१॥

शरीर के रूप में संयम करने से उस रूप की ग्राह्यशक्ति के स्तम्भित होने पर अन्य पुरुष के चक्षुःप्रकाश अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय से योगी के शरीर का संयोग न हो पाने के कारण योगी अन्तर्हित (अन्तर्धान) रहता है॥२१॥

व्यासभाष्यम्

[3]कायस्य रूपे संयमाद् रूपस्य या ग्राह्या शक्तिस्तां [4]प्रतिष्टभ्नाति। ग्राह्यशक्तिस्तम्भे सति चक्षुःप्रकाशा[5]संप्रयोगेऽन्तर्धानमुत्पद्यते योगिनः। एतेन शब्दाद्यन्तर्धानमुक्तं वेदितव्यम्॥२१।.

शरीर के रूप में संयम करने से रूप में निहित जो ग्राह्यशक्ति है, उसे योगी (संयम द्वारा) अवरुद्ध कर देता है। फलतः ग्राह्यशक्ति के नियंत्रित होने पर दूसरे व्यक्ति के नेत्रजन्य प्रकाश के साथ योगी के शरीर का संयोग अर्थात् इन्द्रियार्थसन्निकर्ष न होने पर योगी को 'अन्तर्धान' नामक सिद्धि प्राप्त होती है। इस रूपान्तर्धान के निरूपण से शब्दान्तर्धान इत्यादि को भी निरूपित समझना चाहिये॥२१॥

तत्त्ववैशारदी

कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासंप्रयोगेऽन्तर्धानम्। पञ्चात्मकः **कायः। स च रूपवत्तया चाक्षुषो भवति। रूपेण हि कायश्च तद्रूपं च चक्षुर्ग्रहणकर्मशक्तिमनुभवति। तत्र यदा रूपे संयमविशेषो योगिना क्रियते तदा रूपस्य ग्राह्यशक्तिः रूपवत्कायप्रत्यक्षताहेतुः स्तम्भ्यते। तस्माद् ग्राह्यशक्तिस्तम्भे सत्यन्तर्धानं योगिनः।** ततः परकीयचक्षुज**नितेन प्रकाशेन ज्ञानेनासंप्रयोगः चक्षुर्ज्ञानाविषयत्वं योगिनः कायस्येति यावत्। तस्मिन्कर्त०-**

---

1. **स्तम्भ०**–इति पाठान्तरम्।
2. अ–**असंयोगे**–इति पाठान्तरम्।
 आ–**एतेन शब्दाद्यन्तर्धानमुक्तम्**–इति (३/२१ पश्चात्) नवीनसूत्रमुपलभ्यते।
3. क ग ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म य–**कायस्य**, घ प फ र–**काय०**।
4. क ग च छ ज झ त थ द ध न भ म–**प्रतिष्टभ्नाति** ख घ प फ ब य र–**प्रतिबध्नाति**।
5. क ख ग छ ज झ त–**असंयोगे**, घ च थ द ध न प फ ब भ म य र–**असंप्रयोगे**।

येऽन्तर्धानं कारणमित्यर्थः। एतेनेति। [1]काये शब्दस्पर्शरसगन्धसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे श्रोत्र-त्वग्रसनाघ्राणप्रकाशासंप्रयोगे [2]तदन्तर्धानमिति सूत्रमूहनीयम्॥२१॥

'कायेति', यह स्थूल शरीर पञ्चभूतात्मक है। किञ्च यह पाञ्चभौतिक शरीर (रूपतन्मात्र से गृहीत) **'रूप'** वाला होने से चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय होता है। अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय रूपयुक्त शरीर को ज्ञान का विषय बनाती है। **'रूप'** के कारण शरीर और तद्गत रूप चक्षुर्ग्राह्य कर्मशक्तिता को प्राप्त नही होते हैं। जब योगी इत्थंभूत रूप में संयमविशेष (धारणा, ध्यान तथा समाधि) करता है, तब रूप की **'ग्राह्यशक्ति'** = रूप की भाँति शरीर की प्रत्यक्षहेतुता अवरुद्ध हो जाती है। इस कारण स्वशरीर के ग्राह्यसामर्थ्य के स्तम्भित होने पर योगी अन्तर्धान हो जाता है। फलतः दूसरे पुरुष के चक्षुरिन्द्रियजनित आलोक (ज्ञानरूप प्रकाश) से योगी के शरीर का **'असम्प्रयोग'** = असंयोग अर्थात् चाक्षुषज्ञान का अविषयत्व होता है। यही योगी के अन्तर्धान का कारण है। रूपान्तर्धान की उक्त पद्धति का शब्दाद्यन्तर्धान में अतिदेश कराते हुए भाष्यकार कहते हैं—**'एतेनेति।'** शरीर के शब्द, स्पर्श, रस और गन्ध पर संयम करने से स्वशरीरवर्ती शब्दादि की ग्राह्यशक्ति के स्तम्भित होने पर दूसरे पुरुष के श्रोत्र, त्वक्, रसना तथा घ्राणेन्द्रिय का साधक के शरीरवर्ती शब्दादि के साथ सन्निकर्ष नहीं होता है, जिससे योगी अन्तर्धान हो जाता है। अर्थात् योगी के शब्द, स्पर्श, रस और गन्धगुण का किसी को अनुभव नहीं हो पाता है—ऐसा सूत्र अध्याहार्य है॥२१॥

बालप्रिया—

'पञ्चात्मकः कायः'—शब्दादि पञ्चतन्मात्राओं से आकाशादि पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं और पञ्चमहाभूत का समष्टिभूत यह स्थूल शरीर है। कारण के अनुरूप कार्याभिव्यक्ति होती है—इस न्याय से आकाशादि भूत के एक, द्वि, त्रि, चतुर् और पञ्चगुणक होने से पांचों भूतों के समष्टिभूत शरीर में शब्दादि पांचों गुणों की सहावस्थिति है। ये पाँचों गुण तत्तद् इन्द्रियों के विषय होते हैं। योगी स्वेच्छानुसार संयम द्वारा तत्तद् शब्दादि गुणों की ग्राह्यशक्ति को स्तम्भित करके शब्दान्तर्धान, स्पर्शान्तर्धान, रूपान्तर्धान, रसान्तर्धान तथा गन्धान्तर्धानरूप दिव्य सामर्थ्य को प्राप्त करता है॥२१॥

योगवार्त्तिकम्

कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासंप्रयोगेऽन्तर्द्धानम्। काय-स्येति। स्वशरीरस्य रूपे संयमादशेषविशेषतः कारणादिभिः साक्षात्कृते सति संकल्पमात्रेण

1. क ग छ थ द ध—**काये**, ख घ च ज झ त न—**काय०**।
2. क ख ग घ छ ज झ त थ द ध न—**तदन्तर्धानम्**, च—**अन्तर्धानम्**।

स्वकीयरूपस्य दृश्यताशक्तिं परचक्षुःसंयोगयोग्यतां प्रतिबध्नाति, ततश्च परचक्षुःप्रकाशैस्तत्किरणैरसंयोगेऽन्तर्धानमुत्पद्यते योगिनः, दिवाऽन्धेनेव केनाप्यसौ न दृश्यत इत्यर्थः। सूत्रकारस्य न्यूनतां परिहरति—एतेनेति। एतेन रूपान्तर्द्धानेन शास्त्रान्तरसिद्धं शब्दाद्यन्तर्द्धानमप्युपलक्षितं वेदितव्यमित्यर्थः। यदा कायस्य शब्दस्पर्शरसगन्धसंयमात्तेषां ग्राह्यशक्तिस्तम्भो भवति तदा श्रोत्रादिसन्निकर्षप्रतिबन्धाद्योगिनः शब्दादिकं [1]बधिरेणेव केनापि न श्रूयत इति भावः॥२१॥

'**कायेति**' वार्त्तिककार भाष्य को उठाते हैं—'**कायस्येति**।' स्वशरीरवर्त्ती रूप में संयम करने से कारणादिकों के साथ अशेषविशेषयुक्त कायरूप का साक्षात्कार होने पर योगी संकल्पमात्र अर्थात् स्वेच्छामात्र से स्वकीयरूप की '**दृश्यताशक्ति**' को अर्थात् स्वदेहगत रूप के दूसरे के चक्षुःसंयोग का विषय बनने की क्षमता (शक्ति) को अवरुद्ध (प्रतिबन्धित, धूमिल) कर देता है। फलतः दूसरे के चक्षुरिन्द्रियवर्ती प्रकाश के साथ अर्थात् इन्द्रियगत किरणजात के साथ देहवर्ती रूप का संयोग अर्थात् सन्निकर्ष न होने पर योगी अन्तर्धान हो जाता है। भाव यह है कि उल्लूक की भाँति किसी भी साधारणजन द्वारा योगी का स्तम्भित कायरूप नहीं देखा जाता है। चक्षुरिन्द्रियातिरिक्त श्रोत्रादि इन्द्रियों की शब्दादिग्राह्यशक्ति का स्तम्भन सूत्र में निर्दिष्ट न होने से भाष्य की अगली पंक्ति को उठाते हुए वार्तिककार कहते हैं—सूत्रकार के कथन में आई न्यूनता का परिहार भाष्यकार करते हैं—'**एतेनेति**।' सूत्र में कथित '**रूप**' के अन्तर्द्धान से शास्त्रान्तरसिद्ध शब्दादि के अन्तर्धान को भी उपलक्षित समझना चाहिये। शरीरवर्त्ती शब्द, स्पर्श, रस तथा गन्ध में संयम करने से जब इनकी ग्राह्यशक्ति स्तम्भित होती है तब श्रोत्रादि इन्द्रियों का शब्दादि विषय के साथ संयोग (सन्निकर्ष) न हो पाने से योगी के शब्दादि को कोई भी साधारण- जन बधिर की भाँति नहीं सुन पाता है॥२१॥

अगली विभूति का प्रतिपादक सूत्र है—

योगसूत्रम्

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा॥२२॥

कर्म 'सोपक्रम' और 'निरुपक्रम' (दो प्रकार के) होते हैं। इन कर्मों में संयम करने से योगी को मृत्यु का ज्ञान होता है अथवा

1. क ख ग—बधिरादिना, घ च छ—बधिरेण।

वक्ष्यमाण अरिष्टों (मृत्यु-चिह्नों) से भी मृत्यु का ज्ञान होता है॥२२॥

व्यासभाष्यम्

आयुर्विपाकं कर्म [1]द्विविधम्—सोपक्रमं निरुपक्रमं च। तत्र यथार्द्रं वस्त्रं विताnितं [2]लघीयसा कालेन शुष्येत्तथा सोपक्रमम्। यथा च तदेव संपिण्डितं चिरेण [3]संशुष्येदेवं निरुपक्रमम्। यथा [4]वाग्निः शुष्के कक्षे [5]मुक्तो वातेन समन्ततो [6]युक्तः क्षेपीयसा कालेन दहेत्तया सोपक्रमम्। यथा वा स एवाग्निस्तृणराशौ [7]क्रमशोऽ[8]वयवेषु न्यस्तश्चिरेण दहेत्तया निरुपक्रमम्। [9]तदैकभविकमा[10]युष्करं कर्म [11]द्विविधम्—सोपक्रमं निरुपक्रमं च। तत्संयमादपरान्तस्य [12]प्रायणस्य ज्ञानम्। अरिष्टेभ्यो वेति। त्रिविधमरिष्टमाध्यात्मिकमाधिभौतिकमाधिदैविकं च। तत्राध्यात्मिकं घोषं स्वदेहे पिहितकर्णो न शृणोति, ज्योतिर्वा नेत्रेऽवष्टब्धे न पश्यति। तथाधिभौतिकं यमपुरुषान्पश्यति पितॄन[13]तीतानकस्मात[14]पश्यति। [15]तथाधिदैविकं [16]स्वर्गमकस्मात्सिद्धान्वा पश्यति, विपरीतं वा सर्वमिति। अनेन वा जानात्यपरान्तमुपस्थितमिति॥२२॥

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**द्विविधं**, ब—**द्विधा**।
2. क च न भ—**ह्रसीयसा**, ख घ छ ज झ त थ द ध प फ म य र—**लघीयसा**, ग—**ह्रस्वीयसा**, ब—**क्षेपीयसा**।
3. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—**संशुष्येत्**, ख—**शुष्येत्**।
4. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न फ भ भ म—**वा**, घ प य र—**च**।
5. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**युक्तो वातेन**, ख—**मुक्तो वातेन**, ब—**युक्तवाते**।
6. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**युक्तः**, ब—**नियुक्तः**।
7. क ख ग घ च छ च छ ज झ त थ द ध न फ भ म य र—**क्रमशः**, प य—**क्रमतः**, ब—**क्रमेण**।
8. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**अवयवेषु** उपलभ्यते, ब—**अवयवेषु** नोपलभ्यते।
9. क ख ग घ च त थ द ध न प फ ब भ म य र—**तदैक०**, छ ज झ—**तदेक०**।
10. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न प फ ब भ म य र—**आयुष्करं**, झ—**आयुष्कम्**।
11. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न प फ ब भ म य र—**द्विविधं**, त—**द्वितीयम्**।
12. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—**प्रायणस्य**, ज—**प्रयाणस्य**।
13. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब—**अतीतानागतान्**, घ प फ भ म य र—**अतीतान्**।
14. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**पश्यति**, ख ब—**वेत्ति**।
15. क च छ ज झ त थ द ध न ब भ म य—**तथा**, ग—**यथा**, ख घ प फ र—**तथा/यथा** नोपलभ्यते।
16. क क ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**स्वर्गमकस्मात् सिद्धान् वा**, ब—**अकस्मात् सिद्धादीन्**।

आयुरूप फल देने वाला कर्म दो प्रकार का है–'सोपक्रम' कर्म तथा 'निरुपक्रम' कर्म। इन दोनों प्रकार के कर्मों में से **'सोपक्रम'** कर्म विस्तीर्ण आर्द्र (भीगे) वस्त्र के अल्पकाल में सूखने के समान है और 'निरुपक्रम' कर्म पिण्डाकार (लौंदाकर) आर्द्र वस्त्र के विलम्ब से सूखने के समान है। अथवा 'सोपक्रम' कर्म शुष्क तृणपुञ्ज में निक्षिप्त उस अग्नि के समान है, जो वायु की सहायता से तृणराशि को चारों ओर से त्वरित भस्म कर देती है तथा 'निरुपक्रम' कर्म तृणराशि के अवयवों में क्रमशः निक्षिप्त उस अग्नि की भाँति है, जो तृणसमूह को विलम्ब से दग्ध करती है। एक जन्म में होने वाला यह आयुष्कर कर्म दो प्रकार का होता है–सोपक्रम तथा निरुपक्रम। तथाकथित कर्म में किये गये संयम से योगी को अपरान्त अर्थात् मृत्यु का ज्ञान होता है। अथवा अरिष्टों के ज्ञान से भी योगी को अपने मरण का ज्ञान हो जाता है। अरिष्ट तीन प्रकार के होते हैं–आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक। इन तीन प्रकार के अरिष्टों में से आध्यात्मिक अरिष्ट वह है, जिसमें कानों को बन्द किया हुआ योगी शरीर के अन्दर स्थित ध्वनि को सुन नहीं पाता है और नेत्र को बन्द करने पर नेत्रस्थ ज्योति को देख नहीं पाता है। आधिभौतिक अरिष्ट वह है, जिसमें योगी यमदूतों को देखता है अथवा अकारण ही मरे हुए पितरों को देखता है। आधिदैविक अरिष्ट वह है, जिसमें योगी अकारण ही स्वर्ग को या सिद्धों को देखता है अथवा उसे सब कुछ विपरीत ही दिखलाई पड़ता है। इन अरिष्टसूचक चिह्नों से भी योगी शीघ्र उपस्थित होने वाली अपनी मृत्यु को जान लेता है॥२२॥

तत्त्ववैशारदी

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा। आयुर्विपाकं च कर्म द्विविधं सोपक्रमं निरुपक्रमं च। यत्खल्वै[1]कभविकं कर्म जात्यायुर्भोगहेतुस्तदायुर्विपाकम्। तच्च किञ्चित्कालानपेक्षमेव भोगदानाय प्रस्थितं दत्तबहुभोगमल्पावशिष्टफलं प्रवृत्तव्यापारं केवलं तत्फलस्य सहसा भोक्तुमेकेन शरीरेणाशक्यत्वाद् विलम्बते तदिदं सोपक्रमम्। उपक्रमो व्यापारस्तत्सहितमित्यर्थः। तदेव तु दत्तस्तोकफलं तत्कालमपेक्ष्य फलदानाय व्याप्रियमाणं कादाचित्कमन्दव्यापारं निरुपक्रमम्। एतदेव निदर्शनाभ्यां विशदयति–तत्र यथेति। अत्रैवाति-वैशद्याय निदर्शनान्तरं दर्शयति–यथा वा[2]ग्निरिति।

'सोपक्रममिति'। **'आयु'** रूप विपाक को प्रदान करने वाला कर्म दो प्रकार का है–

---

1. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न–**ऐकभविकं,** झ–**एकभविकम्।**
2. क ग–**वह्निः,** ख घ च छ ज झ त थ द ध न–**अग्निः।**

'**सोपक्रम**' तथा '**निरुपक्रम**'। जाति, आयु तथा भोग का हेतुभूत जो एकभविक कर्म है, वह 'आयुर्विपाक' वाला होता है। इनमें से जो कर्म अल्प समय की भी अपेक्षा किये विना ही अपना भोगरूप फल प्रदान करने के लिये प्रवृत्त होता हुआ, अधिक फल सम्पादित कर चुकने वाला होकर थोड़े से बचे हुए फल की ओर व्यापाररत होकर अनायास एक शरीर से भोगने योग्य न होने से फल प्रदान करने में विलम्ब करता है, उसे '**सोपक्रम**' कर्म कहते हैं। '**उपक्रम**' शब्द का अर्थ है—व्यापार। अतः व्यापार-युक्त जो कर्म होता है, उसे '**सोपक्रम**' कहते हैं। जो कर्म थोड़ा सा फल प्रदान कर कालविशेष की अपेक्षा करता हुआ फल-प्रदान के लिये कादाचित्क मन्द व्यापार-युक्त होता है, उसे '**निरुपक्रम**' कर्म कहते हैं। भाष्यकार इन दोनों प्रकार के कर्मों को दृष्टान्तों से स्पष्ट करते हैं—'**तत्र यथेति**।' कर्म की उक्त द्विविधता को स्पष्टीकृत करने के लिये ही भाष्यकार अन्य दृष्टान्त को प्रदर्शित करते हैं—'**यथा वाग्निरिति**।'

सम्प्रति, उक्त कर्मविषयक संयम के फल को प्रतिपादित किया जा रहा है—

तत्त्ववैशारदी

परान्तं महाप्रलयमपेक्ष्यापरान्तो मरणम्। तस्मिन्कर्मणि धर्माधर्मयोः संयमादपरान्तज्ञानम्। ततश्च योगी सोपक्रमात्मनः कर्म विज्ञाय बहून्कायान्निर्माय सहसा फलं भुक्त्वा स्वेच्छया म्रियते।

'**परान्त**' का अर्थ '**महाप्रलय**' है, उस '**परान्त**' की अपेक्षा '**अपरान्त**' मरण को कहते हैं। भाव यह है कि मृत्यु को '**अपरान्त**' इसलिये कहा गया है कि '**पर**' अर्थात् दीर्घकालीन अन्त तो महाप्रलय में होता है। इसलिये महाप्रलय में प्राणी चिरकाल तक शरीर धारण नहीं कर पाता है; किन्तु वैयक्तिक मरण में तो फलभोग के लिये अतिशीघ्र शरीर-धारण करना पड़ता है। इन धर्माधर्मात्मक कर्म में संयम करने से योगी को अपनी मृत्यु का परिज्ञान होता है। फलस्वरूप योगी अपने '**सोपक्रम**' कर्म को जानकर बहुत से निर्माणकायों की संरचना कर उन निर्मित शरीरों द्वारा त्वरित कर्मफलभोग करके यथेच्छ मृत्यु का वरण करता है।

सम्प्रति, सूत्र के अन्तिम चरण '**अरिष्टेभ्यो वा**' को प्रतिपादित किया जा रहा है—

तत्त्ववैशारदी

प्रासङ्गिकमाह—अरिष्टेभ्यो वेति। अरिवत्त्रासयन्तीत्यरिष्टानि त्रिविधानि मरणचिह्नानि। विपरीतं वा सर्वं माहेन्द्रजालादिव्यतिरेकेण ग्रामनगरादि [1]स्वर्गमभिमन्यते, मनुष्यलोकमेव देवलोकमिति॥२२॥

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त द ध न—**स्वर्गं**, थ—**स्वर्नरकम्**।

भाष्यकार प्रसङ्गतः (सर्वजनसंवेद्य) मरणसूचक चिह्नों को बतलाते हैं– '**अरिष्टेभ्यो वेति**' जो शत्रु के समान त्रास प्रदान करते हैं अर्थात् आतंकित करते हैं, उन्हें '**अरिष्ट**' कहते हैं। मरणसूचक अरिष्ट तीन प्रकार के हैं। इनका उल्लेख भाष्य में किया गया है। मृत्युसन्निकृष्ट योगी को सब कुछ विपरीत दिखाई पड़ता है। जैसे माहेन्द्रजालादि (जादू) के विना ग्राम, नगरादि को स्वर्ग समझता है और मनुष्य-लोक को ही देवलोक मानता है॥२२॥

बालप्रिया–

'**वितानितम्**' (वि तन् णिच् क्त) 'वितानित' शब्द का अर्थ है–विस्तारित।

'**लघीयसा**'–लघीयस् (वि) अयमनयोः अतिशयेन लघुः, ईयसुन्, तृतीया विभक्ति-पूर्वक '**लघीयसा**' पद निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है–अपेक्षाकृत हल्का, अर्थात् अतिस्वल्प। प्रकृत में यह '**कालेन**' के विशेषण रूप में प्रयुक्त हुआ है अर्थात् अत्यल्प काल द्वारा।

'**कक्षे**'–(कष्+स) प्रकृत में '**कक्ष**' शब्द 'तृण' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। रघुवंश में कहा गया है–'**यतस्तु कक्षस्तत एव वह्निः** (७/५५)

'**क्षेपीयसा**'–'क्षेपीयस्' शब्द का अर्थ है–अतिशीघ्र।

'**विपरीतं वा सर्वमिति**'–जैसे ऐन्द्रजालिक अपनी शक्ति से दर्शकों की दृष्टियों में परिवर्तन ला देता है, जिससे दर्शकों को जादूगर द्वारा प्रदर्शित वस्तुओं एवं क्रियाओं का यथार्थबोध नहीं हो पाता है। इसी प्रकार सन्निकृष्ट मृत्यु वाले व्यक्ति को सभी वस्तुएँ विपरीत दिखलाई पड़ती हैं। तदर्थ स्कन्दपुराण में कहा गया है–

कृपणोऽपि वदान्यः स्याद् वदान्यः कृपणो यदि।
प्रकृतेर्विकृतिश्चेत्स्यात्तदा पञ्चत्वमृच्छति॥२२॥

योगवार्त्तिकम्

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा। व्याचष्टे–**आयुरिति। आयुष्करकर्मज्ञानादेव झटित्यझटितिरूपाभ्यामपरान्तस्य मरणस्य ज्ञानं** भवति। **अतः कर्मणोर्विशेषणमायुर्विपाकमिति। तीव्रवेगेन** फलदातृ, **यथा कलिकालीनप्रजासु** बाल्य-**यौवन**[1]**वार्द्धकाद्यवस्थानां झटित्येवारम्भकमायुष्करं कर्मेति। निरुपक्रमं च** मन्दवेगेन फलदातृ, **यथा सत्यादिकालीनप्रजासु बाल्ययौवनवार्द्धकाद्यवस्थानां विलम्बेनारम्भकम् आयुष्करं कर्मेति। तथा च सोपक्रमस्य साक्षात्करणात् शीघ्रमरणस्य ज्ञानं निरुपक्रमस्य साक्षात्करणाच्च विलम्बेन मरणस्य ज्ञानं भवतीति विभागः। सोपक्रमनिरुपक्रमकर्मणोर्दृष्टान्तमाह**–तत्र **यथेत्यादिना। वितानितं विस्तारितम्, ह्रसीयसा स्वल्पेन। यथाक्रममुभयोरपरं दृष्टान्तद्वयमाह**–

1. क ग घ च छ–**वार्द्धक॰** उपलभ्यते, ख–**वार्द्धक॰** नोपलभ्यते। (उभयत्र)

यथा वाऽग्निरित्यादिना **कक्षे तृणे, क्षेपीयसा शीघ्रेण। उपसंहरति–तदैकेति। जन्मान्तर-भोगस्य कर्मणो ज्ञानं वर्त्तमानदेहस्यापरान्तज्ञानहेतुरत उक्तमेकभविकमिति। भुज्यमानकर्मभिः सहैकभविकमित्यर्थः। सूत्रार्थमाह–तत्संयमादिति। ऐकभविकायुष्करकर्मसंयमात्सोपक्रमादि-रूपविशेषावधारणे सति पूर्वान्तापेक्षयाऽपरान्तस्य मरणस्य** [1]**शीघ्रत्वाशीघ्रत्वरूपैर्ज्ञानं भवति। अरिष्टेभ्यो वेत्यर्थः। अरिष्टज्ञानस्यापीदं फलमिति सूत्रे प्रसङ्गादेवोक्तम्, संयमसिद्धीनामेव प्रकृतत्वात्। अरिष्टानि मरणचिह्नानि च योगिना समाध्यवधानार्थमवधारणीयानि। तानि व्याचष्टे–त्रिविधमिति। पिहितकर्णः स्वदेहान्तर्घोषं वह्निज्वलनशब्दवच्छब्दविशेषं न शृणोति इत्येकमरिष्टमाध्यात्मिकम्; अवष्टब्धेऽङ्गुल्यादिना भ्रामिते चक्षुषि वह्निकणतुल्यं ज्योतिर्न पश्यति इत्यपरम्; अन्यान्यपि विविधान्यरिष्टानि वसिष्ठमार्कण्डेयादिभिरुक्तानि दिनमा-ससंवत्सरादिभेदैः। मृत्युचिह्नानि संक्षेपत आह–विपरीतं वा सर्वमिति। सर्वं श्वासप्रश्वा-सादिकमिति। अनेन वा = अरिष्टेन वेत्यर्थः॥२२॥**

'**सोपक्रममिति।**' भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं–'**आयुरिति।**' संयम द्वारा आयुष्कर कर्म (सोपक्रम तथा निरुपक्रम कर्म) का अपरोक्षज्ञान होने से ही त्वरित अथवा विलम्ब से होने वाले '**अपरान्त**' अर्थात् मृत्यु का साक्षात्कार साधक को होता है। अतः 'आयुर्विपाक' कर्म का विशेषण है। तीव्रसंवेग से फलदातृ कर्म '**सोपक्रम**' है। जैसे कलियुग की प्रजाओं में बाल्य, यौवन, वार्द्धक्य आदि अवस्थाओं को शीघ्र ही आरम्भ करने वाला आयुष्कर कर्म '**सोपक्रम**' कहा जाता है। मन्दवेग से फलदातृ कर्म '**निरुपक्रम**' है। जैसे सत्ययुगादि की प्रजाओं में बाल्य, यौवन, वार्द्धक्य आदि अवस्थाओं को विलम्बपूर्वक करने वाला आयुष्कर कर्म '**निरुपक्रम**' कहा जाता है। इस प्रकार संयम द्वारा '**सोपक्रम**' कर्म का साक्षात्कार करने से त्वरित निष्पद्यमान मृत्यु का ज्ञान तथा '**निरुपक्रम**' कर्म का साक्षात्कार करने से विलम्बेन सम्पद्यमान मृत्यु का ज्ञान योगी को होता है–ऐसा आयुष्कर कर्म का विभाग किया जाता है। भाष्यकार '**सोपक्रम**' तथा '**निरुपक्रम**' कर्म के विषय में दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं–'**तत्र यथेत्यादिना।**' '**वितानितम्**' पद का अर्थ '**विस्तारितम्**' अर्थात् फैलाया हुआ है। '**ह्रसीयसा**' पद का अर्थ '**स्वल्पेन**' अर्थात् अल्प है। पूरे वाक्य का अर्थ यह हुआ कि जिस प्रकार फैलाया हुआ गीला वस्त्र अल्प समय में शुष्कता को प्राप्त होता है उसी प्रकार बाल्यादि अवस्थाओं को यथाशीघ्र प्रदान करने वाला सोपक्रम कर्म होता है। इसके विपरीत संपिण्डित आर्द्र वस्त्र की विलम्बित शुष्कता की भाँति निरुपक्रम कर्म में विलम्बतायुक्त फलप्रदातृता है। भाष्यकार दोनों प्रकार के कर्मों के अन्य दृष्टान्तद्वय को यथाक्रम प्रस्तुत करते हैं–'**यथा वाऽग्निरित्यादिना।**' भाष्य में आये '**कक्ष**' शब्द का

1. क ग घ च छ–**शीघ्रत्वाशीघ्रत्वरूपैः**, ख–**शीघ्रत्वादिरूपैः**।

अर्थ '**तृण**' तथा '**क्षेपीयसा**' पद का अर्थ 'शीघ्रता से' है। इस प्रकार द्विप्रकारक कर्म के स्वरूप को उपसंहृत करते हुये भाष्यकार कहते हैं–'**तदैकेति**।' जन्मान्तर में भोग प्रदान करने वाले कर्म का ज्ञान वर्तमान देह के अपरान्तज्ञान (मृत्युबोध) का हेतु होता है। अतः सोपक्रम तथा निरुपक्रम कर्म को एकभविक कहा गया है। इस कर्म को '**एकभविक**' इसलिये कहते हैं कि भोगे जाते हुए कर्मों के साथ जन्मान्तरभोगीय कर्म का भी ज्ञान होता है। सूत्र का अर्थ करते हुए भाष्यकार कहते हैं–'**तत्संयमादिति**।' ऐकभविक आयुष्कर कर्म में संयम करने से कर्म के सोपक्रमादिरूप विशेष का निश्चयात्मक अर्थात् संशयशून्य प्रत्यक्षज्ञान होने पर '**पूर्वान्त**' अर्थात् पूर्वजन्म की मृत्यु की तुलना में **अपरान्त**' अर्थात् परवर्ती मृत्यु का शीघ्रता अथवा अशीघ्रता के रूप से ज्ञान होता है। कर्मसाक्षात्कार की भाँति '**अरिष्टज्ञान**' से भी योगी को मृत्युबोध होता है। संयमजन्य सिद्धि का ही यह प्रकरण है, अतः '**अपरान्तज्ञान**' अरिष्टज्ञान का भी फल है–ऐसा सूत्र में प्रसङ्गतः ही कहा गया है। समाधि के प्रति सतर्क रहने के लिये योगी को '**अरिष्ट**' अर्थात् मरणसूचक चिह्न जानने आवश्यक रहते हैं। भाष्यकार मरणसूचक चिह्नों का प्रतिपादन करते हैं–'**त्रिविधमिति**।' (सन्निहित मृत्यु के समय) अवरुद्ध कर्णछिद्र वाला व्यक्ति जलती हुई अग्नि में प्रादुर्भूत शब्द की भाँति स्वशरीरवर्ती मरमर ध्वनि (घोष) को नहीं सुनता है। यह एक प्रकार का आध्यात्मिक अरिष्ट है। आवर्तनशील (अस्थिर) नेत्र को अंगुली आदि द्वारा बन्द कर लेने पर (सन्निहित मृत्यु वाला) व्यक्ति अग्निकण की भाँति अपनी नेत्रज्योाति को देख नहीं पाता है। यह दूसरे प्रकार का आध्यात्मिक अरिष्ट है। अन्य भी अनेक प्रकार के मरणसूचक चिह्न हैं, जो वसिष्ठ, मार्कण्डेय आदि शास्त्रों द्वारा दिन, मास, संवत्सर आदि कालभेद से उक्त हैं। भाष्यकार (एक शब्द में) मृत्युसूचक चिह्न का संक्षिप्तीकरण करते हुए कहते हैं–'**विपरीतं वा सर्वमिति**।' '**सर्व**' शब्द से श्वास-प्रश्वासादि को लिया गया है। अर्थात् श्वास-प्रश्वास भी जब विपरीत गति से प्रवाहित होने लगें तब मृत्यु सन्निकृष्ट होती है। इस प्रकार '**अरिष्ट**' के द्वारा भी व्यक्ति को '**अपरान्तज्ञान**' होता है॥२२॥

योगसूत्रम्

मैत्र्यादिषु बलानि॥२३॥

मैत्र्यादि में किये गये संयम से मैत्र्यादि बल प्राप्त होते हैं॥२३॥

व्यासभाष्यम्

मैत्री-करुणा-मुदितेति तिस्रो भावनाः। तत्र भूतेषु सुखितेषु मैत्रीं भावयित्वा मैत्रीबलं लभते। दुःखितेषु करुणां भावयित्वा करुणाबलं लभते। पुण्यशीलेषु

मुदितां भावयित्वा मुदिताबलं लभते। [1]भावनात: [2]समाधिर्य: [3]स संयम:, ततो बलान्यवन्ध्यवीर्याणि [4]जायन्ते। पापशीलेषूपेक्षा न तु भावना। ततश्च तस्यां नास्ति समाधिरित्यतो न बलमुपेक्षात:, तत्र संयमाभावादिति॥२३॥

मैत्री, करुणा तथा मुदिता–ये तीन भावनाएँ हैं। इनमें सुखी प्राणियों में मैत्रीभावना करके योगी मैत्री-बल को प्राप्त करता है। दु:खी जीवों में करुणा-भाव करके करुणा-बल को प्राप्त करता है। पुण्यशील प्राणियों में मुदिता (प्रसन्नता) की भावना करने से मुदिता-बल को प्राप्त करता है। इस प्रकार भावना करने से जो समाधि उत्पन्न होती है, उसे 'संयम' कहते हैं। समाधिरूप संयम से कभी भी निष्फल न होने वाले उक्त मैत्र्यादि बल उत्पन्न होते हैं। पापियों के प्रति की जाने वाली जो उपेक्षा है, वह भावनारूप नहीं है। यही कारण है कि उसमें समाधिरूप संयम नहीं किया जाता है। अत: समाधिरूप संयम के न होने के कारण उपेक्षा से बल की उपलब्धि नहीं होती है॥२३॥

तत्त्ववैशारदी

मैत्र्यादिषु बलानि। मैत्र्यादिषु संयमान्मैत्र्यादिबलान्यस्य भवन्ति। तत्र मैत्रीभावनातो बलं येन जीवलोकं सुखाकरोति। तत: सर्वहितो भवति। एवं करुणाबलात्प्राणिनो दु:खाद् दु:खहतोर्वा समुद्धरति। एवं मुदिताबलाज्जीवलोकस्य माध्यस्थ्यमाधत्ते। वक्ष्यमाणौपयिकं भावनाकारणत्वं समाधेराह–भावनात: समाधिर्य: स संयम इति। यद्यपि धारणाध्यान-समाधित्रयमेव संयमो न समाधिमात्रं तथापि समाध्यनन्तरं कार्योत्पादात्समाधे: प्राधान्यात्तत्र संयम उपचरित:। क्वचिद्भावना समाधिरिति पाठ:। तत्र [5]भावनासमाधी समूहस्य संयमस्यावयवौ हेतू भवत:। वीर्यं प्रयत्न:। तेन मैत्र्यादिबलवत: पुंस: [6]सुखितादिषु परेषां कर्तव्येषु प्रयत्नोऽ[7]बन्ध्यो भवतीति।

'मैत्र्यादिष्विति।' मैत्र्यादि में संयम करने से योगी को मैत्र्यादि बल प्राप्त होते हैं। सुखी व्यक्ति के प्रति साधित मैत्रीभावना से प्रादुर्भूत बल के द्वारा योगी संसार को सुखी करता है। फलस्वरूप सभी प्राणियों का कल्याण होता है। इसी प्रकार करुणा-बल के द्वारा योगी प्राणियों का दु:ख अथवा दु:ख-हेतु से उद्धार करता है। इसी

---

1. क ख ग घ च छ ज थ द ध न प फ ब भ म र–**भावनात:**, झ त–**भावनान्त:**।
2. क ख ग ग च छ ज त थ द ध न प फ ब भ म य र–**समाधिर्य:**, झ–**समाधिपर्यन्त:**।
3. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र–**स:** उपलभ्यते, ख–**स:** नोपलभ्यते।
4. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र–**जायन्ते**, ख–**भवन्ति**।
5. क ख ग घ च ज झ त थ द ध न–**भावनासमाधी**, छ–**भावनासमाधौ**।
6. क ख ग घ च छ ज झ त द ध न–**सुखितादिषु**, थ ध–**सुखित्वादिषु**।
7. क ग थ द ध न–**अबन्ध्य:**, ख घ च छ ज झ त–**बन्ध्यो न**।

प्रकार मुदिता-बल से जीवलोक अर्थात् प्राणियों की मध्यस्थता को धारण करता है, अर्थात् आसक्तिरहित होकर आनन्दलाभ करता है। मैत्र्यादि में समाधिप्राप्ति के लिये आगे बतलाई जाने वाली उपयोगिनी '**भावना**' कारण है, इस तथ्य को भाष्यकार बतलाते हैं–'**भावनातः समाधिर्य स संयम इति**।' मैत्र्यादि भावना से जो समाधि प्राप्त होती है, उसे '**संयम**' कहते हैं। यद्यपि धारणा, ध्यान और समाधि–इन तीन की समुच्चित पारिभाषिक संज्ञा '**संयम**' है। अर्थात् धारणादित्रय ही '**संयम**' कहलाता है। केवल '**समाधि**' सिद्धि के उत्पन्न होने से अर्थात् समाधि के अव्यवहित उत्तरकाल में संयम का फल दिखाई पड़ने से '**समाधि**' का (ही) प्राधान्य होता है अर्थात् कार्योत्पादन में समर्थ समाधि ही प्रभुख है, न कि धारणा तथा ध्यान। इसलिये समाधि में '**संयम**' शब्द उपचरित है। कहीं-कहीं '**भावना समाधिरिति**' ऐसा पाठभेद मिलता है। इस स्थिति में '**संयम**' के अवयवभूत भावना तथा समाधि समूहिरूप संयम के हेतु होते हैं (क्योंकि समूह समूहिसाध्य होता है)। भाष्य में प्रयुक्त '**वीर्य**' शब्द का अर्थ है–प्रयत्न। इससे मैत्र्यादि बल से सम्पन्न योगी का दूसरों को सुखी आदि बनाने के लिये कृत '**प्रयत्न**' निष्फल नहीं होता है।

यद्यपि '**मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्**' (१/३३) सूत्र में अपुण्यविषयिणी उपेक्षाभावना भी चित्तप्रसादनोपाय के रूप में अभिहित हुई है तथापि सिद्धि के प्रकरण में अबन्ध्यवीर्यानुत्पादिनी उपेक्षा को संयम का क्षेत्र नहीं बताया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

उपेक्षौदासीन्यम्। न तत्र भावना नापि सुखितादिवद्भाव्यं किञ्चिदस्तीति॥२३॥

'**उपेक्षा**' शब्द का अर्थ है–औदासीन्य अर्थात् उदासीनता। पापियों के प्रति उपेक्षित रहना कोई भावना नहीं है और न ही '**उपेक्षा**' में सुखितादि के समान कोई चिन्तनीय (भाव्य) तत्त्व है। अतः उपेक्षा से किसी प्रकार के बल की प्राप्ति न होने से तद्विषयिणी '**संयम-साधना**' नहीं कही गई है॥२३॥

बालप्रिया–

'**भावनातः समाधिः**'–इसके द्वारा यह बताया गया है कि केवल भावनामात्र से योगी को मैत्र्यादि बल की प्राप्ति नहीं होती है, अपितु भावनोत्तर मैत्र्यादिविषयक '**संयम**' तदर्थ अपेक्षित रहता है।

'**समाधिर्यः स संयमः...संयमः उपचरितः**'–इस वाक्यांश का तात्पर्य यह भी है–चूंकि धारणाध्यानपूर्वक समाधि होती है तथा कार्योत्पादन में समर्थ होने के कारण समाधि का ही प्राधान्य होता है, इसलिये समाधि की स्थिति से ही उसके पूर्ववर्ती धारणा और ध्यान की विद्यमानता भी आक्षिप्त हो जाती है।

'संयमस्याऽवयवौ हेतू भवतः'–अर्थात् संयमस्याऽवयवौ भावनासमाधी समूहस्य संयमस्य हेतू भवतः। समूहस्य समूहिसाध्यत्वात्॥२३॥

योगवार्त्तिकम्

मैत्र्यादिषु बलानि। मैत्र्यादिषु संयमाद् बलान्यबन्ध्यानि वीर्याणि भवन्ति। परेषु मैत्र्याद्यर्थं प्रयत्नो विफलो न भवतीति यावत्। तदेतद् व्याचष्टे–मैत्रीकरुणेति। मैत्र्यादित्रयविषयिण्यस्तिस्रो भावनाः संयमा भवन्ति, तत्र सुखितेषु मैत्री, एवंस्वरूपा एवमादिसाधनिकेत्यशेषविशेषैर्मैत्रीं भावयित्वा साक्षात्कृत्य च व्याख्यातं मैत्रीबलं लभत इत्यर्थः। एवं करुणामुदितयोरपि व्याख्येयम्। यद्यपि भावनाशब्दः सूत्रे नास्ति तथाऽपि तन्त्रान्तरा[1]नुसारात्स्वयं व्याख्यातः। प्रथमपादोक्तभावनाशब्दवद् अत्राप्युत्पादनार्थमिति भ्रमो मा भूद् इत्येतदर्थं प्रकृते तन्त्रान्तरीयभावनाशब्दस्यार्थं स्वयमाह–भावना समाधिरिति। भाव्यते फलमनेनेति व्युत्पत्त्या भावनाचिन्तनयोरेकार्थतया वेति भावः। ध्यानधारणयोः संग्रहाय पुनराह–यः स संयम इति। यः स पूर्वेषु सूत्रेषु प्रक्रान्त इत्यर्थः। भावनाशब्दोक्तसमाधिना ध्यानधारणयोरपि ग्रहणं तन्त्रान्तर इति भावः। भावनाऽतः समाधिरिति पाठे तु अतः सूत्रात् पूर्वाचार्योक्तादत्र भावना समाधिरेवेत्यर्थः। बलशब्दं विवृण्वानः सूत्रार्थमुपसंहरति–ततो बलानीति। ननु प्रथमपादोक्तोपेक्षा कथं मैत्र्यादिष्वित्यत्रादिशब्देन न संगृहीता? तत्राह–पापशीलेष्विति। पापशीलेषु मैत्र्यादिशून्यतारूपम् उपेक्षामात्रं न तु तस्यामभावरूपिण्यामुपेक्षायां प्रतियोगितत्त्वातिरिक्तः कश्चन विशेषोऽस्ति यस्य साक्षात्कारार्थं भावना स्यात्। अतश्च तस्यामुपेक्षायां नास्ति समाधिः संयमोऽपेक्षित इत्यर्थः। शेषं सुगमम्॥२३॥

'**मैत्र्यादिष्विति।**' मैत्री आदि में संयम करने से '**बल**' अर्थात् अप्रतिहत शक्तियाँ (अबन्ध्य वीर्य) उत्पन्न होती हैं। परिणामस्वरूप अन्य प्राणियों के साथ मैत्र्यादिस्थापन के लिये सम्पादित प्रयास व्यर्थ नहीं जाता है। भाष्यकार इसी की व्याख्या करते हैं–'**मैत्रीकरुणेति।**' मैत्र्यादिविषयिणी तीन प्रकार की भावनाएँ '**संयम**' कहलाती हैं। इनमें से सुखी प्राणियों के प्रति '**मैत्री**'विषयिणी भावना (संयम-साधना) की जाती है। इस प्रकार अशेष-विशेष के साथ '**मैत्री**' भावना करके और उसके स्वरूप का साक्षात्कार करके योगी पूर्व व्याख्यात मैत्री-बल को प्राप्त करता है। इसी प्रकार '**करुणा**' और '**मुदिता**' भावना (संयम-साधना) भी व्याख्येय है। यद्यपि प्रकृत सूत्र में '**भावना**' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है तथापि तन्त्रान्तरानुरोध से इसे व्याख्यात समझना चाहिये। प्रथम पाद के तैंतीसवें सूत्र में उक्त '**भावना**' शब्द के '**उत्पादन**' अर्थ की भाँति यहाँ भी उसी अर्थ के ग्रहण के विषय में कहीं सन्देहावकाश (भ्रम) न हो, तदर्थ भाष्यकार स्वयं प्रकृत स्थल में शास्त्रान्तर में उक्त '**भावना**' शब्द के अर्थ

---

1. क ख ग–**अनुसारेण**, घ च छ–**अनुसारात्**।

को बताते हैं—'**भावना समाधिरिति भाव्यते फलं अनेन**' अर्थात् जिसके द्वारा फल प्राप्त किया जाता है—इस व्युत्पत्ति के अनुसार अथवा '**भावना**' और '**चिन्तन**' इन दोनों शब्दों के एकार्थक होने से '**समाधि**' को '**भावना**' कहते हैं। चिन्तनरूप भावना में '**ध्यान**' तथा '**धारणा**' का संग्रह करने के लिये भाष्यकार पुनः आगे कहते हैं—'**यः स संयम इति**।' विगत सूत्रों में प्रस्तुत (प्रक्रान्त) जो '**संयम**' है वह ही यहाँ '**भावना**' शब्द से कहा गया है। इस प्रकार '**भावना**' शब्द के द्वारा उक्त '**समाधि**' अर्थ के साथ ध्यान तथा धारणा अर्थ का भी ग्रहण तन्त्रान्तर (शास्त्रान्तर) में किया गया है। भाष्य के जिस किसी संस्करण में '**भावनाऽतः समाधिरिति**' ऐसा पाठ मिलता है, वहाँ के 'पूर्वाचार्योक्त सूत्र के' अनुसार यहाँ '**भावना**' शब्द का '**समाधि**' अर्थ ही है—ऐसा '**अतः**' शब्द का अर्थ निकलता है। '**बल**' शब्द के अर्थ का विवरण करते हुए भाष्यकार सूत्रार्थ को उपसंहृत करते हैं—'**ततो बलानीति**।' मैत्र्यादिजयी में अबन्ध्य वीर्य प्रादुर्भूत होता है।

शङ्का—प्रकृत सूत्र के '**मैत्र्यादिषु**' पद में आये '**आदि**' शब्द से प्रथम पाद के तैंतीसवें सूत्र में कथित '**करुणा**' और '**मुदिता**' की भाँति '**उपेक्षा**' को संगृहीत क्यों नहीं किया गया है?

समाधान—इस पर भाष्यकार कहते हैं—'**पापशीलेष्विति**।' पापी व्यक्तियों के प्रति मैत्र्यादिशून्यतारूप उपेक्षाभावना ही की जाती है। अभावरूपिणी इस उपेक्षा में अपुण्यशील प्रतियोगी तत्त्व के अतिरिक्त कोई विशेष नहीं है, जिसके साक्षात्कार के लिये भावना की जाय। अतः '**उपेक्षा**' को जागरित करने के लिये समाधि अर्थात् संयम की अपेक्षा नहीं रहती है। शेषभाष्य सुगम है॥२३॥

योगसूत्रम्

बलेषु हस्तिबलादीनि॥२४॥

(हाथी इत्यादि के) बलों में संयम करने से हाथी इत्यादि का बल (योगी को प्राप्त) होता है॥२४॥

व्यासभाष्यम्

हस्तिबले संयमाद् हस्तिबलो भवति। [1]वैनतेयबले संयमाद्वैनतेयबलो भवति। वायुबले संयमाद्वायुबलो [2]भवतीत्येवमादि॥२४॥

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ य र—**वैनतेयबले संयमाद्वैनतेयबलो भवति। वायुबले संयमाद्वायुबलो भवतीत्येवमादि** उपलभ्यते, म—**वैनतेय....मादि** नोपलभ्यते।
2. क ग च छ ज झ त थ द ध न ब म—**भवति** उपलभ्यते, ख घ प फ भ य र—**भवति** नोपलभ्यते।

हाथी के बल में संयम करने से साधक को हाथी का बल प्राप्त होता है। गरुड़ के बल में संयम करने से गरुड़ का बल प्राप्त है। वायु के बल में संयम करने से वायु का बल प्राप्त होता है। इसी प्रकार जिसके बल में संयम किया जाता है, उसी का बल हस्तगत होता है॥२४॥

तत्त्ववैशारदी

बलेषु हस्तिबलादीनि। यस्य बले संयमस्तस्य बलं लभत इति॥२४॥

'**बलेष्विति**।' योगी जिसके बल में संयम करता है, उसे उसी का बल प्राप्त होता है॥२४॥

योगवार्त्तिकम्

बलेषु हस्तिबलादीनि। हस्त्यादिबलेषु संयमाद्धस्त्यादिबलानि भवन्तीत्यर्थः। भाष्यं सुगमम्॥२४।.

'**बलेष्विति**।' हस्त्यादि बलशाली प्राणियों के बलविशेषों में संयम करने से साधक को हस्त्यादि के बल प्राप्त होते हैं। भाष्य सुगम है॥२४॥

योगसूत्रम्

प्रवृत्त्यालोक[1]न्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्॥२५॥

(ज्योतिष्मती नामक)'प्रवृत्ति' के प्रकाश का तत्तद् विषयों में विन्यास करने से सूक्ष्म, व्यवहित तथा दूरस्थ वस्तुओं का प्रत्यक्षज्ञान होता है॥२५॥

व्यासभाष्यम्

ज्योतिष्मती प्रवृत्तिरुक्ता मनसः। [2]तस्या य आलोकस्तं योगी सूक्ष्मे वा व्यवहिते वा विप्रकृष्टे वार्थे विन्यस्य तम[3]र्थमधिगच्छति॥२५॥

मन की ज्यतिष्मती प्रवृत्ति पीछे (१/३६) प्रतिपादित हुई है। उसका जो आलोक अर्थात् प्रकाश है, उसको योगी सूक्ष्म, व्यवहित तथा दूरस्थ पदार्थ के ऊपर फैंककर उस अर्थ अर्थात् पदार्थ की जानकारी प्राप्त कर लेता है॥२५॥

---

1. **न्यायात्सूक्ष्मत्वबहिरन्त०**—इति पाठान्तरम्।
2. **क ग च छ झ त थ ध न ब भ य—तस्याम्, ख घ प फ म र—तस्याः, ज—तस्या अयं, द—तस्यायम्।**
3. **क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—अर्थम्** उपलभ्यते, **ब—अर्थं** नोपलभ्यते।

तत्त्ववैशारदी

प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्। सूक्ष्मे व्यवहिते विप्रकृष्टे वा[1]र्थे [2]संयमनं विन्यस्य तम[3]र्थमधिगच्छति॥२५॥

'प्रवृत्तीति' संयम के विषयभूत सूक्ष्म, व्यवहित अथवा विप्रकृष्ट पदार्थ में **'ज्योतिष्मती'** प्रवृत्ति के तात्कालिक प्रकाश का न्यास करके योगी (परमाण्वादि) सूक्ष्म, (भित्ति आदि से) व्यवहित अथवा (पर्वतशिखरवर्ती) विप्रकृष्ट पदार्थ का प्रत्यक्ष कर लेता है॥२५॥

योगवार्त्तिकम्

प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्। व्यवहितमावृतम् विप्रकृष्टं दूरवर्ति। व्याचष्टे—ज्योतिष्मतीति। ज्योतिष्मती बुद्धिपुरुषान्यतासाक्षात्काररूपिणी मनसः प्रवृत्तिः प्रथमपादोक्ता; तस्या य आलोकस्तत्कालीनो यः सत्त्वप्रकाशस्तं योगी सूक्ष्माद्यर्थेषु विन्यस्य [4]च तमर्थम् साक्षात्करोतीत्यर्थः। अत्र न्यासमात्रवचनात् तेषु संयमापेक्षा नास्ति, चक्षुर्न्यासमात्रेण घटदर्शनवद्विशुद्धसत्त्वप्रतिसन्धानमात्रेणैव सूक्ष्मादिसाक्षात्कारो भवतीति भावः। परम्परया बुद्ध्यादिविषयकसंयमसाध्यत्वेनैव चास्याः सिद्धेः संयमसिद्धिमध्ये निर्वचनमिति॥२५॥

'प्रवृत्तीति' आवृत को व्यवहित तथा दूरवर्ती को विप्रकृष्ट कहते हैं। भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं—**'ज्योतिष्मतीति'** बुद्धि-पुरुष की भेदसाक्षात्कारस्वरूपिणी **'ज्योतिष्मती'** नाम की मन की प्रवृत्ति प्रथम पाद में कथित है। इस ज्योतिष्मती प्रवृत्ति का जो तात्कालिक **'सत्त्वप्रकाश'** है, उस प्रकाश (आलोक) को सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थों में विन्यस्त करके योगी उन सूक्ष्मादि पदार्थों का प्रत्यक्ष करता है। सूत्र में प्रयुक्त **'न्यास'** पद का तात्पर्य बताते हुए वार्त्तिककार कहते हैं कि सूक्ष्मादि पदार्थों में **'प्रवृत्त्यालोक'** का **'न्यास'** मात्र कहने से तत्तद् पदार्थों में **'संयम'** करने की आवश्यकता नहीं रह जाती है। शुद्धसत्त्व के प्रतिसन्धान (पदार्थ के साथ आलोक के संयोग) मात्र से ही सूक्ष्मादि पदार्थों का साक्षात्कार उसी प्रकार होता है जिस प्रकार चक्षुर्न्यासमात्र से (चक्षुरिन्द्रिय का विषय के साथ संयोगसन्निकर्ष होते ही) घट पदार्थ का प्रत्यक्ष होता है। बुद्ध्यादिविषयक संयम से परम्परया साध्य होने के कारण ही प्रकृत सिद्धि संयमजन्य सिद्धि के प्रकरण में पठित है॥२५॥

बालप्रिया—

'अत्र न्यासवचनमात्रात् तेषु संयमापेक्षा नास्ति'—मिश्र-भिक्षु-मतभेद—सूक्ष्म, व्यवहित

---

1. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न—**अर्थे**, ज—**स्वे**।
2. क ख ग घ च छ ज—**संयमेन**, थ न—**संयमनं**, ध—**संयमने**।
3. थ द ध—**अर्थं** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न—**अर्थं** नोपलभ्यते।
4. क ग च—**च तमर्थं**, ख—**तमर्थं**, घ छ—**च**।

तथा विप्रकृष्ट पदार्थ का साक्षात्कार होने में '**संयम**' की अपेक्षा है अथवा नहीं–इस विषय में वाचस्पति मिश्र तथा विज्ञानभिक्षु में मतभेद है। वाचस्पति मिश्र ने संयम के विषयभूत सूक्ष्मादि पदार्थों में प्रवृत्त्यालोक के न्यासपूर्वक होने वाले सूक्ष्मादि पदार्थाधिगम को इस शब्दावली में संजोया है–'**सूक्ष्मे व्यवहिते विप्रकृष्टे वार्थे संयमने विन्यस्य तमधिगच्छति**।' विज्ञानभिक्षु ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में सूक्ष्मादि पदार्थों में '**संयम**' न करने की आवश्यकता पर बल दिया है और अपने इस मत के समर्थन में सूत्रगत '**न्यासात्**' पद के **चक्षुर्न्यासमात्रेण**' अर्थ पर प्रकाश डालते हुए कहा है– '**घटदर्शनवद्विशुद्धसत्त्वप्रतिसन्धानमात्रेणैव सूक्ष्मादिसाक्षात्कारो भवतीति भावः**।' वस्तुतस्तु संयम के विषय और तज्जन्य सिद्धि के विषय की समानरूपता (समानाधिकरणता) अथवा असमानरूपता (व्यधिकरणता) का पार्थक्य मिश्र तथा भिक्षु के तत्तद् ग्रन्थों में पग-पग पर मिलता है॥२५॥

योगसूत्रम्

[1]भुवनज्ञानं [2]सूर्ये संयमात्॥२६॥

सूर्यविषयक संयम से योगी को समस्त भुवनों अर्थात् लोकों का ज्ञान होता है॥६॥

व्यासभाष्यम्

तत्प्रस्तारः सप्तलोकाः तत्रावीचेः प्रभृति मेरुपृष्ठं यावदित्ये[3]वं भूर्लोकः। मेरुपृष्ठादारभ्या ध्रुवाद् ग्रहनक्षत्रताराविचित्रोऽन्तरिक्षलोकः। [4]ततः परः स्वर्लोकः पञ्चविधः, माहेन्द्रस्तृतीयो लोकः, चतुर्थः प्राजापत्यो महर्लोकः। त्रिविधो ब्राह्मः। तद्यथा–जनलोकस्तपोलोकः सत्यलोक इति।

ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान्।
माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजाः॥

इति संग्रहश्लोकः। तत्रावीचेरुपर्युपरि निविष्टाः षण्महानरकभूमयो घनसलिलानलानिलाकाश[5]तमःप्रतिष्ठा महाकालाम्बरीषरौरवमहा[6]रौरवकालसूत्रान्धता-

---

1. **भुवनस्य**–इति पाठान्तरम्।
2. **सूर्य०**–इति पाठान्तरम्।
3. क ग च छ ज झ त थ द ध न फ ब भ म–**एवं**, ख–**अयं**, घ प य र–**एषः**।
4. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न फ ब भ म–**ततः**, घ प य र–**तत्**।
5. क ग घ च छ झ त थ द ध न प फ ब भ म य र–**तमः** उपलभ्यते, ख ज–**तमः** नोपलभ्यते।
6. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र–**रौरव०**, ख–**रौरवाः**।

मिस्राः। यत्र स्वकर्मोपार्जितदुःखवेदनाः प्राणिनः कष्टमायु[1]र्दीर्घ[2]कालमाक्षिप्य जायन्ते। [3]ततो महातलरसातलातलसुतलवितलतलातलपातालाख्यानि सप्त पातालानि। भूमिरियमष्टमी सप्तद्वीपा वसुमती, यस्याः सुमेरुर्मध्ये पर्वतराजः काञ्चनः। तस्य राजतवैदूर्यस्फटिकहेममणिमयानि शृङ्गाणि। तत्र वैदूर्यप्रभानुरागान्नीलोत्पलपत्रश्यामो नभसो दक्षिणो भागः। श्वेतः पूर्वः। स्वच्छः पश्चिमः। कुरण्डकाभ उत्तरः। दक्षिणपार्श्वे [4]चास्य जम्बूः। यतोऽयं जम्बूद्वीपः। तस्य सूर्यप्रचाराद् रात्रिन्दिवं लग्नमिव [5]विवर्तते। तस्य नीलश्वेतशृङ्गवन्त उदीचीनास्त्रयः पर्वता द्विसाहस्रायामाः। तदन्तरेषु त्रीणि वर्षाणि नवनवयोजनसहस्राणि—रमणकं हिरण्मयमुत्तराः कुरव इति। निषधहेमकूट[6]हिमशैला दक्षिणतो द्विसहस्रायामाः। [7]तदन्तरेषु त्रीणि वर्षाणि [8]नवनवयोजनसहस्राणि हरिवर्षं [9]किंपुरुषं भारतमिति। सुमेरोः प्राचीना भद्राश्वाः माल्यवत्सीमानः। प्रतीचीनाः [10]केतुमालाः गन्धमादनसीमानः। मध्ये वर्षमिलावृतम्। तदेतद्योजनशतसहस्रं सुमेरोर्दिशि दिशि तदर्धेन व्यूढम्। स खल्वयं शतसहस्रायामो जम्बूद्वीपस्ततो द्विगुणेन लवणोदधिना वलयाकृतिना वेष्टितः। ततश्च द्विगुणा द्विगुणाः शाककुशक्रौञ्चशाल्मल[11]गोमेधपुष्कर[12]द्वीपाः समुद्राश्च सर्षपराशिकल्पाः [13]सविचित्रशैलावतंसा इक्षुरससुरा-

---

1. क ग घ च छ ज थ न प फ ब भ म य र—दीर्घ०, ख—दीर्घिकं, झ त द ध—दीर्घम्।
2. क ग घ च छ ज थ न म—कालम् उपलभ्यते, ख घ प फ झ त द ध ब य र—कालं नोपलभ्यते।
3. छ थ—पाताल० (ततः—पश्चात्) उपलभ्यते, क ख ग घ च ज झ त ध न प फ ब भ म य र—पाताल० नोपलभ्यते।
4. घ प फ ब भ म य र—च उपलभ्यते, क ख ग च छ ज झ त थ द ध न—च नोपलभ्यते।
5. क ख ग च ब भ—वर्तते, घ छ ज झ त थ द ध न प फ म य र—विवर्तते।
6. क ख ग घ च ज झ त द ध प फ ब भ म य र—हिम०, छ थ न—हेम०।
7. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—तदन्तरेषु, ख—तदन्तरे।
8. क—नव, ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—नव नव।
9. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—किंपुरुषं, ख—किंपुरुषवर्षम्।
10. क ख ग च छ त थ द न भ—केतुमाल०, घ ज झ ध प फ ब म य र—केतुमालाः।
11. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म—गोमेध०, घ प फ य—मगध०, र—गोमेद०।
12. क च छ द—सप्त (द्वीपाः—पश्चाद्) उपलभ्यते, ख ग घ ज झ त थ ध न प फ ब भ म य र—सप्त नोपलभ्यते।
13. क ग छ ज झ त थ द ध न—सुविचित्र०, ख—सुचित्र०, घ च प फ ब भ म य र—सविचित्र०।

सर्पिर्दधिमण्डक्षीरस्वादूदकाः [1]सप्तसमुद्र[2]परिवेष्टिता वलयाकृतयो लोकालोकपर्वतपरिवाराः पञ्चाशद्योजनकोटिपरिसंख्याताः। तदेतत्सर्वं सुप्रतिष्ठितसंस्थानमण्डमध्ये व्यूढम्। अण्डं च प्रधानस्याणुरवयवो यथाकाशे खद्योत इति। तत्र पाताले जलधौ पर्वतेष्वेतेषु देव[3]निकाया असुरगन्धर्वकिंनरकिंपुरुषयक्षराक्षसभूतप्रेतपिशाचापस्मारकाप्सरोब्रह्मराक्षसकूष्माण्डविनायकाः प्रतिवसन्ति। सर्वेषु द्वीपेषु पुण्यात्मानो देवमनुष्याः। सुमेरुस्त्रिदशानामुद्यानभूमिः। तत्र मिश्रवनं नन्दनं चैत्ररथं सुमानसमित्युद्यानानि, सुधर्मा देवसभा, सुदर्शनं पुरम्, वैजयन्तः प्रासादः। ग्रहनक्षत्रतारकास्तु ध्रुवे निबद्धा वायुविक्षेप[4]नियमेनोपलक्षितप्रचाराः सुमेरोरुपर्युपरि संनिविष्टा [5]दिवि विपरिवर्तन्ते। माहेन्द्रनिवासिनः [6]षड् देवनिकायाः—त्रिदशा अग्निष्वात्ता याम्यास्तुषिता अपरि[7]निर्मितवशवर्तिनः परिनिर्मितवशवर्तिनश्चेति। [8]ते सर्वे संकल्पसिद्धा अणिमाद्यैश्वर्योपपन्नाः कल्पायुषो वृन्दारकाः कामभोगिन [9]औपपादिकदेहा उत्तमानुकूलाभिरप्सरोभिः कृत[10]परिवाराः। महति लोके प्राजापत्ये पञ्चविधो देवनिकायः—कुमुदा [11]ऋभवः प्रतर्दना [12]अञ्जनाभाः [13]प्रचिताभा इति। एते महाभूतवशिनो ध्यानाहाराः कल्पसहस्रायुषः। प्रथमे ब्रह्मणो

---

1. क ख ग घ च झ त द ध न प फ ब भ म य र—**सप्त** उपलभ्यते, छ ज थ—**सप्त** नोपलभ्यते।
2. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म य—**परिवेष्टिता**, घ प फ र—**वेष्टिता**।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध प फ ब भ अ य र—**निकाया असुर०**, न—**निकायासुर०**।
4. क ग च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—**नियमेन**, ख—**नियमनेन**, घ—**नियमन०**।
5. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म—**दिवि** उपलभ्यते; घ प फ य र—**दिवि** नोपलभ्यते।
6. क ख ग घ च छ ज त द ध प फ ब भ म य र—**षड्**, झ थ न—**षडेव**।
7. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—**निर्मित०**, छ थ—**निमित्त०**।
8. क ग च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य—**ते** उपलभ्यते, ख घ ब र—**ते** नोपलभ्यते।
9. क—**औपपादुक०**, ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—**औपपादिक०**।
10. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ—**परिचाराः**, घ फ म य र—**परिवाराः**।
11. क—**प्रभवः**, ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब ब म य र—**ऋभवः**, छ थ—**संभवः**।
12. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—**अञ्जनाभाः**, ख—**आजानाः**।
13. क घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—**प्रचिताभाः**, ख ग—**प्रमिताभाः**।

जनलोके चतुर्विधो देवनिकायः—ब्रह्मपुरोहिता [1]ब्रह्मकायिका ब्रह्ममहाकायिका [2]अजरामरा इति। [3]एते भूतेन्द्रियवशिनो [4]द्विगुणद्विगुणोत्तरायुषः। द्वितीये तपसि लोके त्रिविधो देवनिकायः—आभास्वरा [5]महाभास्वरा सत्यमहाभास्वरा इति। [6]ते भूतेन्द्रियप्रकृतिवशिनो द्विगुणद्विगुणोत्तरायुषः सर्वे ध्यानाहारा [7]कल्पसहस्रायुष ऊर्ध्वरेतस ऊर्ध्वमप्रतिहतज्ञाना अधरभूमिष्वनावृतज्ञानविषयाः। तृतीये ब्रह्मणः सत्यलोके चत्वारो देवनिकायाः—[8]अच्युताः शुद्धनिवासाः सत्याभाः संज्ञासंज्ञिनश्चेति। [9]ते चाकृतभवनन्यासाः [10]स्वप्रतिष्ठा उपर्युपरि स्थिताः प्रधानवशिनो यावत्सर्गायुषः। तत्राच्युताः सवितर्कध्यानसुखाः शुद्धनिवासाः सविचारध्यानसुखाः, सत्याभा आनन्दमात्रध्यानसुखाः, संज्ञासज्ञिनश्चास्मितामात्रध्यानसुखाः। [11]तेऽपि त्रैलोक्यमध्ये [12]प्रतितिष्ठन्ति। त एते [13]सप्त लोकाः [14]सर्व एव ब्रह्मलोकाः।

---

1. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—**ब्रह्मकायिका ब्रह्ममहाकायिका अजरामराः**, छ थ—**वितर्कध्यानसुखा ब्रह्मकायिका** विचारध्यानसुखाः **ब्रह्ममहाकायिका आनन्दध्यानसुखाः अजरामराः अस्मिताध्यानसुखाः**।
2. क ग च छ ज झ त थ द ध न भ म य—**अजर०** उपलभ्यते, ख घ प फ ब र—अजर० नोपलभ्यते।
3. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ य—ते, घ प फ म र—एते।
4. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म य र—**द्विगुणद्विगुणोत्तरायुषः** उपलभ्यते, घ प फ—**द्विगुणद्विगुणोत्तरायुषः** नोपलभ्यते।
5. क ख ग घ च ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—**महाभास्वराः सत्यमहाभास्वराः**, छ—**विश्वध्यानरताः महाभास्वरास्तैजसध्यानरताः सत्यमहाभास्वराः प्राज्ञध्यानसुखाः**।
6. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म य—**ते**, घ प फ र—एते।
7. ख च झ त न—**कल्पसहस्रायुषः** उपलभ्यते, क ग घ छ ज थ द ध प फ ब भ म य र—**कल्पसहस्रायुषः** नोपलभ्यते।
8. घ च द न प फ भ म य र—**अच्युताः शुद्धनिवासाः सत्याभाः संज्ञासंज्ञिनश्चेति**। ते च उपलभ्यते, क ख ग छ ज झ त थ ध ब—**अच्युताः.....ते च** नोपलभ्यते।
9. च भ म—**ते च** उपलभ्यते, क ख ग घ छ ज झ त थ द ध न प फ ब य र—**ते च** नोपलभ्यते।
10. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—**स्वप्रतिष्ठा**, ज—**सुप्रतिष्ठा**।
11. क ग—**त्रैलोक्यमध्ये**, ख—**ते लोकाः**, घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—**तेऽपि त्रैलोक्यमध्ये**।
12. क ग च छ ज झ त थ द द न भ—**प्रतिष्ठन्ते**, ख—**अवतिष्ठन्ते**, घ प फ ब भ य र—**प्रतितिष्ठन्ति**।
13. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न प फ ब भ म य र—**सप्त**, द—**सत्य०**।
14. क ख ग छ ज झ त न—**सर्वे सब्रह्मकाः**, घ च थ द ध फ फ ब भ म य र—**सर्व एव ब्रह्मलोकाः**।

विदेहप्रकृतिलयास्तु मोक्षपदे वर्तन्त इति न लोकमध्ये [1]न्यस्ता इति। एतद्योगिना साक्षात्[2]करणीयं सूर्यद्वारे संयमं कृत्वा ततोऽन्यत्रापि। एवं तावदभ्यसेद्यावदिदं सर्वं दृष्टमिति॥२६॥

भुवन का विस्तार (विन्यास) इस प्रकार है—सात लोक हैं। उन सात लोकों में 'भूलोक' अवीचि (नामक नरक) से लेकर सुमेरु पर्वत की पृष्ठ-भूमिपर्यन्त विस्तीर्ण है। सुमेरु पर्वत की पृष्ठभूमि से आरम्भ करके ध्रुवपर्यन्त जो ग्रह, नक्षत्र तथा ताराओं से आश्चर्यमय लोक है, वह 'अन्तरिक्षलोक' है। उसके ऊपर पांच प्रकार का 'स्वर्गलोक' है। उनमें तीसरा जो लोक है, वह 'माहेन्द्रलोक' कहलाता है। चौथा प्रजापतिसम्बन्धी लोक 'महर्लोक' है। ब्रह्म से सम्बन्ध रखने वाला ब्राह्मलोक तीन प्रकार का है, वह जैसे—जनलोक, तपो-लोक तथा सत्यलोक। इन सब लोकों का संग्रहात्मक श्लोक है—'तीन (जनः, तपः सत्यम्) ब्राह्मलोक हैं, उनसे नीचे 'महः' नाम का प्राजापत्यलोक है। उससे नीचे 'स्वः' नाम का माहेन्द्रलोक है। उससे नीचे अन्तरिक्ष में 'भुवः' नामक तारालोक है। उससे नीचे मनुष्यों का लोक भूलोक है।' (अब भूलोक के ही अंशभूत सप्त नरकों का प्रतिपादन किया जा रहा है)—नरकों में सबसे नीचे अवीचि नामक नरक है। उसके ऊपर-ऊपर वर्तमान छह महानरक भूमियाँ हैं, जो घन (पृथ्वी), जल, अग्नि, वायु, आकाश तथा तम से भरी हुई हैं, इनके नाम हैं—महाकाल, अम्बरीष, रौरव, महारौरव, कालसूत्र तथा अन्धतामिस्र। इन सात नरकों में अपने द्वारा किये गये पाप कर्मों के कारण उपार्जित दुःख को भोगने वाले प्राणी कष्टों से परिपूर्ण लम्बी आयु को प्राप्त करके निवास करते हैं। (यहाँ तक चौदह लोकों में से ऊपर के सात लोकों का वर्णन हुआ। अब नीचे के सात लोक बतलाये जा रहे हैं)—इन नरकों के नीचे महातल, रसातल, अतल, सुतल, वितल, तलातल तथा पाताल नामक सात पाताल लोक हैं। (सम्प्रति भूलोक का विस्तार किया जा रहा है)—इन पातालों के ऊपर आठवीं यह भूमि है, जिसके मध्य में सुवर्णमय पर्वतराज सुमेरु विराजमान है। इस सुमेरु पर्वत की चारों दिशाओं में चार शिखर रजतमय, वैदूर्यमणिमय, स्फटिकमणिमय तथा सुवर्णमय हैं। उस सुमेरु पर्वत के दक्षिण का आकाशभाग वैदूर्यमणि की कान्ति के सम्पर्क से नीलकमल की पंखुड़ियों के समान श्याम वर्ण का रहता है। पूर्व की ओर का आकाश-भाग श्वेत वर्ण का रहता है। पश्चिम की ओर का आकाश-भाग निर्मल और

---

1. क ख ग—**संन्यस्ताः**, घ च छ ज झ त थ द ध न प फ द थ म य र—**न्यस्ताः**।
2. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म—**करणीयं**, घ प फ य र—**कर्त्तव्यम्**।

उत्तर की ओर का आकाश-भाग कुरण्टक पुष्प की आभा के समान पीतवर्ण का रहता है। इस सुमेरु पर्वत के दक्षिण में जामुन का वृक्ष है, जिसके कारण यह द्वीप 'जम्बूद्वीप' कहा जाता है। सूर्य के द्वारा सुमेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करने के कारण रात्रि और दिन उस पर्वत से संलग्न से प्रतीत होते हैं। उस सुमेरु पर्वत की उत्तरदिशा में दो-दो सहस्र योजन विस्तृत नील, श्वेत और शृङ्गवान् नाम वाले तीन पर्वत स्थित हैं। इन पर्वतों के बीच-बीच नौ-नौ हजार योजन विस्तार वाले रमणक, हिरण्यक और उत्तरकुरु नाम के तीन देश हैं। सुमेरु पर्वत की दक्षिण दिशा में दो-दो सहस्र योजन विस्तार वाले तीन पर्वत निषध, हेमकूट तथा हिमालय हैं। इनके बीच-बीच नव-नव हजार योजन विस्तार वाले हरिवर्ष, किम्पुरुष तथा भारत नामक तीन देश हैं। सुमेरु के पूर्व की ओर स्थित माल्यवान् पर्वत की सीमा वाला भद्राश्व नामक देश है और पश्चिम की ओर स्थित गन्धमादन पर्वत की सीमा वाला केतुमाल नामक देश है। सुमेरु पर्वत के ठीक नीचे बीच में इलावृत नामक एक देश है। जम्बूद्वीप का परिमाण (व्यास) सौ हजार अर्थात् एक लाख योजन है। यह सुमेरु के चारों ओर पचास हजार योजन तक विन्यस्त है। एक लाख योजन विस्तृत यह जम्बूद्वीप अपने से द्विगुणित विस्तार वाले वलयाकार (मण्डला- कार) क्षारसमुद्र से घिरा हुआ है। इस जम्बूद्वीप से आगे दो-दो गुने विस्तार वाले (अपने पीछे वाले द्वीप की अपेक्षा द्विगुणित क्षेत्रफल वाले) शाकद्वीप, कुशद्वीप, क्रौञ्चद्वीप, शालमलद्वीप, गोमेधद्वीप तथा पुष्करद्वीप हैं। इन द्वीपों को घेरने वाले सातों समुद्र सरसों के ढेर के समान, आश्चर्यमय पर्वतों से युक्त और इक्षुरस (ईख के रस), सुरा (मदिरा), घृत, (घी), दधि (दही) मण्ड (मांड) तथा क्षीर (दूध) के समान स्वादिष्ट जल वाले हैं। पचास करोड़ योजन विस्तृत, वलयाकार सप्तद्वीप लोकालोक पर्वत से परिवृत और सप्त समुद्र से वेष्टित हैं। इस प्रकार से सुव्यवस्थित भागों वाला यह सब भूमण्डल ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत संस्थापित है। और यह ब्रह्माण्ड प्रकृति का वैसा ही एक क्षुद्र अंश है, जैसे आकाश में जुगनू। उनमें से पाताल, समुद्र और इन पर्वतों में असुर, गन्धर्व, किन्नर, किम्पुरुष, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, अप- स्मारक, अप्सरा ब्रह्मराक्षस, कूष्माण्ड और विनायक नामक देवगण रहते हैं। सभी द्वीपों में पुण्यात्मा देवता तथा मनुष्य रहते हैं। सुमेरुपर्वत देवताओं की उद्यानभूमि है। यहाँ पर मिश्रवन, नन्दन, चैत्ररथ तथा सुमानस—ये उपवन हैं, सुधर्मा नाम की देवसभा, सुदर्शन नाम की नगरी और वैजयन्त नामक महल है। अन्तरिक्ष लोक में ये ग्रह, नक्षत्र और तारे

ज्योतिरूप तारा) में बंधे हुए से, वायुविक्षेप के नियम से गतिशील तथा सुमेरु पर्वत के ऊपर-ऊपर सन्निविष्ट होकर भ्रमण करते रहते हैं। माहेन्द्रलोक (स्वर्लोक) में निवास करने वाली त्रिदश, अग्निष्वात्त, याम्य, तुषित, अपरि-निर्मितवशवर्ती तथा परिनिर्मितवशवर्ती—नाम की छह देवजातियाँ हैं। ये सभी देव सिद्धसंकल्प अणिमादि आठ ऐश्वर्यों से युक्त, कल्पर्यन्त आयुष वाले, वृन्दारक (पूज्य) कहे जाने वाले, मैथुनप्रेमी, स्वतोनिर्मित शरीर वाले (अर्थात् माता-पिता के परस्पर शरीर-सम्बन्ध के विना ही उत्पन्न दिव्य शरीर वाले) तथा उत्तम एवं मनोनुकूल अप्सराओं से (पत्नी की भाँति) सेवित रहते हैं। चतुर्थ प्रजापतिलोक (महर्लोक) में पाँच प्रकार के देवयोनिविशेष निवास करते हैं, वे हैं—कुमुद, ऋषभ, प्रतर्दन, अञ्जनाभ तथा प्रचिताभ। ये महाभूतों के स्वामी, ध्यानजन्य तृप्ति का आहार करने वाले (अन्नादि के विना ध्यानमात्र से तृप्त रहने वाले) तथा एक सहस्र कल्पपर्यन्त आयु वाले होते हैं। पंचम ब्रह्मलोक अर्थात् ब्रह्मा के प्रथम 'जनलोक' में चार प्रकार के देवगण ये हैं--ब्रह्मपुरोहित, ब्रह्मकायिक, ब्रह्ममहाकायिक तथा अमर। ये भूतेन्द्रियवशी तथा उत्तरोत्तर द्विगुण-द्विगुण आयु-संवलित होते हैं। षष्ठ ब्रह्मलोक अर्थात् ब्रह्मा के द्वितीय 'तपोलोक' में रहने वाले तीन प्रकार के देवताओं के समूह ये हैं—आभास्वर, महाभास्वर तथा सत्यमहाभास्वर। ये तीनों भूत, इन्द्रिय और प्रकृति के स्वामी तथा उत्तरोत्तर द्विगुण-द्विगुण आयु-संवलित होते हैं। ये सभी ध्यानजन्य तृप्ति का भोग करने वाले, ऊर्ध्ववीर्य, उच्चस्तरीय अखण्डज्ञान वाले तथा निम्नस्तरीय ज्ञान के विषयों के भी ज्ञाता होते हैं। सप्तम ब्रह्मलोक अर्थात् ब्रह्मा के तृतीय 'सत्यलोक' में चार प्रकार के देवताओं के समूह ये हैं—अच्युत, शुद्धनिवास, सत्याभ तथा संज्ञासंज्ञी। ये (किसी भी प्रकार के) भवनादि निर्माण से रहित, अपने आप में स्थित, क्रमशः ऊपर-ऊपर विराजमान, प्रकृति के स्वामी तथा सृष्टिपर्यन्त आयु वाले होते हैं। इनमें से अच्युत नामक देवगण सवितर्कसमाधिजन्य सुखमग्न, शुद्ध-निवास नामक देवगण सविचारसमाधिजन्य सुखमग्न, सत्याभ नामक देवगण आनन्दानुगतसमाधिजन्य सुखमग्न एवं संज्ञासंज्ञी नामक देवगण अस्मितानु-गतसमाधिजन्य सुखमग्न रहते हैं। ये भी त्रैलोक्य के अन्तर्गत ही स्थित हैं। वे ये भूर्लोकादि सात लोक हैं। ये सभी ब्रह्मलोक कहे जाते हैं। विदेह और प्रकृतिलीन तो मोक्षसदृश पद में स्थित रहते हैं, इसलिये लोक के अन्तर्गत परिगणित नहीं होते हैं। यह समस्त भुवन योगी द्वारा सूर्यद्वार में संयम करके साक्षात्कार करने के योग्य है। उस सूर्यद्वार से अन्य पदार्थों में भी संयम

करके उनका साक्षात्कार किया जाता है। इस प्रकार योगी (संयम का) तब तक अभ्यास करता रहे, जब तक सब कुछ दृष्ट न हो जाय॥२६॥

तत्त्ववैशारदी

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्। आध्रुवादितो मेरुपृष्ठात्। तदेवमनेन संग्रहश्लोकान्तेन संक्षेपतः सप्त लोकानुपन्यस्य विस्तरेणाह—तत्रावीचेरिति। घनशब्देन पृथिव्युच्यते। भूमिः स्थानमित्यर्थः। एते महानरका अनेकोपनरकपरिवारा बोद्धव्याः। एतानेव नामान्तरेणोपसंहरति—महाकालेति।

तस्य सूर्यप्रचारात् रात्रिन्दिवं लग्नमिव विवर्तते। यमेवास्य भागं सूर्यस्त्यजति तत्र रात्रिः। यमेव भागमलङ्करोति तत्र दिनमिति। सकलजम्बूद्वीपपरिमाणमाह—तदेतद्योजनशतसहस्रमिति। किंभूतं योजनानां शतसहस्रमित्याह—सुमेरोर्दिशि दिशि तदर्द्धेन [1]व्यूढमिति। तदर्द्धेन पञ्चाशद्योजनसहस्रेण व्यूढं संक्षिप्तम्। यतोऽस्य मध्यस्थः सुमेरुः [2]सप्तसमुद्राश्च सर्षपराशिकल्पा इति द्विगुणा दिगुणा इति संबन्धः। यथा सर्षपराशिर्न व्रीहिराशिरिवोच्छ्रितो नापि भूमिसमस्तथा समुद्रा [3]अपीत्यर्थः। विचित्रैः शैलैरवतंसैरिव सह वर्तन्त इति सविचित्रशैलावतंसा द्वीपाः। तदेतत्सर्वं सद्वीपविपिननगनगरनीरधिमालावलयं लोकालोकपरिवृतं विश्वम्भरामण्डलं ब्रह्माण्डमध्ये व्यूढं संक्षिप्तं सुप्रतिष्ठितं संस्थानं संनिवेशो यस्य तत्तथोक्तम्।

ये यत्र प्रतिवसन्ति तत्र तान्दर्शयति—तत्र पाताल इति।

सुमेरोः संनिवेशमाह—सुमेरुरिति।

तदेवं भूर्लोकं सप्रकारमुक्त्वा सप्रकारमेवान्तरिक्षलोकमाह—ग्रहेति। विक्षेपो व्यापारः।

स्वर्लोकमादर्शयति—माहेन्द्रनिवासिन इति। देवनिकाया देवजातयः। षण्णामपि देवनिकायानां रूपोत्कर्षमाह—सर्वे संकल्पसिद्धा इति। संकल्पमात्रादेवैषां विषया उपनमन्ति। वृन्दारकाः पूज्याः। कामभोगिनो मैथुनप्रियाः। औपपादिकदेहाः पित्रोः संयोगमन्तरेणाकस्मादेव दिव्यं शरीरमेषां धर्मविशेषा[4]तिसंस्कृतेभ्योऽ[5]णुभ्यो भूतेभ्यो भवतीति।

महर्लोकमाह—महतीति। महाभूतवशिनः यद्यदे[6]तेभ्यो रोचते तत्तददेव महाभूतानि प्रयच्छन्ति। तदिच्छातश्च महाभूतानि तेन तेन संस्थानेनावतिष्ठन्ते। ध्यानाहारा ध्यानमात्रतृप्ताः पुष्टा भवन्ति।

---

1. थ द ध—**व्यूढमिति** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न—**व्यूढमिति** नोपलभ्यते।
2. थ द ध—**सप्त०** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न—**सप्त०** नोपलभ्यते।
3. क थ द ध—**अमी**, ख ग घ च छ ज झ त न—**अपि**।
4. क ख थ द ध—**संस्कृतेभ्यः**, ग घ च छ ज झ त न—**अतिसंस्कृतेभ्यः**।
5. क ख ज—**भूतेभ्यः**, घ च छ झ त थ द न—**अणुभ्यो भूतेभ्यः**, ध—**अणुभ्यः**, ग—अणुभ्यः... नोपलभ्यते।
6. क ख ग घ च छ ज झ त द ध न—**एतेभ्यः**, थ—**एव तेभ्यः**।

जनलोकमाह—प्रथम इति। उक्तक्रमेण भूतेन्द्रियवशिन इति। भूतानि पृथिव्यादीनीन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि यथा नियोक्तुमिच्छन्ति तथैव [1]नियुज्यन्ते।

उक्तक्रमापेक्षया द्वितीयं ब्रह्मणस्तपोलोकमाह—द्वितीय इति। भूतेन्द्रियप्रकृतिवशिन इति। प्रकृतिः पञ्च तन्मात्राणि, तद्वशिनः। तदिच्छातो हि तन्मात्राण्येव कायाकारेण परिणमन्त इत्या[2]गमिनः। द्विगुणेति। आभास्वरेभ्यो द्विगुणायुषो महाभास्वराः। तेभ्योऽपि द्विगुणायुषः सत्यमहाभास्वरा इत्यर्थः। ऊर्ध्वमिति। ऊर्ध्वं सत्यलोकेऽप्रतिहतज्ञाना अवीचेस्तु प्रभृत्या तपोलोकं सूक्ष्मव्यवहितादि सर्वं विजानन्तीत्यर्थः।

तृतीयं ब्रह्मणः सत्यलोकमाह—तृतीय इति। अकृतो भवनस्य गृहस्य न्यासो यैस्ते तथोक्ताः। आधाराभावादेव स्वप्रतिष्ठाः। स्वेषु शरीरेषु प्रतिष्ठा येषां ते तथोक्ताः। प्रधानवशिनः तदिच्छातः सत्त्वरजस्तमांसि प्रवर्तन्ते यावत्सर्गायुषः। तथा च श्रूयते—

ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशति परं पदम्॥ इति ।

तदेवं चतुर्णां देवनिकायानां साधारणधर्मानुक्त्वा नामविशेषग्रहणेन धर्मविशेषानाह—तत्रेति। अच्युता नाम देवाः स्थूलविषय[3]ध्यानसुखाः। तेन ते तृप्यन्ति। शुद्धनिवासा नाम देवाः सूक्ष्मविषयध्यानसुखाः। तेन ते तृप्यन्ति। सत्याभा नाम देवा इन्द्रियविषयध्यानसुखाः तेन ते तृप्यन्ति। संज्ञासंज्ञिनो नाम देवा अस्मितामात्रध्यानसुखाः। तेन ते तृप्यन्ति। त एते सर्वे संप्रज्ञातसमाधिमुपासते। अथासंप्रज्ञातसमाधिनिष्ठा विदेहप्रकृतिलयाः कस्मान्न लोकमध्ये [4]न्यस्यन्त इत्यत आह—विदेहप्रकृतिलयास्त्विति। बुद्धिवृत्तिमन्तो हि दर्शितविषया लोकयात्रां वहन्तो लोकेषु वर्तन्ते। न चैवं विदेहप्रकृतिलयाः सत्यपि साधिकारत्व इत्यर्थः। तदेतदासत्यलोकमा चावीचेर्योगिना साक्षात्करणीयं सूर्य[5]द्वारे सुषुम्नायां नाड्याम्। न चैतावतापि तत्साक्षात्कारो भवतीत्यत आह—[6]तत इति। [7]ततोऽन्यत्रापि। सुषुम्नाया अन्यत्रापि योगो[8]पाध्यायोपदिष्टेषु यावदिदं सर्वं जगद् दृष्टमिति। बुद्धिसत्त्वं हि स्वभावत एव विश्वप्रकाशनसमर्थं तमोमलावृतं [9]यत्रैव रजसोद्घाट्यते तदेव प्रकाशयति। सूर्यद्वारसंयमोद्घाटितं

1. क ज त—नियुज्यते, ख ग घ च छ झ थ द ध न—नियुज्यन्ते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त न—आगमिनः, थ द ध—आगमिकः।
3. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न—ध्यान०, झ—ज्ञान०।
4. क ख ग घ च छ झ थ द ध न—न्यस्यन्ते, ज त—उपन्यस्यन्ते।
5. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न—द्वारे, झ—द्वारेण।
6. थ द ध—तत इति उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न—तत इति नोपलभ्यते।
7. क ख ग घ च छ ज झ त न—एवं तावदन्यत्रापि, थ द ध—ततोऽन्यत्रापि।
8. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न—उपाध्यायोपदिष्टेषु, ज—उपाध्यायेषु।
9. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न—यत्रैव, द—यदैव।

तु[1] भुवनं प्रकाशयति। न चैवमन्यत्रापि प्रसङ्गः, तत्संयमस्य तावन्मात्रोद्घाटनसामर्थ्यादिति सर्वमवदातम्॥२६॥

'**भुवनेति**।' जिस लोक की पर्यन्तता ध्रुवलोक तक बताई गई है, वह लोक मेरु-पृष्ठ से आरम्भ होता है। अर्थात् मेरुपृष्ठ से उपलक्षित भूर्लोक से ध्रुवलोकपर्यन्त 'भुवर्लोक' है। इस प्रकार संग्रहश्लोक तक के द्वारा सप्त लोकों को संक्षेप से उपन्यस्त करके भाष्यकार उन्हें ही विस्तारपूर्वक बताते हैं–'**तत्राऽवीचेरिति**।' '**घन**' शब्द से '**पृथिवी**' कही जाती है। '**भूमि**' शब्द का अर्थ '**स्थान**' है। अर्थात् महानरक के छह स्थान हैं। ये छह महानरक भी एकाधिक उपनरक वाले हैं, ऐसा समझना चाहिये। इन्हीं महानरकों का अपर पर्याय बताते हुए भाष्यकार महानरक प्रकरण को उपसंहृत करते हैं–'**महाकालेति**।' अर्थात् महाकाल, अम्बरीष, रौरव, महारौरव, कालसूत्र तथा अन्धतामिस्र–ये महानरकों के नामान्तर हैं।

सूर्य के द्वारा सुमेरु पर्वत की प्रदक्षिणा होने से रात्रि और दिन उसमें संयुक्त के समान प्रतीत होते हैं। अतः सुमेरु के जिस भाग को सूर्य त्यागता है, उस ओर रात्रि होती है और जिस भाग को सूर्य अलंकृत करता है, उस ओर दिन होता है। भाष्यकार सम्पूर्ण जम्बूद्वीप का परिमाण अर्थात् आयाम (विस्तार) बताते हैं–'**तदेतद्योजनशतसहस्रमिति**।' यह जम्बूद्वीप सौ सहस्रयोजन विस्तार वाला है, ऐसा भाष्यकार बताते हैं–'**सुमेरोर्दिशि दिशि तदर्द्धेन व्यूढमिति**।' सुमेरु की चारों दिशाओं में उससे आधा अर्थात् पचास हजार योजन विस्तार में सम्पूर्ण देश '**व्यूढ**' अर्थात् संक्षिप्तरूप से विद्यमान है, क्योंकि इन सभी देशों के मध्य में सुमेरु पर्वत स्थित है।

(उक्त शतसहस्र आयाम वाले जम्बूद्वीप के आगे) द्विगुण-द्विगुण परिमाण वाले समुद्र सर्षपराशि के समान स्थित हैं–ऐसा वाक्यान्वय (सम्बन्ध) करना चाहिये। जिस प्रकार सरसों का ढेर न तो धान्यराशि के समान ऊँचा होता है और न ही भूमि के समान समतल होता है उसी प्रकार ये सात समुद्र भी न तो पर्वत के समान ऊँचे हैं और न भूमि के समान समतल हैं। '**सविचित्रशैलाऽवतंसाः**' का विग्रह करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं कि '**विचित्रैः शैलैरवतंसैरिव सह वर्तन्त इति**' अर्थात् कर्णाभरणसदृश अद्भुत पर्वतमालाओं से युक्त ये सात द्वीप हैं। शब्दान्तर में सप्तद्वीपा वसुमती कर्णाभरण के समान विचित्रमय शैलशिखरों से शोभायमान है। द्वीप, वन, पर्वत, नगर तथा समुद्र-शृंखला (समूह) से वलयाकारित 'लोकालोक' नामक पर्वत से आवृत्त (घिरा हुआ) यह सम्पूर्ण '**भूलोक**' ब्रह्माण्ड के मध्य संस्थापित संक्षिप्त संघात अवयव (सन्निवेश) विशेष है।

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त न–तु उपलभ्यते, थ द ध–तु नोपलभ्यते।

कौन-कौन सी देवादि योनियाँ कहाँ-कहाँ निवास करती हैं, उनको भाष्यकार प्रदर्शित करते हैं—'**तत्र पाताल इति**।'

भाष्यकार सुमेरु पर्वत के सन्निवेश (संरचना) को बताते हैं—'**सुमेरुरिति**।'

इस प्रकार विभागसहित भूर्लोक का निरूपण करने के पश्चात् भाष्यकार सप्रकार, 'अन्तरिक्षलोक' का वर्णन करते हैं—'**ग्रहेति**।' यहाँ '**विक्षेप**' शब्द का अर्थ है—व्यापार।

भाष्यकार '**स्वर्लोक**' को प्रदर्शित करते हैं—'**माहेन्द्रनिवासिन इति**।' '**देवनिकाय**' शब्द का अर्थ है—देवजातियाँ। ('स्वर्लोक' में निवास करने वाली) षड्विध देवजातियों के रूपोत्कर्ष अर्थात् उत्तरोत्तर समृद्धि को भाष्यकार बताते हैं—'**सर्वे संकल्पसिद्धा इति**।' ये सभी देवजातियाँ संकल्पसिद्ध हैं। अत: इनके संकल्पमात्र से ही विषय उपस्थित हो जाते हैं। ये '**वृन्दारक**' अर्थात् पूज्य हैं। '**कामयोगी**' अर्थात् मैथुनप्रिय हैं। '**औपपादिक देह**' अर्थात् माता-पिता के संयोग के विना ही धर्मविशेष से संस्कारित अणु-भूतों से सहसा निर्मित अलौकिक शरीर वाले होते हैं।

भाष्यकार '**महर्लोक**' का प्रतिपादन करते हैं—'**महतीति**।' इस लोक की देवजातियाँ '**महाभूतवशी**' हैं। अर्थात् इन्हें जो कुछ भी रुचिकर लगता है उन सभी वस्तुओं को महाभूत प्रदान करते हैं। इनके इच्छामात्र से महाभूत भिन्न-भिन्न संस्थान (आकृतिविशेष) वाले होते हैं। ये '**ध्यानाहार**' अर्थात् (अन्नादि आहार के विना ही) ध्यानात्मक क्रियामात्र से संतृप्त होकर परिपुष्ट रहते हैं।

भाष्यकार '**जनलोक**' को बताते हैं—'**प्रथम इति**।' भूलोकादिक्रम से पञ्चम स्थानीय '**जनलोक**' को भाष्यकार ने प्रथम लोक किस आधार पर कहा? इसका उत्तर तत्त्ववैशारदीकार ने '**उक्तक्रमेण**' पद से दिया है। भाव यह है कि ब्रह्मलोकान्तर्वर्ती त्रिविध लोकों—जनलोक, तपोलोक तथा सत्यलोक—में जनलोक सबसे पहले है। अत: लोकसामान्य की दृष्टि से पञ्चम स्थानीय '**जनलोक**' को भाष्यकार ने ब्रह्मलोक की दृष्टि से पहला भेद कहा है। अत: लोकों के स्थान-निर्धारण में किसी प्रकार की विसंगति नहीं है। '**जनलोक**' के देवनिकायों का विवरण भाष्यकार करते हैं—'**भूतेन्द्रियवशिन इति**।' पृथिव्यादि भूत तथा श्रोत्रादि इन्द्रियों को जिस प्रकार नियुक्त करने की ये इच्छा रखते हैं, उसी प्रकार ये भूतेन्द्रियाँ नियुक्त हो जाती हैं। अर्थात् भूत तथा इन्द्रियाँ इनकी इच्छा के अनुसार नियुक्त होकर इनके भूतेन्द्रियवशित्व को प्रमाणित करती हैं।

यथोक्त क्रम से ब्रह्मा के द्वितीय (तथा सामान्यक्रम से षष्ठ) '**तपोलोक**' को भाष्यकार बताते हैं—'**द्वितीय इति**।' इस लोक के देवनिकायों का स्वरूप है—'**भूतेन्द्रियप्रकृतिवशिन इति**।' भूतेन्द्रियों के कारणभूत पञ्च तन्मात्र इनके वशीभूत रहते

हैं। आगमिकों का मत है कि इन देवनिकायों की इच्छामात्र से तन्मात्राएँ ही कायाकार में परिणत होती हैं। इनकी आयु का निर्धारण करते हुए भाष्यकार कहते हैं–'**द्विगुणेति**।' पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर देव द्विगुण-द्विगुण आयुष वाले हैं। '**आभास्वर**' देवों से द्विगुण आयु वाले '**महाभास्वर**' देव हैं। '**महाभास्वर**' देवों से द्विगुण आयु वाले '**सत्यमहाभास्वर**' देव हैं। इनके पदार्थविषयक ज्ञान का स्वरूप निर्धारित करते हुए भाष्यकार कहते हैं–'**ऊर्ध्वमिति**।' ऊपर के '**सत्यलोक**' में वर्तमान ऊर्ध्वरेतस् देवता लोग अप्रतिहतज्ञानसम्पन्न होते हैं और नीचे के '**तपोलोक**' के देवता लोग सूक्ष्म तथा व्यवहितादि सभी प्रकार के पदार्थों को जानने वाले होते हैं।

भाष्यकार ब्रह्मा के तीसरे (अथवा लोकक्रम से सातवें) '**सत्यलोक**' को बताते हैं–'**तृतीय इति**।' इस लोक के देवनिकाय '**अकृतभवनन्यास**' वाले अर्थात् जिनके द्वारा गृह का न्यास नहीं किया गया है, इस प्रकार के होते हैं। इस प्रकार गृहरूप आधार के अभाव में ये स्वशरीररूप आधार में ही प्रतिष्ठित ('**स्वप्रतिष्ठ**') रहते हैं। ये '**प्रधानवशी**' होते हैं। अर्थात् सत्त्वादि तीनों गुण इनकी अभिलाषा के अनुसार प्रवृत्त होते हैं। ये देव सर्गपर्यन्त आयुष वाले होते हैं। जैसा कि सुना जाता है–'**ब्रह्मणा...परं पदमिति**' अर्थात् 'वे साधननिष्ठ सत्यलोकवासी सभी देवविशेष प्रलयकाल में ब्रह्मा की आयु समाप्त होने पर, उनके ही साथ परम पद को प्राप्त करते हैं।'

इस प्रकार सत्यलोकवासी चार प्रकार के देवविशेषों के साधारण धर्मों को बतलाकर भाष्यकार नामविशेष के साथ उनके विशेष धर्मों को कहते हैं–'**तत्रेति**।' उन सत्यलोकवासी चार प्रकार के देवविशेषों में जो '**अच्युत**' देवविशेष हैं, वे स्थूल-विषयक सवितर्कसमाधिजन्य सुख वाले हैं। इससे वे संतृप्त रहते हैं। '**शुद्धनिवास**' नाम के जो देवगण हैं, वे सूक्ष्मविषयक सविचारसमाधिजन्य सुखपरायण होते हैं और इसी में वे मग्न रहते हैं। '**सत्याभ**' नामक जो देवगण हैं, वे आनन्दानुगत-समाधिजन्य अर्थात् इन्द्रियविषयक ध्यान से उत्पन्न सुख भोगते हैं और उसी से आत्मकाम अर्थात् सन्तुष्ट रहते हैं। '**संज्ञासंज्ञी**' नामक जो देवविशेष हैं, वे अस्मितानुगतसमाधिजन्य सुख में लिप्त रहते हैं और उसी से परितृप्त रहते हैं। इस प्रकार ये चारों देव सम्प्रज्ञातसमाधि की उपासना करते हैं।

शङ्का–असम्प्रज्ञातसमाधिनिष्ठ '**विदेह**' तथा '**प्रकृतिलय**' किसी लोक में परिगणित क्यों नहीं किये गये हैं?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**विदेहप्रकृतिलयास्त्विति**।' जिनको बुद्धि द्वारा विषय दिखाया जाता है, ऐसे चित्तवृत्तिविशिष्ट पुरुष लोकयात्रा का निर्वाह करते हुए इन लोकों में निवास करते हैं। किन्तु विदेह और प्रकृतिलीन ऐसे देव नहीं है। जब कि इनका चित्त साधिकार होता है। अविद्या विद्यमान रहने से विदेहलीन और

प्रकृतिलीन योगियों को सर्ववृत्तिनिरोध के कारण कैवल्यसम स्थिति प्राप्त होती है। अतः ये अन्य देवनिकायों की भाँति भुवनवासी नहीं होते हैं। योगी को सूर्यद्वाररूप सुषुम्ना नाडी में सत्यलोक से लेकर अवीचि तक लोकों का साक्षात्कार करना चाहिये। केवल सूर्यद्वार में संयम करके ही चतुर्दश भुवन का साक्षात्कार नहीं होता है, अपितु भुवनसाक्षात्कार का अन्य उपाय भी है, ऐसा भाष्यकार बताते हैं—'**तत इति**।' योगरूप उपाध्याय से उपदिष्ट होकर उस सूर्यद्वार से अन्य स्थान में भी संयम करके उक्त भुवन का साक्षात्कार किया जा सकता है। योगी को कब तक संयमाभ्यास करना चाहिये, उसे भाष्यकार बताते हैं—'**यावदिदं सर्वं जगद्दृष्टमिति**।' योगी को तब तक संयमाभ्यास करते रहना चाहिये, जब तक यह सब दृष्ट न हो जाय। बुद्धिसत्त्व स्वभावतः समस्त पदार्थों का ज्ञान करने में सक्षम है। किन्तु जब रजोगुण के द्वारा तमोगुणरूप आवरण उत्पाटित हो जाता है, तब बुद्धिसत्त्व को निखिल पदार्थ प्रकाशित होते हैं। संयम द्वारा अनावृत्त सूर्यद्वार योगी को समस्त भुवन का साक्षात्कार कराता है। किन्तु सूर्यद्वार में संयम करने से भुवन के अतिरिक्त अन्य का साक्षात्कार नहीं होता है। क्योंकि संयम के विषयानुसार ही संयम सीमित विषयदेश को उद्घाटित अर्थात् प्रकाशित करता है—यह सुस्पष्ट है॥२६॥

योगवार्त्तिकम्

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्। भुवनशब्दार्थं व्याचष्टे—तत्प्रस्तार इत्यादिना। भुवनविस्तारः कथ्यत इति शेषः। तत्र चतुर्दशसु लोकेषु व्यक्तेष्वादौ सप्त लोकानाह—सप्त लोका इति। लोकान् विभजते—तत्रेति। अवीचिर्नाम नरकविशेषः, सर्वलोकानाम[1]वस्थानं तदादाय सुमेरुपृष्ठपर्यन्तं भूर्लोकः, [2]मेरुपृष्ठोपलक्षितभूर्लोकस्योपरि ध्रुवपर्यन्तं भुवर्लोकः, तदुपरि क्रमेण पञ्चविधः स्वर्लोकः, एतेन त्रिलोकव्यवस्थाऽपि दर्शिता, पञ्चानां सामान्यतः स्वर्लोकत्वेनैक्यात्। पञ्चानामवान्तरभेदानाह—माहेन्द्र इत्यादिना। माहेन्द्रो लोकः स्वरितिनामको भूर्भुवर्लोकापेक्षया तृतीयः। एवमुत्तरत्रापि। उक्तव्युत्क्रमेण सप्तलोकानां संग्रहश्लोकं पठति—ब्राह्म इति। जनादित्रिभूमिको ब्रह्मलोकः, ततोऽधः प्रजापतिलोको महान् महरिति नाम, ततोऽधः स्वरितिनामा इन्द्रलोकः, ततोऽधस्तारालोको द्यौरिति भुवरिति चोच्यते, तदधश्च प्रजानां मनुष्याणां लोको भूरितिनामेत्यर्थः।

'**भुवनेति**।' भाष्यकार 'भुवन' शब्द के अर्थ को बताते हैं—'**तत्प्रस्तार इत्यादिना**।' भुवन का विस्तार बतलाया जा रहा है, ऐसा वाक्यशेष है। इन चौदह व्यक्त लोकों में से सात लोकों को भाष्यकार सर्वप्रथम कहते हैं—'**सप्त लोका इति**।' लोकों को

1. क ग घ च छ—**अवस्थानं**, ख—**अधःस्थानम्**।
2. क ख ग घ—**मेरुपृष्ठमारभ्य** (मेरु०—प्राक्) उपलभ्यते, च छ—**मेरुपृष्ठमारभ्य** नोपलभ्यते।

विभाजित किया जा रहा है—**'तत्रेति।'** **'अवीचि'** नरकविशेष का नाम है। अवीचि संज्ञक नरक-विशेष से लेकर सुमेरु पर्वत के पृष्ठभागपर्यन्त सभी लोकों के आधारभूत प्रदेश को **'भूर्लोक'** कहते हैं। सुमेरु पर्वत के पृष्ठभाग से उपलक्षित भूर्लोक के ऊपर ध्रुवपर्यन्त **'भुवर्लोक'** है। भुवर्लोक के ऊपर क्रमशः पाँच प्रकार का **'स्वर्लोक'** (स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपोलोक तथा सत्यलोक) है। इस प्रकार स्वर्लोक के पाँच भेदों को मानते हुए त्रिलोक-व्यवस्था भी प्रदर्शित की गई है, क्योंकि भुवर्लोक के परवर्ती पाँचों लोकों का स्वर्लोकत्व के रूप से ऐक्य अर्थात् साम्य है। भाष्यकार पञ्चविध स्वर्लोक के अवान्तरभेद को कहते हैं—**'माहेन्द्र इत्यादिना।'** माहेन्द्रलोक **'स्वर्लोक'** नाम वाला है, जो **'भूर्लोक'** और **'भुवर्लोक'** की अपेक्षा तीसरा है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर लोक भी हैं। भूर्लोक आदि लोकों के उक्त क्रम के विपरीत क्रम से सत्यादि लोकों के संग्रहपरक श्लोक को भाष्यकार पढ़ते हैं—**'ब्राह्म इति।'** जनादि तीन भूमि वाला (जनलोक, तपोलोक तथा सत्यलोक) **'ब्रह्मलोक'** है। जनलोक के नीचे **'प्रजापतिलोक'** है, जो महर्लोक नाम वाला कहा जाता है। महर्लोक के नीचे **'इन्द्रलोक'** है, जो स्वर्लोक नाम का कहा जाता है। स्वर्लोक के नीचे तारालोक है, जो द्युलोक तथा भुवर्लोक पुकारा जाता है और भुवर्लोक के नीचे **'प्रजालोक'** अर्थात् मनुष्यों का लोक है, जो भूर्लोक नाम से जाना जाता है।

सम्प्रति, सप्त नरकों का संक्षिप्त वर्णन किया जा रहा है—

योगवार्त्तिकम्

इदानीं पृथिव्या अधः स्थितान् सप्त नरकान् भूर्लोकांशतया प्रतिपादयति—तत्रेति। तत्र भूर्लोके सर्वनरकाधःस्थितादवीचिनरकादुपर्युपरिस्थिताः षण्महानरकभूमयो घनादीनामुत्त-मोत्त- मानाम् आधारा महाकालादिसंज्ञकास्तिष्ठन्तीत्यर्थः। घनाः शिलाशकलादयः पार्थिव-पदार्थाः तमश्चान्धकारः। अत्र महानरकशब्दादन्येऽप्युपनरकाः कुम्भीपाकादयोऽनन्तास्तत्रैव तिष्ठन्तीति प्रतिपादितम्। दुःखवेदनाः दुःखभोगिनः, आक्षिप्य=गृहीत्वा। भूरादिसप्तलोकानु-क्त्वा महातलादीनन्यान् सप्तलोकानाह—ततो महेति। ततोऽवीचेरध इत्यर्थः। तदेवं चतुर्दश लोका भवन्तीति सूचयति—भूमिरियमष्टमीति। अत्र भूमेरष्टमीत्ववचनात्सर्वाधःस्थितान्महा-तलादुपर्युपरि क्रमेण सप्तपातालानीत्यवगन्तव्यम्।

सम्प्रति, भूर्लोक के अवयव (अंश) रूप से पृथ्वी के नीचे स्थित सात नरकों को भाष्यकार प्रतिपादित करते हैं—**'तत्रेति।'** भूर्लोक में समस्त नरकों के अधःस्थित अवीचि संज्ञक नरक के उत्तरोत्तर स्थित छह महानरक भूमियाँ हैं, जो घनादि प्रमुखों की आधारभूता महाकालादि संज्ञा वाली हैं। शिलाखण्डादि पार्थिव पदार्थों को **'घन'** कहते हैं और **'तम'** शब्द का अर्थ है—अन्धकार। यहाँ **'महानरक'** शब्द से यह प्रतिपादित किया गया है कि दूसरे कुम्भीपाकादि अनन्त उपनरक भी वहीं स्थित हैं।

हैं। यहाँ **'दुःखवेदनाः'** पद का अर्थ है—'दुःख का भोग करने वाले प्राणी लोग' तथा **'आक्षिप्य'** शब्द का अर्थ है—'ग्रहण करके'। भूर्लोकादि सात लोकों को बतलाकर महातलादि अन्य सात लोकों को भाष्यकार कहते हैं—**'ततो महेति।'** **'ततः'** पद का अर्थ है—'अवीचि नरक के नीचे।' इस प्रकार चतुर्दश लोक हैं, इसे भाष्यकार सूचित करते हैं—**'भूमिरियमष्टमीति।'** यहाँ भूर्लोक को अष्टम लोक कहने से सबसे नीचे स्थित **'महातल'** से ऊपर-ऊपर की ओर क्रमशः सात पाताल हैं, ऐसा समझना चाहिये।

अब, भूर्लोक (प्रजालोक) का विस्तारपूर्वक वर्णन किया जा रहा है—

योगवार्त्तिकम्

संक्षेपतश्चतुर्दशलोकानुक्त्वा विस्तरेण विवक्षुरादौ भूर्लोकस्य विस्तारमाह—सप्तद्वीपेति। तस्य राजतेति। पूर्वादिप्रदक्षिणक्रमेणेत्यादिः, दक्षिणभागाकाशस्य वैदूर्यप्रभाव्याप्ततया वक्ष्यमाणत्वात् श्वेतो रजतवर्णः, स्वच्छः स्फटिकवत्प्रतिबिम्बोद्ग्राही, कुरण्डकं स्वर्णवर्णः पुष्पविशेषः। दक्षिणेति। अस्य सुमेरोरुपरि दक्षिणपार्श्वे जम्बूनामा वृक्षः, यतो यन्नाम्ना लवणोदधिवेष्टितो जम्बूद्वीपो जम्बूद्वीपनामेत्यर्थः। तस्येति। निरन्तरं सूर्येण प्रदक्षिणीकरणात्तस्य सुमेरोरवच्छेदभेदेन रात्रिंदिवं संयुक्तमिव सद्विवर्त्तते भ्रमति, तथा तस्य मेरोरुत्तरदिशि नीलाद्यास्त्रयः पर्वताः प्रत्येकं द्विसहस्रयोजनविस्तारास्तिष्ठन्ति, तेषामवकाशेषु त्रीणि वर्षाणि प्रत्येकं नवयोजनसहस्रविस्ताराणि, तत्र नीलगिरिर्मेरुलग्नः नीलस्योत्तरे रमणकं श्वेतस्योत्तरे हिरण्मयं शृङ्गवत उत्तरे समुद्रपर्यन्तमुत्तराः कुरव इत्यर्थः। दक्षिणदिश्यपि संनिवेश एवं बोध्यः। सुमेरोः प्राचीना इति। मेरोः पूर्वदिशि तत्संयुक्तो माल्यवान् पर्वतः, तमेव सीमानं कृत्वा समुद्रपर्यन्तं भद्राश्वनामदेशाः, तत्र भद्राश्वनामकमेव वर्षम्; मेरोः पश्चिमदिशि तत्संयुक्तगन्धमादनसीमानः समुद्रपर्यन्ताः केतुमालनामदेशाः, वर्षं चैकमेव केतुमालसंज्ञकमित्यर्थः। मध्य इति। छत्राकारसुमेरोरधोभागे वर्षमिलावृत्तं चतुर्दिक्षु च पर्वताश्छत्रपार्श्वस्थावरणवास इव मेरुपार्श्वेष्वेव संसक्ता इति। तदेवं जम्बूद्वीपस्य नववर्षाणि प्रोक्तानि। पर्वतैः सह समग्रं जम्बूद्वीपस्य [1]परिमाणमाह—तदेतदिति। तदेतज्जम्बूद्वीपा[2]ख्यस्थानं योजनशतसहस्रमितम्। अतश्च सुमेरोश्चतुर्दिक्षु पञ्चाशत्पञ्चाशद्योजनसहस्रेण व्यूढं संक्षिप्तं परिसंख्यातमित्यर्थः। सुमेरुमादायेति शेषः। सुमेरोः परिमाणं च विष्णुपुराणे प्रोक्तम् चतुरशीतिसाहस्रैर्योजनैरस्योच्छायः—

प्रविष्टः षोडशाधस्तात् द्वात्रिंशन्मूर्ध्नि विस्तृतः।
मूले षोडशसाहस्रो विस्तारस्तस्य भूभृतः॥

---

1. क ग—परिमाणं, ख घ च छ—प्रमाणम्।
2. क ख ग घ—आख्यं, च छ—आख्य०।

मेरोश्चतुर्दिशस्तत्र नवसाहस्रविस्तृतम्।
इलावृतं महाभाग ! चत्वारस्तत्र पर्वताः॥इति॥

एतेन मेरोः पार्श्वद्वये इलावृतस्याष्टादशसाहस्रतया लक्षप्रमाणता जम्बूद्वीपस्य सिद्धेति। जम्बूद्वीपस्य वेष्टनं लवणसमुद्रमाह–स खल्विति। अत्र–

जम्बूद्वीपं समावृत्त्य लक्षयोजनविस्तृतः।
मैत्रेय! वलयाकारः स्थितः क्षारोदधिर्बहिः॥

इति विष्णुपुराणात् समुद्रस्य द्वीपद्विगुणत्वं पार्श्वद्वयेन बोध्यम्। ततो द्विगुणा इति। जम्बूद्वीपाद् द्विगुणः शाकद्वीप इत्यर्थः, शाकाच्च द्विगुणः कुशद्वीपः, एवंक्रमेण वृद्धिः। समुद्राश्चेति। स्वस्वद्वीपापेक्षया द्विगुणाः। समुद्राणां विशेषणत्रयं सर्षपेत्यादि। सर्षपराशिवन्मध्ये किञ्चिन्मात्रोच्छूनाः, मध्ये तरङ्गबाहुल्यात्, तथा कूलद्वयस्थितैर्विचित्रशैलैरवतंसकल्पैः सहिता; तथा इक्षुरसादितुल्योदका इत्यर्थः।

सारूप में चतुर्दश लोकों को बतलाकर (उनका मानचित्र खींचकर) विस्तारपूर्वक प्रतिपादित करने की इच्छा से भाष्यकार सर्वप्रथम भूर्लोक के विस्तार को कहते हैं–**'सप्तद्वीपेति।' 'तस्य राजतेति।'** पूर्वादि दिशा के प्रदक्षिणक्रम से रजतमयादि चार शिखरों की स्थिति है, क्योंकि सुमेरु पर्वत के दक्षिणभाग का आकाश वैदूर्यमणि की प्रभा से व्याप्त बताया गया है। **'श्वेत'** से रजतवर्ण का ग्रहण होता है। **'स्वच्छ'** से सुमेरु के दक्षिणभाग को स्फटिकमणि की भाँति प्रतिबिम्बोद्गाहक बताया गया है। **'करण्डक'** शब्द से सुवर्ण रंग के पुष्पविशेष का ग्रहण होता है। वार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–**'दक्षिणेति।'** इस सुमेरु पर्वत के ऊपर दक्षिणभाग में **'जम्बू'** नाम वाला एक वृक्ष है। इस जम्बू वृक्ष के नाम से लवणोदधिवेष्टित यह द्वीप **'जम्बूद्वीप'** नाम वाला कहलाता है। वार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–**'तस्येति।'** सूर्य के द्वारा सुमेरु पर्वत की निरन्तर प्रदक्षिणा (बाईं ओर से दाईं ओर घूमने की क्रिया) की जाने से सुमेरु के अवच्छेदभेद से संयुक्त हुए की भाँति रात्रि और दिन (चक्राकाररूप से) घूमते रहते हैं। इस सुमेरु पर्वत की उत्तरदिशा में नीलादि तीन पर्वत हैं। इनमें से प्रत्येक वर्ष नवयोजनसहस्र विस्तार वाला है। इनमें से नीलगिरि पर्वत सुमेरु पर्वत से संयुक्त (लग्न) है। नीलगिरि के उत्तर में रमणक वर्ष है। श्वेतगिरि के उत्तर में हिरण्मय वर्ष है तथा शृङ्गवान् के उत्तर में समुद्रपर्यन्त विस्तीर्ण उत्तरकुरु वर्ष है। सुमेरु पर्वत की दक्षिण दिशा में भी (निषधादि पर्वत तथा हरिवर्षादि वर्षों का) सन्निवेश जानना चाहिये। वार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–**'सुमेरोः प्राचीना इति।'** सुमेरु पर्वत की पूर्वदिशा में उससे जुड़ा हुआ माल्यवान् पर्वत है। इसी माल्यवान् पर्वत को सीमा बनाते हुए समुद्रपर्यन्त भद्राश्वनामक देश है, जो भद्राश्व नाम का ही वर्ष कहलाता है। सुमेरु पर्वत की पश्चिम

दिशा में उससे जुड़े हुए गन्धमादन पर्वत को सीमा बनाते हुए समुद्रपर्यन्त विस्तीर्ण केतुमाल देश है, जो केतुमाल संज्ञक वर्ष ही है। वार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–'**मध्य इति**' छत्राकार सुमेरु पर्वत के नीचे के भाग में '**इलावृत**' नाम का वर्ष है और चारों दिशाओं में छत्र के पार्श्वस्थ आवरणवास की तरह सुमेरु पर्वत के पार्श्वों में संयुक्त (संलग्न) की भाँति ये माल्यवान् और गन्धमादन नाम के पर्वत हैं। इस प्रकार जम्बूद्वीप नौ वर्ष वाला कहा गया है। भाष्यकार अब पर्वतों सहित अखण्ड=समग्र जम्बूद्वीप के परिमाण को बताते हैं–'**तदेतदिति**।' जम्बूद्वीप नाम वाला यह प्रदेश शत-सहस्रयोजन परिमित है। अतः सुमेरु की चारों दिशाओं में पचास हजार, पचास हजार विस्तार में सब देश '**व्यूह**' अर्थात् संक्षिप्तरूप से विद्यमान हैं। यह विन्यास सुमेरु पर्वत को लेकर बताया गया है। विष्णुपुराण में सुमेरु पर्वत का परिमाण उक्त है–'**चतुरशीति....पर्वताः**' (वि. पु. २/२/८,९,१५) अर्थात् 'यह पर्वत चौरासी हजार योजन ऊँचा तथा सोलह हजार योजन पृथ्वी में धँसा हुआ है। इसका ऊपरी विस्तार बत्तीस हजार योजन है। इसका भूमि पर विस्तार सोलह हजार योजन है। यह इलावृत वर्ष सुमेरु के सब ओर नौ-नौ हजार योजन तक विस्तृत है। इसके चारों ओर सब पर्वत स्थित हैं।' इससे मेरु पर्वत के दोनों पार्श्वों में इलावृत पर्वत अठारह हजार योजन तक फैला होने से यह जम्बूद्वीप एक लक्ष परिमाण वाला है, ऐसा सिद्ध होता है।

सम्प्रति, भाष्यकार जम्बूद्वीप को वेष्टित करने वाले लवणसमुद्र के बारे में बताते हैं–'**स खल्विति**।' यहाँ पर निम्नाङ्कित विष्णुपुराण के वाक्य से भी द्वीप की अपेक्षा समुद्र का पार्श्वद्वय से द्विगुण परिमाण वाला होना द्योतित होता है– '**जम्बूद्वीपं...क्षारोदधिर्बहिः**' (वि. पु. २/३/२५) अर्थात् 'हे मैत्रेयि! लक्षयोजन विस्तार वाले जम्बूद्वीप को घेरकर यह वलयाकार लवणोदधि जम्बूद्वीप के बाहर स्थित है।' वार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–'**ततो द्विगुणा इति**।' जम्बूद्वीप से द्विगुण परिमाण वाला शाकद्वीप है और शाकद्वीप से द्विगुण परिमाण वाला कुशद्वीप है। इस क्रम से क्रौञ्चादि द्वीप द्विगुण-द्विगुण परिमाण वाले हैं। वार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–'**समुद्राश्चेति**।' उत्तरवर्ती प्रत्येक समुद्र पूर्व-पूर्व द्वीप की अपेक्षा द्विगुण परिमाण वाला है। '**सर्षप**' आदि पद के द्वारा भाष्यकार ने समुद्र के तीन विशेषण बताये हैं–सर्षपराशि के मध्य भाग की भाँति ये समुद्र मध्यभाग से अल्प से उठे हुए हैं, क्योंकि समुद्र के मध्यभाग में तरङ्गों का प्राचुर्य रहता है, तटद्वय पर स्थित कर्णाभूषण की भाँति विचित्र पर्वतमालाओं से घिरे हुए हैं तथा ये इक्षुरसादि के तुल्य रस वाले हैं।

सम्प्रति, समुद्रावेष्टित द्वीपों के सामूहिक परिमाणादि पर विचार करते हुए आगे कहा जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

सप्तद्वीपानां समुद्रादिसंहितानां मिलित्वा परिमाणमाह–सप्तेति। एते सप्तद्वीपाः सप्तसमुद्राद् बहिःस्थितेन लोकालोकपर्वतेन परिवृताः पञ्चाशद्योजनकोटिपरिमिता इत्यर्थः। अलोकभूमिसहिता इत्यपि बोध्यम्, समग्रभूगोलस्यैव पञ्चाशत्कोटिपरिमितत्वस्य पुराणेष्ववगमादिति। तदेतदिति। तदेतत्सर्वं भूगोलकं सुप्रतिष्ठितमसङ्कीर्णं पञ्चाशत्कोटिपरिमितस्याण्डस्य मध्ये व्यूढं संक्षिप्तम्। इदं च शतकोटि[1]विस्तारमण्डं सप्तावरणसहितमपि प्रकृतेरणुरंश इत्यर्थः। तदुक्तं विष्णुपुराणे प्रकृतिं प्रकृत्य–

**अण्डानां तु सहस्राणां सहस्राण्ययुतानि च।
ईदृशानां तथा तत्र कोटिकोटिशतानि च॥ इति॥**

सौरे च–

**ब्रह्माण्डमेतत्सकलं ब्रह्मणः क्षेत्रमुच्यते।
[2]क्षेत्रज्ञश्च स एवोक्तो विरिञ्चिश्च प्रजापतिः॥
सहस्रकोटयः सन्ति ब्रह्माण्डास्तिर्यगूर्ध्वगाः।
ब्रह्माणो हरयो रुद्रास्तत्र तत्र व्यवस्थिताः॥
आज्ञया देवदेवस्य महादेवस्य शूलिनः।
ब्रह्माण्डानामसंख्यानां ब्रह्मविष्णुहरात्मनाम्॥
उद्भवे प्रलये हेतुर्महादेव इति श्रुतिः॥ इति॥**

नारदीये च–

**सृष्टिस्थित्यन्तकरणे ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।
यस्यायुतायुतांशांशास्तद् ब्रह्मेत्यभिधीयते॥ इति॥**

न चास्मिन्वाक्ये परमात्मांशत्वमेवाण्डशरीरिणां गम्यते न तु प्रकृत्यंशत्वं ब्रह्माण्डस्येति वाच्यम्, शक्तिशक्तिमतोरंशांशिभावेन शक्त्योरप्यंशांशिभावसिद्धेः, अग्निविस्फुलिङ्गादिश्रौतदृष्टान्तेषु तथा दर्शनात्,

**मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
अस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥**

इति श्रुतेश्चेति।

---

1. क ग घ च छ–विस्तारमण्डं, ख–विस्तारमण्डलम्।
2. क ग घ च छ–**क्षेत्रज्ञश्च स एवोक्तो विरिञ्चिश्च प्रजापतिः** उपलभ्यते, ख–**क्षेत्र**...पतिः नोपलभ्यते।

सम्प्रति, भाष्यकार समुद्रादिसहित सप्त द्वीपों का मिलाकर परिमाण बताते हैं– **'सप्तेति।'** सप्त समुद्र के बाहर स्थित लोकालोक पर्वत से घिरे हुए ये सात द्वीप पञ्चाशतकोटियोजन परिमाण वाले हैं। यह परिमाण अलोकभूमिसहित है, ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि पुराणों में सम्पूर्ण भूगोल को ही पञ्चाशतकोटियोजन परिमित कहा गया है। वार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–**'तदेतदिति।'** इस प्रकार सम्पूर्ण पृथ्वीमण्डल **'सुप्रतिष्ठित'** अर्थात् असंकीर्ण संस्थान वाला होकर पञ्चाशत कोटिपरिमित अण्ड के मध्य में संक्षिप्तरूप से विद्यमान है। सौ कोटि विस्तार वाला यह अण्ड सात आवरणों सहित भी प्रकृति का अणु अर्थात् अंशरूप है। **'प्रकृति'** तत्त्व को लक्षित कर विष्णुपुराण में कहा गया है–**'अण्डानां... कोटिकोटिशतानि च'** (वि. पु. २/७/२७-२८) सम्पूर्ण विश्व की कारणभूता जो परा प्रकृति है उसमें ऐसे-ऐसे सहस्रों, लाखों, करोड़ों ब्रह्माण्ड हैं।' किञ्च सौर पुराण में कहा गया है– **'ब्रह्माण्डमेतत्...इति श्रुतिः'** (सौ. पु. २१/२९-३२) अर्थात् 'यह समस्त ब्रह्माण्ड ब्रह्म का क्षेत्र कहलाता है और वह ब्रह्म क्षेत्रज्ञ है, जिस प्रजापति ने ब्रह्माण्ड को बनाया है। नीचे-ऊपर सैकड़ों कोटियों वाले ब्रह्माण्ड हैं, जिनमें ब्रह्मा, हरि और रुद्र तत्तद् स्थानों में अवस्थित हैं। देवों के भी अधिदेव त्रिशूलधारी महादेव की आज्ञा से इस ब्रह्मा-विष्णु-हरात्मक असंख्य ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति और प्रलय के कारण महादेव हैं, ऐसी श्रुति है।' नारदीय स्मृति में कहा गया है–**'सृष्टिस्थित्य....ब्रह्मेत्यभिधीयते'** अर्थात् 'जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करने वाले ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर देव हैं। जिसके दस-दस हजार अंशांश हैं, यही ब्रह्म कहलाता हैं।'

शङ्का–उपरिवर्णित उद्धरण में तो अण्डरूप ब्रह्माण्डों को परमात्मा का ही अंश कहा गया है, न कि प्रकृति के अंश रूप से उन्हें प्रतिपादित किया गया है?

समाधान–ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि शक्ति-शक्तिमान् में अंशांशिभावसम्बन्ध होने से दो शक्तियों में भी अंशांशिभावसम्बन्ध सिद्ध होता है। अग्नि-विस्फुलिङ्गादि के श्रौत दृष्टान्तों में भी ऐसा ही दिखलाई पड़ता है तथा ऐसा श्रुतिवाक्य भी है– **'मायां तु...जगत्'** (श्वे.उप. ४/१०) अर्थात् 'माया को प्रकृति और मायी को महेश्वर समझो। उसी के अवयवरूप से यह समस्त जगत् व्याप्त है।'

सम्प्रति, देवताओं का वर्णन किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

इदानीं तत्तल्लोकवासिनो देवादीन् कथयति–तत्र पाताल इति। [1]देवनिकायाः देवसमूहा असुरादयश्च प्रतिवसन्तीत्यर्थः। देवाश्च मनुष्याश्च देवमनुष्याः।

---

1. क ख ग घ च–**देवनिकायाः** उपलभ्यते, छ–**देवनिकायाः** नोपलभ्यते।

भूर्लोकस्थानुक्त्वा भुवर्लोकस्थानाह–ग्रहनक्षत्रेति। नक्षत्राण्यश्विन्यादिसप्तविंशतिरितराणि क्षुद्रज्योतींषि तारकाः, एते ग्रहादयः सर्वोपरिस्थिते मेढिकाष्ठवन्निश्चलतया स्थितेऽत एवं ध्रुवसंज्ञके ज्योतिर्विशेषे वायुरज्ज्वा बद्धा गाव इव हालिकतुल्यचक्रवायोः प्रतिनियतसंचारेण कालविशेषैरवधृतगतयः सुमेरोरुपर्युपरिभावेन सन्निविष्टा भुवर्लोके भ्रमन्तीत्यर्थः। नन्वेवं सुमेरोरुपरि ज्योतिर्मण्डलस्य भ्रमणे कथं मेरुणा ज्योतिश्चक्रावरणं येन रात्रिदिनव्यवस्थितिरिति चेत्? न; वृक्षेण सूर्यव्यवधानवद् मेरोरेकपार्श्वस्थसूर्यादेः पार्श्वान्तरेण व्यवधानसम्भवादिति।

स्वर्लोकस्थानाह–माहेन्द्र इति। त्रिदशादयो देवानां जातिभेदाः, कल्पायुषः कल्पो ब्रह्मणो दिनं तदायुषः, संकल्पमात्रेण कर्तुं क्षमाः संकल्पसिद्धाः, वृन्दारकाः देवाः, औपपादिकदेहाः पित्रोः संयोगं विना क्षणमात्रेणो[1]त्पद्यमानशरीरा इत्यर्थः।

महर्लोकस्थानाह–महतीति। महाभूतानां परिणमने स्वतन्त्राः ध्यानाहारा ध्यानत एव तृप्ताः।

जनलोकस्थानाह–प्रथम इति। भूतेन्द्रियवशिन इति। इन्द्रियाणां परिणमने स्वातन्त्र्यं पूर्वापेक्षयैषामधिकम्। द्विगुणेति। द्विगुणं द्विगुणरूपमुत्तरमधिकमायुर्येषां तथा। ब्रह्म[2]पुरस्थितानामायुः कल्पसहस्रात् पूर्वोक्ताद् द्विगुणम्, तदुत्तरस्य तद्द्विगुणमेवं क्रमेण वृद्धिरित्यर्थः।

तपोलोकस्थानाह–द्वितीय इति। ते भूत इति। भूतेन्द्रिययोः प्रकृतेरहंकारस्यापि वशिन इति पूर्वापेक्षयैषामाधिक्यम्। अत्राहङ्कारेणान्तःकरणसामान्यग्रहणम्, एतेन स्वेच्छयाऽ[3]न्यपरयोर्निर्माणे चित्तोत्पादनादौ समर्था इति। द्विगुणेति। पूर्वानुसारेण व्याख्येयम्। ऊर्ध्वरेतस इति। प्राणायामवशादूर्ध्वमेव रेतांसि सूक्ष्माणि भूत्वा गच्छन्ति न स्खलन्ति संभोगाभावाद् येषां ते तथा, ऊर्ध्वं सत्यलोकादौ ज्ञानमप्रतिहतं शक्यं येषां ते तथा, अधोलोकेषु अनावृतो ज्ञानविषयो येषां ते तथेत्यर्थः।

सत्यलोकस्थानाह–तृतीय इति। आदौ चतुर्णां साधारणानि विशेषणान्याह–अकृतेति। न कृतो भवनन्यासो गृहनिर्माणं यैस्ते तथा, स्वस्मिन्नेवात्मनि गृहे प्रतितिष्ठन्तीति स्वप्रतिष्ठा आत्मवासाः। उपर्युपरिस्थिता इति। अच्युतानामुपरि स्थिताः शुद्धनिवासाः एवं क्रमेणेत्यर्थः। तथा च सत्यलोकेऽप्यवान्तरलोकभेदाः सन्तीत्यायातम्। प्रधानवशिनः प्रकृतौ स्वतन्त्रा ईश्वराः द्विपरार्द्धायुषः।

तेषां चतुर्णां संज्ञाभेदमवान्तरविशेषं चाह–तत्राच्युता इति। अच्युतसंज्ञकाः सवितर्कयोगेनैव सुखिनः, शुद्धनिवासादयोऽप्येवं व्याख्येयाः। तेऽपि चत्वारोऽपि त्रैलोक्यमध्ये चतुर्दशभुवनमध्य एव तिष्ठन्ति न ब्रह्माण्डाद्बहिरित्यर्थः। नन्वेवमण्डस्य सर्वजीवसाधारण्यात् कथं

1. क ग घ–उत्पाद्यमान०, ख च छ–उत्पद्यमान०।
2. क ग च छ–पुरस्थितानां, ख घ–पुरोहितानाम्।
3. क ग घ च छ–अन्य०, ख–स्व०।

ब्रह्माण्डसंज्ञेत्याकांक्षायामाह–त [1]एत इति। त एते सप्त लोका अवान्तरं चतुर्दशधा भिन्ना:, सर्व एवादिपुरुषस्य ब्रह्मणो लोका:, [2]ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य लिङ्गदेहेन सर्वलोकव्यापनात्, पितापुत्रवदंशांशिभावेन सर्वजीवानां ब्रह्माभेदाच्चेति भाव:। नन्वसम्प्रज्ञातसुखिनौ यौ विदेह-प्रकृतिलयौ भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानामिति सूत्रोक्तौ तयोर्लोक: कथं नोक्त:? तत्राह– विदेहेति। तेषां मुक्तप्रायत्वादीश्वरकोटित्वाच्च ब्रह्माण्डस्यान्तर्बहि: स्वातन्त्र्येण [3]व्यापारवत्तया [4]शास्त्रे न ते लोकमध्ये लोकवासिजनमध्ये गणिता इत्यर्थ:।

अधुना, भाष्यकार भिन्न-भिन्न लोकों में निवास करने वाले देवताओं का वर्णन करते हैं–'**तत्र पाताल इति**।' अर्थात् तत्तत् लोकों में देवसमूह और असुरादिगण निवास करते हैं। '**देवमनुष्या:**' में द्वन्द्वसमास है,–'**देवाश्च मनुष्याश्च देवमनुष्या:**' अर्थात् जिसमें देवता और मनुष्य दोनों निवास करते हैं।

भूर्लोकवासियों का वर्णन करने के पश्चात् भाष्यकार भुवर्लोकस्थ प्राणियों के बारे में कहते हैं–'**ग्रहनक्षत्रेति**।' क्षुद्र ज्योति वाले तारे अश्विनी आदि संज्ञा वाले नक्षत्रों से भिन्न हैं। ये ग्रहादि नक्षत्र मेठिकाष्ठ (खलिहान में गाड़े हुए स्तम्भविशेष, जिसके चारों ओर बैल प्रदक्षिणा करते हैं) के समान निश्चलरूप से सबसे ऊपर स्थित हैं। अत एव ये ध्रुवसंज्ञक ज्योतिर्विशेष (ताराविशेष) में वायुरूप रज्जु से बँधी हुई गायों के समान कृषक के चक्रवायु (वायुविक्षेप) के नियम से लब्ध सञ्चार वाले, कालविशेष से धारित गति वाले सुमेरु पर्वत के ऊपर-ऊपर सन्नि-विष्ट होकर भुवर्लोक में **भ्रमण** करते हैं अर्थात् चक्कर काटते रहते हैं।

शङ्का–सुमेरु के ऊपर ज्योतिर्मण्डल के **भ्रमण** करने पर ज्योतिर्गण मेरु से आवृत्त कैसे हो सकता है? जिसके आधार पर रात्रि-दिन की व्यवस्था की जा रही है?

समाधान–ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि वृक्ष से सूर्य के व्यवधान की तरह सुमेरु पर्वत के एक भाग में सूर्य के स्थित होने से सुमेरु के दूसरे भाग में सूर्य का व्यवधान हो जाता है। अत: रात्रि-दिन की व्यवस्था बन जाती है।

सम्प्रति, भाष्यकार स्वर्लोक के देवताओं का वर्णन करते हैं–'**माहेन्द्र इति**।' '**त्रिदश**' आदि देवताओं की भिन्न-भिन्न जातियाँ हैं। ये **कल्पायुष** होते हैं। '**कल्प**' ब्रह्मा का एक दिन है। संकल्पमात्र से सब कुछ करने में ये सक्षम रहते हैं, अत: '**संकल्पसिद्ध**' कहे जाते हैं। ये आदरणीय देव होते हैं, अत: '**वृन्दारक**' कहलाते हैं। माता-पिता के संयोग

---

1. क घ–**एव**, ख ग च छ–**एते**।
2. घ च छ–**ब्रह्मण**: उपलभ्यते, क ख ग–**ब्रह्मण**: नोपलभ्यते।
3. क ग च छ–**व्यापारवत्तया**, ख–**व्यापकतया**, घ–**व्यापारतया**।
4. क ख ग च छ–**शास्त्रे न**, घ–**शास्त्रेण**।

के विना ही क्षणमात्र में उत्पन्न शरीर वाले ये देव **'औपपादिक देह'** वाले कहे जाते हैं।

अधुना, भाष्यकार महर्लोकवासियों का वर्णन करते हैं–**'महतीति।'** ये देवजातियाँ महाभूतों को परिवर्तित करने में **'स्वतन्त्र'** तथा ध्यानमात्र से ही संतृप्त रहने से **'ध्यानाहार'** होती हैं।

अधुना, भाष्यकार जनलोक में निवास करने वाले देवताओं का वर्णन करते हैं–**'प्रथम इति।' 'भूतेन्द्रियवशिन इति।'** इन्द्रियों को परिणमित (तत्तत् कार्यों में नियुक्त) करने में, पूर्ववर्त्ती लोकों के देवताओं की अपेक्षा इनका स्वातन्त्र्य अधिक है। वार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–**'द्विगुणेति।'** पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के ये देव द्विगुण-द्विगुण आयुष वाले होते हैं। ब्रह्मपुर के देवताओं की आयु कल्प-सहस्र होने से उनकी अपेक्षा ब्रह्मपुरोहित देवताओं की आयु दुगुनी है। इस क्रम से ब्रह्मकायिक आदि देवताओं की आयु उत्तरोत्तर दुगुनी होती जाती है।

सम्प्रति, भाष्यकार तपोलोक के देवताओं का वर्णन करते हैं–**'द्वितीय इति।' 'ते भूत इति।'** यहाँ के देव भूत और इन्द्रियों के कारणभूत अहंकार को भी वश में करने वाले होते हैं। अतः पूर्ववर्ती जनलोक के देवों की अपेक्षा इनमें सामर्थ्य का आधिक्य है। यहाँ **'अहंकार'** शब्द से अन्तःकरणसामान्य का ग्रहण होता है। इससे ये स्वेच्छापूर्वक दूसरे के शरीर में चित्तोत्पत्ति आदि करने में सक्षम रहते हैं। वार्त्तिक-कार आगे के भाष्य को उठाते हैं–**'द्विगुणेति।'** इसकी व्याख्या पूर्ववत् करनी चाहिये। वार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–**'ऊर्ध्वरेतस इति।'** प्राणायाम की महिमा से **ऊर्ध्वरेतस्** देव हैं। ऊर्ध्ववर्ती सत्यलोकादि में जिनका ज्ञान प्रतिहत (बाधित) नहीं होता हैं, ऐसे ये ऊर्ध्व अप्रतिहत ज्ञान वाले होते हैं और नीचे की अवीचि आदि भूमियों में अनावृत ज्ञान विषय वाले अर्थात् सर्वविषयक ज्ञान वाले ये देव होते हैं।

सम्प्रति, भाष्यकार सत्यलोक के देवों का वर्णन करते हैं–**'तृतीय इति।'** इस लोक के अच्युतादि चारों देवों की सामान्य विशेषताओं को भाष्यकार सर्वप्रथम बताते हैं–**'अकृतेति।'** जिन्होंने अपने लिये गृह का निर्माण नहीं किया है, अत एव अपने आत्मरूप गृह में जो निवास करते हैं, ऐसे देव **'स्वप्रतिष्ठ'** अर्थात् आत्मवासित होते हैं। योगवार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–**'उपर्युपरिस्थिता इति।' 'अच्युत'** देवों के ऊपर **'शुद्धनिवास'** देव स्थित हैं। इसी प्रकार उत्तरोत्तर देशों में सत्याभ आदि देवता निवास करते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सत्यलोक में भी अवान्तरलोक हैं। ये **'प्रधानवशी'** अर्थात् प्रकृति के परिणमन में स्वतन्त्र तथा द्विपरार्द्ध आयु वाले ईश्वर हैं।

सत्यलोक के अच्युतादि चार प्रकार के देवों के संज्ञाभेद तथा अवान्तरविशेष को भाष्यकार कहते हैं–'**तत्राच्युता इति**।' इनमें से '**अच्युत**' नाम के देवता लोग सवितर्कयोग से ही सुखी रहते हैं। अर्थात् स्थूलविषयक '**सवितर्क**' ध्यानजन्य सुख का अनुभव करते हैं। इसी प्रकार शुद्धनिवासादि देवताओं के भी तत्तद् ध्यानजन्य सुखों की व्याख्या करनी चाहिये। ये चारों देव भी चतुर्दश भुवनात्मक त्रिलोकी में ही निवास करते हैं, न कि ब्रह्माण्ड के बाहर।

शङ्का–अण्ड तो सर्वजीवों में साधारण है, अतः ब्रह्माण्ड संज्ञा कैसे पड़ी?

समाधान–उक्त आकांक्षा होने पर भाष्यकार कहते हैं–'**त एत इति**।' ये सात लोक अवान्तरभेद से चौदह प्रकार के हैं। ये सभी आदिपुरुष ब्रह्म के लोक कहे जाते हैं, क्योंकि हिरण्यगर्भरूप ब्रह्म के सूक्ष्मशरीर (लिङ्गदेह) से सारे लोक व्याप्त रहते हैं अथवा पिता-पुत्र के अंशांशिभावरूप सम्बन्ध की भाँति सभी जीवात्माओं का ब्रह्म से अभेद कहा जाता है।

शङ्का–'भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्' (१/१९) सूत्र में कथित असम्प्रज्ञात का सुख लेने वाले जो विदेह और प्रकृतिलय हैं, उन दोनों का लोक क्यों नहीं कथित है?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**विदेहेति**।' विदेह और प्रकृतिलीन देव (योगी) मुक्तप्राय तथा ईश्वरकोटि होने से तथा ब्रह्माण्ड के अन्दर और बाहर स्वतन्त्ररूप से (सुखभोगरूप) व्यापारयुक्त होने से उन्हें शास्त्र में किसी लोक के देवताओं के मध्य परिगणित नहीं किया गया है।

सूत्रसहित वैयासिक भाष्य का समापन करते हुए वार्त्तिककार आगे लिखते हैं–

योगवार्त्तिकम्

तदेवं संक्षेपतो भुवनशब्दार्थं व्याख्याय सूत्रवाक्यार्थमाह–एतद्योगिनेति। सूर्ये सूर्यद्वारे संयमं कृत्वा योगिनैतद् भुवनं साक्षात्करणीयम्। अत्र योगशास्त्रान्तरदर्शनेन द्वारशब्दः पूरित इत्युन्नीयते। सूर्यद्वारं च ब्रह्मणो लोकद्वारभूतं सूर्यान्त[1]श्चित्रम्, स आदित्यमा[2]च्छति, तस्मै स तत्र विजिहीते, यथा भास्करस्य खम्, तेन स ऊर्ध्वमाक्रमत इति श्रुतौ, सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः सपुरुषो ह्यव्ययात्मेति श्रुतौ च तद्भाष्यकृता तथा व्याख्यातत्वात्।

अनन्ता रश्मयस्तस्य दीपवद्यः स्थितो हृदि।
ऊर्ध्वमेकस्थितस्तेषां यो भित्त्वा सूर्यमण्डलम्॥
ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन यान्ति परां गतिम्।

---

1. क ख ग–**छिद्रं**, घ च छ–**चित्रम्**।
2. क–**अर्च्छति**, ख–**आगच्छति**, ग घ च छ–**आर्च्छति**।

इति स्मरणाच्चेति। न केवलं सूर्यद्वारसंयमस्यैव भुवनज्ञानं फलं किं तु योगशास्त्रोक्त-संयमान्तरस्यापीत्यतो रागक्षयार्थम् अन्यत्र संयमेनापि समग्रभुवनं साक्षात्करणीयम् इत्युपदिशति—ततोऽन्यत्रापीति। ततः सूर्यद्वारादन्यत्राप्येवं संयमं तावदभ्यसेद् यावदिदं भुवनं दृष्टं भवेदित्यर्थः॥२६॥

इस प्रकार संक्षेप से '**भुवन**' शब्द की व्याख्या करके भाष्यकार सूत्र का वाक्यार्थ करते हैं—'**एतद्योगिनेति**।' '**सूर्य**' अर्थात् सूर्यद्वार में संयम करके योगी को उक्त भुवन का साक्षात्कार करना चाहिये। यहाँ योगशास्त्रान्तर के ज्ञान से 'सूर्य' के साथ 'द्वार' शब्द को भाष्यकार ने जोड़ा है, ऐसा सुनिश्चित होता है। किञ्च यह सूर्यद्वार ब्रह्म का लोकद्वार है। जैसा कि '**सूर्यान्तश्चित्रम्...ऊर्ध्वमाक्रमत**', '**सूर्यद्वारेण...ह्यव्ययात्मा**'—इन श्रुतियों में ऐसा ही व्याख्यान प्राप्त होता है, जैसा कि भाष्यकार ने किया है। स्मृति-वाक्य भी है—'**अनन्ता रश्मयः...परां गतिम्**' (याज्ञ. स्मृ २/१६६) अर्थात् 'सूर्यमण्डल की अनन्त रश्मियाँ प्रदीप की भाँति हृदय में स्थित हैं। इनमें से सूर्यमण्डल का भेदन करके जो रश्मि ऊपर स्थित है, उस रश्मि के द्वारा ब्रह्मलोक का अतिक्रमण करके योगिजन 'परा गति' अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करते हैं।'

केवल सूर्यद्वार में निष्पादित संयम का ही भुवनज्ञान फल नहीं है, अपितु योगशास्त्र में उक्त संयमान्तर का भी भुवनज्ञान फल है। अतः वैषयिक राग का क्षय (नाश) करने के लिये अन्यविषयक संयम करने से भी समग्र भुवन का साक्षात्कार होता है, ऐसा भाष्यकार उपदेश करते हैं—'**ततोऽन्यत्रापीति**।' सूर्यद्वार से अतिरिक्त पदार्थ में भी तब तक संयम का अभ्यास करे जब तक भुवन का साक्षात्कार न हो जाय॥२६॥

अगली संयमजन्यसिद्धि का प्रतिपादक सूत्र है—

योगसूत्रम्

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्॥२७॥

चन्द्र में संयम करने से ताराव्यूह का ज्ञान होता है॥२७॥

व्यासभाष्यम्

चन्द्रे संयमं कृत्वा [1]ताराणां व्यूहं विजानीयात्॥२७॥

चन्द्र में संयम करके योगी तारों के व्यूह (स्थान-विशेष) को भली-भाँति जाने॥२७॥

---

1. क ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म—ताराणां, ख घ प फ य र—तारा०।

बालप्रिया–

तत्त्ववैशारदीकार ने सत्ताईसवें सूत्र से लेकर इक्तीसवें सूत्र तक के भाष्य की व्याख्या एक साथ की है। अतः इक्तीसवें सूत्र के व्यासभाष्य के पश्चात् इन पाँच सूत्रों पर तत्त्ववैशारदी टीका देखी जा सकेगी। किन्तु वार्त्तिककार ने प्रत्येक सूत्र के भाष्य की व्याख्या पृथक्-पृथक् की है॥२७॥

अगली संयमजन्यसिद्धि का प्रतिपादक सूत्र है–

योगसूत्रम्

ध्रुवे [1]तद्गतिज्ञानम्॥२८॥

'ध्रुव' तारा में संयम करने से तारों की गति का परिज्ञान होता है॥२८॥

व्यासभाष्यम्

ततो ध्रुवे संयमं कृत्वा ताराणां गतिं [2]विजानीयात्। ऊर्ध्वविमानेषु कृत-[3]संयमस्तानि विजानीयात्॥२८॥

ध्रुव तारे में संयम करके योगी तारों की गति को जानता है। ऊर्ध्वलोक के विमानों में संयम करके योगी उन विमानों को जानता है॥२८॥

बालप्रिया–

'गतिम्'–अमुक-अमुक नक्षत्र इतने समय में अमुक-अमुक राशि में पहुँचता है– इत्याकारक ताराओं की गति का परिज्ञान योगी को संयम द्वारा होता है।

'ऊर्ध्वविमानेषु'–आदित्यादि के रथों को ऊर्ध्वविमान कहा जाता है॥२८॥

अगली संयमसाध्यसिद्धि का प्रतिपादक सूत्र है–

योगसूत्रम्

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्॥२९॥

नाभिचक्र में संयम करने से योगी को शरीरसंस्थान का ज्ञान होता है॥२९॥

व्यासभाष्यम्

नाभिचक्रे संयमं कृत्वा कायव्यूहं विजानीयात्। वातपित्तश्लेष्माणस्त्रयो दोषाः

---

1. तारा०–इति पाठान्तरम्।
2. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म–विजानीयात्, घ प फ य र–जनीयात्।
3. क ग च छ ज झ त थ द ध न–संयमं कृत्वा, ख घ प फ ब भ म य र–संयमस्तानि।

[1]सन्ति। धातवः सप्त त्वग्[2]लोहितमांसस्नाय्वस्थिमज्जाशुक्राणि, पूर्वं पूर्वमेषां बाह्यमित्ये[3]ष विन्यासः॥२९॥

नाभिचक्र में संयम करके योगी कायव्यूह को जानता है। (शरीर में) वात, पित्त और कफ–ये तीन दोष हैं तथा त्वक्, लोहित, मांस, स्नायु, अस्थि, मज्जा तथा शुक्र–ये सात धातुएँ हैं। इनमें पूर्व-पूर्व की धातुएँ बाह्य हैं–ऐसी शरीर में वर्तमान पदार्थों की संरचना है॥२९॥

बालप्रिया–

'कायव्यूहम्'–शरीरवर्ती पदार्थों के विन्यासविशेष को 'कायव्यूह' कहते हैं। तथाकथित विन्यासविशेष **'वातपित्त...'** इत्यादि द्वारा अभिहित हुआ है। शरीर में शुक्र से बाहर मज्जा, मज्जा से बाहर अस्थि, अस्थि से बाहर स्नायु, स्नायु से बाहर मांस, मांस से बाहर रुधिर तथा रुधिर से बाहर त्वक् की स्थिति है॥२९॥

अगली संयमसाध्यसिद्धि का प्रतिपादक सूत्र है–

योगसूत्रम्

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासा[4]निवृत्तिः॥३०॥

'कण्ठकूप' में संयम करने से भूख-प्यास समाप्त हो जाती है॥३०॥

व्यासभाष्यम्

जिह्वाया अधस्तात्तन्तुः [5]ततोऽधस्तात्कण्ठः। ततोऽधस्तात्कूपः। तत्र संयमात्क्षुत्पिपासे न [6]बाधेते॥३०॥

जिह्वा के नीचे 'तन्तु' है। उसके नीचे 'कण्ठ' है और कण्ठ के नीचे कूप (गर्ताकार प्रदेश) है। इस गर्ताकार प्रदेश में संयम करने से योगी को भूख और प्यास बाधा नहीं पहुँचाते हैं॥३०॥

अगली संयमसाध्यसिद्धि का प्रतिपादक सूत्र है–

---

1 घ प फ र–**सन्ति** उपलभ्यते, क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म य–सन्ति नोपलभ्यते।

2. क ग घ च छ थ द ध न प फ भ म य र–**लोहितमांसस्नाय्वस्थिमज्जा०**, ख ज–**वसालोहितमांसस्नायुमज्जा०**, झ त–**लोहितमांसस्नाय्वस्थिमज्जामेद०**, ब–**लोहितमांसास्थिमेदमज्जा०**।

3. क ख ग घ छ ज झ त थ द ध न प फ ब य र–**एषः**, च भ म–**एव**।

4. **विनिवृत्तिः**–इति पाठान्तरम्।

5. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–**ततः**, ब–**तन्तोः**।

6. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–**बाधेते**, ब–**प्रतिबाधेते**।

योगसूत्रम्

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्॥३१॥

'कूर्म' नाडी में संयम करने से योगी को स्थिरता प्राप्त होती है॥३१॥

व्यासभाष्यम्

[1]कूपादध उरसि [2]कूर्माकारा नाडी। तस्यां कृतसंयमः स्थिरपदं लभते। यथा सर्पो गोधा [3]चेति॥३१॥

पूर्ववर्णित कण्ठकूप से नीचे उरःस्थल में कछुए के आकार वाली नाडी है। उस नाडी में संयम करने वाला योगी स्थिरता को प्राप्त करता है। यह स्थिरता साँप अथवा गोधा (घड़ियाल) के समान होती है॥३१॥

बालप्रिया–

'कूर्माकारा नाडी'–कुण्डलित सर्प के समान अवस्थित होने से हृदयपुण्डरीक नाम वाला कूर्माकार नाडीचक्र है॥३१॥

तत्त्ववैशारदी

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्। ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्। नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्। कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः। कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्। तत्र-तत्र जिज्ञासायां योगिनस्तत्र तत्र संयमः। एवं क्षुत्पिपासानिवृत्तिहेतुः स्थैर्यहेतुश्च [4]संयमः [5]सूत्रपदैरुपदिष्टो भाष्येण च निगदव्याख्यातेन व्याख्यात इति न व्याख्यातः॥२७॥२८॥२९॥३०॥३१॥

'चन्द्र इति।' 'ध्रुव इति।' 'नाभीति।' 'कण्ठेति।' 'कूर्मेति।' चन्द्रविषयिणी, ध्रुवविषयिणी, नाभिचक्रविषयिणी, कायव्यूहविषयिणी तथा कूर्मनाडीविषयिणी जिज्ञासा होने पर योगी तत्तत् जिज्ञासित पदार्थों में संयम करता है। इस प्रकार सूत्रपदों द्वारा उपदिष्ट क्षुत्पिपासा की निवृत्ति के हेतुभूत संयम तथा स्थैर्य के हेतुभूत संयम को भाष्यकार ने विस्तारपूर्वक प्रतिपादित किया है, अतः यहाँ उसकी व्याख्या नहीं की गई है॥२७॥२८॥२९॥३०॥३१॥

योगवार्त्तिकम्

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्। भाष्यं सुगमम्॥२७॥

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–कूपादधः, ब–कूपस्याधस्तात्।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–कूर्माकारा, ब–कूर्मा नाम।
3. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न भ म–च, घ प फ ब य र–वा।
4. थ द ध–संयमः उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न–संयमः नोपलभ्यते।
5. क ख ग घ च छ झ थ द ध न–सूत्रपदैः, ज त–सूत्रैः।

'चन्द्र इति' भाष्य सरल है॥२७॥

योगवार्त्तिकम्

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्। तारास्वरूपाणि ज्ञात्वैव तासां गतिज्ञानं सम्भवतीत्याशयेन भाष्ये तत इत्युक्तम्। ताराव्यूहज्ञानान्तरमित्यर्थः। [1]शेषं भाष्यं सुगमम्। अस्मिन्नेव प्रसङ्गे योगशास्त्रान्तरोक्ताद् भुवर्लोकस्थवस्त्वन्तरसंयमात् सिद्धिं स्वयं पूरयति—ऊर्ध्वेति। ऊर्ध्वविमानेष्वादित्यादिरथेषु कृतः साक्षात्कारपर्यन्तः संयमो येन स तानि विमानानि रथान् जानीयादित्यर्थः। नतु विमाने संयमस्यैव विमानसाक्षात्कारः सिद्धिरत्रोक्ता, साक्षात्कारपर्यन्तस्यैव संयमस्य सर्वत्र सिद्धिकथनात्, संयमानां स्वस्वविषयसाक्षात्कारहेतुतायाः सामान्यत एव सिद्धत्वाच्च॥२८॥

'ध्रुव इति' तारागण के स्वरूप को जानकर ही तारों की गति का ज्ञान होता है। इस अभिप्राय से ही भाष्य में 'ततः' पद अभिहित है। इस प्रकार ताराव्यूह के ज्ञान के पश्चात् ही उनकी गति का अवबोध होता है, ऐसा सूत्रार्थ है। इस सूत्र का भाष्य सरल है। इसी प्रसङ्ग में योग के अन्य शास्त्रों में उक्त भुवर्लोकस्थ वस्त्वन्तर में संयम करने से प्राप्त होने वाली सिद्धि को भाष्यकार स्वयं पूरा करते हैं—'ऊर्ध्वेति' 'ऊर्ध्वविमान' अर्थात् आदित्यादि रथों में साक्षात्कारपर्यन्त कृतसंयम से योगी को उन विमानों का अपरोक्षज्ञान प्राप्त करना चाहिये। विमान में संयम करने से ही विमान का साक्षात्कार होता है—ऐसी सिद्धि यहाँ नहीं कही गई है, अपितु साक्षात्कारपर्यन्त निष्पादित संयमसिद्धि ही सर्वत्र प्रतिपादित हुई है। किञ्च तत्तद्विषयक संयम में स्व-स्व विषय के साक्षात्कार की हेतुता सामान्यरूप से ही सिद्ध होती है॥२८॥

योगवार्त्तिकम्

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्। शरीरमध्यवर्ति नाभिकन्दरूपं चक्रं कदली[2]मूलवदादावुत्पन्नं यतः शाखापल्लवादिवच्छिरःपादादिकमवयवजातम् ऊर्ध्वमधश्चाविर्भवति, तस्मिन्नाभिचक्रे संयमात् साक्षात्कृते [3]कायस्थपदार्थव्यूहं वातपित्तत्वगसृगादिरूपं साक्षात्क्रियत इत्यर्थः। भाष्ये—बाह्यमिति। शुक्रस्य मज्जा बाह्येति, एवमादिरेषां सप्तानां क्रमः, विन्यासः शरीरसंस्थानम्॥२९॥

शरीर के मध्यवर्ती भाग में नाभिकन्दरूप चक्र कदलीमूल (केले के पेड़) की भाँति सर्वप्रथम उत्पन्न होता है, क्योंकि उसके पश्चात् शाखा, पल्लवादि की भाँति शिरः, पादादि अवयवसमूह ऊपर-नीचे प्रकट होता है। इस नाभिचक्र में संयम करने

1. क ग—शेषं उपलभ्यते, ख घ च छ—शेषं नोपलभ्यते।
2. क—फल०, ग घ च छ—मूल०, ख—फल०/मूल० नोपलभ्यते।
3. क ग घ—कायस्थं, च छ—कायस्थ०, ख—कायस्थं/कायस्थ० नोपलभ्यते।

से उसका साक्षात्कार होने पर शरीरनिष्ठ वात, पित्त, त्वक्, सृक् आदि पदार्थसमूह का साक्षात्कार योगी को होता है। भाष्य में कहा गया है–'**बाह्यमिति**।' शुक्र की दृष्टि से मज्जा बाहर स्थित है। इस क्रम से अस्थि आदि सप्त धातुएँ बाहर-बाहर की ओर क्रमशः स्थित हैं–ऐसी शरीर-संरचना है॥२९॥

योगवार्त्तिकम्

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः। तन्तोरधस्तादिति। अनेनोपरि छिद्रं वारितम्, कूपादध उरसीत्यागामिभाष्येण चोरःपर्यन्तत्वं कण्ठकूपस्य लप्स्यते। तथा च जिह्वाऽधःस्थस्य तन्तोर्मूलादारभ्य उरःपर्यन्तं छिद्रं कण्ठकूपः कूपाकारश्छिद्रमिति। तत्रेति। तस्मिन् प्रदेशे संयमादशेषविशेषतः साक्षात्कृते सति क्षुत्पिपासानिवृत्तिरूपा सिद्धिर्भवतीत्यर्थः। एवंविधेषु च संयमेषु भावनाप्रकारो योगशास्त्रविशेषाद् गुरुमुखाच्च प्रत्येतव्यः॥३०॥

'**कण्ठेति**।' जिह्वातन्तु के नीचे कण्ठ कहने से उसके ऊपर छिद्र होने का निषेध किया गया है। कण्ठकूप के नीचे वक्षःस्थल है, ऐसा आगामी भाष्य होने से उरःपर्यन्त कण्ठकूप का होना प्राप्त होता है। इस प्रकार जिह्वा के नीचे स्थित तन्तुमूल से लेकर वक्षःस्थलपर्यन्त जो छिद्र है वह कण्ठकूप है। यही कूपाकार छिद्रविशेष है। वार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–'**तत्रेति**।' इस कूपाकार छिद्र (कण्ठकूप) में संयम करने से तद्गत अशेषविशेष का साक्षात्कार होने पर साधक का क्षुत्पिपासा-निवृत्तिरूप सिद्धि प्राप्त होती है। इस प्रकार के संयमों में भावना का प्रकार योगशास्त्र तथा गुरुमुख से समझना चाहिये॥३०॥

योगवार्त्तिकम्

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्। कूर्माकारेति। कुण्डलितसर्पवदवस्थिततया [1]कूर्माकारं हृदयपुण्डरीकाख्यं नाडीचक्रम्, तत्र कृतसंयमो योगी स्थिरपदं चित्तवृत्तिं लभत इत्यर्थः। नाड्याः कूर्माकारत्वे दृष्टान्तद्वयम्–यथा सर्पो गोधा वेति। कुण्डलित इति शेषः॥३१॥

'**कूर्मेति**।' वार्त्तिककार भाष्य को उठाते हैं–'**कूर्माकारेति**।' कुण्डलित सर्प की भाँति स्थित होने से '**हृदयपुण्डरीक**' संज्ञक नाडीचक्र को कूर्माकार नाडी कहते हैं। इस नाडीचक्र में लब्धसंयम योगी '**स्थिरपद**' अर्थात् एकाग्र चित्तवृत्ति को प्राप्त करता है। भाष्यकार नाडी की कूर्माकारता में दो दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं–'**यथा सर्पो गोधा वेति**।' '**कुण्डलितः**' यह वाक्यशेष है। अर्थात् कुण्डलित सर्प अथवा घड़ियाल (गोधा) की भाँति योगी स्थिरता को प्राप्त करता है॥३१॥

---

1 क–कूर्माकार०, ग घ च छ–कूर्माकारं, ख–कूर्माकार०/कूर्माकारं नोपलभ्यते।

योगसूत्रम्

[1]मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्॥३२॥

'मूर्धा' में स्थित ज्योति में संयम करने से सिद्धपुरुषों का दर्शन होता है॥३२॥

व्यासभाष्यम्

शिरः कपालेऽन्तश्छिद्रं [2]प्रभास्वरं ज्योतिः, तत्र [3]संयमं कृत्वा सिद्धानां द्यावापृथिव्योरन्तरालचारिणां दर्शनम्॥३२॥

मस्तक के कपालप्रदेश के अन्दर अवकाश में अत्यन्त चमकीला प्रकाश है। उसमें संयम करने से योगी को आकाश एवं पृथ्वी के मध्य में विचरण करने वाले सिद्ध-पुरुषों का दर्शन होता है॥३२॥

तत्त्ववैशारदी

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्। मूर्धशब्देन सुषुम्ना नाडी लक्ष्यते, तत्र संयम इति॥३२॥

'मूर्धेति।' 'मूर्धा' शब्द से **'सुषुम्ना'** नाडी का बोध होता है। मूर्धा में संयम करने से योगी को सिद्धपुरुष का दर्शन होता है॥३२॥

बालप्रिया–

'तत्र संयम इति'–तात्पर्य यह है कि शिरःकपाल के मध्य में जो छिद्र है, उस छिद्र के अन्दर जो भास्वर ज्योति है, उस ज्योति में संयम करने से योगी को सिद्ध पुरुष का दर्शन रूप अलौकिक सामर्थ्य प्राप्त होता है॥३२॥

योगवार्तिकम्

मूर्द्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्। शिर इति। शिरःकपालमध्येऽन्तश्छिद्रं छिद्रस्यान्तः प्रभास्वरं स्वप्रकाशकं ज्योतिरस्तीत्यादिरर्थः। शिरःकपालमध्ये छिद्रं प्रभास्वरत्वाज्ज्योतिरिति प्रामादिकपाठेऽप्ययमेवार्थो लक्षणया कार्यः। शेषं सुगमम्॥३२॥

'मूर्धेति।' वार्तिककार भाष्य को उठाते हैं–**'शिर इति।'** शिर और कपाल के मध्य स्थित अन्तश्छिद्र में **'प्रभास्वर'** अर्थात् स्वयं प्रकाशस्वरूप ज्योति है। भाष्य के जिस संस्करण में **'शिरःकपालमध्ये छिद्रं प्रभास्वरत्वाज्ज्योतिः'** ऐसा प्रमादपूर्ण पाठ उपलब्ध होता है, वहाँ भी लक्षणा के द्वारा भाष्य का उक्त अर्थ ही किया जाता है। शेष भाष्य सुगम है॥३२॥

---

1. मूर्ध्य०–इति पाठान्तरम्।
2. क ख ग छ ज थ–प्रभास्वरत्वात्, घ च झ त द ध न प फ ब म य र–प्रभास्वरं, भ–भास्वरम्।
3. क ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म–संयमं कृत्वा, ख घ प फ य र–संयमात्

अगली सिद्धि का प्रतिपादक सूत्र है–

योगसूत्रम्

[1]प्रातिभाद्वा सर्वम्॥३३॥

प्रातिभज्ञान से (प्रातिभज्ञानविषयक संयम से) योगी सब कुछ जान लेता है॥३३॥

व्यासभाष्यम्

प्रातिभं नाम [2]तारकम् तद्विवेकजस्य ज्ञानस्य पूर्वरूपम्, यथोदये प्रभा भास्करस्य। [3]तेन वा [4]सर्वमेव जानाति योगी प्रातिभस्य ज्ञानस्यो[5]त्पत्ताविति॥३३॥

प्रातिभज्ञान को तारकज्ञान कहते हैं। यह विवेकजज्ञान का प्रारम्भिक रूप है। जैसे सूर्योदय का प्रारम्भिक रूप उसकी आभा है। प्रातिभज्ञान की उत्पत्ति होने पर योगी उसके द्वारा सभी वस्तुओं को जान लेता है॥३३॥

तत्त्ववैशारदी

प्रातिभाद्वा सर्वम्। प्रतिभा=ऊहः, तद्भवं प्रातिभम्। प्रसंख्यानहेतुसंयमवतो हि तत्प्रकर्षे प्रसंख्यानो[6]दयपूर्वलिङ्गं यदूहजं तेन सर्वं विजानाति योगी। तच्च प्रसंख्यानसन्निधानेन संसारात्तारयतीति तारकम्॥३३॥

'प्रातिभादिति।' **प्रतिभा** शब्द का अर्थ है–'**ऊह**' अर्थात् निर्धारण, परीक्षण, अथवा तर्कणा। प्रतिभा से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को '**प्रातिभ**' कहते हैं। '**प्रसंख्यान**' हेतु संयमाभ्यास करने वाले योगी को संयम की परिपक्वावस्था में जो प्रसंख्यान के उदय का पूर्वलिङ्गक ऊहजज्ञान=प्रातिभज्ञान उत्पन्न होता है, उससे योगी यच्च-यावत् पदार्थों को जान लेता है। किञ्च सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरूप '**प्रसंख्यान**' के सन्निधान से यह प्रातिभज्ञान '**संसारात् तारयति**' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'संसार से पार कराता है', इसलिये '**तारकज्ञान**' भी कहलाता है॥३३॥

---

1. **प्रातिभं वा सर्वं सर्वनिमित्तानपेक्षम्**– इति सूत्रपाठान्तरम्।
2. छ थ–**जन्तून् प्रति तारकमिव ज्योतिर्हृदयेषु भाति (तारकं–पश्चात्)** उपलभ्यते, क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र–**जन्तून्...भाति** नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–**तेन**, ब–**तस्मात्**।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–**सर्वमेव जानाति योगी**, ब–**सर्वं विजानन्ति योगिनः**।
5. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–**उत्पत्तौ**, ब–**उत्पादात्**।
6. क ख ग घ च झ त थ द ध न–**उदय०**, छ ज–**उदयात्**।

बालप्रिया–

'प्रसंख्यानोदयपूर्वलिङ्गम्'–तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सूर्य के उदित होने का ज्ञापकचिह्न **'प्रभा'** अर्थात् आभा होती है। प्रभा को देखकर सूर्योदय का अनुमान किया जाता है। उसी प्रकार **'प्रसंख्यान'** अर्थात् विवेकजज्ञान की प्राप्ति का ज्ञापक चिह्न (पूर्वलिङ्ग) **'प्रातिभज्ञान'** है। प्रातिभज्ञान से योगी में निकट भविष्य में उत्पन्न होने वाले **'विवेकजज्ञान'** का अनुमान किया जाता है। स्वप्रतिभोत्थ होने के कारण इसे **'अनौपदेशिक'** (स्वाभाविक) ज्ञान भी कहते हैं। किञ्च संसारतारणभूत विवेकज-ज्ञान का पूर्ववर्त्ती होने से इसे **'तारकज्ञान'** भी कहते हैं।

'वा'–सूत्र में प्रयुक्त विकल्पार्थक **'वा'** अव्यय के द्वारा विषयज्ञान के अन्य उपायों से इसका विकल्प प्रदर्शित किया गया है। अर्थात् इससे पूर्व जो-जो संयम कहे गये हैं और उनसे जिन-जिन विषयों का ज्ञान कहा गया है, वे सब **'प्रातिभज्ञान'** से भी ज्ञात हो सकते हैं। इस प्रकार प्रातिभज्ञान योगी को सर्वज्ञ बना देता है॥३३॥

योगवार्त्तिकम्

प्रातिभाद्वा सर्वम्। प्रातिभमिति। प्रातिभं स्वप्रतिभोत्थम् अनौपदेशिकं ज्ञानं संसार-तरणोपायत्वात् तारकमिति तारकं सर्वविषयमिति सूत्रे व्याख्यास्यते। तच्च विवेकजस्य वक्ष्यमाणस्य सार्वज्ञ्यस्य पूर्वलिङ्गम्। तत्र दृष्टान्तो यथा सूर्योदयस्य पूर्वलिङ्गं प्रभेति तेन वा प्रातिभज्ञानेन सर्वं पूर्वोक्तमतीतानागतादिसिद्धपर्यन्तं योगी जानाति पूर्वोक्तान्संयमान् विनाऽपीत्यर्थः। तेनेत्येतद्विवृणोति–प्रातिभस्य ज्ञानस्योत्पत्ताविति। द्वारान्तरापेक्षा नास्तीति भावः। यद्यपि तारकं सर्वविषयमित्यागामिसूत्रे विवेकजज्ञानमेव [1]प्रातिभं तारकं चेति व्याख्यास्यते तथापि अत्र प्रातिभादिति हेतुत्ववचनाद् विवेकजज्ञानस्य पूर्वरूपमेव लक्षणया प्रातिभं तारकं चेति व्याख्येयम्। ननु संयमसिद्धिमध्ये कथं प्रातिभज्ञानजा सिद्धिरुच्यत इति चेत्? न; प्रातिभस्यापि क्षणतत्क्रमादि[2]संयमादिजन्यतया वक्ष्यमाणत्वेनोक्तसिद्धेरपि परम्परया संयमसिद्धित्वादिति॥३३॥

'प्रातिभादिति।' वार्त्तिककार भाष्य को उठाते हैं–**'प्रातिभमिति।'** **'प्रातिभ'** अर्थात् स्वप्रतिभा से उत्थित अनौपदेशिक ज्ञान संसारतारण का उपाय होने से **'तारक'** कहलाता है। **'तारकं सर्वविषयम्'** (३/५४) सूत्र में इस तारकज्ञान की व्याख्या की जायेगी। यह विवेकजज्ञान से उत्पन्न होने वाले वक्ष्यमाण सार्वज्ञ्य की पूर्व सूचना प्रदान करता है अर्थात् **'पूर्वलिङ्ग'** है। इसमें दृष्टान्त है–जैसे सूर्योदय का पूर्वलिङ्ग प्रभा होती है अर्थात् प्रभा-दर्शन से सूर्योदय का अनुमान किया जाता है। वैसे ही

---

1. ग घ च छ–**प्रातिभं तारकं चेति** उपलभ्यते, क ख–**प्रातिभं तारकं चेति** नोपलभ्यते।
2. क ग–**संयम०**, घ च छ–**संयमादि०**, ख–**संयम०/संयमादि०** नोपलभ्यते।

पूर्वोक्त संयम के विना भी प्रातिभज्ञान के द्वारा योगी सब कुछ अर्थात् पूर्वप्रतिपादित अतीत, अनागतादि पदार्थ से लेकर सिद्धपुरुषपर्यन्त सबका दर्शन कर लेता है। इसी से भाष्यकार ने ऐसा उद्घाटित किया है–'**प्रातिभस्य ज्ञानस्योत्पत्ताविति**' भाव यह है कि प्रातिभज्ञान की उत्पत्ति में किसी दूसरे द्वार (साधन) की अपेक्षा नहीं रहती है। यद्यपि '**तारकं सर्वविषयम्...**' (३/५४) इस आगामी सूत्र में विवेकजज्ञान को ही '**प्रातिभ**' तथा '**तारक**' रूप से व्याख्यायित किया जायेगा तथापि प्रकृत सूत्र में '**प्रातिभात्**' पद से हेतु कथित होने से लक्षणाशक्ति के द्वारा विवेकजज्ञान के पूर्वरूप से ही प्रातिभ तथा तारकज्ञान की व्याख्या करनी चाहिये।

शङ्का–संयमजन्य सिद्धि के प्रकरण में किस प्रकार प्रातिभज्ञानजन्य सिद्धि का वर्णन किया जा रहा है?

समाधान–ऐसी बात नहीं है, क्योंकि **क्षणतत्क्रमयोः संयमात् विवेकजं ज्ञानम्** (३/५२) सूत्र के द्वारा प्रातिभज्ञान को भी क्षण और उसके क्रमादि के विषय में कृतसंयम से जन्य बताया जायेगा। अतः यह प्रातिभसिद्धि भी परोक्षरूप से संयमजन्य सिद्धि के अन्तर्गत आती है। इस प्रकार पूर्वपक्षी की यह शंका निरस्त हो जाती है कि संयमजन्य सिद्धि के प्रकरण में संयमभिन्न सिद्धि का समावेश क्यों किया गया?॥३३॥

अगली सिद्धि का प्रतिपादक सूत्र है–

योगसूत्रम्

हृदये चित्तसंवित्॥३४॥

हृदय में संयम करने से चित्त का साक्षात्कार होता है॥३४॥

व्यासभाष्यम्

यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म तत्र विज्ञानं तस्मिन्संयमाच्चित्तसंवित्॥३४॥

आत्मा या परमात्मा के पुररूप इस शरीर में जो स्वल्प हृदयगृह है, उसमें विज्ञानवृत्ति वाला चित्त विद्यमान रहता है। इस हृदयकमल में संयम करने से चित्त का साक्षात्कार होता है॥३४॥

तत्त्ववैशारदी

हृदये चित्तसंवित्। हृदयपदं व्याचष्टे–यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुर इति। बृहत्त्वादात्मा ब्रह्म। तस्य पुरं निलयः। तद्धि तत्र विजानाति स्वमिति। [1]दहरं गर्तं तदेव पुण्डरीकमधोमुखं वेश्म

1. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न–दहरं गर्तं, ज–दहरान्तर्गतम्।

मनसः। चित्तसंवेदनत्वे हेतुमाह—तत्र विज्ञानमिति। तत्र संयमाच्चित्तं विजानाति स्ववृत्तिविशिष्टम्॥३४॥

'**हृदय इति।**' भाष्यकार सूत्रगत '**हृदय**' पद की व्याख्या करते हैं—'**यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुर इति।**' व्यापक होने से आत्मा को ब्रह्म कहा गया है। ब्रह्म का निवासस्थान शरीर है। योगी इस शरीर में '**स्व**' अर्थात् आत्मतत्त्व का ज्ञान करता है। भाष्य में प्रयुक्त '**दहर**' शब्द का अर्थ है—गर्त्त अर्थात् गड्ढा। नीचे मुख किया हुआ यही कमल मन का निवासस्थान है। अर्थात् हृदयपुण्डरीक में मन रहता है। चित्तसंवेदन में भाष्यकार हेतु कहते हैं—'**तत्र विज्ञानमिति।**' इस हृदयवेश्म में संयम करने से योगी वृत्तिविशिष्ट चित्त का साक्षात्कार करता है॥३४॥

योगवार्त्तिकम्

संयमस्य क्षुद्रसिद्धय उक्ताः। इदानीं संयमस्य सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरूपां मुख्यां सिद्धिं विवक्षुरादौ तत्संयमहेतुभूतायाश्चित्तसंविदः कारणमाह—हृदये चित्तसंवित्। हृदयपदं व्याचष्टे—यदिदमिति। अस्मिन् ब्रह्मणः परमात्मनो जीवस्य च पुरे शरीरे यदिदं दहरं सगर्त्तं पुण्डरीकाकारं ब्रह्मणो वेश्म तत्र विज्ञानं विज्ञानवृत्तिकमन्तःकरणं ब्रह्मणः सिंहासनकल्पं तिष्ठति। अतस्तस्मिन् हृदयाख्ये वेश्मनि संयमाच्चित्तसाक्षात्कारो भवतीत्यर्थः॥३४॥

संयमजन्य अप्रधान सिद्धियाँ पीछे कही गईं। सम्प्रति, संयमजन्य सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरूप मुख्य सिद्धि को बताने के इच्छुक सूत्रकार सर्वप्रथम तद्विषयक संयम के हेतुभूत चित्तसंवित् के उपाय को कहते हैं—'**हृदय इति।**' भाष्यकार '**हृदय**' पद की व्याख्या करते हैं—'**यदिदमिति।**' इस '**ब्रह्मपुर**'=ब्रह्मरूप परमात्मा और जीव के शरीर रूप पुर में यह जो '**दहर**'=गर्त्तयुक्त कमलाकार ब्रह्म का गृह (वेश्म) है उसमें '**विज्ञान**'=ज्ञानात्मक वृत्ति वाला अन्तःकरण ब्रह्म के सिंहासनतुल्य अवस्थित है। इस प्रकार के हृदयाख्य वेश्म में अर्थात् अन्तःकरण में संयम करने से योगी को चित्त का साक्षात्कार होता है॥३४॥

सम्प्रति, स्वार्थसंयमविषयक सिद्धि को सूत्रकार बताते हैं—

योगसूत्रम्

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्यया[1]विशेषो भोगः [2]परार्थत्वात् स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम्॥३५॥

अत्यन्त भिन्न बुद्धि और पुरुष का अभिन्नरूप से ज्ञान होना

---

1. **विशेष॰**—इति पाठान्तरम्।
2. **परार्थात्, पारार्थ्यात्**—इति पाठान्तरे।

'भोग' है, यह भोग परार्थ होने के कारण तद्भिन्न 'स्वार्थ' में संयम करने से पुरुष का साक्षात्कार अर्थात् 'पुरुषज्ञान' उत्पन्न होता है॥३५॥

व्यासभाष्यम्

बुद्धिसत्त्वं प्रख्याशीलं समानसत्त्वोपनिबन्धने रजस्तमसी वशीकृत्य सत्त्व-पुरुषान्यताप्रत्ययेन [1]परिणतम्। तस्माच्च सत्त्वात्परिणामिनोऽत्यन्तविधर्मा [2]शुद्धोऽन्य[3]श्चितिमात्ररूपः पुरुषः। तयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः पुरुषस्य, दर्शितविषयत्वात्। स भोगप्रत्ययः सत्त्वस्य परार्थत्वाद् दृश्यः। यस्तु तस्माद्विशिष्ट-श्चितिमात्ररूपोऽन्यः पौरुषेयः प्रत्ययस्तत्र संयमात्पुरुषविषया प्रज्ञा जायते। न च पुरुषप्रत्ययेन बुद्धिसत्त्वात्मना पुरुषो दृश्यते, पुरुष एव [4]तं प्रत्ययं [5]स्वात्मावलम्बनं पश्यति। तथा ह्युक्तम्—विज्ञातारमरे केन [6]विजानीयात् [7]इति॥३५॥

बुद्धिगत प्रकाशस्वभाव वाला सत्त्वगुण समानरूप से अविनाभावी रजोगुण और तमोगुण को अभिभूत करके सत्त्वपुरुषान्यताख्याति के रूप में परिणत होता है। उस परिणामी सत्त्वगुण से अत्यन्त विपरीत धर्म वाला, उससे भिन्न शुद्ध चैतन्यमात्रस्वरूप पुरुष होता है। इस प्रकार अत्यन्त विविक्त (पृथक्) बुद्धि और पुरुष का अविविक्त (अपृथक्) रूप से भासित होना ही 'भोग' है। पुरुष के दर्शितविषय (बुद्धि द्वारा दिखलाये गये विषयों का प्रतिसंवेदी) होने के कारण 'भोग' एकाकार प्रतीति है। यह भोगप्रत्यय बुद्धि की परार्थता के कारण (पुरुष का) 'दृश्य' (बनता) है। इस भोगज्ञान से विशिष्ट (भिन्न) जो चैतन्यमात्र के आकार वाला एक दूसरा पुरुषविषयक ज्ञान होता है, उसमें संयम करने से पुरुष का साक्षात्कार होता है। इस बुद्धि-सत्त्वनिष्ठ पुरुषविषयक ज्ञान से द्रष्टा पुरुष नहीं देखा जा सकता है, शुद्ध पुरुष को तो स्वयं पुरुष ही अनुभूत कर सकता है। श्रुति में कहा भी गया

---

1. क ख घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—**परिणतं**, ग—**परिणितम्**।
2. क ख ग घ छ ज झ त थ द ध न प फ म र — **शुद्धः**, च ब भ य—**विशुद्धः**।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**चितिमात्र०**, ब—**चितिमात्रा**।
4. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म य—**तम्** उपलभ्यते, घ प फ र—**तं** नोपलभ्यते।
5. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**स्वात्मावलम्बनं**, ब—**स्वालम्बनम्**।
6. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—**विजानीयात्**, घ—**विज्ञानीयात्**।
7. छ थ—**अयं सविचारः सम्प्रज्ञातः समाधिः समानसत्त्वोपनिबन्धने स्थूलत्यागाविति** (**इति**—**पश्चात्**) उपलभ्यते, क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—**अयं.....त्यागाविति** नोपलभ्यते।

है–(ज्ञानस्वरूप) 'ज्ञ' तत्त्व को किस साधन से देखा जाय? अर्थात् किसी भी साधन से वह देखा नहीं जा सकता है॥३५॥

तत्त्ववैशारदी

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात् स्वार्थसंयमा-त्पुरुषज्ञानम्। यत्र [1]प्रकाशरूपस्यातिस्वच्छस्य नितान्ताभिभूतरजस्तमस्तया विवेकख्याति-रूपेण परिणतस्य बुद्धिसत्त्वस्या[2]त्यन्तिकश्चैतन्यादसंकरस्तत्र कैव कथा रजस्तमसोर्जडस्वभाव-योरित्याशयवान्सूत्रकारः सत्त्वपुरुषयोरित्युवाच। इममेवाभिप्रायं गृहीत्वा भाष्यकारोऽप्याह–बुद्धिसत्त्वं प्रख्याशीलमिति। न [3]केवलं प्रख्याशीलमात्रम्, अपि तु विवेकख्यातिरूपेण यरिणतम्। अतो नितान्तशुद्धप्रकाशतयात्यन्तसारूप्यं चैतन्येनेति संकर इत्य[4]त आह–समा-नेति। सत्त्वेनोपनिबन्धनमविनाभावः संबन्धः, समानं सत्त्वोपनिबन्धनं ययो रजस्तमसोस्ते तथोक्ते। वशीकारोऽभिभवः। असंकरमाह–तस्माच्चेति। चकारोऽप्यर्थः। [5]न केवलं रजस्त-मोभ्यामित्यर्थः। परिणामिन इति वैधर्म्यमपरिणामिनः पुरुषादु[6]क्तम्। प्रत्ययाविशेषः शान्तघोर-मूढरूपाया बुद्धेश्चैतन्यबिम्बोद्ग्राहेण चैतन्यस्य [7]शान्ताद्याकाराध्यारोपश्चन्द्रमस इव स्वच्छ-सलिलप्रतिबिम्बितस्य तत्कम्पात्कम्पनारोपः। भोगहेतुमाह–दर्शितविषयत्वादिति। असकृद्व्या-ख्यातम्। ननु बुद्धिसत्त्वमस्तु पुरुषभिन्नम्, भोगस्तु पुंसः कुतो भिद्यत इत्यत आह–[8]स इति। स भोगप्रत्ययो भोगरूपः प्रत्ययः सत्त्वस्यातः परार्थत्वाद् दृश्यो [9]भोगः। सत्त्वं हि परार्थम्, संहतत्वात्। तद्धर्मश्च भोग इति सोऽपि परार्थः। यस्मै च परस्मा असौ तस्य भोक्तु[10] र्भोगः। अथ वानुकूलप्रतिकूलवेदनीयस्तु सुखदुःखानुभवो भोगः। न चायमात्मानमेवानुकूल-यति प्रतिकूलयति वा, स्वात्मनि वृत्तिविरोधात्। अतोऽनुकूलनीयप्रतिकूलनीयार्थो भोगः। स भोक्तात्मा तस्य दृश्यो भोग इति। यस्तु तस्मात्परार्थाद्विशिष्ट इति। [11]परार्थादिति [12]पञ्च-म्यन्यपदाध्याहारेण व्याख्याता। स्यादेतत्–पुरुषविषया चेत्प्रज्ञा हन्त भोः पुरुषः प्रज्ञायाः प्रज्ञेय

---

1. क ख ग घ च ज झ त थ द ध न–प्रकाश०, छ–सत्त्वप्रकाश०।
2. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न–आत्यन्तिकः, त–आत्यन्तिक०।
3. क ख ग घ च छ ज झ त न–केवलम् उपलभ्यते, थ द ध–केवलं नोपलभ्यते।
4. घ च छ ज झ त द न–अतः उपलभ्यते, क ख ग थ ध–अतः नोपलभ्यते।
5. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध–न उपलभ्यते, न–न नोपलभ्यते।
6. क ख ग घ च ज झ त थ द ध न–उक्तम्। प्रत्यय०, छ–उक्तप्रत्यय०।
7. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न–शान्त०, ज–शीत०।
8. थ द ध–स इति उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न–स इति नोपलभ्यते।
9. क ख ग थ द ध न–भोगः, घ च छ ज झ त व–भोग्यः।
10. क ख ग थ द ध न–भोगः, घ च छ ज झ त व–भोग्यः।
11. क छ–परार्थत्वात्, ख ग घ च ज झ त थ द ध न–परार्थात्।
12. क ख ग घ च छ झ त थ ध न–पञ्चम्यन्यपद०, ज–पञ्चम्यन्यपदार्थ०, द–पञ्चम्यन्तपद०।

इति प्रज्ञान्तरमेव तत्र तत्रेत्यनवस्थापात इत्यत आह—न च पुरुषप्रत्ययेनेति। अयमभिसन्धिः—चित्या जडः प्रकाश्यते, न जडेन चितिः। पुरुषप्रत्ययस्त्वचिदात्मा [1]कथं चिदात्मानं प्रकाशयेत्? चिदात्मा त्वपराधीनप्रकाशो जडं प्रकाशयतीति युक्तम्। बुद्धिसत्त्वात्मनेत्यचिद्रूपतादात्म्येन जडत्वमाह। बुद्धिसत्त्वगतपुरुषप्रतिबिम्बालम्बनात्पुरुषालम्बनं [2]दर्पणवन्मुखालम्बनं न तु पुरुषप्रकाशनात्पुरुषालम्बनम्। बुद्धिसत्त्वमेव तु तेन प्रत्ययेन संक्रान्तपुरुषप्रतिबिम्बं पुरुषच्छायापन्नं चैतन्यमालम्बत इति पुरुषार्थः। अत्रैव श्रुतिमुदाहरति—तथा ह्युक्तमिति ईश्वरेण विज्ञातारमिति। न केनचिदित्यर्थः॥३५॥

'**सत्त्वेति**।' सूत्रकार ने सूत्र में '**बुद्धिपुरुषयोः**' न कहकर '**सत्त्वपुरुषयोः**' ऐसा क्यों कहा? इसका अभिप्राय बताते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं कि जब रजोगुण एवं तमोगुणरूप मल से नितान्त विधूत होने के कारण विवेकख्याति=भेदज्ञानरूप वृत्ति के रूप से परिणत प्रकाशस्वरूप अत एव अतिस्वच्छ बुद्धितत्त्व से चैतन्यस्वरूप पुरुषतत्त्व की आत्यन्तिक अभिन्नता (पारमार्थिक एकता) नहीं है, तब जड़स्वभाव वाले रजोगुण और तमोगुण से चेतन पुरुष के वास्तविक अभेद की कल्पना तो बहुत दूर की बात है, यह प्रदर्शित करने के लिये सूत्रकार ने '**सत्त्वपुरुषयोः**' ऐसा कहा है। इसी तात्पर्य को लेकर भाष्यकार भी कहते हैं—'**बुद्धिसत्त्वं प्रख्याशीलमिति**।' बुद्धिसत्त्व केवल ज्ञानस्वभाव वाला ही नहीं है, अपितु जड़-चेतन की भेदज्ञानात्मिका वृत्ति के रूप से भी परिणत होता है। अतः नितान्त शुद्ध और प्रकाशरूप होने से बुद्धिसत्त्व की पुरुष के साथ जो अत्यन्त समानता है वही '**संकर**' (भिन्नकोटिक तत्त्वों की प्रातीतिक ऐक्य) पदवाच्य है। इसी तथ्य के तथ्यीकरण के लिये भाष्यकार कहते हैं—'**समानेति**।' सत्त्वगुण के साथ '**उपनिबन्धित**' अर्थात् अविनाभावसम्बन्ध से रहने वाले जो रजोगुण एवं तमोगुण हैं वे सत्त्वगुणप्रधान बुद्धि से अभिभूत हो जाते हैं। तत्त्ववैशारदीकार ने '**समानसत्त्वोपनिबन्धने रजस्तमसी**' पद का विग्रह इस प्रकार किया है—'**समानं सत्त्वोपनिबन्धनं ययो रजस्तमसोस्ते तथोक्ते**'—रजस् और तमस् दोनों का सत्त्वगुण के साथ तुल्य अविनाभावसम्बन्ध है, इस प्रकार के वे रजोगुण एवं तमोगुण हैं। भाष्य में प्रयुक्त '**वशीकृत्य**' पद को दृष्टिगत रखते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं कि '**वशीकार**' शब्द का अर्थ है—'**अभिभव**'। भाष्यकार बुद्धि और पुरुष के '**असंकर**' अर्थात् भेद को प्रतिपादित करते हैं—'**तस्माच्चेति**।' यहाँ '**च**' अव्यय अप्यर्थक है। पुरुष रजोगुण एवं तमोगुण से ही '**असंकीर्ण**' = भिन्न नहीं है,

---

1. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न—**कथञ्चित्**, झ—**न कथञ्चित्**।
2. छ थ द ध—**दर्पणवन्मुखालम्बनं** उपलभ्यते, क ख ग घ च ज झ त न—**दर्पणवन्**... नोपलभ्यते।

अपितु सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरूप से परिणत जो बुद्धिसत्त्व है, उस परिणामी बुद्धि-सत्त्व से भी वह '**असंकीर्ण**' है। बुद्धिसत्त्व को परिणामी कहने से उसका अपरिणामी पुरुष से वैधर्म्य (भिन्नधर्मत्व) लक्षित होता है। सूत्रगत '**प्रत्ययाविशेषः**' पद का अर्थ करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं–स्वच्छ (निर्मल) जल में प्रतिबिम्बित चन्द्र में आरोपित जलगत कम्पनक्रिया की भाँति–शान्त, घोर और मूढरूप बुद्धि में पुरुष के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने की शक्ति होने से–प्रतिबिम्बित पुरुष में बुद्धिगत शान्तादि वृत्ति का जो अध्यारोप (कल्पित आरोप) होता है, उसे '**प्रत्ययाविशेष**' कहते हैं। (यह प्रातिबिम्बिक स्थिति अत्यन्त भिन्न दो तत्त्वों की ऐक्य-प्रतीति को सम्पादित करती है)। भाष्यकार भोगहेतु को बताते हैं–'**दर्शितविषयत्वादिति**।' बुद्धि द्वारा पुरुष को विषय दिखाया जाता है, इसलिये पुरुष विषयों का भोक्ता है–यह तथ्य अनेक बार प्रतिपादित हो चुका है।

शङ्का–भले ही पुरुष से बुद्धिसत्त्व भिन्न रहे, किन्तु भोग पुरुष से किस प्रकार भिन्न हो सकता है? अर्थात् भोग को पुरुष का वास्तविक धर्म मानना चाहिये।

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**स इति**।' यह भोगरूप प्रत्यय बुद्धिसत्त्वनिष्ठ है। अर्थात् सुख-दुःखभोगरूप वृत्ति बुद्धि की बनती है। बुद्धिगत भोगात्मिका वृत्ति '**परार्थ**' (अपने से भिन्न चेतन पुरुष के लिये) होने से यह '**भोग**' दृश्यकोटिक है। संहत्यकारी होने से जैसे बुद्धिसत्त्व '**परार्थ**' है, वैसे ही बुद्धिनिष्ठ भोगधर्म भी परार्थ है। जिस दूसरे के लिये यह भोग है, वही उस '**भोक्ता**' का '**भोग**' कहा जाता है। शब्दान्तर में भोग को इस प्रकार लक्षित किया जाता है–अनुकूल अथवा प्रतिकूल रूप से अनुभवनीय सुखदुःखानुभूति को '**भोग**' कहते हैं। किञ्च यह भोग स्वयं अपने लिये ही अनुकूल अथवा प्रतिकूल नहीं हो सकता है, क्योंकि अपने में अपनी वृत्ति नहीं होती है (अन्यथा कर्मकर्तृविरोध आयेगा)। अतः अनुकूलनीय और प्रति-कूलनीय विषय वाला यह '**भोग**' है। इस भोग का भोक्ता '**आत्मा**' है, जिसके लिये यह दृश्यरूप '**भोग**' निर्धारित है। तत्त्ववैशारदीकार आगे के भाष्य को उठाते हैं–'**यस्तु तस्मात्परार्थाद्विशिष्ट इति**।' यहाँ '**परार्थात्**' में जो पञ्चमी विभक्ति है, उसे '**अन्य**' पद के अध्याहार द्वारा व्याख्यात समझना चाहिये। इससे वाक्य का अर्थ इस प्रकार बनता है–जो उस भोगप्रत्यय से विलक्षण केवल चेतन को आलम्बन करने वाला अन्य पौरुषेय प्रत्यय है, उसमें संयम करने से पुरुष को विषय करने वाली प्रज्ञा उत्पन्न होती है।

शङ्का–जब पुरुषविषयक प्रज्ञा उत्पन्न होती है, तब तो पुरुष प्रज्ञा का विषय हुआ अर्थात् पुरुष स्वयंप्रकाश नहीं रहा। ऐसी स्थिति में जैसे पुरुष को विषय करने वाली प्रज्ञा (वृत्ति) मानी गई है वैसे ही बुद्धि की परिणामरूपा प्रज्ञा जड होने से

उसको भी विषय करने वाली दूसरी प्रज्ञा माननी होगी—इस प्रकार अनवस्थादोष प्रसक्त होगा?

समाधान—इस पर भाष्यकार कहते हैं—'**न च पुरुषप्रत्ययेनेति**।' अभिप्राय यह है—चितिशक्ति से जडवती बुद्धि प्रकाशित होती है, न कि जडात्मिका बुद्धि से चितिशक्ति। पुरुषविषयक प्रत्यय तो जडस्वरूप है, अतः वह चेतन आत्मा को कैसे प्रकाशित कर सकता है? स्वतःप्रकाशस्वरूप चिदात्मा ही जडात्मिका बुद्धि को प्रकाशित करता है—ऐसा मानना युक्तियुक्त है। भाष्यकार ने '**बुद्धिसत्त्वात्मना**' इस अंश के द्वारा अचिद्रूप बुद्धि के साथ तादात्म्य होने से पुरुषप्रत्यय को जड बतलाया है। बुद्धिसत्त्व में प्रतिबिम्बित पुरुष-प्रतिबिम्ब को आलम्बन बनाना ही बुद्धि का पुरुषालम्बन उसी प्रकार है जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्बित मुख-प्रतिबिम्ब को आलम्बन करना दर्पण का मुखालम्बन कहलाता है, न कि बुद्धि द्वारा होने वाले पुरुषज्ञान को बुद्धि का साक्षात् '**पुरुषालम्बन**' कहा जाता है। सात्त्विक बुद्धि (बुद्धिसत्त्व) को '**पुरुषविषयक**' कहा जाता है। सात्त्विक बुद्धि (बुद्धिसत्त्व) तो पुरुषविषयक ज्ञान (वृत्ति) द्वारा संक्रान्त पुरुषप्रतिबिम्ब अर्थात् पुरुषच्छायापन्न चैतन्य को ही अपना विषय (आलम्बन) बनाती है, यही बुद्धि का पुरुषार्थत्व है। भाष्यकार इसी तथ्य के पुष्टीकरण के लिये श्रुति को उद्धृत करते हैं—'**तथा ह्युक्तमिति**।' जैसा कि ईश्वर के द्वारा कहा गया है—'**विज्ञातरमिति**।' किसी भी प्रमाणजन्य बुद्धिवृत्ति द्वारा पुरुष को विषय नहीं बनाया जा सकता है, क्योंकि वह स्वयंप्रकाशरूप है॥३५॥

योगवार्त्तिकम्

चित्ते ज्ञाते चित्ताद्विवेकेनात्मसाक्षात्कारो भवतीति क्रमानुसारेणाह—सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः [1]परार्थत्वात्स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम्। सत्त्वाधिक्यात्सत्त्वं बुद्धिः। परार्थादिति पञ्चमी चान्यपदमध्याहृत्य व्याकरिष्यति। तथा च बुद्धिपुरुषयोरत्यन्तविधर्मणोः प्रत्ययद्वयाविवेको भोगशब्दार्थः, तयोः प्रत्यययोर्मध्ये परार्थाद्विवेकेन स्वार्थे पौरुषेयप्रत्यये संयमात् साक्षात्कृते सति स्वयमेव पूर्णत्वाद्यशेषविशेषैः पुरुषस्य साक्षात्कारो भवति तादृशसंयमाभावेऽपीत्यर्थः। यद्यपि पौरुषेयः प्रत्ययः पुरुषातिरिक्तो न भवति तथाऽपि दृश्योपरागेण परिच्छिन्नोंश एव प्रत्ययः श्रोत्रादिवत्; पुरुषस्त्वपरिच्छिन्नो महाकाशवद् इत्यनयोर्भेद इत्यतः प्रत्यये साक्षात्कारपर्यन्तसंयमस्यापरिच्छिन्नत्वाद्यंशमात्राधिक्येन फलं पुरुषसाक्षात्कार उक्त इति। नन्वत्र सूत्रे भोगलक्षणस्य किं प्रयोजनमिति चेत्? उच्यते—भोगरूपेणैव बुद्धिपुरुषधर्मयोरविवेकाद् धर्मिणोः सांकर्यमतो भोगमध्य एव तद्धर्मयोर्विवेकाय संयमः कार्य इति प्रतिपादयितुम् अनेन सूत्रेण भोगोऽपि लक्षितः।

---

1. क ग घ—परार्थात्, च छ—परार्थत्वात्, ख—परार्थात्/परार्थत्वात् नोपलभ्यते।

चित्त के ज्ञात होने पर चित्त से भिन्न रूप से आत्मा (पुरुष) का साक्षात्कार होता है। इस क्रम से सूत्रकार कहते हैं–'**सत्त्वेति**।' सत्त्वगुण की प्रचुरता के कारण '**बुद्धि**' को '**सत्त्व**' कहते हैं। '**परार्थादिति**।' '**परार्थात्**' में '**अन्य**' पद का अध्याहार करके पञ्चमी को ('**परार्थान्यत्वात्**' इस प्रकार) विभक्त किया जाता है। अत्यन्त विपरीत धर्म वाले बुद्धि और पुरुषरूप प्रत्ययद्वय की अभिन्नता '**भोग**' शब्द का अर्थ है। जड-चेतनरूप बुद्धि-पुरुष के विषय में होने वाले प्रत्ययद्वय के मध्य में परार्थत्वरूप से बुद्धि का भेदज्ञान होने के कारण स्वार्थरूप पौरुषेयप्रत्यय में संयम करने से उस पौरुषेय प्रत्यय का साक्षात्कार होने पर पूर्णत्वादि अशेषविशेषों के साथ पुरुष का स्वतः ही अपरोक्षज्ञान होता है। भाव यह है कि पुरुषविषयक संयम का अभाव रहने पर भी पुरुषज्ञान होता है। यद्यपि यह पौरुषेयप्रत्यय पुरुष से भिन्न नहीं है, तथापि श्रोत्रादि के समान दृश्योपराग से परिच्छिन्न अंश वाला ही यह पुरुषप्रत्यय होता है और पुरुष महाकाश की भाँति असीमित (व्यापक, अपरिच्छिन्न) है–यही पुरुषप्रत्यय और पुरुष में अन्तर (भेद) है। अतः पुरुषप्रत्यय (पौरुषेयबोध) में साक्षात्कारपर्यन्त कृतसंयम का अपरिच्छिन्नत्वादि अंशमात्र की अधिकता से पुरुष-साक्षात्काररूप फल कहा गया है।

शङ्का–पुरुषज्ञानविषयक सूत्र के प्रकरण में भोग का लक्षण करने का प्रयोजन क्या है?

समाधान–इस पर वार्तिककार कहते हैं–भोगक्रिया के कारण ही बुद्धि तथा पुरुषगत धर्मों का भेदज्ञान न हो पाने के कारण धर्मिरूप बुद्धि तथा पुरुष में अविवेकरूप सांकर्य होता है। इस प्रकार दो धर्मियों के धर्मों में आरोपित अभेदरूप भोग के काल में ही उन धर्मों के भेदज्ञान के लिये संयम करणीय रहता है–यह प्रतिपादित करने के लिये प्रकृत सूत्र द्वारा भोग का भी लक्षण किया गया है।

सूत्रार्थ करने के पश्चात् वार्त्तिककार भाष्य पर वार्त्तिक प्रारम्भ करते हैं।

योगवार्त्तिकम्

तदेतद्व्याख्यातुमादावत्यन्तशब्दस्याभिप्रेतमर्थं प्रकटयति–बुद्धिसत्त्वमित्यादिना। अयमर्थः –न केवलं बाह्याद्याकारबुद्ध्या सहासंकीर्णः पुरुषोऽपि तु यद् बुद्धिसत्त्वं प्रख्याशीलतया समानसत्त्वाधीनवृत्तिके रजस्तमसी अभिभूय सत्त्वपुरुषान्यतासाक्षात्काररूपेण परिणतं भवति, तस्माच्च तस्मादपि प्रकृष्टज्ञानैश्वर्यानन्दादिमयाद् बुद्धिसत्त्वादात्माकारतयाऽऽत्मकल्पात् परिणामिनोऽत्यन्तविधर्मा पुरुषो विशुद्धः परिणामशून्योऽतोऽन्यश्चितिमात्ररूप इति। अत्यन्त-शब्दार्थं व्याख्याय भोगप्रतिपादकं सूत्रां[1]शं व्याचष्टे–तयोरिति। तयोर्बुद्धिपुरुषयोरत्यन्तवि-

---

1 क घ–अर्थं, ख च–अंशं, ग छ–अर्थम्

धर्मणोरपि प्रत्ययाविशेषः प्रत्यययोर्विविच्याग्रहणं भोगः, अगृहीतविवेकौ प्रत्ययाविति यावत्। अयमप्यविवेको बुद्धिधर्म इति स्मर्तव्यम्। तत्र बुद्धेः प्रत्ययः सुखादिमती विषयाद्याकारचित्तवृत्तिः, पुरुषस्य प्रत्ययो बुद्धिवृत्तिप्रतिबिम्बावच्छिन्नचैतन्यांशः सुखाद्यात्मकशब्दाद्यनुभवनामा।

सूत्र के तथ्यीकृत अर्थ की व्याख्या करने के लिये भाष्यकार सर्वप्रथम सूत्रगत '**अत्यन्त**' शब्द के अभिलषित अर्थ को प्रकाशित करते हैं–'**बुद्धिसत्त्वमित्यादिना**।' अर्थ यह है–केवल घट, पटादि बाह्यविषयाकार बुद्धि से पुरुष असंकीर्ण नहीं है, अपितु '**प्रख्याशील**' अर्थात् सत्त्वप्रचुर होने से सत्त्व के अधीन रहकर उसी के तुल्य व्यापार करने वाले रजोगुण और तमोगुण को अभिभूत करके प्रकृतिपुरुषविषयक भेदज्ञान के रूप से जो बुद्धि परिणत होती है, उससे और उससे भी अधिक प्रकृष्टज्ञान, ऐश्वर्य, आनन्दादियुक्त तथा आत्माकार वाली होने से आत्मा के समान दिखाई पड़ने वाली परिणामशीला बुद्धि से अत्यन्त भिन्न धर्म वाला पुरुष '**विशुद्ध**'= परिणामशून्य है। अतः वह चैतन्यस्वरूप पुरुष बुद्धि से पृथक् है। सूत्रगत '**अत्यन्त**' शब्द के अर्थ की व्याख्या करने के लिये भाष्यकार '**भोग**' का प्रतिपादन करने वाले प्रकृत सूत्रांश की व्याख्या करते हैं–'**तयोरिति**।' सर्वथा विपरीत धर्म वाले होते हुए भी बुद्धि और पुरुष इन दो तत्त्वों का '**प्रत्ययाविशेष**' अर्थात् बुद्धिनिष्ठ प्रत्यय और पुरुषनिष्ठ प्रत्यय के पार्थक्य का अनवधारणरूप '**भोग**' होता है। इस प्रकार '**भोग**' में बुद्धिप्रत्यय और पुरुषप्रत्यय दोनों अगृहीतविवेक अर्थात् विवेका- ग्रहण वाले होते हैं। बुद्धि और पुरुष के धर्मों में होने वाली यह अभेदप्रतीति (अविवेकबुद्धि) भी बुद्धि का ही धर्म है अर्थात् भोग बुद्धिनिष्ठ है, ऐसा ध्यान रखना चाहिये। इन दो प्रकार के प्रत्ययों में बुद्धिनिष्ठ प्रत्यय सुखादि (इसी प्रकार बाह्य घटादि) विषयाकारा चित्तवृत्तिरूप है तथा पुरुषनिष्ठ प्रत्यय (पौरुषेयबोध) बुद्धिवृत्ति के प्रतिबिम्ब से अवच्छिन्न चैतन्यांश वाला सुखाद्यात्मक शब्दाद्यनुभवरूप है। (सरल शब्दों में बुद्धिनिष्ठ प्रत्यय बुद्धि का स्वाभाविक धर्म है, जब कि पुरुषनिष्ठ प्रत्यय पुरुष का औपाधिक धर्म है)।

अब विचारणीय यह है कि उक्त '**अविवेक**' का कारण क्या है?–

योगवार्त्तिकम्

तयोरविवेके हेतुमाह–पुरुषस्य दर्शितविषयत्वादिति। यतो बुद्ध्या पुरुषे प्रतिबिम्बमर्पितं ततो जपास्फटिकयोरिव धर्मसंकरापत्तेरविवेक इत्यर्थः। तथा च स्मर्यते–

शुद्धोऽप्यात्माऽतिसामीप्याद् दृश्यधर्मान् पृथग्विधान्।
कर्तृत्वभोक्तृत्वमुखान्मन्यते स्वान्स्ववीक्षितान्॥
जीवो बहिरितीक्षित्वा स्फुटभिन्नानपि स्वतः।
नेमान् वेत्त्यन्तरासन्नान् मुखसक्तां मसीमिव॥ इति॥

स्फुटभिन्नानपीमान्[1]**र्थान् जीव ईक्षित्वा स्वस्माद् बहिरिति स न वेत्ति, यत ईक्षणान्यथाऽनुपपत्त्याऽन्तरासन्नान् प्रतिबिम्बितान्। तत्र दृष्टान्तो मुखलग्नां मसीमिवेत्यर्थः।**

सम्प्रति, भाष्यकार दोनों प्रत्ययों की अभिन्नता का कारण बताते हैं–'**पुरुषस्य दर्शितविषयत्वादिति**।' चूँकि बुद्धि द्वारा पुरुष में स्वप्रतिबिम्ब का समर्पण (उसी प्रकार किया जाता है जिस प्रकार जपाकुसुम के रक्तिम रूप का प्रतिफलन स्फटिक में) किया जाता है, फलतः जपाकुसुम और स्फटिक के धर्मैक्य की भाँति बुद्धि तथा पुरुष के धर्मैक्य से दोनों के धर्मों का विवेक (भेद) नहीं रह पाता है। जैसा कि स्मृतिशास्त्र में कहा गया है–'**शुद्धोऽप्यात्मा...मसीमिव**' अर्थात् 'शुद्ध होता हुआ भी आत्मा बुद्धि के अतिसमीप होने के कारण बुद्धिगत नाना प्रकार के धर्मों को देखता हुआ कर्तृत्व तथा भोक्तृत्वरूप से उनको अपना समझता है। जीव (पुरुष) अपने से सर्वथा भिन्न बुद्धि के धर्मों को देखकर भी उनको अपने से उसी प्रकार पृथक् नहीं समझ पाता है जिस प्रकार व्यक्ति मुख में पुती हुई निकटवर्ती स्याही को मुख से पृथक् नहीं जान पाता है।' स्मृतिवाक्य का अर्थ करते हुए वार्त्तिककार कहते हैं–स्पष्टतया भिन्न बुद्धि के धर्मों (विषयाकार परिणामों) को देखता हुआ भी जीव उन्हें अपने से पृथक् (**स्वस्माद् बहिः**) नहीं समझता है, क्योंकि अन्तरासन्न अर्थात् प्रतिबिम्बित अर्थों का अन्य प्रकार से प्रत्यक्ष उपपन्न नहीं होता है अर्थात् प्रतिबिम्बित पदार्थ अभिन्न ही प्रतीत होते हैं। इसमें मुखासक्त मसी दृष्टान्त है।

सम्प्रति, सूत्र के उत्तरार्द्ध को विश्लेषित किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

परार्थादित्याद्युत्तरार्धं संयमसिद्धिप्रदर्शकं व्याचष्टे–स भोगप्रत्यय इत्यादिना जायते इत्यन्तेन। सोऽविभागापन्नं उभयात्मको भोगाख्यः प्रत्ययः सत्त्वस्यांशः परार्थत्वात् परप्रयोजनकत्वाद् दृश्यः, यस्तु तस्मात् परार्थादन्यो विशिष्टः स्वार्थः परस्य बुद्ध्यादेरदृश्यः साक्षाद् दृश्यश्च चैतन्यमात्रः पौरुषेयः पुरुषांशः प्रत्ययः भोगाख्यः; तत्र यथोक्तविवेकेन संयमात्साक्षात्कारपर्यन्तात् पुरुषसाक्षात्कारो भवतीत्यर्थः। अत्रान्यपदाध्याहारः कृतः। तदनेन सूत्रेण भोगापवर्गावपि व्याख्यातौ। स्वयं च मुख्य एव [2]**भोगोऽविविक्तप्रत्ययात्मको लोकव्यवहारसिद्धः, विवेकग्रहे** [3]**सति परकीयसुखादिसाक्षात्कार इव स्वीयसुखादिसाक्षात्कारेऽपि भोग-**

1. क घ च छ–**अर्थान्** उपलभ्यते, ख ग–**अर्थान्** नोपलभ्यते।
2. क ग घ–**भोगोऽविविक्तप्रत्ययद्वयात्मकः**, च छ–**भोगोऽविविक्तप्रत्ययात्मकः**, ख–**भोगोऽविविक्तप्रत्ययद्वयात्मकः/भोगोऽविविक्तप्रत्ययात्मकः**–नोपलभ्यते।
3. क ग घ–**असति परकीयसुखादिसाक्षात्कार इव स्वीयसुखादिसाक्षात्कारेऽपि भोगव्यवहारायोगात्**, च–**सति परकीयसुखादिसाक्षात्कार इव स्वीयसुखादिसाक्षात्कारेऽपि भोगव्यवहारयोगात्**, छ–**परकीयसुखादिसाक्षात्कारेऽपि भोगव्यवहारयोगात्**, ख–किञ्चिदपि नोपलभ्यते।

व्यवहारयोगात्। सोऽयं भोगोऽविवेकप्राधान्येन कुत्रचिद् बुद्धेरेवेत्यप्युच्यते, [1]तथा सोऽयं भोगोंऽशभेदेनोभयोरेव भवति। तत्रै[2]व गौणो भोगः सांख्ये प्रोक्तः चिदवसानो भोग इति। स च पुरुषस्यैव न बुद्धेः, पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावादिति सांख्यवाक्यात्। अन्यस्तु विपाकान्तर्गतो भोगः शब्दाद्याकारवृत्तिश्[3]च बुद्धेरेव, तावेतौ भोगापवर्गौ बुद्धावेव वर्त्तमानाविति भाष्यात्, स हि तत्फलस्य भोक्तेति तत्र तत्र भाष्यकृता विपाकफलस्य सुखदुःखादेर्भोगान्तरवचनाच्चेति स्मर्त्तव्यम्। ननु पुरुषज्ञानं भवतीत्युक्तम्। तत् पुरुषज्ञानं किं बुद्धिसत्त्वस्य भवति, किं वा पुरुषस्य [4]भवति? आद्ये बुद्धेरपि चेतनत्वापत्तिः, स्वोक्तपरादृश्यत्वानुपपत्तिश्च; तथा ते तं न पश्यन्ति स पश्यते तान् इत्यादिवाक्यशतविरोधश्च; अन्त्ये [5]स्वज्ञेयत्वेन कर्मकर्तृविरोधः, सदैव स्वज्ञानप्रसङ्गश्च, पुरुषस्यापरिणामिचिन्मात्रत्वादिति तामिमामाशङ्कां परिहरति—न च पुरुषस्येति। पुरुषाकारप्रत्ययेन बुद्धिसत्त्वधर्मेण पुरुषो न दृश्यते न भास्यते, तस्य जडत्वात्; अपि तु पुरुष एव तं प्रत्ययं स्वस्वरूपाकारं पश्यति बुद्ध्यारूढमात्मानं पश्यतीत्यर्थः। स्वस्मिन्प्रतिबिम्बितमिति शेषः। तथा च स्वप्रतिबिम्बितस्वाकारबुद्धिवृत्तिदर्शनमेव पुरुषस्य पुरुषज्ञानम्, यथा स्वप्रतिबिम्बितघटाकारबुद्धिदर्शनमेव पुरुषस्य घटदर्शनमिति। न चात्र कर्मकर्तृविरोधः, कर्मकर्तृविरोधे हि स्वस्मिन् स्वसम्बन्धानुपपत्तिरेव बीजम्, प्रकाशसम्बन्धस्यैव प्रकाश्यतारूपत्वात्, अनुभवप्राप्त्योरेकार्थत्वाच्च। स च सम्बन्ध एकस्मिन्नपि बिम्बप्रतिबिम्बाख्यरूपभेदेनोपपन्न इति। अथैवमपि परसमवेतक्रियाफलभागित्वरूपं कर्मलक्षणं पुरुषे न घटत इति चेत्? न; विशिष्टाविशिष्टरूपेण ज्ञातृज्ञेययोर्भेदसत्त्वात्; आत्माकार[6]वृत्त्यवच्छिन्नस्य ज्ञातृत्वात्, केवलस्य ज्ञेयत्वात्। न चैवमेकवृत्त्यवच्छिन्नबुद्धेर्वृत्त्यन्तरावच्छिन्नबुद्धिग्राह्यत्वसम्भवात् पुरुषकल्पना व्यर्थेति [7]वाच्यम्, अनवस्थाऽऽदिदोषैः सूत्रेण निरस्यत्वादिति।

सम्प्रति, भाष्यकार संयमजन्यसिद्धि के स्वरूपप्रतिपादक सूत्र के उत्तरार्ध 'परार्थात्स्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम्' की व्याख्या करते हैं—**'स भोगप्रत्यय इत्यादिना जायत इत्यन्तेन।'** बुद्धि-पुरुष दोनों का अविविक्ताकार उभयात्मक **'भोग'** संज्ञक प्रत्यय (ज्ञान), जो सत्त्वगुणप्रधान बुद्धि का अंश है, **'परार्थ'** होने से अर्थात् परोद्देश्यक होने से **'दृश्य'** कहलाता है और जो इस परार्थ से भिन्न=विलक्षण है, वह **'स्वार्थ'** पुरुष है।

---

1. क ग—**तथा व्यवहारायोगात्**, घ च छ—**तथा**, ख—किञ्चिदपि नोपलभ्यते।
2. क ग घ—एषः, च छ—एव, ख—एषः/एव नोपलभ्यते।
3. क ग घ—**स च**, च छ—**च**, ख—**स च/च** नोपलभ्यते।
4. घ च छ—भवति उपलभ्यते, क ख ग—**भवति** नोपलभ्यते।
5. क च छ—**स्वज्ञेयत्वेन**, ख ग—**स्वसंज्ञेयत्वेन**, घ—**स्वस्य स्वज्ञेयत्वेन**।
6. ग घ च छ—**वृत्त्यवच्छिन्नस्य ज्ञातृत्वात्, केवलस्य ज्ञेयत्वात्। न चैवमेकवृत्त्यवच्छिन्नबुद्धेर्वृत्त्यन्तरावच्छिन्न॰** उपलभ्यते, क ख—**वृत्ति...वच्छिन्न॰** नोपलभ्यते।
7. क घ च छ—**वाच्यं**, ग—**बोध्यं**, ख—**वाच्यं/बोध्यं** नोपलभ्यते।

पुरुष अपने से भिन्न परबुद्धि का साक्षात् दृश्य नहीं है। किञ्च साक्षाद् दृश्य तो भोगाख्य पौरुषेय प्रत्यय है। इस प्रकार यथोक्त विवेकपूर्वक साक्षात्कारपर्यन्त संयम करने से पुरुषज्ञान होता है। यहाँ (**परार्थात् में**) '**अन्य**' पद का अध्याहार किया गया है। इस सूत्र से भोगापवर्ग भी व्याख्यात हो जाते हैं। पुरुष का मुख्य भोग तो लोकव्यवहारसिद्ध '**अभेदज्ञान**' है अर्थात् जब पुरुष बुद्धि से अभेद स्थापित करके उसके सुख-दुःखादि विषयों को अपना समझता है तो यही '**अभेदप्रत्यय**' पुरुष का '**भोग**' कहलाता है। किन्तु जब पुरुष को बुद्धि से अपना पार्थक्य बोध (विवेकग्रह) हो जाता है तब अपने से भिन्न बुद्धि के सुखादि का साक्षात्कार होने पर भोगव्यवहार उपपन्न नहीं होता है। किञ्च अविवेकप्रधान होने से कहीं-कहीं (सांख्यशास्त्र में) यह भोग बुद्धिगत ही बताया गया है। वस्तुतस्तु यह भोग अंशभेद से (स्वाभाविक और औपाधिक रूप से) बुद्धि और पुरुष दोनों का ही होता है। किञ्च सांख्य में '**चिदवसानो भोगः**' (१/१०४) अर्थात् 'चेतन तक भोग है'–इस सूत्र के द्वारा जिस गौण भोग को प्रतिपादित किया गया है, वह पुरुषगत ही है, न कि बुद्धिगत। क्योंकि '**पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात्**' अर्थात् 'भोक्ता होने के कारण पुरुष (की सत्ता सिद्ध होती) है'–ऐसा सांख्यवाक्य उपलब्ध होता है। किञ्च जाति, आयु तथा भोगाख्य विपाकान्तर्वर्ती सुख-दुःखरूप भोग तथा शब्दादिविषयाकार वृत्तिरूप भोग (मुख्य भोग) बुद्धिगत ही हैं, क्योंकि '**तावेतौ भोगापवर्गौ बुद्धावेव वर्तमानौ**' ऐसा भाष्य मिलता है तथा भाष्यकार ने ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर '**स हि तत्फलस्य भोक्ता**' के द्वारा सुख-दुःखादिरूप विपाकफल को भोगान्तर कहा है, ऐसा स्मरण रखना चाहिये।

शङ्का–प्रकृत सूत्र में '**स्वार्थ**' में संयम करने से '**पुरुषज्ञान**' होता है, ऐसा कहा गया है। तदर्थ जिज्ञासा है कि यह '**पुरुषज्ञान**' बुद्धिनिष्ठ है अथवा पुरुषनिष्ठ? यदि प्रथम विकल्प के अनुसार पुरुषज्ञान को बुद्धिनिष्ठ माना जाय तो बुद्धि को चेतन मानने का अनभिप्रेत प्रसंग (आपत्ति) आयेगा। 'बुद्धि अपने से भिन्न अन्य पुरुष का दृश्य बनती है' इत्याकारक भाष्योक्त तथ्य भी उपपन्न न हो सकेगा? तथा '**ते....तान्**' (मोक्षधर्म २०२/१७) अर्थात् 'बुद्धि की धर्मरूपा पुरुषविषयिका वृत्तियाँ पुरुष को नहीं देखती हैं अपितु पुरुष बुद्धिसत्त्वनिष्ठ धर्मों को देखता है'–इत्याकारक सैकड़ों वाक्यों से विरोध होगा। यदि द्वितीय विकल्प के अनुसार पुरुषज्ञान को पुरुषनिष्ठ ही माना जाय तो अपने को अपना ही ज्ञेय मानने पर कर्तृकर्मविरोध होगा तथा पुरुष को सदा ही अपना ज्ञान बने रहने का प्रसंग आयेगा, क्योंकि पुरुष अपरिणामी तथा चिन्मात्र है?

समाधान–इस आशंका का भाष्यकार परिहार करते हैं–'**न च पुरुषस्येति**।' बुद्धि के धर्मरूप पुरुषविषयक प्रत्यय के द्वारा पुरुष नहीं देखा जाता है अर्थात् पुरुष भासित नहीं होता है, क्योंकि बुद्धिसत्त्व अर्थात् बुद्धिवृत्ति जड है। प्रत्युत पुरुष ही अपने आकार में परिणत बौद्धप्रत्यय को देखता है। भाव यह है कि पुरुष बुद्धि में प्रतिफलित अपने रूप को देखता है। '**स्वस्मिन् प्रतिबिम्बितम्**'–यह प्रकृत भाष्य का वाक्यशेष है। स्पष्टार्थ यह है–अपने में प्रतिबिम्बित पुरुषाकारबुद्धिवृत्ति का दर्शन ही पुरुष का '**पुरुषज्ञान**' उसी प्रकार कहलाता है जिस प्रकार अपने में प्रतिबिम्बित घटाकारबुद्धिदर्शन ही पुरुष का घटदर्शन कहलाता है। किञ्च ऐसा मानने में कर्मकर्तृविरोध नहीं आता है, क्योंकि कर्मकर्तृविरोध में तो '**स्व**' में '**स्व**' सम्बन्ध की अनुपयुक्तता (अनुपपन्नता) ही कारण (बीज) होती है, क्योंकि प्रकाशस्वरूप पदार्थ के साथ सम्बन्धित पदार्थ में ही प्रकाश्यता (द्रष्टृदृश्यभावरूपता) आती है तथा अनुभव और प्राप्ति एकार्थक होते हैं अर्थात् अनुभव और प्राप्ति दोनों ही अज्ञात अर्थात् अनधिगत और अप्राप्त पदार्थ के ज्ञापक और प्रापक होते हैं। किञ्च यह वृत्त्याख्यसम्बन्ध एक पदार्थ में भी बिम्बप्रतिबिम्बभाव से उपपन्न हो सकता है।

शङ्का–सिद्धान्ती द्वारा मान्य प्रक्रिया के अनुसार भी परसमवेत अर्थात् बुद्धि में समवायसम्बन्ध से रहने वाला वृत्त्याख्यक्रियाफलभागित्वरूप कर्मलक्षण पुरुष में घटित नहीं होता है?

समाधान–ऐसी बात नहीं है, क्योंकि विशिष्ट और अविशिष्ट के रूप से ज्ञाता और ज्ञेय में भेद है। अतः आत्माकारवृत्ति से अवच्छिन्न चेतन पुरुष में ज्ञातृत्व और 'केवल' अर्थात् शुद्ध पुरुष में ज्ञेयत्व है।

शङ्का–(यदि विशिष्ट और अविशिष्ट के भेद से ज्ञाता और ज्ञेय को उपपन्न माना जाय तो) इस परिप्रेक्ष्य में एक वृत्ति (विषयाकार परिणाम) से अवच्छिन्न (युक्त) बुद्धि वृत्त्यन्तर से अवच्छिन्न बुद्धि की ग्राह्य बन जायेगी। अर्थात् बुद्धि के वृत्त्याख्यपरिणाम को लेकर ग्राह्य-ग्राहक-भाव उपपन्न हो जायेगा, अतः (ग्राहक अथवा ज्ञाता रूप से) पुरुष-कल्पना व्यर्थ है?

समाधान–ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि बुद्धि में ही ग्राह्य-ग्राहकभाव की परिकल्पना अविश्रान्तिदोष तथा अन्य दोषों से युक्त होने के कारण सूत्र के द्वारा परिहार्य अर्थात् खण्डनीय है।

सम्प्रति, वार्त्तिककार आधुनिक वेदान्तियों का स्मरण करते हुए आगे कहते हैं–

योगवार्त्तिकम्

यत्तु– आधुनिकवेदान्तिब्रुवानुसारेणास्मदीयोऽपि कश्चिद् आत्मनो ज्ञेयत्वाभावमेव

वदति तद् यथाश्रुतसूत्रभाष्यविरोधादुपेक्षणीयम्। स्वप्रकाशत्वं चात्मनः [1]स्वज्ञेयत्वमेव चेतनात्मा स्ववेदन इत्यादिस्मृत्यनुसारात्, शब्दस्य योगार्थपरित्यागानौचित्याच्च, बुद्ध्यादिजडवर्गव्यावृत्तेस्तेनैव संभवाच्चेत्यादिकं ब्रह्ममीमांसायां प्रतिपादितमस्माभिः। यदपि वृत्तिव्याप्यत्वमात्मनोऽभ्युपेत्य फलव्याप्यत्वं वेदान्तिब्रुवैरपलप्यते तदपि मोहादेव; फलव्याप्यत्वस्य सामान्यतो व्यवहारहेतुतायाः क्लृप्तत्वेन चैतन्याख्यफलव्याप्यतां विना चैतन्यव्यवहारानुपपत्तेः। अन्यथा घटादिव्यवहारस्यापि वृत्तिव्याप्यत्वेनैवोपपत्तौ विश्वप्रकाशकतया चैतन्यकल्पनावैयर्थ्यात्। यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सहेत्यादिवाक्यानि च लौकिकमनआदिवृत्त्यगोचरत्वमेव प्रतिपादयन्ति, मनसैवानुद्रष्टव्यम् इत्यादिश्रुत्यन्तरात्,

अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्त्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति

इत्यादिश्रुत्या योगिमनोविषयत्वावगमाच्च। न तु फलव्याप्यत्वं निराकुर्वन्ति; मनआदीनां जडत्वेन फलानाधारत्वात्, फलं विना शास्त्रादीनां ब्रह्मणि प्रमाणत्वादिदोषासम्भवादिति दिक्।

पुरुषस्यैव स्वज्ञातृत्वमित्यत्र श्रुतिं प्रमाणयति—तथा ह्युक्तमिति। ईश्वरेणेति शेषः। आत्मा यदि न नित्यज्ञानरूपस्तर्हि केन ज्ञानान्तरेण विज्ञातारमात्मानं लोको विजानीयादित्यर्थः। यद्वा मोक्षकाले बुद्ध्यादिविलयात् केन [2]करणेन तदानीं विज्ञातारमात्मानं पुरुषो विजानीयादित्यर्थः। अत्र हि श्रुतौ करणेन पुरुषस्यैव स्वज्ञेयत्वमवगम्यते, अज्ञेयत्वे च विज्ञातारं को विजानीयादित्येवोच्येतेति। इयं श्रुतिः पुरुषस्य सर्वदैवाज्ञेयत्वं वदतीति कश्चित्, तन्न—यतो न प्रेत्यसंज्ञाऽस्तीति पूर्ववाक्येन याज्ञवल्क्येन मोक्षकाले ज्ञानस्वरूपोऽपि पुरुषो न जानातीत्युक्तम् अखिलदुःखभोगनिवृत्तिरूप[3]परमपुरुषार्थमोक्षं प्रदर्शयितुम्, तत्र विरोधं दृष्ट्वा मूढाया मैत्रेय्यास्तद्विरोधपरिहारायैवेदं वाक्यं प्रवर्त्तते न तु पुरुषस्याज्ञेयत्वप्रदर्शनाय; अप्रकृताभिधानप्रसङ्गादिति। ननु भवन्मतेऽपि पराज्ञेयत्वेन कथं मैत्रेय्याः शङ्कापगच्छतीति चेत्? न; यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येदिति पूर्वश्रुत्यैव विरोधस्य परिहृतत्वात्। स्वयं ज्ञानस्वरूपोऽपि सर्वकरणविलयान्मोक्षकाले किमपि न विजानातीति। तत्र च मैत्रेय्या कदाचिदाशङ्क्येत मोक्षकालेऽनभिव्यक्त्या आत्मा ज्ञानस्वरूप एव माऽस्त्विति, तत्रोत्तरं वाक्यं प्रवर्त्तते—येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्—विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति। आत्मा यदि ज्ञानस्वरूपो न भवति, तद्विषयकज्ञानान्तरकल्पनेऽनवस्थादिकमिति श्रुतेराशयः॥३५॥

आधुनिक वेदान्तियों के मतानुसार हममें से भी जो (योग के टीकाकार)

---

1. क ग घ च—स्वज्ञेयत्वमेव उपलभ्यते, ख छ—स्वज्ञेयत्वमेव नोपलभ्यते।
2. क ग घ—कारणेन, च छ—करणेन, ख—कारणेन/करणेन नोपलभ्यते।
3. क ग घ—परमपुरुषार्थ मोक्षे प्रदर्शयितुं, च छ—परमपुरुषार्थमोक्षं प्रदर्शयितुं, ख—परं...यितुं नोपलभ्यते।

आत्मा के ज्ञेयत्वाभाव को ही स्वीकार करते हैं, वह यथाश्रुत सूत्र तथा भाष्य के विरुद्ध होने से उपेक्षणीय है। क्योंकि '**चेतनात्मा स्ववेदनः**' इस स्मृतिवाक्य के अनुसार स्वज्ञेयत्व ही आत्मा का स्वप्रकाशत्व है। किञ्च '**स्वप्रकाश**' शब्द के योगार्थ का परित्याग करना उचित नहीं है तथा स्वप्रकाश होने के कारण ही पुरुष को बुद्ध्यादि जडवर्ग से पृथक् करना सम्भव है—इत्यादि तथ्य ब्रह्ममीमांसासूत्र में मैंने (विज्ञानभिक्षु ने) प्रतिपादित किये हैं। और जो आधुनिक वेदान्ती लोग आत्मा की वृत्तिव्याप्यता अर्थात् वृत्तिविषयता को स्वीकार करके भी आत्मा के फलव्याप्यत्व का अपलाप करते हैं, वे भी अज्ञानी ही हैं, क्योंकि फलव्याप्यत्व को ही सामान्यरूप से व्यवहार का हेतु माना गया है। अतः चैतन्याख्यफलव्याप्यता के विना चैतन्य का व्यवहार उपपन्न न हो सकेगा। अन्यथा वृत्तिव्याप्य होने से ही घटादि व्यवहार भी उपपन्न हो जायेगा, जिससे विश्व के प्रकाशक रूप से चैतन्य की कल्पना व्यर्थ हो जायेगी। जब कि '**यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह**' (तै. उ. २/४) अर्थात् 'जिस आनन्दमय ब्रह्म को न पाकर मनसहित वाणी प्रत्यावर्तित होती है'—इत्यादि वाक्य यह प्रतिपादित करते हैं कि पुरुष लौकिक मन आदि वृत्ति का विषय ही नहीं होता है। '**मनसैवानुद्रष्टव्यः**' (बृ. आ. ४/४/१९) अर्थात् 'मन के द्वारा ही वह देखने योग्य है', तथा '**अध्यात्म...जहाति**' (१/२/१२) अर्थात् 'अध्यात्मयोग के ज्ञान से देव को जानकर धीर लोग हर्ष और शोक का परित्याग कर देते हैं'—इत्यादि श्रुत्यन्तरों से पुरुष का योगी के मन का विषय होना बोधित होता है। ये श्रुतियाँ पुरुष के फलव्याप्यत्व का निराकरण नहीं करती हैं, क्योंकि जड होने के कारण मन आदि फल के आधार नहीं हो सकते हैं। पुरुष में फलव्याप्यत्व माने विना ब्रह्म में शास्त्रादियों के (द्वारा उद्भावित) प्रमाणत्वादि दोष असम्भव हो जायेंगे।

पुरुष में ही स्वज्ञातृता है अर्थात् पुरुष ही स्वयं अपना ज्ञाता है, इस विषय में भाष्यकार श्रुति को प्रमाणरूप से प्रस्तुत करते हैं—'**तथा ह्युक्तमिति।**' यहाँ '**ईश्वरेण**' यह पद श्रुतिवाक्य का शेष है। श्रुति का अर्थ है—'यदि आत्मा नित्यज्ञानस्वरूप न हो तो लोग विज्ञाता आत्मा को किस ज्ञानान्तर से जान पायेंगे?' अथवा श्रुति का ऐसा अर्थ किया जा सकता है कि 'मोक्षकाल में बुद्ध्यादि समस्त करणों का (अपने मूल कारण प्रकृति में) लय हो जाने से उस समय पुरुष किस साधन से विज्ञानस्वरूप आत्मा को जान पायेगा?' श्रुति में '**केन**' इस करणपद के द्वारा पुरुष की ही स्वज्ञेयता सिद्ध की गई है, अन्यथा (पुरुष को स्वज्ञेय न मानने पर) '**विज्ञातारं कः विजानीयात्**' इत्याकारक श्रुति ही कहनी चाहिये थी।

शङ्का—किसी का ऐसा कहना है कि यह श्रुति पुरुष में सार्वकालिक अज्ञेयत्व को ही बताती है?

समाधान–ऐसा कहना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि **'न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति'** (बृ. आ. २/४/१२) इस पूर्ववाक्य के द्वारा योगी याज्ञवल्क्य ने सम्पूर्ण दुःखभोगनिवृत्तिरूप परम-पुरुषार्थरूप मोक्ष को प्रतिपादित करने के लिये ही ऐसा कहा है कि 'मोक्षकाल में ज्ञानस्वरूप पुरुष भी अपने आप को नहीं जान पाता है।' इस विषय में जडीभूत (मोहित) मैत्रेयी के विरोध (शंका) को देखकर उस शंका (विरोध) के निरसनार्थ ही प्रकृत श्रुतिवाक्य **'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्'** प्रवृत्त हुआ है, न कि पुरुष की अज्ञेयता प्रदर्शित करने के लिये। अन्यथा विषय से असम्बद्ध के विधान का प्रसंग आयेगा।

शङ्का–जब आपके मत में भी पुरुष ज्ञेय नहीं है तो कैसे मैत्रेयी की शंका का खण्डन होता है?

समाधान–ऐसा नहीं है, क्योंकि **'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्'** (बृ. आ. ४/५/१५) अर्थात् 'मोक्ष की अवस्था में जब सब कुछ आत्मरूप ही हो जाता है तब कौन किसको देख सकता है'–इत्याकारक पूर्व श्रुतिवाक्य के द्वारा ही विरोध परिहृत हो जाता है। अर्थात् मोक्षकाल में सभी करणों का लय हो जाने से स्वयं ज्ञानस्वरूप पुरुष भी कुछ भी नहीं जान पाता है'–यह बतलाना अभिप्रेत है। इस पर मैत्रेयी कहीं ऐसी शंका न करे कि 'मोक्षकाल में पुरुष में ज्ञान की अभिव्यक्ति न होने के कारण उसे ज्ञानस्वरूप ही न माना जाय'?–तदर्थ उत्तरवाक्य आता है कि जिसके द्वारा पुरोदृश्यमान सब कुछ जाना जाता है, भला उसे कौन जान सकता है–**'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्'**। यदि आत्मा को ज्ञानस्वरूप न माना जाय तो पुरुषज्ञान के लिये पुरुषविषयक ज्ञानान्तर की कल्पना करनी पड़ेगी और इस प्रकार अनवस्थादि दोष प्रसक्त होंगे, यही श्रुति का अभिप्राय है॥३५॥

अगला सूत्र है–

योगसूत्रम्

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते॥३६॥

उस (स्वार्थसंयम) से प्रातिभ, श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद तथा वार्ता (नामक सिद्धियाँ) उत्पन्न होती हैं॥३६॥

व्यासभाष्यम्

[1]प्रातिभात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टातीतानागतज्ञानम्। [2]श्रावणाद्दिव्यशब्दश्रवणम्।

---

1. क ख ग घ च छ ज थ द ध न प फ ब भ म य र–**प्रातिभात्**, झ त–**प्रातिभलाभात्**।
2. क ख ग घ च छ ज थ द ध न प फ ब भ म य र–**श्रावणात्**, झ त–**श्रवणात्**।

वेदनाद्दिव्यस्पर्शाधिगमः। आदर्शाद्दिव्यरूपसंवित्। आस्वादाद्दिव्यरससंवित्। वार्तातो [1]दिव्यगन्धविज्ञानमिति। एतानि नित्यं जायन्ते॥३६॥

'प्रातिभ' (सिद्धि) से सूक्ष्म, व्यवहित, दूरस्थ, अतीत और अनागत पदार्थों का ज्ञान होता है। 'श्रावण' से दिव्य शब्द सुनायी पड़ता है। 'वेदन' से दिव्य स्पर्श की अनुभूति होती है। 'आदर्श' से दिव्य रस का अनुभव होता है तथा 'वार्ता' से दिव्य गन्ध की अनुभूति होती है। इतने ज्ञान योगी को अनिवार्यतः होते हैं॥३६॥

तत्त्ववैशारदी

स च स्वार्थसंयमो न यावत्प्रधानं [2]स्वकार्यं पुरुषज्ञानमभिनिर्वर्तयति तावत्। तस्य पुरस्ताद्या विभूतीराधत्ते ताः सर्वा दर्शयति—ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते। तदनेन योगजधर्मानुगृहीतानां मनःश्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानां यथासंख्यं प्रातिभ-ज्ञानदिव्यशब्दाद्यपरोक्षहेतुभावा उक्ताः। श्रोत्रादीनां पञ्चानां दिव्यशब्दाद्युपलम्भकानां तान्त्रिक्यः संज्ञाः श्रावणाद्याः। सुगमं भाष्यम्॥३६॥

पूर्वकथित स्वार्थविषयक संयम जब तक अपने मुख्य फल **'पुरुषज्ञान'** को निष्पन्न नहीं करता है, तब तक **'स्वार्थसंयम'** से पुरुषज्ञान के पूर्व जो सिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं, उन समस्त सिद्धियों को भाष्यकार प्रदर्शित करते हैं—**'तत इति।' 'स्वार्थसंयम'** के द्वारा योगज धर्म से अनुगृहीत मन, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा एवं घ्राण संज्ञक इन्द्रियाँ क्रमशः प्रातिभज्ञान, दिव्य शब्द, दिव्य स्पर्श, दिव्य रूप, दिव्य रस तथा दिव्य गन्ध के अपरोक्षज्ञान की हेतु वाली कही गई हैं। अर्थात् इनसे दिव्य शब्दादि विषयों का प्रत्यक्ष होता है। दिव्य शब्दादि की ग्राहकभूता श्रोत्रादि इन्द्रियों की तान्त्रिकी संज्ञाएँ (पारिभाषिक संज्ञाएँ) क्रमशः श्रावणादि (श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद तथा वार्ता) हैं। भाष्य सरल है॥३६॥

बालप्रिया—

'ततः'—आनन्तर्यवाची 'ततः' पद के द्वारा सूत्रकार का निर्दिष्ट भाव यह है कि स्वार्थविषयक संयम का अभ्यास करने से योगी को व्युत्थानकाल में प्रातिभादि संज्ञक गौण सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। वस्तुतस्तु स्वार्थसंयम (पुरुषविषयक संयम) के दो फल हैं—मुख्यफल तथा गौणफल। संयम का मुख्य फल है—पुरुषज्ञान तथा गौणफल है—प्रातिभादि सिद्धियाँ। संयमजन्य शक्तियुक्त इन्द्रियों की ही ये प्रातिभादि संज्ञाएँ हैं॥३६॥

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**दिव्यगन्धविज्ञानमित्येतानि नित्यं जायन्ते, ब—संव्यवहारतत्त्वरूपं यथावदधिगच्छति।**
2. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न—**स्वकार्यं, ज—स्वकार्ये।**

योगवार्त्तिकम्

स्वार्थप्रत्ययसंयमेन पुरुषसाक्षात्कारे जाते सति तल्लिङ्गरूपाणि विवेकजज्ञानस्य च पूर्वरूपाणि प्रातिभाऽद्याः सिद्धयो भवन्ति, ताश्च पुरुषैकाग्रतापरिपन्थित्वेनासम्प्रज्ञातयोगविघ्नभूता एवेति प्रतिपादयितुमादौ ताः प्रदर्शयति–ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते। ततः पुरुषसाक्षात्काराद् मनआदीनां प्रातिभादिसंज्ञिकाः सिद्धयः सामर्थ्यविशेषरूपा भवन्ति, यस्मात्सामर्थ्यान्मनआदिषु व्यवहितादिज्ञानं भवतीत्यर्थः। अत्र कश्चित्–तत इति तच्छब्देन पुरुषज्ञानं न परामृश्यते, तद्दर्शनप्रत्यनीकत्वादित्यागामिसूत्रभाष्ये पुरुषदर्शनप्रतिबन्धकत्ववचनात्, अपि तु स्वार्थसंयम एव परामृश्यते; तथा च पूर्वसूत्रोक्तसंयमस्यैवेदं पुरुषज्ञानात्प्राक्तनं सिद्ध्यन्तरमिति, तन्न–एकस्याः पुरुषज्ञानरूपसिद्धेरुक्ततया चकाराद्यभावेन सिद्ध्यन्तराकाङ्क्षाविरहात्, पुरुषज्ञानस्यैव मुख्यतयोपस्थितत्वेन परामर्शौचित्याच्च। अतस्तच्छब्देनात्र पुरुषज्ञानस्यैव परामर्शः। पुरुषसाक्षात्काररूपपुरुषैकाग्रताप्रत्यनीकतया तु भाष्यकारः प्रातिभादेरसम्प्रज्ञातसमाधावेवोपसर्गत्वं वक्ष्यतीति। प्रातिभादिशक्तीः स्वकार्यैर्लक्षयति भाष्यकारः--प्रातिभादिति। प्रतिभा=उपदेशादिनैरपेक्ष्येण सूक्ष्मादीनां मानसं यथाऽर्थज्ञानम् तत्सामर्थ्यं प्रातिभम्। एवं श्रावणाद्यपि व्याख्येयम्। वेदनाद्यास्तु संज्ञास्त्वक्चक्षुरसनघ्राणानां सामर्थ्येषु बोध्याः। नित्यमिति। कामनां विनाऽपि जायन्त इत्यर्थः॥३६॥

स्वार्थप्रत्ययविषयक संयम द्वारा पुरुष का साक्षात्कार होने पर पुरुषसाक्षात्कार की चिह्नस्वरूपा तथा विवेकजज्ञान की पूर्वरूपा प्रातिभादि सिद्धियाँ प्रादुर्भूत होती हैं। ये प्रातिभादि सिद्धियाँ पुरुषैकाग्रता (स्वार्थसंयम) की विरोधिनी होने से असम्प्रज्ञातयोग (की प्राप्ति) के लिये विघ्नकारिणी ही हैं–ऐसा प्रतिपादित करने के लिये भाष्यकार सर्वप्रथम इन्हीं प्रातिभादि सिद्धियों को प्रदर्शित करते हैं–'तत इति।' **'ततः'** अर्थात् पुरुषसाक्षात्कार से मन आदि करणों की **'प्रातिभादि'** संज्ञक सामर्थ्यविशेषरूप **'सिद्धियाँ'** प्रादुर्भूत होती हैं। जिस सामर्थ्यविशेष से मन आदि करणों को व्यवहितादि पदार्थों का ज्ञान होता है।

पूर्वमत–कोई टीकाकार कहते हैं कि सूत्रगत **'ततः'** पद से पुरुषज्ञान गृहीत नहीं होता है, क्योंकि **'ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः'** (३/३७)–इस आगामी सूत्र के **'तद्दर्शनप्रत्यनीकत्वात्'** इस भाष्य में प्रातिभादि सिद्धियों को पुरुषज्ञान का प्रतिबन्धक कहा गया है। प्रत्युत सूत्रगत **'ततः'** पद से स्वार्थसंयम का ही ग्रहण होता है। अतः **'सत्त्वपुरुषयोः...स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम्'** (३/३५)–इस पूर्ववर्ती सूत्र में कथित स्वार्थविषयक संयम की ही पुरुषज्ञान से पूर्व प्रादुर्भूत होने वाली ये प्रातिभादि अन्य सिद्धियाँ हैं।

पूर्वमत-खण्डन–यह पक्ष न्यायसम्मत नहीं है, क्योंकि विगत सूत्र के द्वारा स्वार्थविषयक संयम की पुरुषज्ञानरूप एक सिद्धि कही जाने से सूत्र में चकारादि पद के

प्रयोग के अभाव के कारण सिद्ध्यन्तराकांक्षाराहित्य है। अर्थात् स्वार्थसंयम से पुरुषज्ञानातिरिक्त अन्य सिद्धियाँ भी प्रादुर्भूत होती हैं, ऐसी आकांक्षा ही नहीं रहती है तथा स्वार्थविषयक संयम से प्रधानतया पुरुषज्ञानाख्य सिद्धि का ही ग्रहण करना औचित्यपूर्ण भी है। अतः प्रकृत सूत्र में **'तत्'** शब्द से पुरुषज्ञान का ही परामर्श होता है। पुरुषसाक्षात्काररूप पुरुषैकाग्रता की बाधिका होने से प्रातिभादि सिद्धियाँ तो असम्प्रज्ञात समाधि के लिये ही उपसर्गकारी अर्थात् विघ्नकारी हैं, ऐसा भाष्यकार आगे बतायेंगे। ये प्रातिभादि शक्तिविशेष स्व-स्व कार्यों से अभिव्यक्त (लक्षित) होते हैं। तदर्थ भाष्यकार कहते हैं–**'प्रातिभादिति।'** उपदेशादि की अपेक्षा किये विना सूक्ष्मादि पदार्थों का होने वाला मानस यथार्थज्ञान **'प्रतिभा'** कहलाता है और उस सामर्थ्यविशेष को **'प्रातिभ'** कहते हैं। इसी प्रकार श्रावणादि सिद्धियों को भी तत्तत् सामर्थ्यविशेषों के रूप से व्याख्येय समझना चाहिये। वेदनादि सिद्धियाँ अर्थात् वेदन, आदर्श, आस्वाद तथा वार्ता संज्ञक शक्तियाँ तो त्वक्, चक्षु, रसना तथा घ्राणेन्द्रिय के सामर्थ्यों के रूप से बोधित होती हैं। वार्तिककार भाष्य की उपसंहृत पंक्ति को उठाते हैं–**'नित्यमिति।'** ये प्रातिभादि सिद्धियाँ अभिलाषा किये विना भी स्वतः स्वार्थ-जयी को प्रादुर्भूत होती हैं॥३६॥

बालप्रिया–

'अत्र कश्चित्....परामर्शौचित्याच्च'–मिश्र-भिक्षु-मतभेद–सूत्र में प्रयुक्त अनन्तरवाची 'ततः' पद को लेकर सन्देह होता है कि ये प्रातिभादि सिद्धियाँ किसके अनन्तर प्रादुर्भूत होती हैं? वाचस्पति मिश्र का मत है कि अभ्यस्यमान स्वार्थविषयकसंयम से जब तक पुरुषज्ञानरूप मुख्य फल प्राप्त नहीं होता है तब तक अभ्यासकाल में साधक को आनुषंगिकरूप से (गौणरूप से) प्रातिभादि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। स्वयं मिश्र की शब्दावली में उक्त तथ्य द्रष्टव्य है–

'स च स्वार्थसंयमो न यावत् प्रधानं स्वकार्यं पुरुषज्ञानमभिनिर्वर्त्तयति तावत्, तस्य पुरस्ताद् या विभूतीराधत्ते ताः सर्वा दर्शयति।'

विज्ञानभिक्षु ने स्वार्थविषयक संयम के मुख्य फल पुरुषसाक्षात्कार के पश्चात् प्रातिभादि सामर्थ्यविशेष का प्रादुर्भूत होना स्वीकार किया है। स्वयं भिक्षु के शब्दों में–**'ततः पुरुषसाक्षात्काराद् मनआदीनां प्रातिभादिसंज्ञिकाः सिद्धयः सामर्थ्यविशेषरूपा भवन्ति।'** विज्ञानभिक्षु ने स्वमत के पुष्ट्यर्थ अपने पूर्ववर्ती आचार्य वाचस्पति मिश्र के मत को **'अत्र कश्चित्'** से उठाकर उसे तर्कपूर्ण शैली से दोषावह सिद्ध किया है। भिक्षु का वक्तव्य है कि स्वार्थविषयक संयम की पुरुषज्ञानरूप सिद्धि ही यहाँ मुख्य-रूप से विवक्षित है। किञ्च सूत्र में चकारादि का अभाव होने के कारण उसके अन्तर्गत अन्य सिद्धियों का विश्लेषण करने की आकांक्षा ही नहीं रह जाती है।

अतः प्रकृत सूत्र में '**ततः**' पद से पुरुषज्ञान का ही परामर्श होता है। इस प्रकार भिक्षुमत में प्रातिभादि सिद्धियाँ पुरुषज्ञान के पूर्व नहीं, अपितु उसके पश्चात् स्वार्थ-संयमजयी को हस्तगत होती हैं। भिक्षु परवर्ती सूत्र के भाष्य के साथ अन्तःसंगति बैठाते हुए आगे कहते हैं–'**पुरुषसाक्षात्काररूपपुरुषैकाग्रताप्रत्यनीकतया तु भाष्यकारः प्रातिभादेरसम्प्रज्ञातसमाधावेवोपसर्गत्वं वक्ष्यतीति**।'

वस्तुतः सूत्र में चकारादि पद का अभाव होने के कारण ही उक्त प्रातिभादि सिद्धियों को स्वार्थविषयक संयम का फल न मानना युक्तिपूर्ण प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि किसी प्रकार की सैद्धान्तिक बाधा न आने के कारण यहाँ '**च**' पद को अध्याहृत भी किया जा सकता है। जैसा कि '**अहरहर्नयमानो गामश्वं पुरुषं पशुम्**' इत्यादि स्थल में '**च**' पद के विना भी गौ आदि का समुच्चय किया जाता है। किञ्च भिक्षुमत में भाष्य-विरोधिता इस प्रकार है–'**तद्दर्शनप्रत्यनीकत्वात्**' के द्वारा भाष्यकार ने स्पष्ट शब्दों में प्रातिभादि को पुरुषदर्शन का प्रतिबन्धक बताया है। अतः प्रातिभादि को पुरुष-साक्षात्कार का फल मानना युक्तिपूर्ण नहीं है। क्योंकि जो जिसका प्रतिबन्धक होता हें वह उसका फल नहीं बन सकता है। किञ्च प्रकृत सूत्र में किसी नये आलम्बन को लेकर संयमजन्यसिद्धि वर्णित नहीं हुई है। अतः प्रातिभादि को पुरुषसाक्षात्कार के पूर्व स्वार्थविषयक संयम का ही सिद्ध्यन्तर मानना उचित प्रतीत होता है॥३६॥

पूर्व सूत्र से सम्बन्धित अगला सूत्र उपस्थित हो रहा है–

योगसूत्रम्

[1]ते समाधावुपसर्गा [2]व्युत्थाने सिद्धयः॥३७॥

ये प्रातिभादि सिद्धियाँ समाधि में विघ्नस्वरूप हैं, किन्तु व्युत्थान में सिद्धिरूप हैं॥३७॥

व्यासभाष्यम्

ते प्रातिभादयः समाहितचित्तस्योत्पद्यमाना उपसर्गाः, तद्दर्शनप्रत्यनीकत्वात्। व्युत्थितचित्तस्योत्पद्यमानाः सिद्धयः॥३७॥

ये प्रातिभादि सिद्धियाँ समाहित चित्त के लिये जायमान 'उपसर्ग' हैं, क्योंकि ये पुरुषज्ञान पर प्रतिकूल प्रभाव डालतीं हैं। किन्तु व्युत्थित चित्त के लिये ये सिद्धिस्वरूप हैं॥३७॥

---

1. **एते**–इति पाठान्तरम्।
2. **व्युत्थान०**–इति पाठान्तरम्।

तत्त्ववैशारदी

कदाचिदात्मविषय[1]संयमे प्रवृत्तस्तत्प्रभावादमूरर्थान्तरसिद्धीरधिगम्य कृतार्थम्मन्यः संयमाद्विरमेदत आह—ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः। व्युत्थितचित्तो हि ताः सिद्धीरभिमन्यते, जन्मदुर्गत इव द्रविणकणिकामपि द्रविणसंभारम्। योगिना तु समाहितचित्तेनोपनताभ्योऽ[2]पि ताभ्यो विरन्तव्यम्। अभिसंहिततापत्रयात्यन्तिकोपशमरूपपरमपुरुषार्थः स खल्वयं कथं तत्प्रत्यनीकासु सिद्धिषु रज्येतेति सूत्रभाष्ययोरर्थः॥३७॥

आत्मविषयक संयम में प्रवृत्त योगी इस संयम के प्रभाव से इन प्रातिभादि अवान्तरसिद्धियों को प्राप्त कर अपने को कृतकृत्य (समाप्तकर्तव्य) मानता हुआ कहीं पुरुषविषयक संयम से विरत न हो जाय, तदर्थ सूत्रकार कहते हैं—'**त इति**।' व्युत्थित चित्त वाला योगी ही प्रातिभादि को सिद्धियाँ उसी प्रकार मानता है जिस प्रकार जन्म से दरिद्रनारायण व्यक्ति धनलेश (अल्पधन) को भी धनराशि (प्रचुरधन) समझता है। किन्तु समाहित चित्त योगी को इन सिद्धियों को प्राप्त कर लेने पर भी उनसे विरक्त (उदासीन) रहना चाहिये। क्योंकि 'परम पुरुषार्थ' तो दुःखत्रय की आत्यन्तिक निवृत्ति है। अतः तत्त्वज्ञ योगी परम पुरुषार्थ की विघ्नकारिणी इन सिद्धियों में कैसे आसक्त हो सकता है—यही सूत्रभाष्य का अर्थ है। अतः योगी को उपस्थित तापत्रय की शान्ति के लिये परम पुरुषार्थरूप पुरुषदर्शन से अतिरिक्त और कुछ भी न चाहते हुए इन सिद्धियों से बचने का प्रयास करना चाहिये। क्योंकि पुरुषदर्शन की प्रतिबन्धीभूता ये सिद्धियाँ हेय हैं॥३७॥

योगवार्त्तिकम्

समाधौ विघ्नरूपास्वेतासूपेक्षां कृत्वा पुरुषदर्शनाभ्यास एव कर्त्तव्य इत्येतत्प्रतिपादयितुमाह—ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः। ते प्रातिभादयः समाधिनिष्पत्तावसम्प्रज्ञातरूपायाम् उपसर्गा अन्तरायाः, अतो व्युत्थानापेक्षयैवैते सिद्धयः, पुरुषार्था इत्यर्थः। भाष्ये तद्दर्शनेति। तस्य समाहितस्य दर्शनं यद्दर्शनं पुरुषैकाग्र्यम्, तत्प्रतिबन्धकत्वादित्यर्थः॥३७॥

असम्प्रज्ञात समाधि के प्रति अवरोधस्वरूपिणी इन प्रातिभादि सिद्धियों में तुच्छभाव को जागरित करके साधक को पुरुषदर्शनाभ्यास (पुरुषसाक्षात्कार के लिये अनवरत प्रयत्न) ही करना चाहिये, ऐसा प्रतिपादित करने के लिये सूत्रकार कहते हैं—'**त इति**।' ये प्रातिभादि सिद्धियाँ असम्प्रज्ञात '**समाधि**' की सिद्धि में '**उपसर्ग**' अर्थात् अन्तरायरूपिणी हैं। अतः (असम्प्रज्ञात की दृष्टि से) व्युत्थानरूप सम्प्रज्ञात की तुलना में ही इन प्रातिभादियों को सिद्धि अर्थात् पुरुषार्थ कहा गया है। भाष्य में

---

1. क ख ग थ द ध—**संयम०**, घ च छ ज झ त न—**संयमे**।
2. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न—**अपि ताभ्यः** उपलभ्यते, ज—**अपि ताभ्यः** नोपलभ्यते।

कहा गया है—'तद्दर्शनेति' ये प्रातिभादि सिद्धियाँ समाहित पुरुष का जो पुरुषैकाग्र्य-रूप दर्शन है, उसको प्रतिबन्धित करती हैं॥३७॥

संयमसाध्य अगली सिद्धि का प्रतिपादक सूत्र इस प्रकार है—

योगसूत्रम्

[1]बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरा[2]वेशः॥३८॥

(चित्त के) बन्ध के कारणभूत कर्मसंस्कार के शिथिल पड़ जाने से तथा (चित्त की) गति का ज्ञान होने से चित्त का दूसरों के शरीर में (स्वेच्छानुसार) प्रवेश हो जाता है॥३८॥

व्यासभाष्यम्

लोलीभूतस्य मनसोऽप्रतिष्ठस्य शरीरे [3]कर्माशयवशाद् बन्धः प्रतिष्ठेत्यर्थः। तस्य कर्मणो बन्धकारणस्य शैथिल्यं समाधिबलाद्भवति। प्रचारसंवेदनं च [4]चित्तस्य समाधिजमेव, कर्मबन्धक्षयात्स्वचित्तस्य प्रचारसंवेदनाच्च योगी चित्तं स्वशरीरान्निष्कृष्य शरीरान्तरेषु निक्षिपति। [5]निक्षिप्तं चित्तं चेन्द्रियाण्यनुपतन्ति। यथा मधुकरराजानं मक्षिका उत्पतन्तमनूत्पतन्ति निविशमानमनुनिविशन्ते, तथेन्द्रियाणि परशरीरावेशे चित्तमनुविधीयन्त इति॥३८॥

चञ्चल स्वभाव वाले अस्थिर मन का कर्माशयवश शरीर में प्रतिष्ठित होना 'बन्ध' कहा जाता है। बन्ध के कारणभूत कर्म अर्थात् कर्मसंस्कार का समाधि के बल से शैथिल्य होता है और चित्त की गति का ज्ञान भी उक्त समाधि के द्वारा ही होता है। इस प्रकार कर्मसंस्काररूपी बन्धन के ढीले पड़ जाने और अपने चित्त की गति की जानकारी हो जाने से योगी अपने चित्त को शरीर से बाहर निकालकर अन्य शरीरों में प्रवेश कराता है। चित्त के परशरीरावेश से इन्द्रियाँ भी चित्त का अनुगमन करती हैं। जैसे सहायक मधुमक्खियाँ प्रधान मधुमक्खी के उड़ने पर उड़ती हैं और उसके बैठने पर

---

1. **बद्ध०**—इति पाठान्तरम्।
2. **प्रवेशः**—इति पाठान्तरम्।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**कर्माशयवशात्**, ब—**कर्माशयात्**।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ य र—**चित्तस्य** उपलभ्यते, ब—**चित्तस्य** नोपलभ्यते।
5. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ य र—**निक्षिप्तम्** उपलभ्यते, ब—**निक्षिप्तं** नोपलभ्यते।

बैठ जाती हैं। वैसे ही इन्द्रियाँ भी दूसरे के शरीर में प्रविष्ट होने में चित्त का अनुसरण करती हैं॥३८॥

तत्त्ववैशारदी

तदेवं ज्ञानरूपमैश्वर्यं पुरुषदर्शनान्तं संयमफलमुक्त्वा क्रियारूपमैश्वर्यं संयमफलमाह— बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः। समाधिबलादिति। बन्धकारणविषयसंयमबलात्। प्राधान्यात्समाधिग्रहणम्। प्रचरत्यनेनास्मिन्नि[1]ति प्रचारः। चित्तस्य गमागमाध्वानो नाड्यः। तस्मिन्प्रचारे संयमात्तद्वेदनम्, तस्माच्च बन्धकारणशैथिल्यान्न तेन प्रतिबध्यते। अप्रतिबद्धमप्युन्मार्गेण गच्छन्न स्वशरीरादप्रत्यूहं निष्क्रामति। न च परशरीर-माविशति। तस्मात्तत्प्रचारोऽपि ज्ञातव्यः। इन्द्रियाणि च चित्तानुसारीणि परशरीरे यथाधिष्ठानं निविशन्त इति॥३८॥

इस प्रकार संयम के पुरुषज्ञानपर्यन्त ज्ञानरूप ऐश्वर्य फल को प्रतिपादित करके सूत्रकार उसके क्रियारूप ऐश्वर्य को बताते हैं—'**बन्धेति**' (संयमजन्य सिद्धि के प्रकरण में बहुलता से प्रयुक्त होने वाले '**संयमबलात्**' के स्थान पर भाष्यकार ने यहाँ '**समाधिबलात्**' ऐसा क्यों कहा इस प्रश्न के उत्तरार्थ) तत्त्ववैशारदीकार भाष्य को उठाते हैं—'**समाधिबलादिति**।' '**समाधिबलात्**' पद का अर्थ है—'**बन्धकारणविषयसंयमबलात्**' अर्थात् '**बन्ध**' के कारणभूत '**धर्माधर्म**' विषयक संयमबल से। '**संयम**' के अंशत्रय में '**समाधि**' प्रधान है, इसलिय यहाँ '**समाधि**' शब्द गृहीत हुआ है (किन्तु इससे धारणा तथा ध्यान का भी संग्रह हो जाता है)। '**प्रचार**' शब्द की '**करण**' अथवा '**आधार**' अर्थ में व्युत्पत्ति करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं—'**प्रचरत्यनेनास्मिन् वेति प्रचारः**' अर्थात् जिसके द्वारा अथवा जिसमें चित्त संचरण करता है, उसे '**प्रचार**' कहते हैं। चित्त के आवागमन की मार्गस्वरूपा ये नाड़ियाँ हैं। इसलिये '**प्रचार**' शब्द का अर्थ है—'**नाडी**।' नाडी में संयम करने से योगी को उसका ज्ञान होता है। इस प्रकार चित्त के आवागमन के मार्ग का परिज्ञान होने पर चित्त-बन्ध के कारणभूत धर्माधर्म के शैथिल्य से चित्त शरीर से प्रतिबद्ध नहीं रहता है, अपितु निर्बाधरूप से (बाधारहित होकर) नाडी-मार्ग से बाहर निकल आता है। किन्तु बन्ध के कारण के शिथिल होने मात्र से चित्त बाधाशून्य होकर परशरीर में प्रवेश नहीं कर सकता है। इसलिये योगी को चित्त के आवागमन के नाडी-मार्ग का परिज्ञान होना भी आवश्यक है। इस प्रकार चित्त का अनुसरण करने वाली इन्द्रियाँ भी दूसरे के शरीर में तत्तत् निर्दिष्ट स्थानों मे प्रविष्ट हो जाती हैं॥३८॥

---

1. क ख ग थ द ध—**इति**, घ च छ ज झ त न—**वेति**।

बालप्रिया–

'**बन्धः**'–चंचल स्वभाव वाले अत एव किसी एक विषय में स्थिर अर्थात् प्रतिष्ठित न रहने वाले मन का धर्माधर्म के कारण किसी एक शरीर में जो अवस्थित अर्थात् प्रतिष्ठित होना है, उसे '**बन्ध**' कहते हैं।

'**तस्माच्च**'–यहाँ '**चकार**' शब्द पूर्वोक्त अदृष्टविषयक संयम को समुच्चित करता है। '**परशरीरावेश**' के लिये बन्धकारणविषयक संयम तथा प्रचारविषयक संयम दोनों का समुच्चय ही यहाँ विवक्षित है, न कि उनका विकल्प। फलतः तत्त्ववैशारदीकार ने धर्माधर्मरूप अदृष्टविषयक संयम का फल '**बन्धकारणशैथिल्यात्**' पद द्वारा बतलाया है तथा प्रचारविषयक संयम का फल '**अप्रतिबद्धम्**' पद द्वारा निर्दिष्ट किया है।

'**इन्द्रियाणि च चित्तानुसारीणि**'–इन्द्रियों की चित्तानुसारिता '**प्रत्याहार**' प्रकरण में व्याख्यात हो चुकी है। अतः वहीं द्रष्टव्य है॥३८॥

योगवार्त्तिकम्

तदेवं ज्ञानादिरूपाः संयमसिद्धीः प्रदर्श्य क्रियादिरूपा अपि विभूतीः संयमफलान्याह सूत्रजातेन–बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः। बन्धशब्दार्थमाह–लोलीभूतस्येति। चञ्चलस्वभावस्यात एवाप्रतिष्ठस्यैकत्रानवस्थितस्यापि मनसो धर्माधर्मवशादेव शरीरे या प्रतिष्ठा ज्ञानहेतुः सम्बन्धविशेषः स बन्ध इत्यर्थः। संयमसिद्धित्वोपपादनायाह–तस्येति। तस्य कर्मणः शैथिल्यं [1]भावनेन दृढबन्धनाक्षमता समाधिसामान्यबलाद्भवतीत्यर्थः। तथा च प्रागुक्तं कर्मबन्धनानि श्लथयतीति। प्रचारेति। अनया नाड्या एवंप्रकारेण चित्तं शरीरे प्रविशति निर्गच्छति चेत्यादिविशेषैश्चित्तगतिसाक्षात्कारः प्रचारसंवेदनम्, तदपि समाधिसामान्यादेव भवतीत्यर्थः। सूत्रवाक्यार्थमाह–कर्मेति। [2]कर्मनिमित्तकस्य निर्गमप्रतिबन्धसंयोगविशेषस्य क्षयादित्यर्थः। शेषं सुगमम्॥३८॥

इस प्रकार संयमजन्य ज्ञानप्रधान सिद्धियों को प्रदर्शित करके सूत्रकार संयम की फलरूपा क्रियाप्रधान विभूतियों को भी सूत्रसमूह से बताते हैं–'**बन्धेति**।' भाष्यकार सूत्रगत '**बन्ध**' शब्द का अर्थ करते हैं–'**लोलीभूतस्येति**।' 'लोलीभूत' अर्थात् चञ्चल स्वभाव वाले अत एव '**अप्रतिष्ठ**' अर्थात् एक ध्येय में अवस्थित (स्थिर) न रहने वाले मन की भी धर्माधर्मरूप कर्माशय के ही कारण जो '**प्रतिष्ठा**' होती है अर्थात् ज्ञान का हेतुभूत सम्बन्धविशेष होता है, उसे '**बन्ध**' कहते हैं। संयम द्वारा परशरीरावेशरूप सिद्धि को उपपादित करने के लिये भाष्यकार कहते हैं–'**तस्येति**।' समाधिसामान्य के माहात्म्य से कर्म (धर्माधर्मरूप कर्माशय) के प्रबल बन्ध को शिथिल

---

1. क–**भावने**, ग–**भावः तेन**, घ च–**भावनेन**, ख छ–**भावने/भावः तेन/भावनेन** नोपलभ्यते।
2. क ग–**कर्मबन्धक्षयात्** (कर्म०–प्राक्) उपलभ्यते, ख घ च छ–**कर्मबन्धक्षयात्** नोपलभ्यते।

किया जाता है। अर्थात् समाधिबल से कर्मबन्ध निष्प्रभावी हो जाता है। जैसा कि भाष्यकार पहले कह चुके हैं—'**कर्मबन्धनानि श्लथयति**' (१/१) अर्थात् 'समाधि कर्मबन्धन को निश्शक्त बनाती है।' वार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं—'**प्रचारेति**।' अमुक नाडीविशेष के द्वारा चित्त इस प्रकार (पर) शरीर में प्रविष्ट हो रहा है तथा इस प्रकार उससे बहिर्गत हो रहा है—इत्यादि वैशिष्ट्य के साथ निष्पादित होने वाली चित्तगति के साक्षात्कार को '**प्रचारसंवेदन**' कहते हैं। यह नाडीज्ञान भी समाधिसामान्य से ही समधिगत होता है। भाष्यकार सूत्रवाक्य का अर्थ करते हुए कहते हैं—'**कर्मेति**।' 'कर्म के कारण चित्त के बहिर्गमन को प्रतिबन्धित करने वाले संयोगविशेष का क्षय होने से तथा प्रचारसंवेदन से चित्त का परशरीरावेश होता है। शेष भाष्य सुगम है॥३८॥

सम्प्रति, संयमसाध्य अगली सिद्धि का प्रतिपादक सूत्र प्रस्तुत हो रहा है—

योगसूत्रम्

उदानजयाज्जल[1]पङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च॥३९॥

(संयम द्वारा) उदान वायु को जीत लेने पर योगी की जल, पङ्क, कण्टकादि (की स्वाभाविकता) से अप्रतिबद्धता तथा ऊर्ध्वगामिता होती है॥३९॥

व्यासभाष्यम्

समस्तेन्द्रियवृत्तिः प्राणादिलक्षणा जीवनम्। तस्य क्रिया पञ्चतयी—प्राणो मुखनासिकागतिराहृदयवृत्तिः, समं नयनात्समानश्[2]चानाभिवृत्तिः, अपनयनादपान आपादतलवृत्तिः, उन्नयनादुदान आशिरोवृत्तिः, व्यापी व्यान इति। [3]एषां [4]प्रधानः प्राणः। उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च [5]प्रायणकाले भवति, तां [6]वशित्वेन प्रतिपद्यते॥३९॥

प्राण, अपान आदि सभी इन्द्रियों की जो वृत्ति है, उसे 'जीवन' कहते हैं। इस 'जीवन' नामक इन्द्रियव्यापार के कार्य पाँच प्रकार के हैं—मुख एवं नासिका के द्वारा संचार करने वाला (तथा नासिकाग्र से लेकर) हृदयपर्यन्त

---

1. **पङ्क०**—नोपलभ्यते।
2. घ प फ ब य र—**च** उपलभ्यते, क ख ग च छ ज झ त थ द ध न भ म—**च** नोपलभ्यते।
3. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म य—**एषां**, घ प फ र—**तेषाम्**।
4. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न प फ भ य—**प्रधानं**, घ ब म र—**प्रधानः**।
5. क ग घ च छ झ त थ द ध न प फ ब म य र—**प्रायण०**, ख ज भ—**प्रयाण०**।
6. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**वशित्वेन**, ब—**वशीकृत्य**।

रहने वाला जीवन 'प्राण' कहलाता है, (भुक्त-पीत अन्नादि रस को) समान रूप से ले जाने के कारण नाभिपर्यन्त रहने वाला जीवन 'समान' कहलाता है, मल-मूत्रादि को नीचे ले जाने के कारण पैर के तलुए तक रहने वाला जीवन 'अपान' है, रसादि को ऊपर की ओर ले जाने के कारण सिर तक रहने वाला जीवन 'उदान' है तथा (सम्पूर्ण शरीर में) व्याप्त रहने वाला जीवन 'व्यान' है। इन पाँच जीवनों में 'प्राण' प्रधान है। संयम द्वारा उदान को जीत लेने से जल, कीचड़ तथा कण्टक इत्यादि से बाधा नहीं पड़ती है और मरणकाल में योगी का ऊर्ध्वगमन होता है। इस ऊर्ध्वगामिता को योगी अपने अधीन कर लेता है॥३९॥

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार जलादिविषयिणी निर्बाधता तथा ऊर्ध्वगामिता संज्ञक सिद्धि का प्रतिपादन करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च। समस्तेन्द्रियवृत्तिर्जीवनम्। प्राणादिलक्षणा प्राणादयो लक्षणं यस्याः सा तथोक्ता। द्वयीन्द्रियाणां वृत्तिर्बाह्याभ्यन्तरी च। बाह्या रूपाद्यालोचनलक्षणा। आभ्यन्तरी तु जीवनम्। स हि प्रयत्नभेदः शरीरोपगृहीतमारुत-क्रियाभेदहेतुः सर्वकरणसाधारणः। यथाहुः–

[1]सामान्य[2]करणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च इति।

तैरस्य लक्षणीयत्वात्तस्य [3]प्रयत्नस्य क्रिया कार्यं पञ्चतयी। प्राण आ नासिकाग्रादा च हृदयादवस्थितः। अशितपीताहारपरिणतिभेदं रसं तत्र तत्र स्थाने सममनुरूपं नयन्समानः। आ हृदयादा च नाभेरस्या[4]वस्थानम्। मूत्रपुरीषगर्भादीनामपनयनहेतुरपानः। आ नाभेरा च पादतलादस्य वृत्तिः। उन्नयनादूर्ध्वं नयनाद्रसादीनामुदानः। आ नासिकाग्रादा च शिरसो वृत्तिरस्य। व्यापी व्यानः। एषामुक्तानां प्रधानं प्राणः, तदुत्क्रमे सर्वोत्क्रमश्रुतेः–

प्राणमुत्क्रामन्तमनु सर्वे प्राणा उत्क्रामन्ति इति।

तदेवं प्राणादीनां क्रियास्थानभेदेन भेदं प्रतिपाद्य सूत्रार्थम[5]वधारयति–उदानजयादिति। उदाने कृतसंयमस्तज्जयाज्जलादिभिर्न प्रतिहन्यते उत्क्रान्तिश्चार्चिरादिमार्गेण भवति [6]प्रयाण-

1. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न–**सामान्य०**, त–सामान्या।
2. क ख ग घ च ज झ त थ द ध न–**करण**, छ–**करणम्**।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध–**प्रयत्नस्य** उपलभ्यते, न–**प्रयत्नस्य** नोपलभ्यते।
4. क ख ग थ द ध–**स्थानं**, घ च छ ज झ त न–**अवस्थानम्**।
5. क ग च छ झ त–**अवतारयति**, ख घ ज थ द ध न–**अवधारयति**।
6. क ख ग घ च छ ज झ त न–**प्रायण०**, थ द ध–**प्रयाण०**।

काले। तस्मात्तामुत्क्रान्तिं वशित्वेन प्रतिपद्यते। प्राणादिसंयमात्तद्विजये [1]विभूतय एताः क्रिया-स्थानविजयादिभेदात्प्रतिपत्तव्याः॥३९॥

'**उदानेति**' निखिल इन्द्रियों की (प्राण, अपान आदि रूप) जो वृत्ति है, उसे '**जीवन**' कहते हैं। भाष्यगत '**प्राणादिलक्षणा**' पद का विग्रह करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं–'**प्राणादयो लक्षणं यस्याः सा तथोक्ता**' अर्थात् जिसके प्राणादि (लक्षण) हैं, इस प्रकार की प्राणादिलक्षणक इन्द्रियवृत्ति है। इन्द्रियों की वृत्ति (क्रिया) दो प्रकार की है–'**बाह्यवृत्ति**' तथा '**आभ्यन्तरवृत्ति**'। इन्द्रियों की रूपाद्यालोचनरूपा बाह्यवृत्ति है तथा जीवनरूपा आभ्यन्तरवृत्ति है। किञ्च शरीरधारक पवनविशेष का हेतुभूत यह प्रयत्नविशेष निखिल करणों का साधारण व्यापार है। जैसा कि कहा गया है–'**सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च**' (सां का. २९) अर्थात् 'प्राणादि पाँच वायु करणों की सामान्यवृत्ति है।' प्राणादि व्यापारों के द्वारा इसे लक्षित किया जाता है, इसलिये इन्हें प्रयत्न का पाँच प्रकार का कार्य (क्रियाव्यापार) कहा गया है। नासिका के अग्रभाग से लेकर हृदयदेशपर्यन्त रहने वाला जो जीवनवृत्तिविशेष है, उसे '**प्राण**' कहते हैं। भुक्त तथा पीत (अन्नादि तथा दुग्धादि) आहार के परिणामरूप रस को तत्-तत् (वाञ्छित) स्थानों में समान रूप (तुल्य परिमाण) से पहुँचाने वाला प्रयत्न (जीवनवृत्तिविशेष) '**समान**' कहलाता है। हृदय से लेकर नाभिपर्यन्त यह अवस्थित रहता है। मूत्र, पुरीष (मल) तथा गर्भादि के बहिर्गमन का हेतुभूत प्रयत्न (जीवन-वृत्तिविशेष) '**अपान**' पदवाच्य है। नाभि से लेकर पादतलपर्यन्त यह अवस्थित रहता है। रसादिकों के उन्नयन=ऊपर की ओर ले जाने से यह प्रयत्न (जीवनवृत्तिविशेष) '**उदान**' कहलाता है। नासिका के अग्रभाग से लेकर सिरपर्यन्त यह अवस्थित रहता है। (सम्पूर्ण शरीर में) व्याप्त प्रयत्न (जीवनवृत्तिविशेष) को '**व्यान**' कहते हैं। उक्त पाँच प्रकार के प्रयत्नभेदों में '**प्राण**' प्रधान (मुख्य) है, क्योंकि '**प्राण**' के ऊर्ध्वगमन (उत्क्रमण) से अन्य सभी प्रयत्नविशेषों का उत्क्रमण होता है। तदर्थ श्रुति है–'**प्राण-मुत्क्रामन्तमनु सर्वे प्राणा उत्क्रामन्ति**' अर्थात् 'उत्क्रमित प्राण के पीछे दूसरे सभी प्राण उत्क्रमण करते हैं।' अर्थात् प्राणानुसारी अन्य जीवनविशेष प्राण के पीछे-पीछे शरीर से कूच (प्रस्थान) कर जाते हैं। इस प्रकार क्रिया तथा अवस्थितिभेद से प्राणादि प्रयत्नविशेषों के अन्तर को प्रतिपादित कर भाष्यकार सूत्रार्थ को निर्धारित करते हैं–'**उदानजयादिति**।' '**उदान**' में कृतसंयम योगी उदानजय के पश्चात् जलादि के द्वारा बाधायुक्त नहीं होता है तथा ऐच्छिक मृत्युकाल में उसका अर्चिरादि मार्ग से ऊर्ध्व-

1. क ख ग छ–**विभूतय एव ता क्रियास्थानविजयादिभेदात्**, घ च झ त–**भूतजय एताः क्रिया-स्थानविजयादिभेदात्**, ज–**विभूतय उदानजयादिषु**, ध द ध न–**विभूतय एताः क्रियास्थान-विजयादिभेदात्**।

गमन होता है। अर्थात् शरीर-त्याग के समय अर्चिरादि मार्ग से योगी ब्रह्मलोक में ऊर्ध्वगमन करता है। इस प्रकार उदानजयी **'उत्क्रान्ति'** को अपने अधीन कर लेता है। प्राणादिविषयक संयम से प्राणादि के विजित होने पर प्राप्त होने वाली ये विभूतियाँ तत्-तत् 'जीवनवृत्तियों' के क्रिया और स्थानभेद से जानने योग्य हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि उदायजय के समान प्राणादिजय से भी तत्-तत् वायुविशेषों के व्यापार एवं स्थान योगी के वशीभूत हो जाते हैं॥३९॥

बालप्रिया—

'समस्तेन्द्रियवृत्तिर्जीवनम्'—यहाँ **'समस्तेन्द्रिय'** शब्द पर विचार किया जा रहा है—

शङ्का—विचारणीय है कि **'समस्तेन्द्रिय'** शब्द से कितनी इन्द्रियों का ग्रहण किया जाय? क्या **'समस्त'** शब्द से यच्च-यावत् त्रयोदशकरण का ग्रहण होता है? अथवा करणों के 'अन्तः' और **'बाह्य'** इन द्विवर्गों में से किसी एक वर्ग के निखिल करणों के ज्ञापनार्थ **'समस्त'** पद प्रयुक्त हुआ है?

समाधान—उत्तर है कि **'समस्तेन्द्रिय'** शब्द से **'अन्तःकरणत्रय'** का ही ग्रहण होता है, न कि बाह्येन्द्रियों का भी। अर्थात् **'समस्त'** शब्द अन्तरिन्द्रियों के समूह का वाचक है, न कि बाह्येन्द्रिय समूह का भी। कारण यह है कि सुषुप्ति में चक्षुरादि अपने-अपने व्यापार से विरत रहते हैं फिर भी प्राणादि क्रियाएँ देखने में आती हैं। अत एव आचार्य कपिल तथा ईश्वरकृष्ण ने प्राणादि को अन्तःकरण (बुद्धि, अहंकार तथा मन) त्रय का सामान्यव्यापार स्वीकृत किया है। सांख्यकारिका में अन्तःकरण के सम्बन्ध में **'त्रयाणां स्वालक्षण्यम्'** से बुद्ध्यादित्रय का **'अध्यवसायादि'** असाधारण व्यापार बतलाकर **'सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च'** से उनका साधारण व्यापार अभिहित हुआ है। निष्कर्षतः प्राणादि अन्तःकरणत्रय की साधारण वृत्तियाँ हैं।

'वशित्वेन'—उदानविषयक संयम से उदानजयी अर्चिरादि मार्ग से ऊर्ध्वोत्क्रान्ति को प्राप्त करता है। उदानवशित्व के विना योगी का ऊर्ध्वोत्क्रमण नहीं होता है। अतः साधक को ऊर्ध्वगामिता के लिये उदानजयी होना आवश्यक है॥३९॥

योगवार्त्तिकम्

योगशास्त्रोक्तसंयमविशेषेणोदानजयात्सिद्धिमाह—उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च। उदानं विवेचयितुं प्राणादीन् पञ्चैव स्वरूपतोऽवान्तरभेदतश्च प्रतिपादयति—समस्तेति। जीवननाम्नी सर्वेन्द्रियाणां वृत्तिः प्राणनापाननादिरूपेत्यर्थः। अत्रेन्द्रियशब्देन स्थूल-सूक्ष्योभयपरतया करणमात्रग्रहणम्। समस्तशब्दोऽपि सामान्यवचनः,

सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च

इति सांख्ये दर्शनात्। तेन सुषुप्तौ चक्षुराद्युपरमेऽपि प्राणादिवृत्तयो जीवनयोनियत्न-वशादन्तःकरणस्यैव भवन्ति निद्रावृत्तिवदिति। न चैवं चित्तमात्रस्यैव लाघवात्प्राणादिवृत्ति-

कत्वमस्त्विति वाच्यम्, चक्षुराद्युपचयापचयाभ्यां प्राणानामुपचयापचयदर्शनात्। अथ वा सुषुप्तेऽपीन्द्रियाणां ज्ञानकर्मलक्षणवृत्त्योरेव प्रतिषेधात् प्राणनादिवृत्तिसत्त्वेऽप्यक्षतिः।

योगशास्त्रोक्त संयमविशेष से **'उदानजय'** पूर्वक प्राप्त होने वाले सामर्थ्यविशेष (सिद्धि) को सूत्रकार बताते हैं–**'उदानेति।'** (प्रस्तुत सूत्र में निर्दिष्ट) उदानाख्य वायु को विश्लेषित करने के लिये भाष्यकार प्राणादि पञ्च वायु का ही स्वरूपतः तथा अवान्तरभेद के साथ प्रतिपादन करते हैं–**'समस्तेति।'** समस्त इन्द्रियों की **'जीवन'** नाम की वृत्ति प्राणन, अपानन आदि स्वरूप वाली हैं। यहाँ भाष्य में **'इन्द्रिय'** शब्द से स्थूलपरक तथा सूक्ष्मपरक दोनों प्रकार के करणसामान्य का ग्रहण होता है। **'समस्त'** शब्द भी यहाँ **'सामान्य'** का वाचक है, क्योंकि सांख्यवचन **'सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च'** (सां. का. २९) अर्थात् 'प्राणादि पञ्च वायु करणसामान्य की वृत्ति हैं'– से ऐसा ज्ञात होता है। इसलिये सुषुप्ति-अवस्था में चक्षुरादि इन्द्रियों के स्व-स्व रूपादिदर्शनरूप व्यापार से उपरत हो जाने पर भी जीवनयोनियत्नवशात् प्राणादि-वृत्तियाँ अन्तःकरण की ही होती हैं, निद्रावृत्ति के समान।

शङ्का–तो फिर लाघव से प्राणादि वृत्तियों को चित्तमात्र का ही व्यापार माना जाय?

समाधान–ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रियों के वृद्धि-ह्रास (उपचयापचय) से प्राणादि वायु का सबल-दुर्बल होना दिखलाई पड़ता है। अथवा सुषुप्ति में इन्द्रियों के ज्ञानलक्षण और कर्मलक्षणपरक व्यापारों का ही प्रतिषेध होने से उनकी प्राणादिवृत्ति के होने में किसी भी प्रकार की क्षति नहीं आती है। अर्थात् प्राणनादि को **'करणमात्र'** की क्रिया मानने का सिद्धान्त व्याहत नहीं होता है।

सम्प्रति, **'प्राणादि'** के लिये 'वायु' शब्द के व्यवहार की युक्तियुक्तता को वार्तिककार शंका-समाधान की शैली से सिद्ध करते हैं--

योगवार्त्तिकम्

ननु बाह्यवायुभिरन्तःप्राणानां समानलक्षणत्वाद् वायुसंस्थानविशेषा एव प्राणाः सन्तु, किमर्थं करणानामपि वायुतुल्यः क्रियाऽऽदिः कल्प्यत इति चेत्? न; प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुरित्यादिश्रुतिषु वायोः प्राणकार्यत्वश्रवणात्, न वायुक्रिये पृथगुपदेशादिति ब्रह्मसूत्रे वायुतत्सञ्चाराभ्यामतिरेकस्य प्राणेऽवधारणाच्च। श्रुतिस्मृत्यनुगृहीता युक्तिश्चात्रास्ति–यदि करणप्राणौ भिन्नौ स्यातां तदा करणवियोगेऽपि मृतदेहवत् कदाचित् प्राणा अपि [1]तिष्ठेरन्। किं चान्तःकरणस्य शोकादिना प्राणस्य कम्पादिर्दृश्यते, तत्र लाघवात्सामानाधिकरण्येनैव कार्यकारणभावो युक्तोऽन्यधर्मेणान्यपरिणामेऽतिप्रसङ्गात्; अदृष्टकल्पनाऽऽपत्तेश्च। अपि च लिङ्गशरीरस्य देहशृङ्खलया बन्ध एव कर्मादीनां हेतुत्वं कल्प्यते न तु वायुबन्धनेऽपि गौरवात्;

---

1 क ग घ च–तिष्ठेरन्, छ–तिष्ठेयुः, ख–तिष्ठेरन्/तिष्ठेयुः नोपलभ्यते।

उद्गारादिवायूनां जीवदेहपरित्यागदर्शनाच्च; वायुगतवैजात्यादिकल्पनायां चातिगौरवादिति। लिङ्गशरीरस्योर्ध्वाधःसञ्चारादुत्पद्यमानेन वायुना सहाविवेकात्तु तप्तायःपिण्डवत्प्राणेषु वायु-व्यवहारः। अनेनैव व्यवहारेण सांख्येऽपि प्राणाद्या वायवः पञ्चेत्युक्तम्। अपि च श्रुति-स्मृत्योः करणप्राणयोः भेदव्यवहारो वृत्तिभेदादेव मन्तव्यः। ऊर्ध्वाधोगतिलक्षणाः करणानां परिणामभेदाः प्राणा इत्युच्यन्ते, तत्र च वायुरधिष्ठात्री देवता सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राण इत्यादि-श्रुतेः, ज्ञानादिहेतुपरिणामास्तु करणान्युच्यन्त इति विभागः। अतो देवतया सहाभेदादपि सूर्यश्चक्षुरितिवद् वायुः प्राण इति व्यवहारो युक्त इति।

शङ्का—बहिर्वर्ती वायुविशेषों के साथ अन्तर्वर्ती प्राणादि वायु का स्वरूप तुल्य होने से प्राणादि को वायुसंस्थानविशेष ही माना जाय और तब करणों के वायुतुल्य प्राणादि व्यापार (क्रिया) की भी परिकल्पना क्यों की जाय?

समाधान—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि '**प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुः**' (मुण्ड. उप. २/१/३) इत्यादि श्रुतियों में '**प्राण**' को वायु का कार्य कहा गया है तथा '**न वायुक्रिये पृथगुप-देशात्**' (२/४/९) इस ब्रह्मसूत्र में वायु और तज्जन्य संचार दोनों से भिन्न को प्राण सिद्ध किया गया है। इस विषय में श्रुति-स्मृति-पोषित युक्ति भी है—यदि त्रयो-दशकरण और प्राणादि पञ्च वायु को पृथक्-पृथक् माना जाय तो मृत्युकाल में करणव्यापार का अभाव रहने पर भी मृतशरीर की भाँति कदाचित् प्राणादि का सद्भाव भी होना चाहिये? किन्तु ऐसा देखने में नहीं आता है। किञ्च अन्तःकरण-गत शोकादि से प्राण की भी कम्पनादि क्रियाएँ दिखाई पड़ती हैं। अतः लाघव से सामानाधिकरण्य के द्वारा इन्द्रियादिकरण और प्राणादि वायु में कारणकार्यभाव-सम्बन्ध मानना ही युक्तिसंगत है, क्योंकि (वैयधिकरण्यन्याय से) अन्य के धर्म से अन्य का व्यापार मानने पर अतिप्रसङ्ग दोष आयेगा तथा अदृष्ट कल्पना भी करनी पड़ेगी। किञ्च सूक्ष्मशरीर का (देह से देहान्तर प्राप्तिरूप) स्थूलदेह-शृङ्खला के साथ होने वाले '**बन्ध**' का ही कारण कर्मादि है, न कि प्राणाख्य वायुबन्ध का भी कारण कर्मादि है, क्योंकि कर्मादि को सूक्ष्मशरीर तथा प्राणाख्य वायु दोनों के बन्ध का कारण मानने पर गौरवदोष प्रसक्त होगा। किञ्च उद्गार (डकार) आदि वायु में जीव का देह से परित्याग दिखाई देता है और वायुगत वैजात्य की कल्पना करने में अतिगौरव होगा। स्थूलशरीर में सूक्ष्मशरीर का ऊपर-नीचे सञ्चरण होने के कारण प्रादुर्भूत वायु के साथ प्राणादि वायु की भिन्नता न रहने से प्राणादियों में '**वायु**' शब्द का व्यवहार उसी प्रकार किया जाता है जिस प्रकार अयःपिण्ड में तप्तता (अग्नि की दाहक-शक्ति लोह में प्रतिसंक्रान्त होने से विवेकाग्रहवश लोह में दाहकता) का व्यवहार किया जाता है। इसी अविवेकपूर्ण व्यवहार के कारण सांख्य में ऐसा कहा गया है कि प्राणादि पञ्च वायु हैं—'**प्राणाद्या वायवः पञ्च**'। किञ्च श्रुति,

स्मृतियों में करण तथा प्राण को जो भिन्न-भिन्न माना गया है, उसे वृत्तिभेद के ही कारण समझना चाहिये। इस प्रकार करणों के ऊर्ध्वगतिलक्षणक तथा अधोगति-लक्षणक परिणामभेदों (क्रियाविशेषों) को **'प्राण'** कहते हैं। इनका अधिष्ठात्री देवता वायु है, क्योंकि ऐसी श्रुति है–**'सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणः'** तथा इन्द्रियों के ज्ञानादिहेतुक परिणामभेदों को **'करण'** कहते हैं। यही **'करण'** और **'प्राणादि'** में अन्तर है। अतः देवता के साथ अभेद होने से चक्षु को सूर्य जिस प्रकार कहा जाता है उसी प्रकार अभेद-विवक्षया **'प्राण'** के लिये **'वायु'** शब्द का व्यवहार भी युक्तियुक्त है।

सम्प्रति, योगवार्त्तिककार निषेधमुख से प्राणादि के विषय में मतान्तर को प्रस्तुत करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

कश्चित्तु–अत्र प्राणादिजीवनशब्दाभ्यां प्राणनादिनामकवायुक्रियाविशेषहेतुः प्रयत्नभेद एवोक्तः, स च करणनिष्ठ इति भाष्यार्थमाह–तन्न, विवरणभाष्ये प्राणादीनां गत्यादिवचनस्य विरोधात्, अत्रापि सांख्यकारिकाब्रह्ममीमांसैकवाक्यत्वौचित्यात्, वायोः प्राणत्वस्य क्वापि दर्शने सूत्रकारानुक्तत्वाच्च। अत एव च लिङ्गशरीरमध्ये प्राणा न गण्यन्ते, करणे[1]प्रवेशादिति। तस्येति। तस्य करणसामान्यस्य साधारणी क्रिया पञ्चतयी क्रियोपलक्षितपरिणामभेदः [2]पञ्च-तय इत्यर्थः। [3]समुन्नयनादिति। सममनुरूपं नाडीषु रसानां नयनात्समानः। अस्य च हृदयान्ना-भिपर्यन्तं वृत्तिः। अपेति। मूत्रपुरीषगर्भादीनामपसरणहेतुरपानः, अस्यानाभेः पादतलपर्यन्तं वृत्तिः। उन्नयनादिति। ऊर्ध्वगतिप्रदत्वात् रसाद्यूर्ध्वनयनाच्चोदानः, अस्य च मुखनासिकाऽऽ-दिकमारभ्य ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं वृत्तिः। व्यापीति। सर्वदेहव्यापिवृत्तिको बलवत्कर्महेतुर्व्यानः। ननु सर्वेषां वृत्तिभेदात् कथं पञ्च प्राणा इत्युच्यन्ते? तत्राह–एषामिति। प्राणो यदश्नाति पिबति तेनैवान्येषां धारणं भवतीति कृत्वैतेषां प्राणो मुख्यः। अतो मुख्यस्य नामादिभिर्गौणानां व्यवहारो राजानुगतेषु राजव्यवहारवदिति भावः। तदेवमुदानं व्याख्याय सूत्रं व्याचष्टे–उदानजयादिति। उदानसंयमादन्यसंयमाद्वोदानवायोः स्वायत्ततायां सत्यां जलपङ्ककण्टकादी-नाम् उपरि सञ्चरतोऽपि तेष्वसङ्गो भवति तैर्विकारहेतुः संयोगो न भवति, तथाऽर्चि-रादि[4]मार्गैः गमनाय स्वेच्छयोत्क्रान्तिर्भवतीत्यर्थः। प्रसङ्गादाह–तामिति। तामूर्ध्वमुत्क्रान्ति-मुदानवशित्वं विना न लभत इत्युदानजयी स्यादित्यर्थः॥३९॥

पूर्वपक्ष–कुछ लोग प्राणादि नामक वायुक्रियाविशेष के हेतुभूत **'प्रयत्नभेद'** को ही **'प्राणादि'** तथा **'जीवन'** शब्दों से अभिहित करते हैं और वह **'प्रयत्नभेद'** करणनिष्ठ

1. क ग घ च छ–**अप्रवेशात्**, ख–**प्रवेशात्**।
2. क ग घ च छ–**पञ्चतयः**, ख–**पञ्चतः**।
3. क ग च छ–**समुन्नयनात्**, ख घ–**समनयनात्**।
4. क च छ–**मार्गे**, ख ग घ–**मार्गैः**।

होता है, ऐसा भाष्यार्थ करते हैं।

उत्तरपक्ष–ऐसा नहीं है, क्योंकि विवरणभाष्य में प्राणादि के लिये '**गति**' आदि वचन का विरोध किया गया है। अतः यहाँ भी सांख्यकारिका और ब्रह्ममीमांसा में एकवाक्यता करनी उचित है तथा किसी भी दर्शन में बाह्य वायु का प्राणत्व सूत्रकार द्वारा उक्त नहीं है। इसलिये लिङ्गशरीर के अवयवों की गणना के प्रसंग में प्राणों को परिगणित नहीं किया गया है, क्योंकि '**करण**' में ही '**प्राणों**' का प्रवेश हो जाता है। वार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–'**तस्येति**।' करणसामान्य का साधारणव्यापार पाँच प्रकार का है। अर्थात् करणों का क्रियोपलक्षित (क्रियाविशिष्ट) परिणामभेद पञ्चविध है। वार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–'**समुन्नयनादिति**।' जो (भुक्त अन्नादि के परिपाकरूप) रसों को तुल्य परिमाण में (समान रूप से) नाडियों में पहुँचाता है, उसे '**समान**' कहते हैं। हृदय से लेकर नाभिपर्यन्त समानवायु का व्यापारक्षेत्र (वृत्तित्व) है। वार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–'**अपेति**।' मल, मूत्र, गर्भादि के **अधःपतन** का हेतुभूत वायु '**अपान**' है। नाभि से लेकर पैर तक अपानवायु की वृत्ति होती है। वार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–'**उन्नयनादिति**।' (प्राण को) ऊर्ध्वगति प्रदान करने के कारण तथा (भुक्त अन्नादि के परिपाकरूप) रसादियों को ऊपर ले जाने के कारण एक वायुविशेष '**उदान**' कहलाता है। इस उदानाख्य वायु की वृत्ति मुख, नासिका आदि से लेकर ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त होती है। वार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–'**व्यापीति**।' सम्पूर्ण देह में व्याप्त रहने वाला बलवत् कर्म का हेतुभूत वायु '**व्यान**' कहा गया है।

शङ्का–प्राण, अपान आदि सभी वायुविशेषों के व्यापार भिन्न-भिन्न होने से पञ्च प्राण हैं, ऐसा कैसे कहा गया है?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**एषामिति**।' प्राण ही जो कुछ खाता-पीता है उसी से ही अन्य जीवनवृत्तियों का अस्तित्व रहता है–इसी दृष्टि से पञ्च जीवनवृत्तियों में '**प्राण**' मुख्य (प्रधान) है। अप्रधानों (अपानादियों) को मुख्य (प्राण) के नामादि से व्यवहृत करना राजसेवकों के लिये '**राजपुरुष**' शब्द के व्यवहार की भाँति है, ऐसा बतलाना यहाँ अभिप्रेत है। इस प्रकार उदानाख्य वायु को विश्लेषित करके भाष्यकार सूत्रार्थ करते हैं–'**उदानजयादिति**।' उदानाख्यवायुविषयक संयम से उदानवायु को स्वायत्तीकृत (स्वाधीन) करके जल, पङ्क तथा कण्टकादियों के ऊपर (भूमिवत्) सञ्चरण करता हुआ भी योगी उनसे '**असङ्ग**' रहता है। अर्थात् जल (की आर्द्रता-निमग्नता) पङ्क (की मलिनता) तथा कण्टक की (भेदता आदि रूप) विकारता से प्रभावित नहीं होता है तथा (मृत्युकाल में) अर्चिरादि मार्गों से जाने के लिये उसकी स्वेच्छापूर्वक उत्क्रान्ति होती है। भाष्यकार प्रसंगतः बताते हैं–

'तामिति।' संयमाभ्यासी उदानजयी हुए विना अर्थात् उदानाख्यवायु को वशीभूत किये विना ऊर्ध्वगति को प्राप्त नहीं करता है। अतः योगी को उदानजयी होना चाहिये॥३९॥

बालप्रिया–

'**जीवननाम्नी सर्वेन्द्रियाणां वृत्तिः प्राणनापानादिरूपा'–मिश्र-भिक्षु का योगमत सांख्यमत से भिन्न**–प्राणादि पञ्च वायु किन करणों का साधारण व्यापार है? इस विषय में मिश्र तथा भिक्षु का योगमत सांख्यमत से भिन्न प्रतीत होता है। वाचस्पति मिश्र की तत्त्ववैशारदी '**समस्तेन्द्रियवृत्तिर्जीवनम्....सर्वकरणसाधारणः**' तथा विज्ञानभिक्षु के योगवार्त्तिक की '**जीवननाम्नी सर्वेन्द्रियाणां वृत्तिः....। अत्रेन्द्रियशब्देन स्थूलसूक्ष्मोभयपरतया करणमात्रग्रंहणम्**' इन पंक्तियों से यह निर्विवाद प्रतीत होता है कि इन दोनों आचार्यों ने योगशास्त्र में प्राणादि पञ्च वायु को त्रयोदश करण का साधारण व्यापार माना है। किन्तु '**सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च**' (सां. का. २९)–इस सांख्यकारिका की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र ने तथा '**सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च**' (सां. सू. २/३१) इस सांख्य सूत्र की व्याख्या करते हुए विज्ञानभिक्षु ने सांख्यशास्त्र में प्राणादि पञ्च वायु को अन्तःकरणत्रय का साधारण व्यापार बताया है। तदर्थ उक्त व्याख्याकारों की निम्नाङ्कित शब्दावली द्रष्टव्य है–'**त्रयाणामपि करणानां पञ्च वायवो जीवनं वृत्तिः, तद्भावे भावात् तदभावे चाभावात्**'–(सां. त. वै. २९), '**सामान्या साधारणी करणस्यान्तःकरणत्रयस्य वृत्तिः परिणामभेदा इत्यर्थः**' (सां. प्र. भा. २/३१)।

यहाँ यह संकेत करना अप्रासंगिक न रहेगा कि तत्त्ववैशारदी के टिप्पणकार बालरामोदासीन ने तत्त्ववैशारदी में प्रयुक्त '**समस्तेन्द्रिय**' शब्द को अन्तःकरणत्रय का ही बोधक मानकर मिश्र के अनुसार सांख्ययोगशास्त्र में प्राणादिवृत्ति के अन्तःकरण-त्रय का ही व्यापारविशेष होने की एकवाक्यता स्थापित की है तथा भिक्षु के एत-त्सम्बन्धी मत को स्ववचोव्याघातदोषयुक्त घोषित किया है। स्वयं बालरामोदासीन की शब्दावली में–'**अत्र समस्तेन्द्रियशब्देनाऽन्तःकरणत्रयमेव गृह्यते, न तु बाह्येन्द्रियाण्यपि। सुषुप्तौ चक्षुराद्यपगमेऽपि प्राणव्यापारदर्शनात्। अत एव कपिलाचार्यैरीश्वरकृष्णैश्चाऽन्तःकरण-प्रस्तावे 'त्रयाणां स्वालक्षण्यम्' इत्यनेनाऽसाधारणीरध्यवसायादिवृत्तीर्यथायथमुक्त्वा 'सामान्य-करणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च' इत्यभिहितम्। एतेन समस्तेन्द्रियशब्देन बाह्याभ्यन्त-रोभयेन्द्रियग्रहणं वदन् विज्ञानभिक्षुर्गलहस्तितो वेदितव्यः। किञ्च 'सामान्यकरणवृत्तिरिति' सूत्रव्याख्याने 'अन्तःकरणत्रयस्य साधारणी वृत्तिः प्राणादि' इत्युक्त्वा, अत्र तद्विरुद्धं वदन् कथमात्मानं टीककं मन्यते इति स एव वाच्यः**' (३/३९, बालरामोदासीन टिप्पण पृ. २४८)॥३९॥

संयमसाध्य अगली सिद्धि का प्रतिपादक सूत्र इस प्रकार है–

योगसूत्रम्

समानजयाज्[1]ज्वलनम्॥४०॥

(संयम द्वारा) 'समान' पर विजय प्राप्त करने पर योगी चमकता है॥४०॥

व्यासभाष्यम्

जितसमानस्तेजस [2]उपध्मानं कृत्वा [3]ज्वलति॥४०॥

संयम द्वारा समान को जीतने वाला योगी (शरीरगत) तेज को उद्भावित करके प्रकाशित होता है॥४०॥

तत्त्ववैशारदी

समानजयाज्ज्वलनम्। तेजसः शारीरस्योपध्मानमुत्तेजनम्॥४०॥

'**समानेति**।' उदानजयी का शरीरगत तेज '**उपध्मान**' अर्थात् प्रदीप्त होता है॥४०॥

बालप्रिया–

उत्तेजनम्/ज्वलति–कुछ विद्वानों का मत है कि उदानजयी सती स्त्री के समान अपने शरीर को भस्मीभूत करने में समर्थ होता है। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि जठराग्नि को आवृत्त करके रखने वाले '**समान**' को अपने वश में करने से योगी की जठराग्नि का आवरण क्षीण हो जाता है। फलतः अनावृत्त अग्नि के तेज से योगी का शरीर देदीप्यमान प्रतीत होता है॥४०॥

योगवार्त्तिकम्

समानजयाज्ज्वलनम्। संयमविशेषजात्समानजयात् ज्वलनं भवतीत्यर्थः। भाष्ये– उपध्मानम् उत्तेजनं कृत्वा ज्वलति सती[4]वत्स्वशरीरं दहतीत्यर्थः॥४०॥

'**समानेति**।' संयमविशेष से उत्पन्न समानाख्य वायुजय से योगी ज्वलनशील हो जाता है। भाष्य में कहा गया है कि योगी अपने शरीर को '**उपध्मान**' अर्थात् प्रदीप्त करके सती रमणी की भाँति भस्म कर देता है॥४०॥

संयमसाध्य अगली सिद्धि है–

योगसूत्रम्

श्रोत्राकाशयोः संबन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम्॥४१॥

---

1. **प्रज्वलनं, उज्ज्वलप्रायम्**–इति पाठान्तरे।
2. क ख घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र–**उपध्मानं**, ग–**उपाध्यानम्**।
3. क ख ग च छ ज झ त थ ध न ब–**ज्वलयति**, घ द प फ भ म य र–**ज्वलति**।
4. क ख घ च छ–**वत्**, ग–**इव**।

श्रोत्रेन्द्रिय तथा आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से दिव्य श्रोत्र हो जाता है॥४१॥

व्यासभाष्यम्

सर्वश्रोत्राणामाकाशं प्रतिष्ठा [1]सर्वशब्दानां च। [2]यथोक्तम्—तुल्यदेशश्रवणानामेक[3]देशश्रुतित्वं सर्वेषां भवतीति। तच्चैतदाकाशस्य लिङ्गम् [4]अनावरणं चोक्तम्। तथाऽ[5]मूर्तस्यानावरणदर्शनाद्विभुत्वमपि [6]प्रख्यातमाकाशस्य। शब्द[7]ग्रहणानुमितं श्रोत्रम्, बधिराबधिरयोरेकः शब्दं गृह्णात्यपरो न गृह्णातीति। तस्माच्छ्रोत्रमेव शब्दविषयम्। श्रोत्राकाशयोः संबन्धे कृतसंयमस्य योगिनो दिव्यं श्रोत्रं प्रवर्तते॥४१॥

समस्त श्रोत्रेन्द्रिय तथा समस्त शब्दों का आधार 'आकाश' है। जैसा कि कहा गया है—'समान स्थान में स्थित सभी लोगों को एक देश वाले अर्थात् एक ही प्रकार के शब्द सुनाई पड़ते हैं।' और वह यह श्रोत्रेन्द्रिय आकाश का अनुमापक होता है। इस आकाश को 'अनावरण' भी कहा जाता है। इसी प्रकार अमूर्त (आकाश) का अनावरण दिखलाई पड़ने से आकाश का व्यापकत्व भी प्रसिद्ध है। शब्द-ग्रहण से श्रोत्रेन्द्रिय की अनुमिति होती है। अर्थात् श्रोत्र नामक एक सामर्थ्यविशेष का अनुमित्यात्मक ज्ञान होता है, क्योंकि बधिर और अबधिर में से एक को शब्द सुनाई पड़ता है और दूसरे को नहीं। इसलिये श्रोत्रेन्द्रिय ही शब्द को विषय बनाने वाली होती है। इस प्रकार के शब्द और आकाश के (आधाराधेयरूप) सम्बन्ध में संयम करने वाले योगी का दिव्य श्रोत्र हो जाता है॥४१॥

तत्त्ववैशारदी

स्वार्थसंयमादन्वाचयशिष्टं श्रावणाद्युक्तम्। सम्प्रति श्रावणाद्यर्थदिव संयमाच्छ्रावणादि भवतीत्याह—श्रोत्राकाशयोः संबन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम्।

---

1. घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**सर्व०** उपलभ्यते, क ख ग ब—**सर्व०** नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**यथा**, ब—**तथा**।
3. क घ च छ ज थ द ध न प फ भ म य र—**देश०** उपलभ्यते, ख ग झ त ब—**देश०** नोपलभ्यते।
4. क ख घ घ च छ झ झ त थ द ध न प फ भ म य र—**अनावरणं**, ब—**अनावरणात्मकम्**।
5. क ख ग च छ ज त थ भ—**अमूर्तस्याप्यन्यत्रानावरणदर्शनात्**, घ द ध न प फ म य र—**अमूर्तस्याऽनावरणदर्शनात्**, झ—**अमूर्तस्यान्यत्रावरणदर्शनात्**, ब—**मूर्तस्यान्यत्राकाशादावरणदर्शनात्**।
6. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न प फ ब भ म य र—**प्रख्यातं**, झ—**प्रत्याख्यातम्**।
7. क ख ग च छ थ न—**ग्रहणनिमित्तं**, घ ज झ त द ध प फ ब भ म य र—**ग्रहणानुमितम्**।

स्वार्थविषयक संयम से (पुरुषज्ञानरूप मुख्य सिद्धि के अतिरिक्त) गौणरूप से प्राप्त होने वाली श्रावणादि सिद्धियाँ पीछे कही जा चुकी हैं। सम्प्रति, श्रावणादि-विषयक संयम से ही श्रावणादि सिद्धि प्राप्त होती है, ऐसा सूत्रकार कहते हैं– **'श्रोत्रेति।'**

बालप्रिया–

अन्वाचयशिष्टम्–इस पद का अर्थ है–'**इतरफलेनोद्देश्येन सहानुशिष्टत्वेनाऽऽनुषङ्गिकम्**' अर्थात् इतर मुख्य सिद्धि के साथ अनुशिष्ट=आनुषङ्गिक (गौण) रूप से प्राप्त होना '**अन्वाचयशिष्ट**' कहलाता है। तात्पर्य यह है–यद्यपि दिव्यश्रोत्ररूपिणी सिद्धि स्वार्थसंयम (**ततः प्रातिभश्रावणवेदनाऽऽदर्शास्वादवार्ता जायन्ते** ३/३६) से भी प्राप्त होनी बताई गई है, तथापि वह साक्षात् श्रवणादि विषय के संयम से प्राप्त नहीं होती है। प्रकृत सूत्र द्वारा साक्षात् श्रवणादिविषयक संयम से श्रावणादिप्राप्ति को प्रतिपादित किया जा रहा है। अतः पुनरुक्तिदोष नहीं समझना चाहिये।

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार श्रोत्राकाश के सम्बन्धविशेष की व्याख्या करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

संयमविषयं श्रोत्राकाशयोः संबन्धमाधाराधेयभावमाह–[1]सर्वेति। सर्वश्रोत्राणामाहङ्कारिकाणामप्याकाशं कर्णशष्कुलीविवरं प्रतिष्ठा तदायतनं श्रोत्रम्, तदुपकारापकाराभ्यां श्रोत्रस्योपकारापकारदर्शनात्। शब्दानां च श्रोत्रसहकारिणाम्। पार्थिवादिशब्दग्रहणे कर्तव्ये कर्णशष्कुली[2]सुषिरवर्ति श्रोत्रं स्वाश्रयनभोगतासाधारणशब्दमपेक्षते। गन्धादिगुणसहकारिभिर्घ्राणादिभि[3]र्बाह्यपृथिव्यादिवर्तिगन्धाद्या[4]लोचनं कार्यं दृष्टम्। आहङ्कारिकमपि घ्राणरसनत्वक्चक्षुःश्रोत्रं भूताधिष्ठानमेव, भूतोपकारापकाराभ्यां घ्राणादीनामुपकारापकारदर्शनादित्युक्तम्। तच्चेदं श्रोत्रमाहङ्कारिकमयःप्रतिममयस्कान्तमणिकल्पेन वक्तृवक्त्रसमुत्पन्नेन वक्त्रस्थेन शब्देना[5]कृष्टं स्ववृत्तिपरम्परया वक्तृवक्त्रमागतं शब्दमालोचयति। तथा च दिग्देश[6]वर्तिशब्दप्रतीतिः प्राणभृन्मात्रस्य नासति बाधकेऽ[7]प्रमाणीकृता भविष्यतीति। तथा च पञ्चशिखस्य वाक्यम्–तुल्यदेशश्रवणानामेकदेशश्रुतित्वं सर्वेषां भवतीति। तुल्यदेशानि श्रवणानि

1. थ द ध–**सर्वेति** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न–**सर्वेति** नोपलभ्यते।
2. क ग घ च छ थ द ध न–**सुषिरवर्ति श्रोत्रं स्वाश्रयनभोगत०**, ख ज झ त–सुषिररूपं नभः **स्वाश्रयगत०**।
3. क ख ग झ त थ द ध–**बाह्ये**, घ च छ ज न–**बाह्य०**।
4. क ख ग थ द ध–आलोचने **कार्ये**, घ च छ ज झ त न–आलोचनं **कार्यम्**।
5. क ख ग घ च छ ज झ त द ध न–**आकृष्टं**, थ–**कृष्टम्**।
6. क ख ग घ च छ ज झ त न–**वर्ति०**, थ द ध–**वृत्ति०**।
7. क ख ग घ च छ ज झ त द न–**अप्रमाणीकृता**, थ ध–प्रमाणीकृता।

श्रोत्राणि येषां चैत्रादीनां ते तथोक्ताः। सर्वेषां श्रवणान्याकाशवर्तीनीत्यर्थः। तच्च श्रोत्राधिष्ठानमाकाशं [1]शब्दगुणतन्मात्रादुत्पन्नं शब्दगुणकं येन शब्देन सहकारिणा पार्थिवादीन् शब्दान्गृह्णाति। तस्मात्सर्वेषामेकजातीया श्रुतिः शब्द इत्यर्थः। तदनेन श्रोत्राधिष्ठानत्वमा[2]काशस्य शब्दगुणत्वं च दर्शितमिति।

संयम के विषयभूत श्रोत्र एवं आकाश के आधाराधेयरूप सम्बन्ध के बारे में भाष्यकार कहते हैं–'**सर्वेति**।' '**आहंकारिक**' अर्थात् अहंकार के कार्यभूत निखिल (व्यक्तिरूपात्मक) श्रोत्रेन्द्रियों का भी कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न अवकाश (विवर, छिद्र) रूप '**आकाश**' आयतन अर्थात् आधार (**प्रतिष्ठा**) है, क्योंकि श्रोत्र के आधारभूत आकाश के उपकार और अपकार से श्रोत्र का उपकार और अपकार देखा जाता है। किञ्च श्रोत्र के सहकारीभूत (श्रोत्रेन्द्रिय के विषयभूत) शब्दों का भी आधार (प्रतिष्ठा) आकाश है। किस प्रकार से शब्द का आधार आकाश है, इसका उपपादन करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं–कर्णशष्कुलीविवरवर्ती श्रोत्र पृथ्वी आदि के शब्द को ग्रहण करने में अपने आश्रयस्थानीय आकाश के असाधारण शब्द की अपेक्षा रखता है। (इसमें दृष्टान्त है, जैसे–) गन्धादि गुण की सहायता से घ्राणादि का बाह्य पृथ्वी आदि में रहने वाला गन्धादिविषयक '**आलोचन**' व्यापार (वृत्ति) देखा जाता है। आहंकारिक होते हुए भी घ्राण, रसना, त्वक्, चक्षु और श्रोत्रेन्द्रिय पृथिव्यादि भूताधिष्ठान वाले ही हैं, क्योंकि पृथ्वी आदि भूत के उपकार और अपकार से घ्राणादियों का उपकार और अपकार देखा जाता है। किञ्च आहंकारिक यह श्रोत्रेन्द्रिय उस लोहपिण्ड के समान है, जो चुम्बक की भाँति मुख में रहने वाले वक्ता के मुख से उत्पन्न शब्द के द्वारा खींची जाती हुई अपने शब्दाकार परिणाम की परम्परा (पद्धति) से वक्ता के मुख में आये शब्द का '**आलोचन**' करती है, अर्थात् शब्द को विषय बनाती है। अतः किसी प्रकार की बाधा न रहने पर प्राणिमात्र को दिग्देशवर्ती अर्थात् आकाश में रहने वाले शब्द की प्रतीति अप्रामाणिक नहीं रहती है। अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय शब्दग्रहण में अवश्य ही साधन बनती है। श्रोत्रेन्द्रिय का आधार आकाश है, इस विषय में पञ्चशिखाचार्य का वचन (प्रमाण) है–'**तुल्यदेशश्रवणानामेकदेशश्रुतित्वं सर्वेषां भवतीति**।' अर्थात् चैत्र, मैत्र आदि सभी पुरुषों के तुल्य देश में रहने वाले श्रवणक्रियाशील श्रोत्र आकाशवर्ती हैं। किञ्च श्रोत्र का अधिष्ठानभूत वह आकाश शब्दतन्मात्र से जायमान (उत्पन्न होने वाला) शब्दगुणक (शब्द गुण वाला) है। जिस शब्द की सहायता से श्रोत्रेन्द्रिय पार्थिवादि शब्दों को ग्रहण करती है। इसलिये सभी भूतों में पायी जाने

---

1. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न–**शब्दगुण**०, ज–**शब्दगुणम्**।
2. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न–**आकाशस्य शब्दगुणत्वं**, झ–**आकाशगुणत्वम्**।

वाली तुल्यजातीया (समानधर्मा) श्रुति (शब्द) आकाश का गुण है। इस प्रकार आकाश में श्रोत्राधिष्ठानत्व तथा शब्दगुणत्व को प्रदर्शित किया गया है। अर्थात् श्रोत्र और शब्द का आधार '**आकाश**' है, यह सिद्ध होता है।

पञ्चशिखाचार्य के वाक्य में प्रयुक्त '**एकदेशश्रुतित्व**' के बारे में तत्त्ववैशारदीकार आगे कहते हैं—

तत्त्ववैशारदी

तच्चैकदेशश्रुतित्वमाकाशस्य लिङ्गम्। स ह्येकजातीया शब्दव्यञ्जिका श्रुतिर्यदाश्रया तदेवाकाशशब्दवाच्यम्। न ही[1]दृशीं श्रुतिमन्तरेण शब्दव्यक्तिः। न चेदृशी श्रुतिः पृथिव्यादिगुणः, तस्य स्वात्मनि व्यंग्यव्यञ्जकत्वानुपपत्तेरिति। अनावरणं चाकाशलिङ्गम्। यद्याकाशं नाभविष्यदन्योन्यसंपिण्डितानि मूर्तानि न सूचीभिरप्यभेत्स्यन्त। ततश्च सर्वैरेव सर्वमावृतं स्यात्। न च मूर्तद्रव्याभावमात्रादेवानावरणम्, अस्याभावस्य भावाश्रितत्वेन तदभावेऽभावात्। न च चितिशक्तिस्[2]तदाश्रया भवितुमर्हति, अपरिणामितयावच्छेदकत्वाभावात्। न च दिक्कालादयः पृथिव्यादिद्रव्यव्यतिरिक्ताः सन्ति। तस्मात्तादृशः परिणतिभेदो नभस एवेति सर्वमवदातम्।

यह '**एकदेशश्रुतित्व**' आकाश का लिङ्ग (अनुमापक) है। यह एकजातीय शब्द की व्यञ्जक श्रोत्रेन्द्रिय जिसके आश्रित है, वही '**आकाश**' कहा जाता है। इस श्रोत्रेन्द्रिय के विना शब्द की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती है और यह शब्द पृथ्वी आदि में से किसी का गुण नहीं हो सकता, क्योंकि अपने में ही (एक ही तत्त्व में) व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भाव की उपपत्ति (युक्तियुक्तता) नहीं हो सकती है। (एकदेशश्रुतित्व की भाँति) '**अनावरण**' अर्थात् अवकाशात्मकत्व भी आकाश का लिङ्ग (अनुमापक) है। अर्थात् आकाश के सद्भाव में '**अवकाश**' प्रमाण है। यदि आकाश न होता तो परस्पर सघनता को प्राप्त अर्थात् पिण्डीकृत मूर्त पदार्थों का सूचिकाओं अर्थात् सूईयों के द्वारा भी कथमपि भेदन (छेदन) नहीं किया जा सकता था। तब सभी से ही सब कुछ आवृत रहता।

शङ्का—मूर्त द्रव्य का अभाव ही अनावरणरूप अवकाश हो? अतः अवकाश प्रदान करने वाले आकाश को मानने की क्या आवश्यकता है?

समाधान—ऐसा न मानने में हेतु यह है कि अभाव भाव के आश्रित रहता है और आकाश के विना अवकाशरूप अभाव का आश्रय तो कोई हो ही नहीं सकता है। अतः '**आकाश**' का सद्भाव स्वीकार्य है।

शङ्का—चितिरूप जो आत्मतत्त्व है, वही अभावरूप अवकाश का आश्रय हो सकता है, अतः आकाश की आवश्यकता नहीं रह जाती है?

---

1. क ख ग घ च ज झ त थ द ध न—**ईदृशीम्**, छ—**ईदृशी**०।
2. क ग घ च छ ज झ त न—**तत्**, ख थ द ध—**तस्य**।

समाधान–ऐसा न मानने में हेतु यह है कि अपरिणामी होने से पुरुष अभाव का अवच्छेदक नहीं हो सकता, (क्योंकि चितिशक्तिरूप आत्मा को अवकाशरूप अभाव का आश्रय बनने पर उसे परिणामी मानना पड़ेगा)। और दिक्, कालादि पृथिव्यादि द्रव्य से भिन्न नहीं हैं। अर्थात् दिक्, कालादि का इन्हीं पृथ्वी आदि में अन्तर्भाव हो जाता है। इस कारण से इस प्रकार का परिणामभेद आकाश का ही होता है।

सम्प्रति, आकाश की सर्वव्यापकता पर विचार किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

अनावरणे चाकाशलिङ्गे सिद्धे यत्र यत्रानावरणं [1]तत्र तत्र सर्वत्राकाशमिति सर्वगतत्वमप्या[2]काशस्य सिद्धमित्याह–तथाऽमूर्तस्येति।

'**अनावरण**' में आकाश का लिङ्गत्व सिद्ध हो जाने के पश्चात् '**यत्र-यत्र अनावरणं तत्र-तत्र सर्वत्राकाशम्**' अर्थात् जहाँ-जहाँ अनावरण है, वहाँ-वहाँ सभी जगह आकाश है–इस व्याप्ति के अनुसार आकाश की सर्वव्यापकता भी सिद्ध होती है, ऐसा भाष्यकार बताते हैं–'**तथाऽमूर्तस्येति**।' वैसे ही मूर्तरूप पृथ्वी आदि अन्य सभी पदार्थों में आकाश के अनुमापक अवकाशरूप अनावरण को देखने से अमूर्तरूप आकाश का विभुत्व भी सिद्ध होता है।

सम्प्रति, श्रोत्रेन्द्रिय की सत्ता को सिद्ध किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

श्रोत्रसद्भावे प्रमाणमाह–शब्दग्रहणेति। क्रिया हि करणसाध्या दृष्टा। यथा छिदादिर्वास्यादिसाध्या। तादेह शब्दग्रहणक्रिययापि करणसाध्यया भवितव्यम्। यच्च करणं तच्च श्रोत्रमिति। अथास्याश्चक्षुरादय एव कस्मात्करणं न भवन्तीत्यत आह–बधिराबधिरयोरिति। अन्वयव्यतिरेकाभ्यामवधारणम्। उपलक्षणं चैतत्। त्वग्वातयोश्चक्षुस्तेजसो रसनोदकयोर्नासिकापृथिव्योः संबन्धसंयमादिव्यत्वगाद्यप्यूहनीयम्॥४१॥

भाष्यकार श्रोत्रेन्द्रिय के सद्भाव को प्रमाणित करते हैं–'**शब्दग्रहणेति**।' क्रिया करणसाध्य दिखाई पड़ती है। अर्थात् क्रिया की निष्पत्ति के लिये साधन की अपेक्षा रहती है। जिस प्रकार छिदिक्रिया (छेदनव्यापार) वास्य (कुठार) आदि करणसाध्य होती है उसी प्रकार शब्दसाक्षात्काररूप ज्ञानक्रिया भी करणसाध्य होनी चाहिये। परिणामस्वरूप शब्दज्ञान का जो करण है, वही श्रोत्रेन्द्रिय है।

शङ्का–चक्षुरादि ही शब्दसाक्षात्काररूप ज्ञानक्रिया के करण क्यों नहीं होते हैं? अर्थात् शब्दादि ज्ञान के भिन्न-भिन्न करणों को क्यों निर्धारित किया जाता है?

---

1. क ग थ द ध–तत्र, ख घ च छ ज झ त न–तत्र-तत्र।
2. क ख ग थ द ध–**अस्य सिद्धं**, घ च छ झ त न–**आकाशस्य सिद्धं**, ज **असिद्धम्**।

समाधान—इस पर भाष्यकार कहते हैं—'**बधिराबधिरयोरिति**।' बधिर और अबधिर पुरुषों में से एक तो शब्द को सुनता है और दूसरा शब्द को नहीं सुनता है। अर्थात् '**श्रोत्रसत्त्वे शब्दज्ञानसत्त्वम्, श्रोत्राभावे शब्दज्ञानाभावः**' इस अन्वय-व्यतिरेक से निर्धारित किया जाता है कि शब्दज्ञान और श्रोत्र का ही कार्यकारणभाव सम्बन्ध है। श्रोत्र और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से निष्पन्न दिव्य श्रोत्र को अन्य करणों की दिव्यता का भी उपलक्षक समझना चाहिये। अतः त्वक् और वायु, चक्षु और अग्नि, रसना और जल एवं नासिका और पृथ्वी के सम्बन्ध में संयम करने से दिव्य त्वक्, दिव्य चक्षु, दिव्य रसना एवं दिव्य नासिका निष्पन्न होती है॥४१॥

बालप्रिया—

'**तदुपकाराऽपकाराभ्याम्**'—इस हेतुबोधक पद की अवतारणा के मूल में यह प्रश्न अन्तर्निहित है कि आहङ्कारिक (अहंकारजन्य) श्रोत्र का आयतन अहंकार न होकर आकाश किस प्रकार हो सकता है? क्योंकि कारण ही कार्य का आश्रय होता है।

'**पार्थिवादिशब्दग्रहणे**'—यह पंक्ति इस प्रतिष्ठात्व का उपपादन करती है कि श्रोत्रेन्द्रिय की भाँति श्रोत्रेन्द्रिय के सहायकीभूत शब्दों का भी आधार (आयतन, प्रतिष्ठा) '**आकाश**' तत्त्व ही है।

'**पृथिव्यादिवर्त्तिगन्धाद्यालोचने कार्ये दृष्टम्**'—दृष्टान्तरूप इस पंक्ति की अवतारणा उस दार्ष्टान्त को स्पष्ट करने के लिये हुई है कि पार्थिवादि शब्दग्रहण करने में श्रोत्र अपने आश्रयभूत आकाशवर्ती असाधारण शब्द की अपेक्षा करता है।

'**न चेदृशी श्रुतिः**'—इसमें अन्तर्निहित शंका यह है कि पृथिव्यादि ही श्रोत्रेन्द्रिय के आश्रय बनें, तो फिर क्योंकर आकाश को सिद्ध किया जाय? इस शंका के समाधानार्थ तत्त्ववैशारदीकार हेतु उपन्यस्त करते हैं—'**तस्येति**।' आकाश की आश्रयीभूता श्रुति व्यञ्जिका है तथा पार्थिवादि शब्द व्यङ्ग्य हैं—इस प्रकार की यौक्तिक वस्तुस्थिति में एक में व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव की कल्पना अप्रामाणिक है। कर्ण- शष्कुली को भी श्रोत्रेन्द्रिय का आश्रय मानना साम्प्रत नहीं है। अन्यथा मृत्युकाल में कर्णशष्कुली का अभाव होने से निराश्रय श्रोत्रेन्द्रिय का गमन उपपन्न नहीं हो सकेगा और कर्णछिद्र को बन्द करने पर भी शब्द सुनाई देने की अनुपयुक्तता होगी। इसलिये कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न आकाश ही श्रोत्राधार रूप से सिद्ध होता है।

'**दिव्यत्वग्राहकत्वात्**'—तन्मात्रादिरूप सूक्ष्म शब्दादि को ग्रहण करना ही इन्द्रियों का दिव्यत्व है—'**दिव्यत्वं च तन्मात्रादिरूपसूक्ष्मशब्दादिग्राहकत्वम्**'॥४१॥

योगवार्त्तिकम्

श्रोत्राकाशयोः संबन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम्। आदावाकाशशब्दार्थं तत्र प्रमाणं च दर्शयति—सर्वश्रोत्राणामिति। यद्यपीन्द्रियाण्याहंकारिकाण्येव न भौतिकानि; इन्द्रियाणां

प्रकाशात्मकतया प्रकाशात्मकान्तःकरणोपादानकत्वस्यैवौचित्यात्, तथाऽप्याकाशाश्रिततयाऽऽकाशप्रतिष्ठत्वं यथाऽन्नाश्रिततया मनसोऽन्नमयत्वमिति। एतेनान्येषामपीन्द्रियाणां भौतिकत्वं [1]श्रुतिस्मृत्युदितं व्याख्यातम्, तत्तद्भूतसंसृष्टतयेन्द्रियोत्पत्त्या तत्तद्भूतेभ्य एव तत्तदिन्द्रियाभिव्यक्तेः। अत एव दिगात्मकाकाशादीनि पृथिवीपर्यन्तानि पञ्च श्रोत्रादिदेवाः श्रूयन्त इति। शब्दानां चाकाशोपादानत्वमेवास्ति। तथा च श्रोत्रशब्दयोराश्रय आकाशमित्यर्थः।

'श्रोत्रेति'। सर्वप्रथम '**आकाश**' शब्द के अर्थ और उसकी सत्ता को भाष्यकार प्रमाणित करते हैं–'**सर्वश्रोत्राणामिति**।' यद्यपि इन्द्रियाँ आहंकारिक ही हैं, न कि भौतिक, क्योंकि इन्द्रियों के प्रकाशात्मक (ज्ञानप्रधान) होने से प्रकाशात्मक (सत्त्वगुणप्रधान) अन्तःकरण (अहंकार) को ही इन्द्रियों का उपादानकारण मानना युक्तिपूर्ण है, तथापि समस्त श्रोत्रेन्द्रियाँ '**आकाश**' के आश्रित होने से उनका आकाश प्रतिष्ठत्व उसी प्रकार है जिस प्रकार अन्नाश्रित होने से मन का अन्नमयत्व। अर्थात् जैसे अन्न के आश्रित होने के कारण मन को अन्नमय कहा जाता है वैसे ही आकाश के आश्रित होने से श्रोत्रेन्द्रिय को भौतिक कहा जाता है। इस प्रकार श्रुति-स्मृति-शास्त्रों में प्रतिपादित अन्य इन्द्रियों का भी भौतिकत्व सिद्ध हो जाता है, क्योंकि तत्तद् भूतों से संसृष्ट (अनुबिद्ध) इन्द्रियों की उत्पत्ति होने से आकाशादि भूतों से ही श्रोत्रादि इन्द्रियों की अभिव्यक्ति मानी जाती है। इसलिये दिगात्मक आकाश से लेकर पृथ्वीपर्यन्त श्रोत्रादि पाँच देव सुने जाते हैं। किञ्च शब्दों का उपादानकारण आकाशभूत ही है। इस प्रकार सिद्धान्तित होता है कि श्रोत्र एवं शब्द दोनों का आश्रयस्थान आकाश ही है।

बालप्रिया–

'**अनाश्रिततया मनसोऽन्नमयत्वम्**'–मन अन्नमय है, इसमें श्रुति प्रमाण है–'**अन्नमयं हि सोम्य मनः आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति**।'

'आकाश' श्रोत्रेन्द्रिय का आश्रयस्थान है, इसे सप्रमाण प्रस्तुत किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

श्रोत्राणामाकाशाश्रयत्वे पूर्वाचार्यसम्मतिमाह–यथोक्तमिति। कालभेदेन तुल्यदेशानि श्रावणाख्यज्ञानानि येषां पुंसां तेषामे[2]कश्रुतित्वमेकदेशावच्छिन्नश्रोत्रकत्वं तत्तत्काले भवतीत्यर्थः। स चैको देश आकाशमेवेति भावः। आकाशे प्रमाणमप्याह–तच्चैतदिति। तच्चैतत् श्रोत्रं शब्दश्चाकाशस्य लिङ्गमनुमापकम्। न हि सूक्ष्ममिन्द्रियमनाश्रयं स्थातुमर्हति गन्धवत्, कर्णशष्कुली च न तस्याधारो लोकान्तरगमनादिकाले कर्णशष्कुल्यभावात्, कर्णविवरपिधानेऽपि

---

1. क घ च छ–**श्रुतिस्मृत्युदितं**, ग–**श्रुतिस्मृत्युक्तं**, ख–**श्रुतिस्मृत्युदितं/श्रुतिस्मृत्युक्तं**–नोपलभ्यते।
2. क ख घ च छ–**एकश्रुतित्वं** उपलभ्यते, ग–**एकश्रुतित्वं** नोपलभ्यते।

शब्दश्रवणप्रसङ्गाच्च। न च विवरपिधाने सति शब्दा एव श्रोत्रे न गच्छन्तीति वाच्यम्, भित्त्यादिवत् कर्णच्छिद्रस्थद्रव्याणामपि शब्दागमनाप्रतिबन्धकत्वात्। नापि शून्यमाधारोऽभावानभ्युपगमात्, अभावस्य भावाधारत्वासंभवाच्च। नापि कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नः पुरुषादिराधारः, विवरपिधानेऽपि तदवच्छेदेन चैतन्याद्यभिव्यक्त्या पुरुषादेरनावृततया शब्दग्रहणप्रसङ्गात्। तस्मात् पिधानयोग्यमेकं द्रव्यं श्रोत्राधारतयाऽपेक्षितम्, तच्च परिशेषात् कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं नभ एव श्रोत्रगोलकतया सिद्ध्यतीति भावः। शब्दाधारतायामप्येवं परिशेषः कर्त्तव्यः। तथा हि—अवकाशस्य शब्दकारणत्वं तावत् सर्वसिद्धम्। अवकाशश्च नावरणाभावमात्रम्, अभावस्य भावानाधारत्वाद् अन्यथा सर्ववस्तूनामभावमात्रमूलकत्वापत्तेः। नापि पुरुषादिः, तेषां स्वस्वव्यापार[1]प्रच्यवेनावकाशासंभवात्; आवृतत्वाभिमतदेशेऽपि शब्दाद्युत्पत्तिप्रसङ्गाच्च। नापि वायुः, द्रव्यान्तरपूरितेऽपि वेण्वादौ वायुसंयोगेन शब्दप्रसङ्गात्। न च च्छिद्रवायुसंयोगोऽपि शब्दकारणम्, तथा सति संयोगाधारतया छिद्रस्य द्रव्यत्वसिद्धौ तस्यैव शब्दाश्रयत्वं युक्तम्, शब्दोत्पत्ताववकाशस्यैवाधिक्येनो[2]पयोगदर्शनादिति। तस्मादा[3]वरणीयतयाऽऽकाशद्रव्यं सिद्ध्यतीति।

समस्त श्रोत्रेन्द्रियों के आकाशाश्रित होने में भाष्यकार पूर्वाचार्य के वचन को उपस्थित करते हैं—'**यथोक्तमिति**।' कालभेद से जिन पुरुषों की श्रावणाख्यज्ञान वाली श्रोत्रेन्द्रियाँ '**तुल्यदेश**' अर्थात् समान आकाश में स्थित हैं उन (चैत्र, मैत्रादि) पुरुषों को तत्-तत् काल में '**एकदेशश्रुतित्व**' अर्थात् एक स्थानावच्छिन्न आकाश के ही शब्द सुनाई पड़ते हैं। और वह शब्द का आश्रयभूत एक देश '**आकाश**' ही है। अर्थात् समस्त पुरुषों की शब्दग्राहक श्रोत्रेन्द्रिय आकाशवर्ती है। अतः श्रोत्र का आधार कर्णविवरवर्ती आकाश है, न कि कर्णविवरवर्ती आकाश श्रोत्र है। इस प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय और शब्द का आधार आकाश है, यह सिद्ध होता है। भाष्यकार आकाश के सद्भाव में प्रमाण भी प्रस्तुत करते हैं—'**तच्चैतदिति**।' श्रोत्रेन्द्रिय और शब्द आकाश के '**लिङ्ग**'=अनुमापक हैं। सूक्ष्म श्रवणेन्द्रिय अपने आश्रयभूत आकाश के विना उसी प्रकार अवस्थित नहीं रह सकती है जिस प्रकार 'गन्ध' गुण अपने आश्रयभूत पृथ्वी के विना नहीं रह सकता है। (क्योंकि '**गुणाश्रयो हि द्रव्यम्**' ऐसा न्यायशास्त्र का सिद्धान्त है)।

(**शङ्का**—कर्णशष्कुली को श्रवणेन्द्रिय का आधार माना जाय?)

समाधान—कर्णशष्कुली को श्रोत्रेन्द्रिय का आधार नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि लोकान्तरगमनादिकाल में (भेरी-ताडन से उत्पन्न शब्द को ग्रहण अर्थात् सुनने के

---

1. क ग घ च—**प्रच्यवेनावकाशासंभवात्**, ख—**अप्रच्यवेनावरणसंभवात्**, छ—**अप्रच्यवेनावकाशासंभवात्**।
2. क ग घ च छ—**उपयोगदर्शनात्**, ख—**उपदर्शनात्**।
3. क ग घ च छ—**आवरणीयतया**, ख—**शब्दाश्रयतया**।

लिये जब श्रोत्रेन्द्रिय का शब्ददेश तक गमन होता है उस समय) कर्णशष्कुली का उस देश में अभाव रहता है, अतः अनाश्रित श्रोत्रेन्द्रिय का कैसे विषय देश तक गमन होगा? दूसरी असंगति यह है कि कर्णशष्कुली को श्रोत्रेन्द्रिय का आधार मानने पर कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न प्रदेश (विवर) को आवृत्त कर देने पर भी शब्द के सुनाई पड़ने का प्रसङ्ग आयेगा? जब कि कर्णछिद्र को बन्द कर देने पर शब्द नहीं सुनाई पड़ता है।

शङ्का–कर्णशष्कुली से अवच्छिन्न प्रदेश को आवृत्त कर देने पर शब्द ही श्रोत्रेन्द्रिय तक नहीं पहुँचता है, जिससे श्रोत्रेन्द्रिय शब्द को ग्रहण नहीं करती है। अतः कर्णशष्कुली को श्रोत्रेन्द्रिय का आधार मानने में किसी प्रकार की बाधा नहीं है।

समाधान–ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि जिस प्रकार भित्ति आदि शब्द को दूसरी ओर पहुँचने में गतिरोध उत्पन्न नहीं करते हैं उसी प्रकार कर्णछिद्रस्थ द्रव्य भी शब्द को श्रोत्रेन्द्रिय तक पहुँचने में अवरोध उत्पन्न नहीं करता है। अतः कर्णविवर को ढक लेने पर भी शब्द सुनाई पड़ना चाहिये, किन्तु ऐसा होता नहीं है। अतः मानना पड़ेगा कि कर्णशष्कुली श्रोत्र का आधार नहीं है।

शङ्का–तो फिर शून्य को ही श्रोत्रेन्द्रिय का आधार मान लिया जाय?

समाधान–शून्य को श्रोत्रेन्द्रिय का आधार नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि सांख्य-योगशास्त्र में अभाव नामक पदार्थ स्वीकृत नहीं है। दूसरी बात यह है कि **'भाव'** का आधार **'अभाव'** नहीं बन सकता है।

शङ्का–तो फिर कर्णशष्कुली से अवच्छिन्न पुरुषादि को ही श्रोत्रेन्द्रिय का आधार (आश्रय) माना जाय?

समाधान–कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न पुरुषादि को भी श्रोत्रेन्द्रिय का आधार नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न प्रदेश (विवर) के (अंगुल्यादि से) अवरुद्ध होने पर भी कर्णशष्कुल्यवच्छेदेन चैतन्यादि की अभिव्यक्ति होते रहने से पुरुषादि के अनावृत्त रहने से कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न पुरुष में आश्रित श्रोत्रेन्द्रिय और शब्द का संयोग होने में कोई बाधा नहीं आती है। अतः शब्द के सुनाई पड़ने का प्रसङ्ग आयेगा, जब कि शब्द सुनाई नहीं पड़ता है। अतः श्रोत्र के आधाररूप से पिधान-योग्य कोई द्रव्य अपेक्षित है और वह परिशेषानुमान से श्रोत्रगोलकरूप से कर्ण-शष्कुल्यवच्छिन्न **'आकाश'** संज्ञक द्रव्य ही है, ऐसा सिद्ध होता है। और जैसे श्रोत्रेन्द्रिय के आधाररूप से शब्द की सिद्धि होती है, वैसे ही शब्द के आधार रूप से आकाश की सिद्धि होती है। स्पष्टीकरण यह है कि **'अवकाश'** (आकाश) शब्दोत्पत्ति का कारण है, यह सर्वानुभवसिद्ध है। यह **'अवकाश'** 'आवरण का अभाव' रूप नहीं है, क्योंकि **'भाव'** का आधार **'अभाव'**, नहीं हो सकता है। अन्यथा सभी

वस्तुओं का अभाव ही श्रोत्रेन्द्रिय का आश्रय बनने लगेगा।

शङ्का—तो फिर '**अवकाश**' पुरुषादिरूप हो?

समाधान—'**अवकाश**' को पुरुषादिरूप भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि पुरुषादियों के अपने-अपने व्यापार से उपरत न होने पर अवकाश होना ही असम्भव हो जायेगा, जिससे शब्दादि की उत्पत्ति ही न हो सकेगी और तब आवृत देश में भी शब्दादि की उत्पत्ति मानने का प्रसङ्ग आयेगा।

शङ्का—तो फिर वायु ही शब्द का आश्रय हो?

समाधान—वायु भी शब्द का आश्रय नहीं बन सकता है, क्योंकि वायु को शब्द का आश्रय मानने पर द्रव्यान्तर से पूरित वेणु आदि में (काष्ठादि से वेणु आदि वाद्य यन्त्र के छिद्रों को बन्द कर देने पर) भी वायुसंयोग होने से शब्द (ध्वनि) की उत्पत्ति का प्रसङ्ग आयेगा। जब कि शब्द वायुसंयोग से उत्पन्न नहीं होता है और वेण्वन्तर्वर्ती आकाश के द्रव्यान्तर से अवरुद्ध हो जाने पर तो ध्वनियन्त्र शब्दशून्य ही हो जाता है।

शङ्का—तो फिर छिद्र आदि के साथ होने वाले वायुसंयोग को ही शब्दोत्पत्ति का कारण मान लिया जाय?

समाधान—छिद्र के साथ होने वाले वायुसंयोग को भी शब्दोत्पत्ति का कारण नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि ऐसा मानने पर संयोगाख्य गुण के आधार (आश्रय-स्थान) रूप से छिद्र (अवकाश) की द्रव्यता सिद्ध होगी। अतः ऐसे छिद्रात्मक आकाश को ही शब्द का आश्रय (आधार) मानना युक्तियुक्त है। क्योंकि शब्द की उत्पत्ति में आकाश का ही पूर्ण रूप से उपयोग देखा जाता है। इस प्रकार आवरणीय होने से आकाश द्रव्य (का सद्भाव) सिद्ध होता है।

सम्प्रति, '**आकाश**' की '**अनावरणता**' को सप्रमाण सिद्ध किया जा रहा है—

योगवार्त्तिकम्

[1]अनावरणं चाकाशस्य लिङ्गं पूर्वाचार्यैरुक्तमित्याह—अनावरणं चेति। अनावरणमवकाशः। यदि हि अवकाशरूपमाकाशं न स्यात् तदा मूर्त्तद्रव्येषु स्थाल्यादिष्वन्तस्तेजआदिप्रवेशो

1. क ग घ च छ—अनावरणं चाकाशस्य लिङ्गं पूर्वाचार्यैरुक्तमित्याह—अनावरणं चेति। अनावरणमवकाशः। यदि हि अवकाशरूपमाकाशं न स्यात् तदा मूर्त्तद्रव्येषु स्थाल्यादिष्वन्तस्तेजआदिप्रवेशो न स्यात्। अथाभाव एवावकाशस्तर्ह्यभावस्य भावाश्रितत्वनियमेन...प्रामादिकोऽर्थासंभवात्।
ख—अथवा शब्दकारणस्य पूर्ववदेवानुमानेन सामान्यतः सिद्धौ शास्त्राद्विशेषसिद्धिरिति भावः। आकाशस्य स्वरूपसाधकं लिङ्गमुक्त्वा भूताद्यव्यावर्तकलिङ्गमप्याह—अनावरणमिति। अनावरणं मूर्त्तिद्रव्यावस्थित्यप्रतिबन्धकत्वं तदप्याकाशस्य भूतान्तरव्यावर्तकं लिङ्गं पूर्वाचार्यैरुक्तमित्यर्थः। आकाशस्य विभुत्वमपि प्रसंगात् साधयति—तथा मूर्त्तस्यान्तरणावरणेति। मूर्त्तद्रव्यस्य स्थाल्या-

न स्यात्। अथाभाव एवावकाशस्तर्ह्यभावस्य भावाश्रितत्वनियमेनाकाशसिद्धेः, अस्माभिर-भावानभ्युपगमाच्च। आत्मादिश्चावकाशो न संभवति; आवरणासंभवादित्युक्तमिति।

पूर्वाचार्यों ने अनावरणरूप अवकाश को आकाश का लिङ्ग (अनुमापक) कहा है, ऐसा भाष्यकार बताते हैं–'**अनावरणं चेति**।' '**अनावरण**' शब्द का अर्थ है–अवकाश (रिक्त प्रदेश)। यदि अवकाशात्मक आकाश ही न हो तो स्थाल्यादि मूर्त द्रव्यों के अन्दर अग्न्यादि का प्रवेश होना नहीं बन पायेगा जब कि पात्रस्थ अन्न का अग्नि-संयोग से पकना देखा जाता है।

शङ्का–तो फिर अभाव को ही अवकाश मान लिया जाय?

समाधान–'**अवकाश**' को अभावात्मक मानने पर अभावात्मक अवकाश के भावाश्रित होने का नियम होने से '**आकाश**' तत्त्व सिद्ध हो जायेगा अर्थात् आकाश-सिद्धि का हमारा लक्ष्य किसी प्रकार सिद्ध तो हो ही जायेगा, किन्तु हमारे द्वारा अभाव का निषेध किया गया है।

शङ्का–तो फिर आत्मादि को अवकाश कहा जाय?

समाधान–आत्मादि को अवकाशस्वरूप नहीं माना जा सकता है, क्योंकि आत्मादि का आवरण होना ही सम्भव नहीं है।

सम्प्रति, '**आकाश**' के विभुत्व को विश्लेषित किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

आकाशस्य **विभुत्वमपि प्रसङ्गात्साधयति–तथेति। मूर्त्तत्वं परिच्छिन्नत्वम्, अनावरण-मनावृतत्वम्, असमानदेशत्वमिति यावत्। तथा चान्यत्र पृथिवीजलादिस्थले मूर्त्तस्य परि-च्छिन्नस्य मूर्त्तान्तरासमानदेशत्वदर्शनाद् घटादिसमानदेशकस्याकाशस्य विभुत्वं सिद्ध्यति,** आकाशस्य **परिच्छन्नत्वे मूर्त्तयोः समानदेशताविरोधादित्यर्थः। क्वाचित्कस्तु तथा मूर्त्तस्या-पीत्यपिशब्दः प्रामादिकोऽर्थासंभवात्। आकाशस्य विभुत्वे च आकाशवत्सर्वगतश्च नित्य इति श्रुत्यादयः प्रमाणमिति।**

भाष्यकार आकाश के विभुत्व को भी प्रसंगतः सिद्ध करते हैं–'**तथेति**।' '**मूर्तत्व**' का अर्थ है–परिच्छिन्नत्व तथा '**अनावरण**' का अर्थ है–अनावृतत्व अर्थात् असमान-देशत्व। पृथ्वी, जल आदि स्थल में एक मूर्त्त पदार्थ का दूसरे मूर्त्त पदार्थ के समान-देश (तुल्यदेश) में स्थित होना नहीं देखा जाता है। अर्थात् दो मूर्त्त पदार्थों का स्थान भिन्न-भिन्न रहता है। किन्तु घटादि की समानदेशता में आकाश की स्थिति देखी जाती है, जो आकाश के विभुत्व को सिद्ध करती है। आकाश को परिच्छिन्न

देरंतस्तेजआदिप्रवेशेनावरणाभावानुमानादाकाशस्य विभुत्वं प्रसिद्धमित्यर्थः। मूर्त्तस्याप्यन्यत्रानावरण-दर्शनादिति पाठस्तु प्रामादिकः।

मानने पर अर्थात् परिच्छिन्न परिमाण के कारण आकाश के मूर्त्त हो जाने पर दो मूर्त्त पदार्थों का समानदेशत्व (अर्थात् मूर्त्त आकाश के देश में अन्य मूर्त घटादि पदार्थ का होना) बाधित होगा। भाष्य में कहीं-कहीं **'तथा मूर्त्तस्यापि'** ऐसा पाठ उपलब्ध होता है। इस पाठ में **'अपि'** शब्द प्रामादिक (प्रमादवश) है, क्योंकि इस प्रकार का अर्थ (दो मूर्त पदार्थों की भी समानदेशता होती है–इत्याकारक अर्थ) सम्भव ही नहीं है। आकाश के विभु होने में **'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः'** इस प्रकार के श्रुत्यादि वाक्य प्रमाण हैं।

सम्प्रति, शंकोपस्थापनपूर्वक आकाश के विभुत्व को पुनः परिपुष्ट किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

नन्वाकाशस्य विभुत्वे कथं कार्यत्वं घटते, कथं वाऽऽगामिभाष्येऽप्याकाशपरमाणुकथनमिति चेत्? उच्यते–आकाशं ह्यन्तःकरणवद् वैशेषिकाणां पृथिव्यादिवत् कार्यकारणरूपेण द्विविधम्–तत्र कारणाकाशं तमोगुणविशेषतयैव व्यवह्रियते, तदानीमाकाशताव्यञ्जकशब्दादिविशेषगुणाभावात् कारणपृथिव्यादिवत्। तच्च कारणाकाशं गुणान्तरो[1]पसंसृष्टं संदशत आदौ शब्दजननयोग्यार्थरूपेण परिणमते, क्षीराब्धिरिवामृत[2]मथनेंऽशतो दधिरूपेण। ततश्चाणुसंघातेन पृथिवीवदेव महाभूताकाशमहङ्कारापेक्षया परिच्छिन्नं वायोरावरणमुपपद्यत इति। एतेनान्तःकरणोत्पत्तिरपि व्याख्याता। इत्थमपि श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धं प्रकृते कार्यकारणरूपत्वमवगन्तव्यम्।

शङ्का–यदि आकाश को विभु माना जाय तो आकाश (शब्दतन्मात्र का) कार्य है–यह कैसे सिद्ध होगा। अर्थात् विभु पदार्थ के नित्य और व्यापक होने से उसका कार्यत्व उपपन्न नहीं हो सकेगा। अथवा आकाश को विभु मानने पर आगामी भाष्य में आकाश का परमाणुत्वकथन भी कैसे सिद्ध हो सकेगा? अर्थात् विभु आकाश को अणु (सीमित परिमाण वाला) कैसे सिद्ध किया जा सकेगा?

समाधान–वार्त्तिककार उक्त शंका का उत्तर देते हैं–आकाश अन्तःकरण के समान और वैशेषिकों के पृथिव्यादि के समान कार्य-कारण रूप से दो प्रकार का है–इनमें से कारणाकाश तमोगुणप्रधानरूप से ही व्यवहृत होता है, क्योंकि कारणाकाश में आकाशत्व के व्यञ्जक शब्दादि विशेषगुण का अभाव उसी प्रकार रहता है जिस प्रकार कारणभूता (अणु) पृथ्वी आदि में स्वाभिव्यञ्जक गन्धादि विशेषगुण का अभाव रहता है। फिर वही कारणाकाश सत्त्व और रजोरूप गुणान्तर से अन्वित होकर आंशिकरूप से सर्वप्रथम शब्दोत्पत्ति की क्षमतारूप से उसी प्रकार परिणाम

1. क–**उपमृद्य**, ख–**उपष्टब्धं**, ग घ–**उपमृद्यं**, च छ–**उपसंसृष्टम्**।
2. क–**मन्थनेंऽशतः**, ख घ च छ–**मथनेंऽशतः**, ग–**मथनेन**।

को प्राप्त होता है जिस प्रकार अमृतमन्थन के समय क्षीरसमुद्र अंशतः दधिरूप से परिणाम को प्राप्त हुआ था। तत्पश्चात् जैसे पार्थिव अणुओं के संस्थानविशेष से स्थूल पृथ्वी उत्पन्न होती है, वैसे ही महाभूताकाश प्रादुर्भूत होता है। यह महाभूताकाश अहंकार की अपेक्षा परिच्छिन्न है, अतः उसका वायु को आवृत्त करना उपपन्न होता है। इस प्रकार अन्तःकरण की उत्पत्ति भी प्रतिपादित हो जाती है। इस प्रकार श्रुति, स्मृतिसिद्ध प्रकृति का कार्यकारणरूप जानने योग्य है।

सम्प्रति, श्रोत्रेन्द्रिय की प्रामाणिकता पर प्रकाश डाला जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

आकाशं प्रसाध्य श्रोत्रे प्रमाणं [1]दर्शयति–शब्दग्रहणानुमितमिति। तदेव विवृणोति–बधिरेति। एतेन चक्षुरादिष्वप्यन्वयव्यतिरेकौ प्रमाणमिति सूचितम्, अन्तःकरणे तु स्मृत्याद्यन्वयव्यतिरेकौ प्रमाणमिति। इदानीं सूत्रं योजयति–श्रोत्रेति। संबन्धश्चास्माभिर्व्याख्यातः। उपलक्षणं चैतत् त्वग्वातयोश्चक्षुस्तेजसो रसनोदकयोर्घ्राणपृथिव्योः संबन्धसंयमाद्दिव्यं त्वगादीत्यपि बोध्यम्। दिव्यत्वं च [2]तन्मात्रादिसूक्ष्मगोचरसंयमनैरपेक्ष्येण स्वभावादेव तन्मात्रादिरूपसूक्ष्मशब्दादिग्राहकत्वमिति॥४१॥

इस प्रकार आकाश की सत्ता सिद्ध करके भाष्यकार श्रोत्रेन्द्रिय के सद्भाव को प्रमाणित करते हैं–'**शब्दग्रहणानुमितमिति**।' शब्दग्राहक श्रोत्रेन्द्रिय का अनुमान किया जाता है। इसी तथ्य के स्पष्टप्रतिपत्त्यर्थ भाष्यकार कहते हैं–'**बधिरेति**।' इसी प्रकार चक्षुरादि इन्द्रियों को भी अपने-अपने रूपादिविषय का ग्राहक समझना चाहिये। अन्तःकरण की सत्ता के विषय में स्मृत्यादिज्ञान का अन्वयव्यतिरेक (होना अथवा न होना) प्रमाण है। अब भाष्यकार सूत्र की योजना अर्थात् सूत्रार्थ करते हैं–'**श्रोत्रेति**।' श्रोत्र तथा आकाश का सम्बन्ध पीछे व्याख्यात हो चुका है। श्रोत्राकाशविषयक संयम की भाँति त्वगिन्द्रिय तथा वायु, चक्षुरिन्द्रिय तथा तेज, रसनेन्द्रिय तथा उदक, घ्राणेन्द्रिय तथा पृथ्वी के सम्बन्ध में संयम करने से दिव्य वातादिविषयग्राहक त्वगादि इन्द्रियाँ हो जाती हैं। इन्द्रियों का '**दिव्यत्व**' शब्दतन्मात्रादि सूक्ष्मविषयक संयम किये विना भी सूक्ष्मशब्दादि का ग्राहकत्व स्वतःस्फूर्त होना है॥४१॥

संयमसाध्य अगली सिद्धि का प्रतिपादक सूत्र है–

योगसूत्रम्

कायाकाशयोःसंबन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्॥४२॥

---

1. क ख घ–**प्रदर्शयति**, ग च छ–**दर्शयति**।
2. क ग घ च छ–**तन्मात्रादिसूक्ष्मगोचरसंयमनैरपेक्ष्येण स्वभावादेव** उपलभ्यते, ख–**तन्मात्र...एव** नोपलभ्यते।

शरीर और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से अथवा हल्की सी रुई में संयम करने से योगी का 'आकाशगमन' होता है॥४२॥

व्यासभाष्यम्

यत्र कायस्तत्राकाशं तस्यावकाशदानात् कायस्य, तेन संबन्धः [1]प्राप्तिः। तत्र कृतसंयमो जित्वा तत्संबन्धं लघुषु [2]वा तूलादिष्वा[3]परमाणुभ्यः [4]समापत्तिं लब्ध्वा जितसंबन्धो लघु[5]र्भवति लघुत्वाच्च जले पादाभ्यां विहरति, ततस्तूर्णनाभि-तन्तुमात्रे विहृत्य रश्मिषु विहरति। ततो यथेष्टमा[6]काशगतिरस्य भवतीति॥४२॥

जहाँ शरीर है, वहाँ उस शरीर को अवकाश देने के कारण, आकाश भी है। अतः काय का आकाश के साथ सम्बन्ध अर्थात् प्राप्तिरूप व्याप्तिसम्बन्ध है। शरीर एवं आकाश के उस व्याप्यव्यापकभावरूप सम्बन्ध में संयमसम्पन्न योगी उस सम्बन्ध को जीतकर अर्थात् संयम के द्वारा उसे अपने अधीन कर अत्यन्त लघु (शून्यभारसदृश) हो जाता है। इस प्रकार संयम द्वारा शरीर के भारशून्य बन जाने से योगी जल के ऊपर पैरों से ही चलने में समर्थ होता है। उसके अनन्तर मकड़ी के जाले के अतिसूक्ष्म तन्तु में विहार कर सूर्य की रश्मियों में विहार करता है। इसके पश्चात् योगी को आकाशविचरण की यथेष्ट सिद्धि प्राप्त होती है॥४२॥

तत्त्ववैशारदी

कायाकाशयोः संबन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्। कायाकाशसंबन्ध-संयनाद्वा लघुनि वा तूलादौ कृतसंयमात्समापत्तिं चेतसस्तत्स्थतदञ्जनतां लब्ध्वेति। सिद्धि-क्रममाह--जल इति॥४२॥

'कायेति।' शरीर तथा आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से अथवा हल्के तूलादि पदार्थ में संयम करने से **'समापत्ति'** अर्थात् चित्त की ध्येयविषयिणी तदाकारता को

---

1. ख घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र–**प्राप्तिः**, क ग–**वाप्तिः**।
2. क ग च छ ज झ त थ द ध न भ म–**वा** उपलभ्यते, ख घ प फ ब य र–**वा** नोपलभ्यते।
3. क ख ग च छ त थ द न–**आपरमाणु०**, घ ध प फ ब भ म प र–**आपरमाणुभ्यः**, ज झ–**परमाणुषु**।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–**समापत्तिं**, ब–**समापत्तेश्च**।
5. च छ ज झ त थ द ध न ब भ म–**भवति** उपलभ्यते, क ख ग घ प फ य र–**भवति** नोपलभ्यते।
6. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र–**आकाशगतिरस्य**, ख–**अस्याकाशगतिः**।

प्राप्त कर योगी जितसम्बन्ध वाला हो जाता है। आकाशगमन के सिद्धिक्रम को भाष्यकार बताते हैं–'**जल इति**।'

बालप्रिया–

'**च**'–सूत्र में प्रयुक्त चकार शब्द '**समुच्चयार्थक**' नहीं है, अपितु '**विकल्पार्थक**' है। यहाँ शरीरसम्बन्धी लघुता की निष्पत्ति में कायाकाशविषयक संयम तथा तूल-विषयक संयम को आकाशगमनरूप सिद्धि के वैकल्पिक उपायों के रूप में उपन्यस्त किया गया है। किसी एक उपाय के समाश्रयण से योगी '**आकाशगमनरूप**' सिद्धि को प्राप्त कर सकता है।

'**कायाकाशसम्बन्धसंयमाद्वा लघुनि वा तूलादौ कृतसंयमात्**'–तथ्य का स्पष्टीकरण इस प्रकार है–काय तथा आकाश के सम्बन्ध को भाष्यकार ने '**यत्रेति**' द्वारा इंगित किया है। मनुष्य का शरीर जिस प्रकार जहाँ विद्यमान रहता है अर्थात् प्राणी जहाँ बैठता है, वहाँ शरीरावच्छिन्न आकाश भी रहता है। यहाँ भाष्यकार ने '**तस्यावकाशदानात्**' इस हेतुबोधक पद द्वारा यह बताया है कि आकाश में '**अवकाशप्रदातृत्व**' है। आकाश में निहित '**अवकाशप्रदातृत्व**' का फल है–'**तेनेति**।' इस कारण से आकाश के साथ शरीर का जो सम्बन्ध है, वह '**प्राप्ति**' रूप है अर्थात् कायाकाश में व्याप्तिसम्बन्ध है। व्याप्ति का स्वरूप है–**यत्र-यत्र कायः तत्र-तत्र आकाशः, यत्र-यत्र आकाशाभावः तत्र-तत्र कायाभावः**। काय तथा आकाश के इस सम्बन्धविशेष में कृतसंयमी उस सम्बन्ध को जीतकर अर्थात् साक्षात्कार द्वारा सम्बन्ध को स्वेच्छाधीन करके शरीरसम्बन्धी लघुता को प्राप्त करता है। भाष्यकार शारीरिक लाघव के वैकल्पिक द्वितीय हेतु को '**लघुषु**' इत्यादि पदों द्वारा स्पष्ट करते हैं–परमाणुपर्यन्त सूक्ष्म पदार्थ तूलादि में संयम करने से उन पदार्थों में चित्त की तदाकारता को प्राप्त करके जितसम्बन्ध योगी अर्थात् स्वाधीनीकृत कायाकाशसम्बन्ध वाला साधक हलका हो जाता है। लघुताप्राप्त योगी जिस क्रम से आकाशगामी होता है, उस क्रम को '**लघुत्वाच्च**' पद द्वारा निर्देश करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि पानी में चलता हुआ मकड़ी के जाले को पकड़ कर सूर्य रश्मियों के सहारे ऊपर की ओर बढ़ता हुआ योगी आकाश-चारी हो जाता है। आकाशगमन के इन दोनों वैकल्पिक साधनों में अन्तर यह है कि पहले में साक्षात् कायाकाशसंबन्धविषयक संयम है, दूसरे में सूक्ष्मविषयक संयम के द्वारा परम्परया कायाकाशसम्बन्ध का साक्षात्कार किया जाता है॥४२॥

योगवार्त्तिकम्

कायाकाशयोः संबन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्। चकारोऽत्र वकल्पार्थकः। कीदृशः संबन्ध इत्याकाङ्क्षायामाह–यत्रेति। यत्रासनादौ शरीरं तिष्ठति तत्र

शरीरावच्छेदेनाप्याकाशं तिष्ठति। तत्र हेतुः–[1]तस्याकाशस्यावकाशदातृत्वादिति। अतः कायस्याकाशेन संबन्धः प्राप्तिरूपो व्यापनमिति यावद् इत्यर्थः। तत्रेति। तत्र संबन्धे कृतसंयमः तत्संबन्धं जित्वा साक्षात्कारेण स्वेच्छाऽधीनं कृत्वा लघुर्भवतीत्यागामिनाऽन्वयो भविष्यति। द्वितीयहेतुं व्याचष्टे–लघुषु वेत्यादिना जितसंबन्ध इत्यन्तेन। समापत्तिं तत्स्थतदञ्जनताम्। जितसंबन्धः स्वायत्तीकृतकायाकाशसंबन्ध इत्यर्थः। आकाशगतावुपायद्वयसाधारणं क्रममाह– लघुरित्यादिना। प्रथमं लघुर्भवति, ततो लघुतया जले पृथिव्यामिव पद्भ्यां संचरतीत्यादिः क्रम इत्यर्थः। सुगममन्यत्॥४२॥

'**कायेति**।' सूत्र में प्रयुक्त चकार शब्द विकल्पार्थक है।

शङ्का–काय तथा आकाश में किस प्रकार का सम्बन्ध है?

समाधान–उक्त आकांक्षा होने पर भाष्यकार कहते हैं–'**यत्रेति**।' जिस आसनादि में शरीर स्थित रहता है वहाँ शरीरावच्छेदेन आकाश का सद्भाव भी रहता है। इसमें कारण यह है–'**तस्याकाशस्यावकाशदातृत्वादिति**।' क्योंकि अवकाश प्रदान करना आकाश का काम है, अतः अवकाशात्मक प्रदेश में ही स्थूल पदार्थ रह सकता है। इससे यह सिद्धान्तित होता है कि काय का आकाश के साथ प्राप्तिरूप सम्बन्ध है। अर्थात् उनमें व्याप्यव्यापकभावरूप व्याप्ति है। वार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–'**तत्रेति**।' कायाकाशवर्ती प्राप्तिरूप सम्बन्ध में कृतसंयमी इस सम्बन्ध को जीतकर अर्थात् साक्षात्कार द्वारा सम्बन्धविशेष को अपने अधीन करके योगी लघुस्वरूप को प्राप्त करता है, इस प्रकार आगामी वाक्य के साथ अन्वय किया जायेगा। भाष्यकार योगी के लघु होने के द्वितीय कारण को बतलाते हैं–'**लघुषु वेत्यादिना जितसम्बन्ध इत्यन्तेन**।' '**समापत्ति**' शब्द का अर्थ है–तत्स्थतदञ्जनता। कायाकाश के सम्बन्ध को स्वायत्तीकृत करना '**जितसम्बन्ध**' है। भाष्यकार आकाशगमन में दोनों प्रकार के उपायद्वय के साधारण क्रम को बताते हैं–'**लघुरित्यादिना**।' सर्वप्रथम योगी का शरीर हल्का (लघु) होता है, तत्पश्चात् लघु शरीर के द्वारा योगी जल में पैरों से उसी प्रकार विहार करता है जिस प्रकार भूमि में–ऐसा क्रम है। शेष भाष्य सुगम है। (सुगम भाष्यार्थ पीछे द्रष्टव्य है)॥४२॥

संयमसाध्य अगली सिद्धि का प्रतिपादक सूत्र इस प्रकार है–

योगसूत्रम्

बहिर[2]कल्पिता वृत्ति[3]र्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः॥४३॥

---

1. क–**तथा**, ख ग घ च छ–**तस्य**।
2. **उपकल्पिता**–इति पाठान्तरम्।
3. **महाविदेहात् तत्संयमात्**(**महाविदेहा ततः**-स्थाने)–इति पाठान्तरम्

(शरीर के) बाहर (चित्त की) अकल्पिता वृत्ति 'महाविदेहा' (कही जाती) है। इससे ज्ञान का आवरण क्षीण होता है॥४३॥

व्यासभाष्यम्

शरीराद्बहिर्मनसो [1]वृत्तिलाभो विदेहा नाम धारणा। सा यदि शरीर-[2]प्रतिष्ठस्य मनसो बहि[3]र्वृत्तिमात्रेण भवति सा कल्पितेत्युच्यते। या तु [4]शरीर-निरपेक्षा बहिर्भूतस्यैव मनसो बहिर्वृत्तिः सा खल्वकल्पिता। तत्र कल्पितया [5]साधयन्त्यकल्पितां महाविदेहामिति, [6]यया परशरीराण्याविशन्ति योगिनः ततश्च धारणातः प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य यदावरणं क्लेशकर्मविपाक[7]त्रयं रजस्तमोमूलं तस्य [8]च क्षयो भवति॥४३॥

शरीर के बाहर मन की वृत्ति का होना 'विदेहा' नाम की धारणा है। वह यदि केवल वृत्ति के द्वारा शरीर में ही स्थिर रहने वाले मन की होती है, तो वह 'कल्पिता' (नामक धारणा) कही जाती है। किन्तु जो (धारणा) शरीर-निरपेक्ष बाहर ही स्थित रहने वाले मन की बाह्यवृत्तिरूपिणी होती है, वह 'अकल्पिता' (नामक धारणा) कही जाती है। योगी इन दोनों में से '**कल्पिता**' धारणा के द्वारा '**अकल्पिता**' अर्थात् '**महाविदेहा**' नामक धारणा को सिद्ध करता है। जिस '**महाविदेहा**' के सिद्ध होने से साधक दूसरे के शरीरों में प्रविष्ट हो जाते हैं। तदनन्तर इसी धारणा से प्रकाशात्मक बुद्धिसत्त्व का जो क्लेशकर्म-विपाकरूप रजस्तमोजन्य आवरण है, उसका नाश हो जाता है॥४३॥

तत्त्ववैशारदी

अपरमपि परशरीरावेशहेतुं संयमं क्लेशकर्मविपाकक्षय[9]हेतुमाह—बहिरकल्पिता वृत्ति-

---

1. क ग घ च छ थ द ध न प फ भ म य र—**वृत्तिलाभो विदेहा**, ख ज झ त—**वृत्तिलाभो महाविदेहा**, ब—**या वृत्तिः सा विदेहा**।
2. ब—एव (**प्रतिष्ठस्य**—पश्चात्) उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—एव नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च छ ज थ द ध प फ ब भ म य र—**वृत्ति०**, झ त न—**अवृत्ति०**।
4. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—**शरीरनिरपेक्षा**, ख—**शरीरोपेक्षा**।
5. क ख घ प फ य र—**साधयति**, ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म—**साधयन्ति**।
6. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ य र—**यया**, म—**यथा**।
7. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ य र—**त्रयम्**, म—**त्रय०**।
8. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न फ ब भ म र—**च** उपलभ्यते, घ प य—**च** नोपलभ्यते।
9. क—**हेतुं वा**, ख घ ज झ त थ द ध न—**हेतुं**, ग च छ—**हेतुं च**।

र्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः। [1]**विदेहामाह—शरीरादिति। अकल्पिताया महाविदेहाया** [2]**य उपायस्तत्प्रदर्शनाय कल्पितां विदेहामाह—सा यदीति। वृत्तिमात्रं कल्पनाज्ञानमात्रम्, तेन। महाविदेहामाह—या त्विति। उपायोपेयतते कल्पिताकल्पितयोराह—तत्रेति। किं परशरीरावेशमात्रमिति? नेत्याह—ततश्चेति। ततो धारणातो महाविदेहाया मनःप्रवृत्तेः सिद्धेः।**

सम्प्रति, दूसरे के शरीर में प्रवेश के हेतुभूत एवं (अविद्यादि) क्लेश, (शुभाशुभ) कर्म तथा (जाति, आयु और भोगरूप) विपाकक्षय के हेतुभूत अन्य संयम को भी सूत्रकार बताते हैं—'**बहिरिति**।' भाष्यकार '**विदेहा**' नामक धारणा को बताते हैं—'**शरीरादिति**।' शरीर से बाहर जिस किसी विषय में मन की वृत्ति का जो प्रचार होता है, उसे '**विदेहा**' नामक धारणा कहते हैं। अकल्पिता '**महाविदेहा**' (धारणा) का जो उपाय है, उसे प्रदर्शित करने के लिये भाष्यकार '**विदेहा**' नामक कल्पिता धारणा को प्रतिपादित करते हैं—'**सा यदीति**।' यहाँ '**वृत्तिमात्र**' पद का अर्थ है—कल्पनाज्ञानमात्र। अर्थात् शरीरावच्छेदेन मन की बाह्य देश में कल्पनाज्ञानमात्र से होने वाली वृत्ति को '**कल्पिता-धारणा**' कहते हैं। सम्प्रति, भाष्यकार '**कल्पिता**' तथा '**अकल्पिता**' धारणाओं के उपाय और उपेयता (साधन और साध्यता) को बताते हैं—'**तत्रेति**।' इन दोनों प्रकार की धारणाओं में से '**कल्पिता-विदेहा**' नामक धारणा के द्वारा योगी '**अकल्पिता-महाविदेहा**' नामक धारणा को सिद्ध करते हैं। इस '**महाविदेहा**' धारणा के माहात्म्य से योगी दूसरों के शरीर में प्रवेश करते हैं।

शङ्का—'**महाविदेहा**' धारणा का **परकायप्रवेश**' ही फल है? अथवा उसका अन्य भी फल है?

समाधान—नकारात्मक उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं—'**ततश्चेति**।' '**महाविदेहा**' धारणा से योगी को मन की प्रवृत्ति (मन की ऐच्छिक क्रियाशीलता) प्राप्त होती है।

मन की ऐच्छिक क्रियाशीलता को सहेतुक व्युत्पादित करते हुए तत्त्ववैशारदीकार आगे लिखते हैं—

तत्त्ववैशारदी

क्लेशश्च कर्म च ताभ्यां विपाकत्रयं जात्यायुर्भोगाः। तदेतद्रजस्तमोमूलं विगलितरजस्तमसः सत्त्वमात्राद्विवेकख्यातिमात्रसमुत्पादात्। तदेतद्विपाकत्रयं रजस्तमोमूलतया तदात्मकं सद् बुद्धिसत्त्वमावृणोति। तत्क्षयाच्च निरावरणं योगिचित्तं यथेच्छं विहरति विजानाति चेति॥४३॥

तत्त्ववैशारदीकार '**क्लेशकर्मविपाकत्रयम्**' पद का विग्रह करते हैं—'**क्लेशश्च कर्म च ताभ्यां विपाकत्रयम्**' अर्थात् (अविद्यादि) क्लेश और (शुभाशुभ) कर्म से जाति, आयु

---

1. क ख ग—**विदेहामात्रम्**, घ च छ ज झ त थ द ध न—**विदेहाम्**।
2. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न—**य उपायस्तत्प्रदर्शनाय**, ज—उपायं तत्प्रदर्शनाय च।

और भोगरूप तीन प्रकार का फल प्राप्त होता है। ये क्लेशादि रजोगुण एवं तमोगुणमूलक हैं, अर्थात् सत्त्वमूलक नहीं हैं, क्योंकि रजोगुण एवं तमोगुण के सम्पर्क से रहित सत्त्वगुणप्रचुरा बुद्धि से तो विवेकख्यातिमात्र की उत्पत्ति होती है (न कि क्लेशादि की भी उत्पत्ति)। इस प्रकार रजोगुण एवं तमोगुणमूलक होने से जात्यादि विपाकत्रय तदात्मक होकर सत्त्वबहुला बुद्धि को आच्छादित (आवृत्त) करता है। इस आवरण के क्षीण होने से योगी का चित्त इच्छानुसार विचरण (प्रवृत्तिलाभ) करता है और वह निखिल पदार्थों को जानता है॥४३॥

बालप्रिया–

'तदेतद्रजस्तमोमूलम्'–विपाकत्रय सत्त्वमूलक नहीं, अपितु रजस्तमोमूलक होता है। अतः अविद्यादि के साम्राज्यकाल में विवेकख्यातिरूप विद्या का उदय सम्भव नहीं है। क्योंकि दोनों में परस्पर विरोध है। अविद्यादि के कारणभूत रजोगुण एवं तमोगुण के क्षीण होने पर ही बुद्धिसत्त्व में विवेकज्ञान जागरित होता है। इसलिये राजस तथा तामस आवरण से रहित होकर ही निरावृत्त चित्त का यथेच्छगमन वर्णित हुआ है॥४३॥

योगवार्त्तिकम्

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः। योगशास्त्रोक्तसंयमविशेषाद् वक्ष्यमाणा बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहाख्या सिद्धिर्भवति, ततश्च सत्त्वप्रकाशावरणभङ्ग इत्यर्थः। महाविदेहां व्याख्यातुमादौ सामान्यविदेहामाह–शरीरादिति। मनसो बहिर्वृत्तिलाभोऽत्र स्वशरीरस्येव बहिर्वस्तूनां संकल्पादिवशता, सा च बहिरधिष्ठानरूपा धारणा विदेहा सामान्यमित्यर्थः। धारणेति च तान्त्रिकी संज्ञा। तस्या अवान्तरभेदमाह–सा यदीति। शरीरनिरपेक्षेति त्यक्तशरीरेत्यर्थः। अनयाऽपि परशरीरावेशो लिङ्गदेहस्य भवतीति प्रसङ्गादाह–यथेति। तत इत्यादिसूत्रावयवं व्याचष्टे–ततश्चेति। क्लेशेति। क्लेशश्च कर्म च विपाकत्रयं च यद्रजस्तमोमूलकं सत्त्वस्यावरकं तस्य च समूलस्य क्षयो भवतीत्यर्थः। तेषां क्षये च निरावरणं योगिनः चित्तं स्वेच्छया विहरति विजानाति चेति। चशब्दः स्वोक्तं परशरीरावेशं समुच्चिनोति॥४३॥

'बहिरिति'। योगशास्त्रोक्त संयमविशेष से वक्ष्यमाण **'महाविदेहाख्या'** बहिरकल्पिता वृत्ति सिद्ध होती है, जिससे प्रकाशरूप बुद्धि को आवृत्त करने वाला (क्लेशकर्मविपाकरूप) आवरण क्षीण (भंग) हो जाता है। महाविदेहाख्या वृत्ति की व्याख्या करने की इच्छा से भाष्यकार सामान्य विदेहावृत्ति के बारे में सर्वप्रथम बताते हैं– **'शरीरादिति'।** शरीर की भाँति मन के बहिर्वृत्तिलाभ होने का अर्थ है–बहिर्वस्तुओं को योगी के संकल्प के अधीन होना। इसी बहिर्वस्त्वधिष्ठानरूपा धारणा को 'सामान्यविदेहावृत्ति' कहते हैं। **'विदेहावृत्ति'** के लिये (बहिर्वस्त्वधिष्ठानरूपा) **'धारणा'** यह

तान्त्रिकी संज्ञा है। विदेहाख्यधारणा के अवान्तरभेद को भाष्यकार बताते हैं–'**सा यदीति**'। '**शरीरनिरपेक्ष**' शब्द का अर्थ है–त्यक्त शरीर अर्थात् शरीर से बाहर निकले मन की बहिर्वृत्ति को महाविदेहाख्या धारणा कहते हैं। इस महाविदेहाख्या धारणा से योगी के सूक्ष्मशरीर का अन्य पुरुष के शरीर में प्रवेश होता है। इसी तथ्य को भाष्यकार प्रसङ्गतः बताते हैं–'**यथेति**'। अब भाष्यकार सूत्र के उत्तरार्द्ध 'ततः **प्रकाशावरणक्षयः**' की व्याख्या करते हैं–'**ततश्चेति**'। वार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–'**क्लेशेति**'। सत्त्व के आवरकभूत क्लेश, कर्म तथा विपाकत्रय, जो रजस्तमोमूलक हैं, का भी महाविदेहाख्या धारणा से समूलोन्मूलन हो जाता है। इस प्रकार रजस्तमोमूलक आवरण के क्षीण होने पर महाविदेहजयी का निरावृत चित्त (शरीर के बाहर) स्वेच्छापूर्वक विहार करता है और पदार्थों को जानता है। 'च' शब्द भाष्योक्त '**परशरीरावेश**' को ही समुच्चित करता है॥४३॥

संयमसाध्य अगली सिद्धि का प्रतिपादक सूत्र इस प्रकार है–

योगसूत्रम्

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः॥४४॥

भूतों के स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय तथा अर्थवत्त्व–रूप में संयम करने से योगी को 'भूतजय' (सिद्ध) होता है॥४४॥

व्यासभाष्यम्

तत्र [1]पार्थिवाद्याः शब्दादयो विशेषाः सहकारादिभिर्धर्मैः स्थूलशब्देन परिभाषिताः। एतद्भूतानां प्रथमं रूपम्। [2]द्वितीयं रूपं [3]स्वसामान्यं मूर्तिर्भूमिः स्नेहो जलं वह्निरुष्णता वायुः [4]प्रणामी [5]सर्वतोगतिराकाश इत्येतत्स्वरूपशब्देनोच्यते। [6]अस्य [7]सामान्यस्य शब्दादयो विशेषाः। तथा चोक्तम्–एकजातिसमन्वितानाः-

---

1. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ भ म य र–**पार्थिवाद्याः शब्दादयः**, छ थ–**पृथिव्यादयः शब्दादीनां**, ब–**पार्थिवाः**।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न प फ ब भ म य र–**द्वितीयं रूपं** उपलभ्यते, द–**द्वितीयं रूपं** नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–**स्वसामान्यं**, ब–सामान्यम्।
4. क ख ग घ च च ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–**प्रणामी**, ब–**प्रणामित्वम्**।
5. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र–**सर्वतोगतिः**, ख–**सर्वगतिः**।
6. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–**अस्य**, ब–**तस्य**।
7. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र–**सामान्यस्य**, छ थ–**स्वस्वसामान्य०**।

मेषां धर्ममात्रव्यावृत्तिरिति। सामान्यविशेषसमुदायोऽत्र द्रव्यम् [1]द्रष्टव्यम्। [2]द्विष्ठो हि समूहः। प्रत्यस्तमित[3]भेदावयवा[4]नुगतः शरीरं वृक्षो वनमिति। शब्देनोपात्त-भेदावयवानुगतः समूहः—उभये देवमनुष्याः, समूहस्य देवा एको भागो मनुष्या द्वितीयो भागः। ताभ्यामेवाभिधीयते समूहः। [5]स च भेदाभेदविवक्षितः। आम्राणां वनं ब्राह्मणानां सङ्घः, आम्रवणं ब्राह्मणसङ्घ इति। स पुनर्द्विविधो युतसिद्धा-वयवोऽयुतसिद्धावयवश्च। युतसिद्धावयवः समूहो वनं सङ्घ इति। अयुतसिद्धावयवः सङ्घातः—शरीरं वृक्षः परमाणुरिति। अयुतसिद्धावयव[6]भेदानुगतः समूहो द्रव्य-मिति पतञ्जलिः। एतत्[7]स्वरूपमित्युक्तम्। अथ किमेषां सूक्ष्मरूपम्? तन्मात्रं भूतकारणम्। तस्यैकोऽवयवः परमाणुः सामान्यविशेषात्माऽयुतसिद्धा[8]वयवभेदानु-गतः समुदाय इत्येवं सर्वतन्मात्राण्येतत्तृतीयम्। अथ भूतानां चतुर्थं रूपं ख्याति-क्रियास्थितिशीला गुणाः कार्यस्वभावानुपातिनोऽन्वयशब्देनोक्ताः। अथै[9]षां पञ्चमं रूपमर्थवत्त्वम्, भोगापवर्गार्थता गुणेष्व[10]न्वयिनी, [11]गुणास्तन्मात्रभूतभौतिकेष्विति सर्वमर्थवत्। तेष्विदानीम्भूतेषु पञ्चसु पञ्चरूपेषु [12]संयमात्तस्य [13]तस्य रूपस्य स्वरूपदर्शनं जयश्च प्रादुर्भवति। तत्र [14]पञ्च भूतस्वरूपाणि जित्वा भूतजयी

---

1. च जु झ त द ध न भ—**द्रष्टव्यम्** उपलभ्यते, क ख ग घ छ थ प फ ब म य र—**द्रष्टव्यं** नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—**द्विष्ठः**, छ थ—**तेषाम्**।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**भेदावयवानुगतः**, ब—**भेदावयवः**।
4. थ—**द्विष्ठो हि समूहो जातिव्यक्त्यात्मकः** (अनुगतः—पश्चात्) उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—**द्विष्ठो.....यात्मकः** नोपलभ्यते।
5. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**स च** उपलभ्यते, ब—**स च** नोपलभ्यते।
6. क ग घ च छ झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—**भेद०** उपलभ्यते, ख ज—**भेद०** नोपलभ्यते।
7. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—**स्वरूपं**, छ थ—**परमाणुस्वरूपम्**।
8. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—**अवयवभेद०** , ज—**भेदावयव०**।
9. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न प भ य र—**एषां**, झ—**अपि**, ब फ म—**एषां/अपि** नोपलभ्यते।
10. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न प फ ब भ म य र—**अन्वयिनी**, द—**अन्वयिनः**।
11. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—**गुणाः**, म—**गुणः**।
12. क ख ग घ च छ ज थ द ध न प फ ब भ म य र—**संयमात्**, झ त—**संयम०**।
13. क ग घ च छ झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—**तस्य रूपस्य** उपलभ्यते, ख ज—**तस्य रूपस्य** नोपलभ्यते।
14. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—**पञ्चभूत०**, ख—**भूतपञ्च**।

भवति। तज्जयाद्वत्सानुसारिण्य इव गावोऽस्य सङ्कल्पानुविधायिन्यो भूतप्रकृतयो भवन्ति॥४४॥

उनमें से पृथ्वी आदि पाँच भूतों में रहने वाले आकारादि धर्मों सहित शब्दादि विशेष 'स्थूल' शब्द से संकेतित अर्थात् कहे जाते हैं। यह पञ्च भूतों का पहला रूप है। पञ्च भूतों का जो अपना-अपना सामान्य धर्म है, वह भूतों का दूसरा रूप है, जैसे भूमि का सामान्यरूप मूर्त्तता, जल का सामान्यरूप स्निग्धता, वह्नि का सामान्यरूप ऊष्णता, वायु का सामान्यरूप प्रणामिता तथा आकाश का सामान्य रूप सर्वगामिता है—भूतों के ये सामान्यधर्म 'स्वरूप' शब्द से पुंकारे जाते हैं। इस सामान्य के शब्दादि विशेष हैं। ऐसा ही कहा गया है—'एक-एक धर्म से युक्त इन पंचभूत्तों की अपने-अपने शब्दादि धर्म से परस्पर व्यावृत्ति (भेद) होती है।' यहाँ (सांख्ययोग मत में) सामान्य-विशेष के समूह को 'द्रव्य' कहते हैं। यह समूह दो प्रकार का होता है। जिसके अवयव-भेद प्रत्यस्तमित हो गये हैं, यह एक प्रकार का 'समूह' है, जैसे—शरीर, वृक्ष, यूथ तथा वन। जिसके अवयव-भेद शब्द द्वारा प्रतीत होते हैं, यह दूसरे प्रकार का 'समूह' है, जैसे—दोनों देव-मनुष्य। यहाँ समूह का एक भाग देवता है तथा दूसरा भाग मनुष्य। इन दोनों अवयव-भेदों से 'समूह' अभिहित होता है। समूह विवक्षित भेद वाला तथा अविवक्षित भेद वाला भी होता है। 'आमों का वन', 'ब्राह्मणों का संघ'—ये विवक्षित भेद समूह के उदाहरण हैं। 'आम्रवन', 'ब्राह्मणसंघ'—ये अविवक्षित भेद समूह के उदाहरण हैं। यह समूह फिर दो प्रकार का होता है—एक युतसिद्धावयव समूह तथा दूसरा अयुतसिद्धावयव समूह। युतसिद्धावयव (पृथक्करणीय) समूह के उदाहरण हैं—'वन', 'संघ' आदि। अयुतसिद्धावयव (अपृथक्करणीय) समूह के उदाहरण हैं—शरीर, वृक्ष तथा परमाणु आदि। पतञ्जलि के मत में 'अयुतसिद्धावयव भेदानुगत समूह 'द्रव्य' है। भूतों का यही दूसरा सामान्यरूप 'स्वरूप' कहलाता है। अच्छा, इन पञ्च भूतों का 'सूक्ष्म' रूप क्या है? (उत्तर है)—पञ्चभूतों का कारण तन्मात्र ही पञ्च भूतों का 'सूक्ष्म' रूप है। पञ्चतन्मात्र का एक अवयव परमाणु है। यह परमाणु ही सामान्य-विशेषरूप तथा अयुतसिद्धावयव भेदानुगत समूह वाला है। इस प्रकार पञ्चतन्मात्र भूतों का तीसरा रूप है। इसके बाद पञ्चभूतों का चौथा रूप प्रकाश-क्रिया-स्थिति-स्वभाव वाला तथा सम्पूर्ण कार्यों में अनुगत रहने वाला गुणत्रय 'अन्वय' शब्द से कहा जाता है। इन पञ्च भूतों का पञ्चम रूप 'अर्थवत्त्व' है। यह भोगापवर्गरूप 'अर्थवत्ता' सत्त्वादि गुणों में अनुगत है, किन्तु ये गुण भूत तथा भौतिक समस्त पदार्थों

मे विद्यमान हैं। अतः भूत-भौतिक सभी पदार्थ प्रयोजनरूप अर्थ से युक्त हैं। पञ्चभूत के इन पाँच रूपों में संयम करने से उस-उस रूप का स्वरूपदर्शन तथा जय प्रादुर्भूत होता है। पाँचों भूतस्वरूपों को जीतकर योगी 'भूतजयी' होता है। भूतजय से भूत तथा भूतप्रकृतियाँ (तन्मात्राएँ) योगी के संकल्प का अनुसरण उसी प्रकार करती हैं, जिस प्रकार गायें अपने-अपने बछड़ों का अनुगमन करती हैं॥४४॥

तत्त्ववैशारदी

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्भूतजयः। स्थूलं च स्वरूपं च सूक्ष्मं चान्वयश्चा- र्थवत्त्वं चेति स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वानि। तेषु संयमात्तज्जयः। स्थूलमाह– तत्रेति। पार्थिवाः पायसीयास्तैजसा वायवीया आकाशीयाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा यथासंभवं विशेषाः षड्जगान्धारादयः शीतोष्णादयो नीलपीतादयः कषायमधुरादयः सुरभ्यादयः। एते हि नाम- रूपप्रयोजनैः परस्परतो भिद्यन्त इति विशेषाः। एतेषां पञ्च पृथिव्याम्। गन्धवर्जं चत्वारोऽप्सु। गन्धरसवर्जं त्रयस्तेजसि। गन्धरसरूपवर्जं द्वौ नभस्वति। शब्द एवाकाशे। त एत ईदृशा विशेषाः सहाकारादिभिर्धर्मैः स्थूलशब्देन परिभाषिताः शास्त्रे। [1]तत्र पार्थिवास्तावद्धर्माः–

आकारो गौरवं रौक्ष्यं वरणं स्थैर्यमेव च।
वृत्तिर्भेदः क्षमा कार्श्यं काठिन्यं सर्वभोग्यता॥

अपां धर्माः– स्नेहः सौक्ष्म्यं प्रभा शौक्ल्यं मार्दवं गौरवं च यत्।
शैत्यं रक्षा पवित्रत्वं संधानं चौदका गुणाः॥

तैजसा धर्माः– ऊर्ध्वभाक्[2]पाचकं दग्धृ पावकं लघु भास्वरम्।
प्रध्वंस्योजस्वि वै तेजः [3]पूर्वाभ्यां भिन्नलक्षणम्॥

वायवीया धर्माः– तिर्यग्यानं पवित्रत्वमाक्षेपो नोदनं बलम्।
चलमच्छायता रौक्ष्यं वायोर्धर्माः पृथग्विधाः॥

आकाशीया धर्माः– सर्वतोगतिरव्यूहोऽ[4]विष्टम्भश्चेति [5]ते त्रयः।
आकाशधर्मा व्याख्याताः पूर्वधर्मविलक्षणाः॥

इति। त एत आकारप्रभृतयो धर्मास्तैः सहेति। आकारश्च सामान्यविशेषो गोत्वादिः।

---

1. क छ थ द ध–तत्रापि, ख घ ग घ च ज झ त न–तत्र।
2. क ख ग घ च छ ज झ त न–पाचकं दग्धृ पावकं, थ द ध–पावकं दग्धृ पाचकम्।
3. क ख ग घ च छ ज झ त द ध न–पूर्वाभ्यां, थ–पूर्वेभ्यः।
4. क ख ग घ च छ झ त न–अविष्टम्भः, ज–अवष्टम्भः, थ द ध–विष्टम्भः।

द्वितीयं रूपमाह—द्वितीयं रूपं स्वसामान्यमिति। मूर्तिः सांसिद्धिकं काठिन्यम्। स्नेहो [1]जलं [2]मज्जा पुष्टिबलाधानहेतुः। वह्निरुष्णतौदर्ये सौर्ये भौमे च सर्वत्रैव तेजसि समवेतोष्ण- तेति। सर्वं चैतद्धर्मधर्मिणोरभेदविवक्षयाभिधानम्। वायुः प्रणामी वहनशीलः। तदाह—

चलनेन तृणादीनां शरीरस्याटनेन च।
सर्वगं वायुसामान्यं नामीत्वमनुमीयते॥

सर्वतोगतिराकाशः, सर्वत्र शब्दोपलब्धिदर्शनात्। श्रोत्राश्रयाकाशगुणेन हि शब्देन पार्थिवादिशब्दोपलब्धिरित्युपपादितमधस्तात्। एतत्स्वरूपशब्देनोक्तम्। अस्यैव मूर्त्यादिसामान्य- स्य शब्दादयः षड्जादय उष्णत्वादयः शुक्लत्वादयः कषायत्वादयः सुरभित्वादयो मूर्त्यादीनां सामान्यानां भेदाः। सामान्यान्यपि मूर्त्यादीनि जम्बीरपनसामलकफलादीनि रसादिभेदात्परस्परं व्यावर्तन्ते। तेनैतेषामेते रसादयो विशेषाः। तथा चोक्तम्—[3]एकेति। एकजातिसमन्वितानां प्रत्येकं पृथिव्यादीनामेकैकया जात्या मूर्तिस्नेहादिना [4]समन्वितानामेषां षड्जादिधर्ममात्र- व्यावृत्तिरिति। तदेवं सामान्यं मूर्त्याद्युक्तं विशेषाश्च शब्दादय उक्ताः।

'**स्थूलेति**।' तत्त्ववैशारदीकार इतरेतरद्वन्द्वसमास को संकेतित करते हैं—**स्थूलं च स्वरूपं च सूक्ष्मं च अन्वयश्च अर्थवत्त्वं चेति स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वानि** अर्थात् स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय तथा अर्थवत्त्व ये भूतों के रूप हैं। इनमें संयम करने से भूतजय होता है अर्थात् योगी भूतजयी हो जाता है।

भूतों के '**स्थूल**' रूप को भाष्यकार बताते हैं—'**तत्रेति**।' पार्थिव, जलीय, तैजस, वायवीय तथा आकाशीय शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध क्रमशः षड्जगान्धारादि, शीतोष्णादि, नीलपीतादि, कषायमधुरादि तथा सुरभ्यादि '**विशेष**' से युक्त हैं। ये नाम, रूप तथा प्रयोजन से परस्पर भिन्न हैं, इसलिये '**विशेष**' कहे जाते हैं। इनमें से पृथ्वी में पाँच विशेष हैं, जल में गन्ध को छोड़कर चार विशेष हैं, तेज में गन्ध और रस को छोड़कर तीन विशेष हैं, नभ में गन्ध, रस और रूप को छोड़कर दो विशेष हैं तथा आकाश में केवल एक विशेष है। इस प्रकार के ये '**विशेष**' अपने आकारादि सहकारी धर्मों के साथ योगशास्त्र में '**स्थूल**' शब्द से परिभाषित हैं। इनमें से पृथ्वी के धर्म ये हैं—'अवयवों का सन्निवेश विशेष, भारीपन, रूखापन, आच्छादन, स्थिरता, सर्वभूताधारता, विदारण, सहनशीलता, दृढता, कठिनता तथा सर्वभोग्यता ये पृथ्वी के धर्म हैं।' जल के धर्म ये हैं—'स्नेह, सूक्ष्मता, प्रभा, शुक्लता, मृदुता, भारीपन, शीतता, रक्षण, पवित्रता, संमेलन ये दश धर्म जल के हैं।' तेज के धर्म ये हैं—

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध—**जलं**, न—**जले**।
2. क ख ग घ च ज झ त—**मृजा**, छ थ द ध न—**मज्जा**।
3. थ द ध—**एकेति** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न—**एकेति** नोपलभ्यते।
4. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न—**समन्वितानां**, झ—**समाधिगतानाम्**।

'ऊर्ध्वगमनशीलता, पाचकता, दाहकता, पवित्रता, लघुता, प्रकाशकता, प्रध्वंसकता तथा बलशीलता पूर्व के पृथ्वी तथा जल से भिन्न लक्षण वाला तेज अग्नि कहलाता है।' वायु के धर्म ये हैं–'टेढ़ा चलना, पवित्रता, गिराना, कम्पन-सामर्थ्य, चञ्चलता, आच्छादन का अभाव, रूखापन ये आठ पूर्व तीन से पृथक् वायु के धर्म हैं।' आकाश के धर्म ये हैं–'व्यापक, विभाग करना और अवकाश प्रदान करना ये तीन पूर्व के चारों के धर्म से विलक्षण आकाश के धर्म कहे जाते हैं।' ये आकारादि धर्म हैं, इन आकारादि धर्मों सहित भूतों के विशेषरूप ही भूतों के 'स्थूल' रूप कहे जाते हैं। किञ्च यह आकार पशुत्वसामान्य का गोत्वादि विशेषरूप है।

भूतों के द्वितीय रूप को भाष्यकार बताते हैं–'**द्वितीयं रूपं स्वसामान्यमिति।**' पञ्च-भूतों का जो स्व-स्व सामान्य धर्म है, वह पञ्चभूतों का '**स्वरूप**' नामक द्वितीय रूप है। जैसे '**मूर्त्ति**'=स्वाभाविक काठिन्य पृथ्वी का स्वरूप है। '**स्नेह**' जल का स्वरूप है, जो मज्जा (मांस और हड्डियों के बीच का रस) वर्धन तथा शारीरिक बलाधान का हेतु है। 'ऊष्णता' वह्नि का स्वरूप है। यह ऊष्णता उदर-सूर्य-मंगल-ग्रहसम्बन्धी समस्त तेजोमय पदार्थों में समवायसम्बन्ध से रहती है। यह जो मूर्त्ति को भूमि, स्नेह को जल तथा ऊष्णता को वह्नि कहा गया है, वह धर्म-धर्मी की अभेद-विवक्षा से है। वायु '**प्रणामी**'=वहनशील है। जैसा कि कहा गया है–'**चलनेन...मनुमीयते**' अर्थात् 'तृणादियों के कम्पित होने से और शरीर के भ्रमण करने से सर्वव्यापी वायु का वहनशीलरूप सामान्य धर्म अनुमित होता है।' '**सर्वतोगति**'=सर्वत्र विद्यमानता अर्थात् व्यापित्व आकाश का स्वरूप है, क्योंकि (आकाश का विशेष धर्म) शब्द सब जगह सुनाई पड़ता है। श्रोत्र के आश्रयभूत आकाश के विशेष गुण शब्द से पार्थिवादि शब्दों का ज्ञान होता है, ऐसा पूर्व प्रतिपादित हो चुका है। भूतों का यह द्वितीय स्वसामान्य रूप '**स्वरूप**' शब्द से अभिहित है। इस सामान्य के ही शब्दादि विशेष हैं। अर्थात् मूर्त्त्यादि सामान्यों के ही षड्जादि, उष्णत्वादि, शुक्लत्वादि, कषायत्वादि और सुरभित्वादि भेद (विशेष) हैं। जम्बीर (चकोतरा), पनस (कटहल) आमलक (आँवला) आदि फलों के मूर्त्त्यादि सामान्य भी रसादि-भेद से परस्पर भिन्न-भिन्न हैं। इन षड्जादि धर्मों से युक्त मूर्त्त्यादि सामान्य के ये रसादि धर्म विशेष हैं। जैसा कि कहा गया है–'**एकेति।**' अर्थात् 'एकजातिसमन्वित' अर्थात् एक-एक मूर्त्ति, स्नेहादि जाति से युक्त प्रत्येक पृथिव्यादि भूतों की अपने-अपने षड्जादि धर्ममात्र से व्यावृत्ति होती है। इस प्रकार पृथ्वी आदि द्रव्य के मूर्त्ति आदि सामान्य और शब्दादि विशेष धर्म कहे गये हैं।

बालप्रिया–

'**स्वसामान्यम्**'–पद का अर्थ है–अपना-अपना सामान्य रूप। जिस भूत का जो सामान्यरूप है, उसे भाष्यकार ने '**मूर्त्तिः**' इत्यादि पदों द्वारा प्रदर्शित किया है। '**मूर्त्तिमती भूमिः, स्नेहवज्जलम्**'–यह कथन सामान्य-विशेष रूप धर्म-धर्मी के अभेद-विवक्षा से है।

सम्प्रति, '**द्रव्य**' के स्वरूप पर विचार किया जा रहा है–

तत्त्ववैशारदी

ये चाहुः सामान्यविशेषाश्रयो द्रव्यमिति तान्प्रत्याह–[1]सामान्येति। सामान्यविशेषसमुदायोऽत्र दर्शने द्रव्यम्। येऽपि [2]तदाश्रयो द्रव्यमास्थिषत तैरपि तत्समुदायोऽनुभूयमानो नापह्नोतव्यः। न च तदपह्नवे तयोराधारो द्रव्यमिति भवति। तस्मात्तदेवास्तु द्रव्यम्। न तु ताभ्यां तत्समुदायाच्च तदाधारमपरं द्रव्यमुपलभामहे, ग्रावभ्यो ग्रावसमुदायादि[3]व च तदाधारमपरं पृथग्विधं [4]शिखरम्। समूहो द्रव्यमित्युक्तम्। तत्र समूहमात्रं द्रव्यमिति भ्रमापनुत्तये समूहविशेषो द्रव्यमिति निर्धारयितुं समूहप्रकारानाह–द्विष्ठो हीति। यस्मादेवं तस्मा[5]न्न समूहमात्रं द्रव्यमित्यर्थः। द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां तिष्ठतीति द्विष्ठः। एकं प्रकारमाह–प्रत्यस्तमितेति। प्रत्यस्तमितो भेदो येषामवयवानां ते तथोक्ताः [6]प्रत्यस्तमितभेदा अवयवा यस्य स तथोक्तः। एतदुक्तं भवति–शरीरवृक्षयूथवनशब्देभ्यः समूहः प्रतीयमानोऽप्रतीतावयवभेदस्तद्वाचकशब्दाप्रयोगात्समूह एकोऽवगम्यत इति। युतायुतसिद्धावयवत्वेन चेतनाचेतनत्वेन चोदाहरणचतुष्टयम्। युतायुतसिद्धावयवत्वं चाग्रे वक्ष्यते। द्वितीयं प्रकारमाह–शब्देनोपात्तभेदावयवानुगतः समूह उभये देवमनुष्या इति। देवमनुष्य इति हि शब्देनोभयशब्दवाच्यस्य समूहस्य भागौ भिन्नावुपात्तौ। ननूभयशब्दात्तदवयवभेदो न प्रतीयते। तत्कथमुपात्तभेदावयवानुगत इत्यत आह–[7]ताभ्यामिति। ताभ्यां [8]भागाभ्यामेव समूहोऽभिधीयते। उभयशब्देन भागद्वयवाचिशब्दसहितेन समूहो वाच्यः, [9]वाक्यस्य वाक्यार्थवाचकत्वादिति भावः। पुनर्द्वैविध्यमाह–स चेति। भेदेन चाभेदेन च विवक्षितः। भेदविवक्षितमाह–आम्राणां वनं ब्राह्मणानां

---

1. थ द ध–**सामान्येति** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न–सामान्येति नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त ध न–**तदाश्रयः**, थ द–**तदाश्रयम्**।
3. क–**च**, ख ज–**वत्**, ग–**इव**, घ च त थ ध न–**इव च**, छ झ द–**वच्च**।
4. क छ झ–**शिखरसमूहः**, ख ग घ च ज त थ द ध न–**शिखरं समूहः**।
5. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न–**न**, त–**तु**।
6. क ख ग घ च छ ज त थ द ध–**प्रत्यस्तमितभेदा अवयवा यस्य स तथोक्तः** उपलभ्यते, झ न **प्रत्यस्तमित...तथोक्तः** नोपलभ्यते।
7. थ द ध–**ताभ्यामिति** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न–ताभ्यामिति नोपलभ्यते।
8. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न–**भागाभ्याम्**, ज–**भेदाभेदाभ्याम्**।
9. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध–**वाक्यस्य** उपलभ्यते, न–**वाक्यस्य** नोपलभ्यते।

सङ्घ इति। भेद एव षष्ठीश्रुतेः। यथा गर्गाणां गौरिति। अभेदविवक्षितमाह—आम्रवणं ब्राह्मणसंघ इति। आम्राश्च ते वनं चेति समूहसमूहिनोरभेदं विवक्षित्वा सामानाधिकरण्यमित्यर्थः। विधान्तरमाह—स पुनर्द्विविध इति। युतसिद्धावयवः समूहः। युतसिद्धाः पृथक्सिद्धाः सान्तराला अवयवा यस्य स तथोक्तः, यूथं वनमिति। सान्तराला हि तदवयवा [1]वृक्षाश्च गावश्च। अयुतसिद्धावयवश्च समूहो वृक्षो गौः परमाणुरिति। निरन्तरा हि तदवयवाः सामान्यविशेषा वा सास्नादयो वेति। तदेतेषु समूहेषु द्रव्यभूतं समूहं निर्धारयति—अयुतसिद्धेति। तदेवं प्रासङ्गिकं [2]द्रव्यं व्युत्पाद्य प्रकृतमुपसंहरति—एतत्स्वरूपमित्युक्तमिति।

जो वैशेषिक लोग '**सामान्य-विशेष** का आश्रयभूत द्रव्य होता है'—ऐसा '**द्रव्य**' के विषय में कहते हैं उनके प्रति भाष्यकार का वक्तव्य है—'**सामान्येति**।' इस दर्शन में सामान्य-विशेष के समुदाय को '**द्रव्य**' कहते हैं। जो लोग सामान्य-विशेष के आश्रय को ही द्रव्य मानते हैं, उनके द्वारा भी अनुभव में आने वाले सामान्य-विशेष के समुदाय का अपलाप नहीं किया जा सकता है। किञ्च समुदाय का अपलाप करने पर दोनो (सामान्य तथा विशेष) का आधार '**द्रव्य**' नहीं होता है। इसलिये सामान्य-विशेष का समुदाय ही '**द्रव्य**' माना जाना चाहिये। किञ्च सामान्य-विशेष और उनके समुदाय के अतिरिक्त आधाररूप से किसी दूसरे द्रव्य की उपलब्धि नहीं होती है। जिस प्रकार पाषाणों और उनके समुदाय से अतिरिक्त आधाररूप से किसी दूसरे शिखर की प्रतीति नहीं होती है। इसलिये 'सामान्य-विशेष के समूह' को ही '**द्रव्य**' कहा गया है। कहीं समूहमात्र को ही द्रव्य न समझ लिया जाय अर्थात् समूहमात्र द्रव्य है, इस भ्रान्त अवधारणा के निवारणार्थ 'समूहविशेष द्रव्य है'—इसे निर्धारित करने के लिये भाष्यकार समूह के प्रकारों को बतलाते हैं— '**द्विष्ठो हीति**।' क्योंकि समूह द्विष्ठ (दो में रहने वाला) रहता है, इस कारण से समूहमात्र को द्रव्य नहीं कहा जा सकता है। '**द्विष्ठ**' पद की व्युत्पत्ति है—'**द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां तिष्ठतीति द्विष्ठः**' अर्थात् जो दो प्रकारों से स्थित रहता है, उसे '**द्विष्ठ**' कहते हैं। इस व्युत्पत्ति के अनुसार समूह दो प्रकार का होता है। भाष्यकार समूह के एक प्रकार को बताते हैं—'**प्रत्यस्तमितेति**।' जिन अवयवों का भेद (पारस्परिक अलगाव) प्रतीत (शब्दों द्वारा प्रकट) नहीं होता है, उनमें अनुगत रहने वाला समूह '**प्रत्यस्तमितभेदावयवानुगत समूह**' कहलाता है। अभिप्राय यह है—शरीर, वृक्ष, यूथ तथा वन—इन शब्दों से प्रतीयमान समूह अप्रतीत (अप्रकट) अवयवभेद वाला होता है, क्योंकि इनमें अवयव के भेद का वाचक शब्दप्रयोग नहीं हुआ है। अतः यह 'एक समूह' रूप से जाना जाता है। युतायुतसिद्धावयवत्व तथा चेतनाचेतनत्व की दृष्टि से ये चार

---

1. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न—**वृक्षाश्च**, त—**वृक्षाः**।
2. क ग घ च छ झ थ द ध न—**द्रव्यम्**, ख ज त—**द्वैविध्यम्**।

उदाहरण ऊपर कहे गये हैं। किञ्च युतायुतसिद्धावयवत्वसमूह को आगे बताया जायेगा। भाष्यकार समूह के द्वितीय प्रकार को प्रतिपादित करते हैं–'**शब्देनोपात्त-भेदावयवानुगतः समूह उभये देवमनुष्या इति**।' अर्थात् शब्द से प्रकटित भेदों वाले अवयवों में अनुगत रहने वाला समूह द्वितीय प्रकार का है। जैसे '**उभये देवमनुष्याः**' इस उदाहरण में '**उभय**' शब्द के वाच्य '**समूह**' के दो भिन्न भाग (अंश) '**देव-मनुष्य**' इस शब्द के द्वारा गृहीत होते हैं। अर्थात् द्विष्ठ 'समूह' का एक अंश देव और दूसरा अंश मनुष्य शब्द से गृहीत है।

शङ्का–'**उभय**' शब्द के प्रयोग से '**देव**' और '**मनुष्य**' के अवयवों का भेद तो प्रतीत नहीं होता है, तो फिर कैसे समूह के इस प्रकार को '**उपात्तभेदावयवानुगत**' कहा गया?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**ताभ्यामिति**।' यहाँ '**देव**' और '**मनुष्य**' इन दो अवयवों (भागों) से ही '**समूह**' कहा जा रहा है। अर्थात् समूह के देव और मनुष्य ये ही दो अवयव हैं। यहाँ भागद्वयवाची (दो प्रकार के अवयव को बताने वाले) देव और मनुष्य शब्द के साथ '**उभय**' शब्द के प्रयोग से समूह ही वाच्य होता है, क्योंकि वाक्यार्थ का वाचक वाक्य होता है। भाष्यकार (अपर दृष्टि से) '**समूह**' के पुनः दो भेद बताते हैं–'**स चेति**।' किञ्च वह '**द्रव्य**' रूप समूह '**भेद** तथा '**अभेद**' रूप से दो प्रकार से विवक्षित है। जिस समूह से भेद की प्रतीति होती है, उस समूह को भाष्यकार बताते हैं–'**आम्राणां वनं ब्राह्मणानां संघ इति**।' इन दोनों उदाहरणों में षष्ठी विभक्ति (श्रुति) के प्रयोग से आम्र और वन में तथा ब्राह्मण और संघ में भेद ही प्रतीत होता है। जैसे '**गर्गाणां गौः**' अर्थात् 'गर्गों की गाय' इस उदाहरण में 'गर्ग' और 'गौ' का भेद विवक्षित है। अब जिस समूह से अभेद की प्रतीति होती है, उस समूह को भाष्यकार प्रतिपादित करते हैं–'**आम्रवनं ब्राह्मणसंघ इति**।' यहाँ '**आम्राश्च ते वनञ्च आम्रवनं, ब्राह्मणाश्च ते संघश्च ब्राह्मणसंघः**'–यहाँ समूह और समूही में अभेदविवक्षा करके सामानाधिकरण्य किया गया है। (यहाँ कर्मधारयसमास है)। समूह की अपर विधा को भाष्यकार बताते हैं–'**स पुनर्द्विविध इति**।' वह समूह पुनः दो प्रकार का है–युतसिद्धावयवसमूह तथा अयुतसिद्धावयवसमूह। तत्त्ववैशारदीकार 'युतसिद्धावयव समूह' का विग्रह करते हैं–'**युतसिद्धाः पृथक्सिद्धाः सान्तराला अवयवा यस्य स इति युतसिद्धावयवः समूहः**' अर्थात् जिसके सावकाश अवयव पृथक् सिद्ध हैं, उसे '**युत-सिद्धावयवसमूह**' कहते हैं। जैसे 'यह यूथ (संघ) है, यह वन है'–यहाँ 'यूथ' समूह के अवयव गौएँ और 'वन' समूह के अवयव वृक्ष सान्तराल अर्थात् पृथक्-पृथक् हैं। अयुतसिद्धावयवसमूह का उदाहरण है–वृक्ष, गौ, परमाणु आदि। इन उदाहरणों में सामान्यविशेष अथवा सास्नादिरूप अवयव सान्तराल (पृथक्) नहीं हैं। अतः ये अयुतसिद्धावयवसमूह वाले हैं। उपरिवर्णित समूहों में से '**द्रव्य**' भूत समूह को

'भाष्यकार निर्धारित करते हैं–'**अयुतसिद्धेति**।' इन समूहों में से जो अयुतसिद्धावयव-भेदानुगत समूह है, वही '**द्रव्य**' है। इस प्रकार प्रसंगतः प्राप्त '**द्रव्य**' का स्वरूप प्रतिपादित करके भाष्यकार प्रकृत विषय को समाप्त करते हैं–'**एतत्स्वरूपमित्युक्तमिति**।' भूतों का यही द्वितीय सामान्य रूप '**स्वरूप**' शब्द से अभिहित है।

बालप्रिया–

'**ये चाहुः**'–इस के द्वारा वैशेषिक मत को उपस्थापित किया गया है।

'**ग्रावभ्यः**'–इस शब्द का अर्थ है–**पाषाणेभ्यः**।

'**उभये**'–इस पद का विग्रह है–'**उभाववयवौ येषां ते उभये**।' प्रकृत में ये दो अवयव हैं–'**देवमनुष्या इति**।' यहाँ '**उभय**' शब्दवाच्य समूह के अवान्तरविभाग को '**देव**' और '**मनुष्य**' इन दो शब्दों द्वारा बताया गया है।

'अप्रतीताऽवयवभेद एकः **समूहोऽवगम्यते**'–इस प्रकार अन्वय करना चाहिये। तदर्थ 'तद्वाचकशब्दाऽप्रयोगात्' द्वारा हेतु उपन्यस्त किया गया है।

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार भूतों के अन्तिम तीन रूपों की व्याख्या करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

तृतीयं रूपं विवक्षुः पृच्छति–**अथेति**। **उत्तरमाह तन्मात्रमिति**। [1]**यस्यैकोऽवयवः** [2]परिमाणभेदः परमाणुः, **सामान्यं मूर्तिः**, **शब्दादयो विशेषास्**[3]**तदात्मा**, **अयुतसिद्धा निरन्तरा** येऽवयवाः सामान्यविशेषास्तद्भेदेष्वनुगतः समुदायः। **यथा च परमाणुः सूक्ष्मं रूपमेवं सर्व-तन्मात्राणि सूक्ष्मं रूपमिति**। उपसंहरति–**एतदिति**।

अथ भूतानां चतुर्थं रूपं **ख्यातिक्रियास्थितिशीला गुणाः** [4]**कार्यस्वभावानुपातिनः कार्य-स्वभावमनुपतितुमनुगन्तुं शीलं येषां ते तथोक्ताः**। **अत एवान्वयशब्देनोक्ताः**।

अथैषां पञ्चमं रूपमर्थवत्त्वं विवृणोति–भोगेति। नन्वेवमपि सन्तु गुणा अर्थवन्तः। तत्कार्याणां तु कुतोऽर्थवत्त्वमित्यत आह–गुणा इति। भौतिका गोघटादयः। तदेवं संयमविषय-मुक्त्वा संयमं तत्फलं चाह–तेष्विति। भूतप्रकृतयः भूतस्वभावाः॥४४॥

भूतों के तृतीय रूप की व्याख्या करने की इच्छा से प्रश्न किया जा रहा है–'**अथेति**।'

शङ्का–इन पञ्चभूतों का '**सूक्ष्म**' रूप क्या है?

समाधान–भाष्यकार उत्तर देते हैं–'**तन्मात्रमिति**।' पञ्चतन्मात्र पञ्चभूतों का कारण है। उसका एक अवयव अर्थात् परिमाणभेद '**परमाणु**' है, जो मूर्त्ति आदि '**सामान्य**' और

---

1. क क ग घ च छ ज झ त थ द ध–**तस्य, न यस्य**।
2. क ख ग घ च छ न–**परिमाण**०, ज झ त थ द ध–**परिणाम**०।
3. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न–**तदात्मा**, ज–**तदात्मानः**
4. थ द ध–**कार्यस्वभावानुपातिनः** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न–**कार्य**...नोपलभ्यते।

शब्दादि '**विशेष**' स्वरूप वाला है, जिसके सामान्य-विशेष रूप अवयव निरन्तर अर्थात् अयुतसिद्ध हैं, ऐसे भेदों में अनुगत रहने वाला '**समूह**' है। इससे जैसे परमाणु भूतों का '**सूक्ष्म**' रूप है, वैसे ही तन्मात्राएँ भी '**सूक्ष्म**' रूप हैं। भाष्यकार भूतों के तृतीय रूप का उपसंहार करते हैं–'**एतदिति**।' यह पञ्चतन्मात्र पञ्चभूतों का तृतीय '**सूक्ष्म**' रूप है।

भाष्यकार भूतों के चतुर्थ रूप को प्रतिपादित करते हैं–'**अथेति**।' भूतों का चतुर्थ रूप ख्याति (प्रकाश), क्रिया (प्रवृत्ति) स्थिति (नियमन) स्वभाव वाले '**गुण**' हैं, जो (महत् से लेकर महाभूतपर्यन्त) कार्य में स्वभावतः अन्वित रहते हैं अर्थात् जो कार्यानुपाती हैं। अत एव भूतान्वित (कार्यान्वित) ये गुण '**अन्वय**' (भूतों के चतुर्थरूप से) शब्द से पुकारे जाते हैं।

भाष्यकार भूतों के पंचम रूप '**अर्थवत्त्व**' का विवरण करते हैं–'**भोगेति**।' पुरुष के लिये भोग तथा अपवर्ग का सम्पादनरूप '**अर्थवत्त्व**' सत्त्वादि गुणों में ही अनुगत (उपलब्ध) होता है।

शङ्का–ठीक है, इस प्रकार गुणों को ही **अर्थवान्** माना जाय, तब गुणों के कार्य भूतों को '**अर्थवत्त्व**' धर्म वाला क्यों माना गया?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**गुणा इति**।' ये गुण तन्मात्र के कार्यभूत पृथिव्यादि भूतों और गो, घटादि पदार्थों में अनुगत रहते हैं। अत एव सभी भूत-भौतिक पदार्थ '**अर्थवत्त्व**' अर्थात् प्रयोजनवत्त्व हैं। इस प्रकार संयम के विषय को प्रतिपादित करके भाष्यकार संयम और तज्जन्य फल को बताते हैं–'**तेष्विति**।' भाष्य में प्रयुक्त '**भूतप्रकृति**' शब्द का अर्थ है–भूतस्वभाव॥४४॥

बालप्रिया–

'**भोगापवर्गार्थता गुणेष्वन्वयिनी**'–भाव यह है–यद्यपि शब्दादि उपलब्धि और विवेकख्यातिसंज्ञक भोगापवर्गरूप पुरुषार्थ चित्त के ही हैं, तथापि प्रलयकाल में ये (पुरुषार्थ) गुणों में अनागतावस्थाक वासनारूप से अवस्थित रहते हैं। इसलिये भोगापवर्गार्थता को '**गुणान्वयिनी**' कहा गया है।

'**इदानीम्भूतेषु**'–जिज्ञासा है कि भाष्यकार ने '**इदानीम्**' का प्रयोग क्यों और किस अर्थ में किया है? उत्तर है–तन्मात्राओं में सूत्रकथित '**स्थूलादि**' पंच रूपों का अभाव रहता है, इसलिये स्थूल भूतों में ही स्थूलादि रूपों की स्थिति बतलाने के लिये भाष्य में '**इदानीम्भूत**' शब्द का प्रयोग किया गया है॥४४॥

योगवार्त्तिकम्

तदेवं परिणामत्रयसंयमादित्यारभ्योच्चावचविषयकसंयमानां ज्ञानक्रियारूपाः सिद्धय उक्ताः। इदानीं वितर्कविचारेत्यादिसूत्रैः स्वशास्त्रे मुख्यतः प्रकृतेषु ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु ये

संयमास्तेषां सिद्धयो वक्तव्याः। तत्र ग्रहीतृग्रहणयोः ग्राह्य[1]निरूप्यत्वादादौ ग्राह्यविषयकसंयमस्य सिद्धिमाह–स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्भूतजयः। स्थूलं च स्वरूपं च सूक्ष्मं चान्वयश्चार्थवत्त्वं चेति स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वानि, तेषु संयमात्साक्षात्कारपर्यन्तात्तत्तद्रूपाणां जयो वशवर्त्तिता भवतीत्यर्थः। स्थूलं व्याचष्टे–तत्रेति। सामान्यविशेषसमूहरूपाणां पृथिव्यादिपञ्चभूतानाम् एकदेशाः शब्दादयो विशेषाः, धर्मधर्म्यभेदात् तद्वन्तः पदार्था वक्ष्यमाणैरा[2]कारादिधर्मैः सह स्थूलशब्देन शास्त्रे परिभाषिता इत्यर्थः। तन्मात्रव्यावर्त्तनाय विशेषपदम्। ते च विशेषाः षड्जगान्धारादयः शीतोष्णादयो [3]नीलपीतादयो मधुराम्लादयः सुरभिदुर्गन्धादयश्चेति। एते हि नामकर्मभिरवान्तरं विभज्यन्त इति विशेषाः। आकारादयश्च धर्माः पृथिव्यादीनां क्रमेण शास्त्रे परिपठिताः। यथा–

आकारो गौरवं रौक्ष्यं वरणं स्थैर्यमेव च ।
वृत्तिर्भेदः क्षमा कार्श्यं काठिन्यं सर्वभोग्यता ॥
स्नेहः सौक्ष्म्यं प्रभा शौक्ल्यं मार्दवं गौरवं च यत् ।
शैत्यं रक्षा पवित्रत्वं संधानं चौदका गुणाः ॥
ऊर्ध्वभाक् पाचकं दग्धृ पावकं लघु भास्वरम् ।
प्रध्वंस्योजस्वि वै तेजः [4]पूर्वेभ्यो भिन्नलक्षणम् ॥
तिर्यग्यानं पवित्रत्वमाक्षेपो नोदनं बलम् ।
चलमच्छायता रौक्ष्यं वायोर्धर्माः पृथग्विधाः ॥
सर्वतो गतिरव्यूहोऽविष्टम्भश्चेति ते त्रयः ।
आकाशधर्मा व्याख्याता पूर्वपूर्वविलक्षणाः ॥इति।

आकारोऽवयवसंस्थानम्, वृत्तिः सर्वभूताधारता, भेदो विदारणम्, क्षमा सहिष्णुता, धारणसामर्थ्यमिति यावत्, रक्षा=आवरणादिना रक्षकत्वम्, आक्षेपः पातनम्, सर्वतोगतिर्विभुत्वम्, अव्यूहः सर्व[5]पदानां प्रविरलीकरणम्, अविष्टम्भोऽवकाश इति। प्रथमं रूपमिति। सूत्रोक्तं पञ्चरूपेष्वाद्यं रूपमित्यर्थः।

इस प्रकार 'परिणामत्रयसंयमात्' (३/१६) सूत्र से प्रारम्भ करके विभिन्नविषयक संयमों की 'ज्ञानरूपा' और 'क्रियारूपा' सिद्धियाँ वर्णित हुईं। अब उन सिद्धियों को प्रतिपादित किया जाना है जो 'वितर्कविचार' (१/१७) इत्यादि सूत्रों द्वारा प्रकृत योगशास्त्र में मुख्यरूप से ग्रहीतृ, ग्रहण और ग्राह्यविषयक संयम वाली कही गईं हैं।

---

1. क ख घ च छ–निरूप्यत्वात्, ग–निरूप्य।
2. क च छ–आकारादि०, ख–आकारादिभिः, ग–आकाशादि०, घ–आकारत्वात्।
3. ख ग घ च–नीलपीतादयः उपलभ्यते, क छ–नीलपीतादयः नोपलभ्यते।
4. क ख ग घ–पूर्वाभ्यां, च–पूर्वाभ्यः, छ–पूर्वेभ्यः।
5. क ख ग घ च–पदार्थानां, छ–पदानाम्।

इनमें भी ग्रहीतृ और ग्रहणविषयक संयमों में ग्राह्यनिरूप्यता होने से ग्राह्यविषयक संयम की सिद्धि को भाष्यकार सर्वप्रथम कहते हैं–'**स्थूलेति**।' **स्थूलं च स्वरूपं च सूक्ष्मं चान्वयश्चार्थवत्त्वं चेति**–इस विग्रह के अनुसार भूतों के स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्वसंज्ञक पाँच रूपों में साक्षात्कारपर्यन्त संयम करने से भूतों के तत्तद् रूपों की वशवर्तिता (स्वायत्तीकृतता) प्राप्त होती है। भाष्यकार भूतों के प्रथम '**स्थूल**' रूप का वर्णन करते हैं–'**तत्रेति**।' सामान्यविशेषात्मक समूह वाले पृथिव्यादि पञ्चभूतो का शब्दादिविशेष वाला एकदेश (एक भाग) है। धर्म-धर्मी का अभेद होने से शब्दादियुक्त पृथिव्यादि पदार्थ योगशास्त्र में वक्ष्यमाण आकारादि धर्मों के साथ '**स्थूल**' शब्द से परिभाषित हैं। पञ्चमहाभूतगत शब्दादि को शब्दतन्मात्रादि से व्यावृत्त (पृथक्) करने के लिये भाष्य में (शब्दादयः के साथ) '**विशेष**' पद का प्रयोग हुआ है। पञ्चमहाभूतगत ये '**विशेष**' षड्जगान्धारादि, शीतोष्णादि, नीलपीतादि, मधुर-अमलादि तथा सुरभि-दुर्गन्धादिरूप वाले हैं। नाम और क्रिया की दृष्टि से ये अवान्तर विभक्त हैं, अतः '**विशेष**' पदवाच्य हैं। शास्त्र में पृथिव्यादि भूतों के आकारादि धर्म क्रमशः पढे गये हैं। वह जैसे–'**आकारो... पूर्वपूर्वविलक्षणाः**।' 'आकार' शब्द का अर्थ अवयवसंस्थान (अवयवों का सन्निवेश) है। '**वृत्ति**' सर्वभूतों के आधार को कहते हैं। '**भेद**' शब्द का अर्थ विदारण (विदीर्ण होना) है। सहिष्णुता को '**क्षमा**' कहते हैं। यह '**क्षमा**' धारणसामर्थ्यरूप वाली है। '**रक्षा**' शब्द का अर्थ आवरणादि से रक्षित होना है। पतन को '**आक्षेप**' कहते हैं। विभुत्व अर्थात् सब जगह व्याप्त रहने को '**सर्वतोगति**' कहते हैं। समस्त पदार्थों के पृथकीकरण (प्रविरलीकरण) को 'अव्यूह' कहते हैं। अनवरोध (अविष्टम्भ) को '**अवकाश**' कहते हैं। वार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–'**प्रथमं रूपमिति**।' इस प्रकार सूत्र में निर्दिष्ट भूतों के पाँच रूपों में से यह पहला '**स्थूल**' रूप है।

भूतों के क्रमप्राप्त द्वितीय रूप '**स्वरूप**' का वर्णन किया जा रहा हैं–

योगवार्त्तिकम्

स्थूलं व्याख्याय स्वरूपं व्याचष्टे–द्वितीयं रूपमिति। स्वसामान्यमिति साधारणं लक्षणम्। **कस्य किं सामान्यं तद्दर्शयति–मूर्त्तिर्भूमिरित्यादिना। मूर्त्तिः** सांसिद्धिकं काठिन्यं तद्व्यङ्ग्या **पृथिवीत्वजातिः, कार्यरूपेणाकाशस्याप्यनेकत्वादिति।** अत्र सामान्यविशेषयोरभेदप्रतिपादनाय **मूर्त्तिर्भूमिरित्याद्यभेदनिर्देशः। कस्य विशेषस्येदं सामान्यमित्याकांक्षायामाह–अस्येति।** शब्दादयः **पूर्वोक्ताः स्थूलतारमन्दादिभेदेन सामान्यस्य** जातेरेकदेशाद्व्यावर्त्तकतया **विशेषा** इत्यर्थः। अत्र **पूर्वाचार्यसंवादमाह–तथा चोक्तमिति।** एकजातिसमन्वितानामेषां पृथिव्यादीनां शब्दादि-**धर्ममात्रेण व्यावृत्तिः** सजातीयान्तरादित्यर्थः। **एकजातिसमन्वितानामिति** समूहे समूहि-**वृत्त्यभिप्रायेण प्रयोगः।**

(भूतों के प्रथम रूप) '**स्थूल**' की व्याख्या करके भाष्यकार उसके द्वितीय रूप '**स्वरूप**' का वर्णन करते हैं–'**द्वितीयं रूपमिति**।' '**स्वसामान्य**' यह '**स्वरूप**' पद का साधारण लक्षण है। अर्थात् प्रत्येक भूत का अपना-अपना साधारण धर्म '**स्वरूप**' कहलाता है। किस भूत का कौन सा सामान्य धर्म है, इसे भाष्यकार प्रदर्शित करते हैं–'**मूर्ति-भूमिरित्यादिना**।' नैसर्गिक कठोरता (कोमलत्वाभाव) को '**मूर्त्ति**' कहते हैं। इससे पृथिवीत्वजाति ध्वनित (अभिव्यञ्जित) होती है। अर्थात् तत्तद् भूतों में स्व-स्व जाति है। एक होते हुए भी आकाश में आकाशत्वजाति है, क्योंकि कार्यरूप से आकाश भी अनेक है। (भाव यह है कि मूर्त्ति से पृथिवीत्वजाति, स्नेह से जलत्व-जाति, उष्णता से वह्नित्वजाति, प्रवहणशीलता से वायुत्वजाति तथा सर्वतोगति से आकाशत्वजाति उपलक्षित होती है। वार्त्तिककार स्पष्ट कर रहे हैं कि यद्यपि विभु होने से आकाश एक है और सामान्य=जाति अनेक में रहने वाला सामान्य धर्म है, तथापि कार्यरूप से आकाश अनेक है। इससे आकाश में आकाशत्वजाति रहने में भी कोई बाधा नहीं है)। यहाँ '**सामान्य**' और '**विशेष**' का अभेद प्रतिपादित करने के लिये भाष्यकार ने '**मूर्तिर्भूमिः**' इस प्रकार (सामानाधिकरण्य से) जाति और व्यक्ति का अभेद निर्दिष्ट किया है। किन विशेषों (व्यक्तियों) के ये सामान्यरूप हैं, ऐसी आकांक्षा होने पर भाष्यकार कहते हैं–'**अस्येति**।' आकाशादि भूतों के पूर्ववर्णित शब्दादियों को '**विशेष**' इसलिये कहते हैं, क्योंकि वे स्थूल, तार, मन्दादिभेद से सामान्यरूप जाति के एकदेश (एक भाग) के व्यावर्तक होते हैं। अर्थात् अनेकानु-गतत्त्व से हट कर व्यक्तिरूप विशेष में रहते हैं। भाष्यकार इस विषय में पूर्वाचार्य के वाक्य को प्रस्तुत करते हैं–'**तथा चोक्तमिति**।' '**भूतत्व**' नाम की एक जाति से समन्वित इन पृथिव्यादियों की शब्दादि धर्ममात्र से व्यावृत्ति होती है, क्योंकि उनमें पृथ्वीत्वादि सजातीयान्तर है। '**एकजातिसमन्वितानाम्**' पद का प्रयोग समूह में समूही के विद्यमान रहने के अभिप्राय से हुआ है।

सम्प्रति, योगसम्मत '**द्रव्य**' की मान्यता को दर्शनान्तर के परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

[1]यत्तु वैशेषिकाः सामान्यविशेषयोराश्रयमेव द्रव्यं मन्यन्ते न तु तयोरभेदमपि, तन्म-ताद्विविच्य स्वसिद्धान्तमा[2]ह–सामान्येति। अत्र दर्शने सामान्यविशेषयोः समूहो द्रव्यम्, अतिरिक्तावयव्यभ्युपगमेऽपि तयोरभेदस्याप्यभ्युपगमात्। अन्यथा घटो मृत् तन्तुः पटः शुक्लः पट इत्याद्यभेदप्रत्ययानुपपत्तेरित्यर्थः। ननु समूहमात्रस्य द्रव्यत्वे वनस्याप्येकद्रव्यत्वापत्तिरि-

---

1. क घ च छ–**ये तु**, ख ग–**यत्तु**।
2. क घ च छ–**आह**, ख ग–**दर्शयति**।

त्याशङ्कां परिहर्तुमादौ समूहस्य द्वैविध्यमाह–द्विष्ठो हीति। द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां तिष्ठतीति द्विष्ठः। तत्रैकं प्रकारमाह–प्रत्यस्तमितेति। प्रत्यस्तमितः शब्देनानुपस्थापितो भेदोऽवान्तरविभागो येषामवयवानां तादृशेष्ववयवेष्वनुगत इत्यर्थः। तस्योदाहरणचतुष्कमाह–शरीरमिति। आद्यं द्वयमेकद्रव्यरूपस्य समूहस्योदाहरणमन्त्यद्वयमनेकद्रव्यरूपसमूहस्येति भेदः, यूथादौ च विशिष्टस्यातिरिक्तत्वाभिप्रायेणावयवानुगतत्वमुपपादनीयम्। द्वितीयं समूहस्य प्रकारमाह–शब्देनोपात्तेति। अस्योदाहरणम्–उभयेति। अत्रोभयशब्दवाच्यस्य समूहस्यावान्तरभेदौ देवमनुष्यशब्दाभ्यामुपात्तौ, बहुवचनाभ्यां च तयोरप्यनेकभेदा उपात्ता इति। शब्देनोपात्तभेदत्वं संक्षेपात् स्वयमाह–[1]समूहरूपस्य देवा इति। भागो भेदः, ताभ्यां भेदाभ्याम्। स चेति। स च द्विविधोऽपि समूहो भेदाभेदाभ्यां प्रयोक्तृभिर्विवक्षितो भवति, आम्राणां वनमिति षष्ठ्या भेदेन, आम्रवणमिति च कर्मधारयादभेदेन विवक्षा। एवमन्यत्रापि। तथा च समूहसमूहिनोर्भेदाभेदौ स्त इति प्रतिपादितम्।

और जो वैशेषिक लोग '**सामान्य**' और '**विशेष**' के आश्रय को ही '**द्रव्य**' मानते हैं, न कि उनमें अभेद को भी स्वीकार करते हैं, उनके मत को योगमत से पृथक् करते हुए भाष्यकार योगसम्मत सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हैं–'**सामान्येति**।' योगदर्शन में '**सामान्य**' और '**विशेष**' के समूह को '**द्रव्य**' कहते हैं। इस समूहात्मक द्रव्य को अतिरिक्त अवयवी के रूप से स्वीकार करने पर भी अवयव-अवयवी का अथवा समूह-समूही का अभेद भी अङ्गीकृत हो जाता है। अन्यथा **घटो मृत्, तन्तुः पटः, शुक्लः पटः** अर्थात् 'मृन्मय घट, तन्तुमय पट, शुक्लवर्णमय पट'–इत्याकारक धर्म-धर्मी की अभेद-प्रतीति उपपन्न न हो सकेगी।

शङ्का–समूहमात्र को द्रव्य मानने पर वन को भी वृक्ष से पृथक् द्रव्य मानने की विसंगति आयेगी?

समाधान–उपरिनिर्दिष्ट शंका का परिहार करने के लिये भाष्यकार समूह के द्वैविध्य को सर्वप्रथम बताते हैं–'**द्विष्ठो हीति**।' '**समूह**' द्विष्ठ होता है। **द्विष्ठ** पद की व्युत्पत्ति है–'**द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां तिष्ठतीति द्विष्ठः**' अर्थात् जो दो प्रकार से अवस्थित रहता है, उसे '**द्विष्ठ**' कहते हैं। इन दो प्रकार के समूहों में से प्रथम प्रकार के समूह को भाष्यकार बताते हैं–'**प्रत्यस्तमितेति**।' जिन अवयवों का अवान्तरविभाग (भेद) '**प्रत्यस्तमित**' शब्द के द्वारा उपस्थित नहीं रहता है, उस प्रकार के अवयवों में अनुगत रहने वाला यह प्रथम प्रकार का **समूह**' है। अर्थात् अवान्तरविभाग के बोधक शब्द का प्रयोग न होने से जिन अवयवों का भेद ज्ञापित नहीं होता है, उसे '**प्रत्यस्तमितभेदावयवानुगत समूह**' कहते हैं। भाष्यकार प्रथम प्रकार के समूह के चार उदाहरण प्रस्तुत करते हैं–

---

1. क ख ग–**समूहस्य**, घ–**समूहरूप०**, च छ–**समूहरूपस्य**।

'**शरीरमिति**।' इन चार प्रकार के शरीर, वृक्ष, यूथ और वन–उदाहरणों में से प्रथम दो उदाहरण शरीर और वृक्ष एक द्रव्यरूप समूह के हैं तथा अन्तिम दो उदाहरण यूथ और वन अनेक द्रव्य रूप समूह के हैं। यही प्रथम दो उदाहरणों का अन्तिम दो उदाहरणों से भेद है। यूथादि उदाहरणों में विशिष्ट को अतिरिक्त मानकर ही समूहरूप द्रव्य का अवयवों में अनुगत रहना उपपन्न नहीं होता है। भाष्यकार समूह के द्वितीय प्रकार को बताते हैं–'**शब्देनोपात्तेति**।' शब्द से गृहीत भेदावयवानुगत समूह द्वितीय प्रकार का है। **शब्दोपात्तभेदावयवानुगत समूह** का उदाहरण है–'**उभयेति**।' यहाँ '**उभय**' शब्दवाच्य समूह के अवान्तरभेद देव और मनुष्य शब्द से गृहीत (उपात्त) हैं। किञ्च '**देवमनुष्याः**' इत्यादि बहुवचन से उन दोनों के भी अनेक भेद गृहीत (उपात्त) हैं। भाष्यकार स्वयं समूह के शब्दोपात्तभेद को संक्षेप में बताते हैं–'**समूह-रूपस्य देवा इति**।' यहाँ '**भाग**' शब्द का अर्थ '**भेद**' है। इस प्रकार '**उभये देवमनुष्याः**' उदाहरण में शब्दोपात्तभेद वाला समूह देव और मनुष्य इन दो भेदों से गृहीत होता है। वार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–'**स चेति**।' उक्त दो प्रकार का समूह प्रयोगकर्त्ताओं द्वारा भेद और अभेद के रूप से विवक्षित होता है। जैसे 'आम्राणां वनम्' में षष्ठी विभक्ति से आम्र और वन का भेद विवक्षित है तथा 'आम्रवणम्' में कर्मधारय समास (**आम्राश्च ते वनञ्च आम्रवनम्**) द्वारा आम्र और वन का अभेद विवक्षित है। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी '**समूह**' का अन्तर समझ लेना चाहिये। इस विवेचन से यह सिद्धान्तित होता है कि समूह और समूही में भेद और अभेद दोनों हैं।

सम्प्रति, '**समूह**' के एक अन्य प्रकार का स्वरूप बताया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

स पुनरिति। द्विविधोऽपि समूहः पुनर्द्विविधो भवति। द्वैविध्यमेवाह–युतेति। हालिका-दिष्वपि संयुक्ततया संबद्धतया सिद्धा अवयवा यस्य समूहस्य यूथवनादेः स तथा। अयुतेति। अयुतसिद्धावयवः समूहः संघातस्तस्य विवरणम्–शरीरमित्यादि। लौकिकेष्वसंयुततया एकी-भावेनैव सिद्धा अवयवा यस्य समूहस्य शरीरवृक्षादेः, स तथेत्यर्थः। परमाणुरिति। परमाणू-नामपि पञ्चचतुरादितन्मात्रसमूहताया वक्ष्यमाणत्वादिति भावः। तदेवं समूहभेदान् प्रदर्श्य तेष्ववयविद्रव्यरूपं समूहं विशिष्यावधारयति–अयुतेति। संयोगविशेषावच्छिन्नेष्ववयवविशेषे-ष्वनुगतः सामान्यविशेषसमूहोऽवयव्याख्यं द्रव्यमित्यर्थः। अवयवसाधारणं तु सामान्यतो द्रव्यल-क्षणं सामान्यविशेषसमुदायत्वमात्रमिति। उपसंहरति–एतत्स्वरूपमित्युक्तमिति। एतत्सामान्यं स्वरूपशब्देन परिभाषितमित्यर्थः। स्वरूपपरिभाषा च स्थिरतामात्रेण विशेषा ह्यागमापायितया न द्रव्यस्य स्वरूपाणीति। यत्तु पूर्वपादे स्थूलस्वरूपे एकीकृत्यावयविद्रव्यमेव वितर्कानुगतयोगस्य विषयः स्थूलमित्युक्तं तल्लौकिकस्थूलव्यवहारानुसारेण। अत्र तु तान्त्रिकव्यवहारेण तस्यैव

द्विधा विभागः। एवमेव विचारानुगतविषयस्य सूक्ष्मस्यैवात्र सूक्ष्मादित्रैविध्यं वक्ष्यतीति द्रष्टव्यम्।

वार्त्तिककार आगे का भाष्य उठाते हैं—'**स पुनरिति।**' उपरिवर्णित दो प्रकार का समूह पुनः दो प्रकार का है। समूह के उन दो प्रकारों को भाष्यकार कहते हैं—'**युतेति।**' कृषक आदियों की बुद्धि के विषय बनने से भी जिस समूह के अवयव सिद्ध होते हैं अर्थात् समूह के वे अवयव जो सर्वबुद्धिगम्य होते हैं, इस प्रकार के अवयवों का समूह '**युतसिद्धावयवसमूह**' कहलाता है। भाष्यकार समूह के द्वितीय प्रकार को बताते हैं—'**अयुतेति।**' अयुतसिद्धावयवसमूह अवयवसंघात वाला अर्थात् **अस्फुट** अवयव वाला होता है। इसका उदाहरण (विवरण) है—'**शरीरमित्यादि।**' सांसारिक मनुष्यों की बुद्धि में, असंयुक्त होते हुए भी, एकीभांव से ही प्रतीत होने वाला अवयव जिस शरीर, वृक्षादि समूह का होता है, वह '**अयुतसिद्धावयवसमूह**' कहलाता है। वार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं—'**परमाणुरिति।**' परमाणुओं को भी पञ्च, चतुरादि तन्मात्राओं के समूह रूप से आगे बताया जायेगा। इस प्रकार समूह के भेदों को प्रदर्शित करके भाष्यकार उनमें से अवयविद्रव्यरूप '**समूह**' को विशेष रूप से निर्धारित करते हैं—'**अयुतेति।**' संयोगविशेष से अवच्छिन्न अवयवविशेषों में अनुगत रहने वाला जो सामान्यविशेषात्मक समूह है, वही '**अवयवी**' संज्ञक '**द्रव्य**' कहलाता है। जो 'अवयव साधारण' द्रव्य का सामान्य लक्षण है, वह '**सामान्यविशेषसमुदायत्वमात्र**' रूप है। इस प्रकार '**द्रव्य**' का लक्षण करने के पश्चात् भाष्यकार भूतों के द्वितीय **स्वरूपाख्य**' रूप को उपसंहृत करते हैं—'**एतत्स्वरूपमित्युक्तमिति।**' भूतों का वह दूसरा सामान्यरूप सूत्र में '**स्वरूप**' शब्द से परिभाषित है। यहाँ स्थिरता मात्र से ही स्वरूप को परिभाषित किया गया है, क्योंकि आगमापायि (उत्पत्ति-विनाशशील) '**विशेष**' को द्रव्य का स्वरूप नहीं कहा जा सकता है और जो पूर्वपाद में '**स्थूल**' और '**स्वरूप**' को मिलाकर (एकीकृत करके) बने हुए अवयविरूप '**द्रव्य**' को ही '**स्थूल**' शब्द से वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात योग का विषय कहा गया है, वह '**स्थूल**' शब्द के लौकिक व्यवहार के अनुसार है। अर्थात् कारण की दृष्टि से कार्य के '**स्थूल**' होने के अभिप्राय से कहा गया है। किन्तु यहाँ तान्त्रिक व्यवहार (शास्त्रीय पद्धति) से समूहात्मक द्रव्य का ही दो प्रकार से विभाग किया गया है। इसी प्रकार भाष्यकार यहाँ विचारानुगत समापत्ति के विषयभूत '**सूक्ष्म**' पदार्थ का ही सूक्ष्मादिरूप से त्रैविध्य-प्रतिपादन करेंगे।

सम्प्रति, भूतों के यथाक्रम तृतीय रूप '**सूक्ष्म**' का विश्लेषण किया जा रहा है—

योगवार्त्तिकम्

स्वरूपं व्याख्याय सूक्ष्मं व्याख्यातुं पृच्छति—अथेति। एषां भूतानाम्। उत्तरम्—तन्मात्र-

मिति। तत्र **सूक्ष्मपरिभाषाबीजमाह–भूतकारणमिति। साक्षात्कारणत्वमेव हि सूक्ष्मत्वमत्र विवक्षितमित्याशयः। भूतकारणत्वप्रकारं दर्शयति–तस्येति। तस्य भूतस्य एकश्चरमोऽवयवः परमाणुः, सोऽपि च घटादिवदेव सावयवः, अन्यथा स्थूलत्वानुपपत्तेः, शान्तघोरमूढत्वरूपविशेषानुपपत्तेश्च, इत्येवमित्यतः सर्वतन्मात्राण्येव भूतकारणानि, अवयवान्तरासंभवादित्यर्थः। उपसंहरति–एतत्तृतीयमिति। अथेति। एतत्तन्मात्रं तृतीयं भूतानां रूपमित्यर्थः।**

भूतों के द्वितीय स्वरूपाख्य रूप की व्याख्या करके भाष्यकार उसके तृतीय रूप का व्याख्यान करने के लिये प्रश्न करते हैं–'**अथेति**।'

शङ्का–भूतों का सूक्ष्माख्य रूप किस प्रकार का है?

समाधान–भाष्यकार उत्तर देते हैं–'**तन्मात्रमिति**।' भाष्यकार तन्मात्राओं की '**सूक्ष्म**' संज्ञा के कारण को बतलाते हैं–'**भूतकारणमिति**।' यहाँ साक्षात् कारण को ही '**सूक्ष्म**' माना गया है। अर्थात् जो कार्य का साक्षात् कारण होता है, उसे '**सूक्ष्म**' कहते हैं। इस परिभाषा के अनुसार महाभूत के साक्षात् कारण तन्मात्र को सूक्ष्म कहा गया है। अब किस प्रकार पञ्च तन्मात्र पञ्च महाभूत का कारण है, इसे भाष्यकार प्रदर्शित करते हैं–'**तस्येति**।' भूत का एक चरम (अन्तिम) अवयव '**परमाणु**' है, किन्तु वह भी घटादि की भाँति सावयव है। यदि '**परमाणु**' को सावयव न माना जाय तो परमाणु का स्थूलत्व उपपन्न न हो सकेगा तथा उसका शान्तत्व, घोरत्व तथा मूढत्वरूप '**विशेष**' संज्ञक होना भी सिद्ध न हो पायेगा। इसलिये तन्मात्राओं को ही भूतों का कारण कहा गया है, क्योंकि उनमें अवयवान्तरत्व अर्थात् सावयवत्व असम्भव है। भाष्यकार भूतों के तृतीय रूप को उपसंहृत करते हैं–'**एतत्तृतीयमिति**।' आगे का भाष्य है–'**अथेति**।' इस प्रकार पञ्चतन्मात्र पञ्च महाभूतों का सूक्ष्माख्य तृतीय रूप है। (इस प्रकार भूतों के तृतीय '**सूक्ष्म**' रूप की व्याख्या समाप्त होती है)।

बालप्रिया–

शान्तघोरमूढत्वरूपविशेषानुपपत्तेः'–सांख्यकारिका में स्पष्ट रूप से बतलाया गया है कि भूतों में शान्तत्वादि रूप की स्फुटता तथा तन्मात्राओं में शान्तत्वादि रूप की अस्फुटता के कारण ही भूत तथा तन्मात्र को '**विशेष**' और '**अविशेष**' संज्ञा से यथाक्रम परिभाषित किया गया है। तदर्थ कारिका द्रष्टव्य है–

एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च।
तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः॥

सम्प्रति, भूतों के '**अन्वय**' धर्म पर विचार किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

अन्वयाख्यं चतुर्थं रूपं व्याचष्टे–अथेति। अथानन्तरमुच्यत इति शेषः। त्रिविधा गुणा एवान्वयशब्देनोक्ताः, **तत्र हेतुः– कार्यस्वभावानुपातिन इति। कार्यरूपो यः स्वीयो भा**ः

स्वात्मकः पदार्थः तत्रानुगता अतोऽन्वया इत्यर्थः। ननु भूतेषु प्रख्याशीलस्य सत्त्वस्यानुगमे किं प्रमाणमिति चेत्? अन्नमयं हि सौम्य मन इत्यादिश्रुतयोऽन्वयव्यतिरेकौ चेति प्रतीहि। प्रकाशात्मकतया सात्त्विकानि हि मनश्चक्षुरादीन्यन्नरसाद्युपचयापचयाभ्यामुपचयापचयवन्ति दृश्यन्ते, अतः पृथिव्यादिभूतेषु मनआदिकं तदुपष्टम्भकसत्त्वं वाऽनुगतमित्युन्नीयत इति।

सम्प्रति, भाष्यकार भूतों के चतुर्थ अन्वयाख्य रूप की व्याख्या करते हैं–'**अथेति**।' '**अथ**' शब्द आनन्तर्यवाची है। अतः भूतों के तृतीय रूप के अनन्तर चतुर्थ रूप को बतलाया जा रहा है, ऐसा वाक्यशेष है। सूत्र में '**अन्वय**' शब्द से त्रिविध '**गुण**' ही अभिहित हुए हैं। त्रिविध गुणों को भूतों का अन्वयाख्य रूप बतलाये जाने का कारण यह है–'**कार्यस्वभावानुपातिन इति**।' कार्यात्मक रूप में स्वकीय अवस्थिति (भाव) वाला तदात्मक पदार्थ कारण होता है। अतः कार्य में तदात्मक कारण का अनुगत रहना ही अन्वयाख्य रूप है। अतः गुण को '**अन्वय**' शब्द से कहा गया है।

शङ्का–भूतों में प्रकाशस्वभाव वाला सत्त्वगुण अन्वित रहता है, इसमें क्या प्रमाण है?

समाधान–वार्त्तिककार उत्तर देते हैं कि **अन्नमयं हि सोम्य मनः**' (छा.उप. ६/५/४) इत्यादि श्रुति-स्मृतियाँ तथा अन्वयव्यतिरेक ही इसमें प्रमाण है। जैसे प्रकाशात्मक होने से सत्त्वगुणप्रधान मन तथा चक्षुरादि इन्द्रियाँ अन्नरसादि के न्यूनाधिक प्रयोग से वृद्धि और ह्रास को प्राप्त होती हुई देखी जाती हैं। अतः पृथिव्यादि भूतों में मन आदि अथवा उनका प्रेरक सत्त्वगुण विद्यमान रहता है, ऐसा अनुमित होता है॥

योगवार्त्तिकम्

पञ्चमं रूपमाह–अथैषामिति। गुणेषु वर्तमानं यद्भोगापवर्गजातं भोगविवेकख्यातिरूपं तदेव पञ्चमं रूपमर्थवत्त्वाख्यमित्यर्थः। नन्वेवं गुणेषु वर्त्तमानमर्थवत्त्वं कथं भूतानां रूपं स्यात्तत्राह–गुणास्तन्मात्रेति। ननु भोगापवर्गौ शब्दाद्युपलब्धिविवेकख्याती, ते चान्तःकरण एव वर्तेते न साक्षाद् गुणेष्विति चेत्? अनागतावस्थया वासनारूपेण वा तयोरपि प्रलयकाले गुणेष्वेवावस्थानात्, कारणक्रमेणैव कार्येष्वनुगतयोरभिव्यक्तेरिति। पञ्चरूपाणि व्याख्याय सूत्रवाक्यार्थमाह–तेष्विति। इदानींभूतेषु=इदानीमुत्पन्नेषु=इदानींतमेषु स्थूलभूतेष्वित्यर्थः। तन्मात्रादिषु पञ्चरूपत्वाभावाद् इदानींभूतेष्वित्युक्तम्। स्वरूपदर्शनं च संयमस्य जयहेतुत्वे द्वारमुक्तम्। जयो वशीकारः। तत्र पञ्चेति। एकैकमात्रजये हि गौणो भूतजयः, सामग्र्येणाजयादिति भावः। वशीकारमेव कार्यद्वारा लक्षयति–तज्जयादिति। भूतप्रकृतयो भूतकारणानि त्रिगुणतत्स्थपुरुषार्थपर्यन्तानीत्यर्थः, न तु तन्मात्राण्येव केवलानि, गुणपुरुषार्थयोरपि संयमेन साक्षात्कृतत्वादिति॥४४॥

भाष्यकार भूतों के पाँचवें रूप को बतलाते हैं—'**अथैषामिति**।' गुणों में भोग तथा विवेकख्यातिरूप जो भोगापवर्गार्थता विद्यमान है, वही भूतों का अर्थवत्त्वाख्य पञ्चम रूप है।

शङ्का—सत्त्वादि त्रिगुणनिष्ठ '**अर्थवत्त्व**' धर्म भूतों का रूप कैसे बन सकता है?

समाधान—इस पर भाष्यकार कहते हैं—'**गुणास्तन्मात्रेति**।' (यद्यपि सत्त्वादि गुण प्रयोजनवान् हैं तथापि अखिल भूतादि कार्य में त्रिगुण की अनुगतता प्रमेयमात्र अर्थात् सम्पूर्ण जड पदार्थों को प्रयोजनवान् बना देती है)।

शङ्का—शब्दादि विषयों का साक्षात्काररूप भोग तथा भेदज्ञानरूप विवेकख्याति दोनों अन्तःकरण में ही विद्यमान रहते हैं, न कि गुणों में वे साक्षात् रूप से रहते हैं। अतः गुणों को प्रयोजनवान् क्यों कहा जा रहा है?

समाधान—वार्त्तिककार समाधान करते हैं—भोगापवर्ग भी (अन्य कार्यों के समान) प्रलयकाल में अनागतावस्थरूप से अथवा वासनारूप से गुणों में ही विद्यमान रहते हैं और फिर कारण के क्रम से कार्यों में अन्वित होते हैं। अतः '**अर्थवत्त्व**' धर्म की कार्यों में अभिव्यक्ति होती है। (अतः कार्यों में अभिव्यक्त होने वाला अर्थवत्त्व धर्म सूक्ष्म रूप से मूलकारण गुणों में विद्यमान रहता है। अतः गुणों की अर्थवत्ता साक्षात् अभिव्यक्त न होने पर भी उनको अर्थवान् कहना असमीचीन नहीं है। क्योंकि सांख्ययोगशास्त्र में कार्य-कारण में अभेद माना गया है। अतः गुणों की अर्थवत्ता के विषय में पूर्वपक्षी द्वारा उद्भावित शंका निरस्त हो जाती है)। इस प्रकार भूतों के पाँच रूपों का वर्णन करके भाष्यकार सूत्रार्थ करते हैं—'**तेष्विति**।' भाष्य में प्रयुक्त '**इदानींभूत**' पद का अर्थ इदानींतन स्थूलभूत है। पञ्च महाभूत के कारण पञ्च तन्मात्रादियों में स्थूलादि पञ्च रूप का अभाव होने से भाष्यकार ने (स्पष्ट- विप्रतिपत्त्यर्थ) '**इदानींभूत**' पद का प्रयोग किया है। महाभूतविषयक संयमजय कराने में भूतों के स्थूलाख्यादि स्वरूपज्ञान को '**द्वार**' बतलाया गया है। अर्थात् संयमाभ्यासी भूतों के स्थूलादि रूपों के ज्ञान द्वारा भूतजयी बनता है। '**जय**' शब्द का अर्थ वशीकार है। वार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं—'**तत्र पञ्चेति**।' भूतों के एक-एक रूप का जय होने पर गौण भूतजय होता है, क्योंकि समस्त रूपों सहित भूतजय नहीं होता है। भूतजयरूप कार्य द्वारा भाष्यकार '**वशीकार**' फल को बतलाते हैं—'**तज्जयादिति**।' संयम द्वारा भूतजय से भूतप्रकृतियाँ अर्थात् भूतकारणक पञ्चतन्मात्र से लेकर त्रिगुण और त्रिगुणस्थ पुरुषार्थपर्यन्त सभी पदार्थ योगी के संकल्पानुसारी हो जाते है, केवल पञ्चतन्मात्र ही नहीं, क्योंकि भूतविषयक संयम से गुण और पुरुषार्थ का भी साक्षात्कार होता है॥४४॥

सम्प्रति, भूतजयसम्बन्धी सिद्धियों का प्रतिपादक सूत्र उपस्थित हो रहा है—

योगसूत्रम्

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः काय[1]संपत्तद्धर्मानभिघातश्च॥४५॥

तदनन्तर (भूतजय से) अणिमादि सिद्धियों का आविर्भाव, शारीरिक वैभव तथा भूतों के धर्मों का अबाधित्व (बाधारहितत्व) सिद्ध होता है॥४५॥

व्यासभाष्यम्

तत्राणिमा भवत्यणुः। लघिमा लघुर्भवति। महिमा महान्[2]भवति। प्राप्तिरङ्गुल्यग्रेणापि स्पृशति चन्द्रमसम्। प्राकाम्यमिच्छानभिघातः, भूमावुन्मज्जति निमज्जति यथोदके। वशित्वं [3]भूतभौतिकेषु वशीभवत्यवश्यश्चान्येषाम्। ईशितृत्वं तेषां प्रभवाप्ययव्यूहानामीष्टे। यत्र कामावसायित्वं सत्यसङ्कल्पता, यथा सङ्कल्पस्तथा भूतप्रकृतीनामवस्थानम्। न च शक्तोऽपि पदार्थविपर्यासं करोति। [4]कस्मात्? अन्यस्य यत्र कामावसायिनः पूर्वसिद्धस्य तथा[5]भूतेषु संकल्पादिति। एतान्यष्टावैश्वर्याणि। कायसंपद्वक्ष्यमाणा। तद्धर्मानभिघातश्च, पृथ्वी मूर्त्या न निरुणद्धि योगिनः शरीरादि[6]क्रियाम्, शिलामप्य[7]नुविशतीति, नापः स्निग्धाः क्लेदयन्ति, नाग्निरुष्णो दहति, न वायुः प्रणामी वहति। अनावरणात्मकेऽप्याकाशे भवत्यावृतकायः, [8]सिद्धानामप्यदृश्यो भवति॥४५॥

इन अष्ट सिद्धियों में प्रथम 'अणिमा' नामक सिद्धि वह है, जिससे योगी अणुपरिमाण वाला हो जाता है। 'लघिमा' नामक सिद्धि वह है, जिससे योगी हलका हो जाता है। 'महिमा' नामक सिद्धि से योगी महत्परिमाण वाला हो जाता है। 'प्राप्ति' नामक सिद्धि वह है, जिससे योगी अंगुली के अग्रभाग से चन्द्रमा का स्पर्श कर लेता है। 'प्राकाम्य' नामक सिद्धि वह है, जिससे योगी की इच्छा-पूर्ति में बाधा नहीं आती है। योगी स्वेच्छानुसार जल की भाँति

---

1. **सम्पन्न०**—इति पाठान्तरम्।
2. छ थ—**गरिमा गरीयान् भवति** (**भवति**—पश्चात्) उपलभ्यते, क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—**गरिमा...भवति** नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**भूतभौतिकेषु**, ब—**भूतभौतिक०**।
4. क ख ग घ च छ ज थ द ध न प फ ब भ म य र—**कस्मात्**, झ त—**तस्मात्**।
5. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**भूतेषु**, ब—**तेषु**।
6. क ख ग घ च ज द ध प फ ब भ म य र—**क्रियां शिलां**, छ झ त थ—**क्रिया**, **शिलां**, न—**क्रियाशीलाम्**।
7. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प ब भ म य र—**अनुविशति**, फ—**अनुप्रविशति**।
8. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध प फ ब भ म य र—**सिद्धानां**, न—**स्निग्धानाम्**।

भूमि में उन्मज्जन और निमज्जन करता है। 'वशित्व' नामक सिद्धि वह है, जिससे योगी भूत-भौतिक पदार्थों में वश्यता प्राप्त कर लेता है। वह स्वयं भूत-भौतिक पदार्थों के वश में नहीं रहता है। 'ईशितृत्व' नामक सिद्धि वह है, जिससे योगी पदार्थों की उत्पत्ति, विनाश और स्थापना में समर्थ होता है। सत्यसंकल्पता को 'यत्रकामावसायित्व' कहते हैं। इससे योगी जैसा संकल्प करता है, वैसे ही भूतों की प्रकृतियाँ हो जाती हैं। किन्तु समर्थ होने पर भी योगी पदार्थों का विपर्यास नहीं करता है। अर्थात् पदार्थगत प्रकृति को विपरीत नहीं करता है। क्योंकि दूसरे सत्यसंकल्पसिद्ध (ईश्वर) का पदार्थों को उस प्रकार रखने का संकल्प होता है। ये आठ ऐश्वर्य हैं। 'कायसम्पत्' सिद्धि का वर्णन स्वयं सूत्रकार आगे करने वाले हैं। भूतों के धर्मों का अनभि- घात 'तद्धर्मानभिघात' नामक सिद्धि है। इसकी प्राप्ति होने पर पृथ्वी अपने काठिन्य धर्म से योगी की शरीरादि क्रिया को रोक नहीं सकती है। योगी शिला के अन्दर भी प्रवेश कर जाता है। स्नेह (तरलता) युक्त जल योगी के शरीर को आर्द्र नहीं करता है। उष्ण अग्नि उसे जला नहीं पाती है। वहन- शील वायु योगी को कम्पायमान नहीं करता है। अनावरणात्मक आकाश में वह आवृत शरीर वाला (अदृश्य) बना रहता है। आकाश में स्थित इस योगी को सिद्ध पुरुष भी नहीं देख पाते हैं॥४५॥

तत्त्ववैशारदी

संकल्पानुविधाने भूतानां किं योगिनः सिध्यतीत्यत आह—ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसंपत्तद्धर्मानभिघातश्च। स्थूल[1]संयमजयाच्चतस्रः सिद्धयो भवन्तीत्याह—[2]तत्रेति। तत्राणिमा महानपि भवत्यणुः। लघिमा महानपि लघुर्भूत्वेषीकातूल इवाकाशे विहरति। महिमाल्पोऽपि [3]ग्रामनगगगनपरिमाणो भवति। प्राप्तिः सर्वे भावाः सन्निहिता भवन्ति योगिनः, तद्यथा भूमिष्ठ एवाङ्गुल्यग्रेण स्पृशति चन्द्रमसम्। स्वरूपसंयमविजयात्सिद्धिमाह—प्राकाम्यमिच्छानभिघात इति। नास्य रूपं भूतस्वरूपैर्मूर्त्यादिभिर[4]भिहन्यते। भूमावुन्मज्जति निमज्जति च यथोदके। सूक्ष्मविषयसंयमजयात्सिद्धिमाह—वशित्वमिति। भूतानि पृथिव्यादीनि, भौतिकानि गोघटादीनि, तेषु वशी स्वतन्त्रो भवति। तेषां [5]त्ववश्यस्तत्कारणतन्मात्र-

---

1. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न—संयमजयात्, ज—संयमात्।
2. थ द ध तत्रेति उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न—तत्रेति नोपलभ्यते।
3. क—नागनगगगन, ख ग—नागनगनगरगगन०, घ च छ ज झ त न—ग्रामनगगगन०, थ द ध—नागनगनगर०।
4. क घ च छ ज झ त थ द ध न—अभिहन्यते, ख ग—हन्यते।
5. क ख ग घ च छ त थ द ध न—त्ववश्यः, ज—च वश्यः, झ—त्ववशाः।

पृथिव्यादिपरमाणुवशीकारात्तत्कार्यवशीकारः। तेन यानि यथावस्थापयति तानि तथावतिष्ठन्त इत्यर्थः। अन्वयविषयसंयमजयात्सिद्धिमाह–ईशितृत्वमिति। तेषां भूतभौतिकानां विजितमूल-प्रकृतिः सन् यः प्रभव उत्पादो यश्चाप्ययो विनाशो यश्च व्यूहो [1]यथावद[2]वस्थापनं तेषामीष्टे। अर्थवत्त्वसंयमात्सिद्धिमाह–यत्र कामावसायित्वं सत्यसङ्कल्पता। विजितगुणार्थवत्त्वो हि योगी यद्यदर्थतया सङ्कल्पयति तत्तस्मै प्रयोजनाय कल्पते। विषमप्यमृतकार्ये सङ्कल्प्य भोज-यञ्जीवयतीति। स्यादेतत्–यथा शक्तिविपर्यासं करोत्येवं पदार्थविपर्यासमपि कस्मान्न करोति, [3]तथा च चन्द्रमसमादित्यं कुर्यात्कुहूं च सिनीवालीम् इत्यत आह–न च शक्तोऽपीति। न खल्वेते यत्रकामावसायिनस्तत्र [4]भगवतः परमेश्वरस्याज्ञाम[5]तिक्रमितुमुत्सहन्ते। शक्तयस्तु पदार्थानां जातिदेशकालावस्थाभेदेनानियतस्वभावा इति युज्यते तासु तदिच्छानुविधानमिति। एतान्यष्टावैश्वर्याणि। तद्धर्मानभिघात इति। अणिमादिप्रादुर्भाव इत्यनेनैव तद्धर्मान-भिघातसिद्धौ पुनरुपादानं कायसिद्धिवदेतत्सूत्रोपबद्धसकलविषयसंयमफलवत्त्वज्ञापनाय। सुगम-मन्यत्॥४५॥

शङ्का–जब भूत योगी के संकल्प का अनुसरण करते हैं अर्थात् जब भूतों में योगी की संकल्पानुसारिता आ जाती है, तब योगी को कौन सी सिद्धि प्राप्त होती है?

समाधान–इस पर सूत्र है–'**तत इति**।' भूतों के '**स्थूल**' रूप को संयम द्वारा जीतने से योगी को चार सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, ऐसा भाष्यकार बतलाते हैं–'**तत्रेति**।' '**अणिमा**' सिद्धि यह है–महत् परिमाण वाला होता हुआ भी योगी अणुपरिमाण वाला हो जाता है। '**लघिमा**' सिद्धि यह है–भारी होता हुआ भी योगी लघु होकर धुनी हुई हलकी रूई के समान आकाश में विहार करता है अर्थात् उड़ान भरता है। '**महिमा**' सिद्धि यह है–अल्प (सीमित) परिमाण वाला होता हुआ भी योगी हाथी, पर्वत और नगर (आदि) के परिमाण वाला हो जाता है। '**प्राप्ति**' सिद्धि यह है–सभी पदार्थ योगी के सन्निकृष्ट रहते हैं। जैसे भूमि में खड़ा होकर ही योगी अंगुली के अग्रभाग से चन्द्रमा को छू लेता है। भूतों के द्वितीय रूप '**स्वरूप**' को संयम द्वारा जीतने पर योगी को प्राप्त होने वाली सिद्धि को भाष्यकार बतलाते हैं–'**प्राकाम्य-मिच्छानभिघात इति**।' '**प्राकाम्य**' सिद्धि यह है–योगी का रूप (शरीरसंस्थानविशेष) पृथिव्यादि भूतों के मूर्त्त्यादि '**स्वरूप**' से प्रतिबद्ध नहीं होता है। जैसे साधारण व्यक्ति जल का उद्भेदन करके उसमें से बाहर निकल आता है, वैसे ही योगी पृथ्वी को

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त द ध न–**यथावत्**, थ–**यथा**।
2. क घ च छ ज झ त थ द ध न–**अवस्थापनम्**, ख ग–**अवस्थानम्**।
3. क ख ग घ च छ ज झ त न–**तथा च**, थ ध–**तथा**, द–**यथा**।
4. क ख ग घ च छ ज झ त न–**भवतः**, थ द ध–**भगवतः**।
5. क ग घ च छ ज झ त न–**अतिक्रमितुम्**, ख–**अतिपतितुम्**, थ द ध–**उत्क्रमितुम्**।

फोड़कर बाहर प्रकट होता है और जैसे साधारण व्यक्ति जल में गोता लगाता है, वैसे ही योगी गोता लगाने के समान पृथ्वी में प्रवेश करता है। पृथिव्यादि भूतों के तृतीय '**सूक्ष्म**' रूप को संयम द्वारा जीतने से प्राप्त होने वाली सिद्धि को भाष्यकार बतलाते हैं–'**वशित्वमिति**।' '**वशित्व**' सिद्धि यह है–योगी पृथिव्यादि भूतों तथा गो, घटादि भौतिक पदार्थों (के संचालन) में स्वतन्त्र होता है और स्वयं किसी के वश में नहीं रहता है। भूत-भौतिक पदार्थों के कारण तन्मात्र और पार्थिवादि परमाणुओं के अधीन हो जाने से उनके कार्य भूत-भौतिक पदार्थ भी योगी के वशीकृत हो जाते हैं। इससे भूत-भौतिक पदार्थों को जैसे व्यवस्थित किया जाता है, वैसे ही ये व्यवस्थित हो जाते हैं। भूतों के चतुर्थ '**अन्वय**' रूप विषयक संयम के जय से प्राप्त होने वाली सिद्धि को भाष्यकार बतलाते हैं–'**ईशितृत्वमिति**।' '**ईशित्व**' सिद्धि यह है–उन भूत-भौतिक पदार्थों की मूलप्रकृति (तन्मात्राओं) को जीतकर योगी पदार्थों की उत्पत्ति (प्रभव), विनाश (अप्यय) और यथोचित स्थिति (व्यूह) को करने में सक्षम होता है। भूतों के पञ्चम रूप '**अर्थवत्त्व**' विषयक संयम से प्राप्त सिद्धि का प्रतिपादन भाष्यकार करते हैं–'**यत्र कामावसायित्वं सत्यसङ्कल्पतेति**।' '**कामावसायित्व**' सिद्धि यह है–भूतों के '**अर्थवत्त्व**' रूप पर विजयप्राप्त योगी जिस किसी पदार्थ को जिस किसी प्रयोजन के रूप से सोचता है, वह पदार्थ उस प्रयोजन को सिद्ध करता है। जैसे अमृत रूप में संकल्पित कर विष को भी खाता हुआ 'योगी' जीवित रहता है।

शङ्का–यदि ऐसी बात है तो जैसे योगी पदार्थनिष्ठ शक्ति को परिवर्तित करता है वैसे ही पदार्थ को भी क्यों नहीं बदलता है? जैसे चन्द्रमा को सूर्य करे तथा कुहू (प्रतिपत् युक्त अमावस्या) को सिनीवाली (चतुर्दशी युक्त अमावस्या) में परिवर्तित करे?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**न च शक्तोऽपीति**।' '**कामावसायित्व**' सिद्धिप्राप्त योगिजन पूज्य ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन करने का साहस नहीं करते हैं। किन्तु पदार्थों की बाह्य शक्तियाँ तो जाति, देश, काल और अवस्थाभेद से अनियत स्वभाव वाली होती हैं, इसलिये पदार्थों की शक्तियों का अपनी इच्छा के अनुसार विपर्यास करना औचित्यपूर्ण है। ये आठ प्रकार की सिद्धियाँ भूतजय से प्राप्त होने वाले आठ ऐश्वर्य हैं। सूत्र के अन्तिम अंश के बारे में विचार किया जा रहा है–'**तद्धर्मानभिघात इति**।' अणिमादि सिद्धियों का प्रादुर्भाव होने से ही '**तद्धर्मानभिघात**' रूप सिद्धि भी प्राप्त होती है, फिर भी '**कायसिद्धि**' के समान इस सूत्र में सकलभूत-विषयक संयम का फल बतलाने के लिये '**तद्धर्मानभिघात**' सिद्धि का पृथक् निर्देश किया गया है। शेष भाष्य सुगम है॥४५॥

बालप्रिया–

'**उन्मज्जति**'–इस क्रियापद का अर्थ यह है कि योगी जल की भाँति भूमि का उद्भेदन कर भूमि से बाहर निकल आता है।

'**निमज्जति**'–इस क्रियापद का अर्थ यह है कि योगी जल की भाँति कठोर भूमि के अन्दर प्रवेश करता है।

'**कामावसायित्वम्**'–शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार कामावसायी शब्द का अर्थ है–सत्यसंकल्प।

'**तत्र भगवतः परमेश्वरस्य**'–पूर्वसिद्ध अर्थात् संयमनिरपेक्ष होकर सत्यसङ्कल्पादि गुणशाली परमेश्वर संकल्प करता है, इसमें श्रुति प्रमाण है–'**सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्**।' अतः योगी ईश्वर के संकल्प का उल्लंघन कर पदार्थविपर्यास की इच्छा ही नहीं करता है।

'**कुहूं च सिनीवालीम्**'–चतुर्दशीयुक्त अमावस्या को 'सिनीवाली' तथा प्रतिपद्युक्ता अमावस्या को 'कुहू' कहते हैं। इसमें श्रुति प्रमाण है–'**या पूर्व्वाऽमावस्या सा सिनीवाली, योत्तरा सा कुहूः**' ॥४५॥

योगवार्त्तिकम्

भूतजयस्य फलं प्रतिपादयति–ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसंपत्तद्धर्मानभिघातश्च। तत्र त्रिषु मध्येऽणिमाद्यष्टसिद्धीर्व्याचष्टे–अणिमेति। स्वेच्छया यदणुपरिमाणशरीरो भवति तदणिमा, संकल्पमात्रेण तत्क्षणादेवावयवापचयेन सौक्ष्म्यं देहस्य भवति, भूतप्रकृति[1]वशित्वादिति। एवं सर्वत्र। अणिमाद्याश्च शास्त्रे गणिताः–

अणिमा महिमा चैव लघिमा प्राप्तिरिन्द्रियैः।
प्राकाम्यं श्रुतदृष्टेषु शक्तिप्रेरणमीशिता॥
गुणेष्वसङ्गो वशिता यत्कामस्तदवस्यति॥ इति।

लघिमानमाह–लघुरिति। गुरुतरशरीरोऽपीषिकातूलवल्लघुर्भवतीत्यर्थः। स्पृशतीति। भूमिष्ठ एवेति शेषः। अवयवोपचयेनाङ्गुलिदैर्घ्यादिति। एताश्चतस्रः स्थूलसंयमसिद्धयः। स्वरूपसंयमस्य सिद्धिमाह–प्राकाम्यमिति। इच्छाऽनभिघात इति। सत्यामिच्छायां नास्य रूपं भूतस्य रूपैर्मूर्त्यादिभिर्विहन्यते, भूतस्वरूपाणां जितत्वादित्यर्थः। तस्योदाहरणम्–भूमाविति। उन्मज्जति जलमिव भूमिमुद्भिद्योत्तिष्ठति, निमज्जति जलवद् भूमौ प्रविशति चेत्येवमादिः प्राकाम्यमित्यर्थः। सूक्ष्मसंयमस्य सिद्धिमाह–वशित्वमिति। भूतभौतिकेष्विति। भूतेषु व्यष्टिषु भौतिकेषु तत्[2]कार्येषु समष्टिमहाभूतेषु ब्रह्माण्डादिषु चेति व्याख्येयम्, जगद्व्यापारवर्ज-

1. क ख घ च छ–**वशित्वात्**, ग–**विशिष्टत्वात्**।
2. ख ग–**न तु** (**कार्येषु**–पश्चात्) उपलभ्यते, क घ च छ–**न तु** नोपलभ्यते।

मिति वेदान्तसूत्रेण सिद्धेष्वादिसर्गसामर्थ्याभाववचनादिति। वशीभवति [1]स्वेच्छया परिणमने समर्थो भवति, तत्कारणतन्मात्रविजयात्, तथा तेषामवश्योऽपि भवति [2]विरागादित्यर्थः। अन्वयसंयमस्य सिद्धिमाह–[3]ईशितृत्वमिति। तेषामिति। तेषां भूतानां तन्मात्रद्वारकोत्पत्ति-विनाशयोर्व्यूहाख्यसंस्थानविशेषे च समर्थो भवति, भूतानां मूलप्रकृतिविजयादित्यर्थः। अर्थ-वत्त्वसंयमस्य सिद्धिमाह–यत्रेति। यत्र कामावसायित्वमिति तान्त्रिकी परिभाषा, पुराणेष्वप्येवमवगमात्। भूतप्रकृतीनां गुणतन्मात्रादीनाम[4]वस्थानं परिणामविशेषः। विजितार्थ-संबन्धो हि योगी यद्यदर्थतया यद्वस्तु संकल्पयति तत्तद्वस्तु तदर्थकमेव भवति, विषमप्यमृत-स्यार्थं संकल्प्य भोजयन् जीवलोकं सुखीकरोतीति। नन्वेवं योगी जलमपि तेजः कुर्यात्, धर्ममप्यधर्मं कुर्याद् इत्यव्यवस्थैव स्यादित्याशङ्क्याह–न च शक्तोऽपीति। पूर्वपूर्वयोगिव्य-वहारानुसारेणैव योगी व्यवहरति, अन्यथा तुल्यबलविरोधेन व्यवहारासंभवात्। विरोधमेव दर्शयति–अन्यस्येति। पूर्वेषां तथाभूतेषु यथादृष्टेष्वेव संकल्पादिति वाक्यार्थः। तथा च श्रुतिः–धाता यथापूर्वमकल्पयदिति। स्वनियमपालनार्थमन्तर्यामिणा तथैव सिद्धः प्रेर्यत इति द्रष्टव्यम्। उपसंहरति–इत्यष्टावैश्वर्याणीति। अणिमाद्यष्टसिद्धिव्याख्यापूरणायैव प्राकाम्यमत्र भाष्यकारैः कथितं न त्वत्र सूत्रे प्राकाम्यमणिमादिमध्ये विवक्षितं तद्धर्मानभिघात इत्यनेनैव प्राकाम्यग्रहणेन पौनरुक्त्यापत्तेरिति। काय[5]संपदित्यादि सूगमम्॥४५॥

भाष्यकार भूतजय के फल को प्रतिपादित करते हैं–'तत इति' सूत्रोल्लिखित अणिमादिसिद्धि, कायसम्पत् तथा तद्धर्मानभिघात–इन तीनों में से अणिमादि आठ सिद्धियों को भाष्यकार सर्वप्रथम बतलाते हैं–'अणिमेति।' योगी की इच्छा से उसका जो अणुपरिमाण वाला देह हो जाता है, वही 'अणिमा' सिद्धि है। अभिप्राय यह है कि पाञ्चभौतिक शरीर के कारण (पञ्चतन्मात्र) के वश में होने से योगी के संकल्पमात्र से ही तत्क्षण शरीर के अवयवों की क्षीणताप्रयुक्त सूक्ष्मता होती है। अर्थात् अवयवापचय से योगी का शरीर सूक्ष्म हो जाता है। यही स्थिति अन्य लघिमादि सिद्धियों की है। शास्त्रों में अणिमादि सिद्धियाँ इस प्रकार परिगणित हुई हैं–'अणिमा...तदवस्यति' (श्रीमद्भागवत ११/१५/४-५) अर्थात् 'अणिमा, महिमा और लघिमा ये शरीर की सिद्धियाँ हैं, प्राप्तिनामक सिद्धि का सम्बन्ध इन्द्रियों से है, श्रुत अर्थात् पारलौकिक और दृष्ट अर्थात् लौकिक पदार्थों का इच्छानुसार अनुभव करना प्राकाम्य नाम की सिद्धि है। माया और उसके कार्यों को इच्छानुसार

---

1. क घ च छ–स्वेच्छया परिणमने, ख–शक्तिप्रतिबन्धे, ग–स्वेच्छया परिणामेन।
2. क ख ग–रागादिना, घ–रागात्, च छ–विरागात्।
3. क ख ग घ च–ईशित्वं, छ–ईशितृत्वम्।
4. क ख घ च छ–अवस्थानं, ग–अवस्थानाम्।
5. क ख ग–संपत्०, घ च छ–संयमात्।

प्रेरित कर सकना ईशिता सिद्धि है। विषयों में आसक्त न होना वशिता सिद्धि है तथा जो इच्छित पदार्थों की चरम सीमा को प्राप्त कर लेता है, उसे प्राकाम्य सिद्धि कहते हैं।' भाष्यकार 'लघिमा' सिद्धि को बतलाते हैं—'**लघुरिति**।' अत्यन्त भारी शरीर भी धुनी हुई रूई की भाँति लघु (हलका) हो जाता है। वार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं—'**स्पृशतीति**।' '**भूमिष्ठ एव**' यह वाक्यशेष है। अवयवोपचय से अङ्गुली के लम्बायमान (दीर्घ) हो जाने से योगी भूमिष्ठ रहकर चन्द्रमा को छू लेता है। प्रथम चार सिद्धियाँ भूतों के '**स्थूल**' रूप के संयम से सिद्ध होती हैं। भाष्यकार भूत के '**स्वरूपाख्य**' रूपविषयक संयमं की सिद्धि को बतलाते हैं—'**प्राकाम्यमिति**।' वार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं—'**इच्छाऽनभिघात इति**।' स्वेच्छानुसार योगी के शरीर का रूप पृथिव्यादि भूत के मूर्त्त्यादि (काठिन्यादि) रूपों से प्रतिबद्ध नहीं होता है, क्योंकि योगी भूतों के 'स्वरूपाख्यरूप' को जीत लेता है। इस का उदाहरण है— '**भूमाविति**।' **उन्मज्जति**' क्रियापद का अर्थ है—जल के उन्मज्जन की भाँति भूमि को फोड़कर ऊपर आ जाना। '**निमज्जति**' पद का अर्थ है—जल के निमज्जन की भाँति भूमि में प्रवेश करना। यही '**प्राकाम्य**' सिद्धि है। भूतों के '**सूक्ष्माख्य**' रूपविषयक संयम का फल भाष्यकार बतलाते हैं—'**वशित्वमिति**।' आगे का भाष्य है—'**भूतभौतिकेष्विति**।' 'भूत' अर्थात् व्यष्टिरूप भूतों में, '**भौतिक**' अर्थात् भूत के कार्य समष्टिरूप महाभूतों में तथा ब्रह्माण्डादियों में भूतजयी की वशवर्त्तिता होती है, ऐसी व्याख्या करनी चाहिये, क्योंकि '**जगद्व्यापारवर्जम्**' (ब्र.सू. ४/४/१७) इस वेदान्त सूत्र के द्वारा सिद्धादि पुरुषों में सर्ग या सामर्थ्याभाव कहा गया है। सूत्र का अर्थ है—'जगत् की रचना, स्थिति और संहार आदि के व्यापार को छोड़कर।' (पूरा सूत्र है—'**जगद्-व्यापारवर्जं प्रकरणाद- सन्निहितत्वाच्च**।' सूत्र का भाव यह है कि मुक्त जीव अर्थात् सिद्ध पुरुष के परब्रह्म के समान व्यापक न होने से उसमें जगत् की रचना आदि कार्यों को करने का सामर्थ्य नहीं है। जीवात्मा केवल ब्रह्मलोक के दिव्य भोगों को उपभोग करने में समर्थ हैं, किन्तु ब्रह्म के कार्य-रचना आदि का उसमें सामर्थ्य नहीं है)। '**वशीभवति**' क्रियापद का अर्थ है— भूतजयी का भूतों के परिणमन में स्वेच्छापूर्वक शक्त होना। योगी को भूतों का यह परिणमन-सामर्थ्य इसलिये प्राप्त होता है, जिससे योगी भूतों के कारण तन्मात्र को जीत सके। योगी उन भूतों के अधीन नहीं रहता है, क्योंकि भूतों के प्रति उसमें वैराग्य जागरित हो जाता है। भूतों के चतुर्थ '**अन्वयाख्य**' रूपविषयक संयम की सिद्धि को भाष्यकार बतलाते हैं— '**ईशितृत्वमिति**।' '**तेषामिति**।' '**ईशितृत्व**' नामक सिद्धि वह कहलाती है, जिसकी प्राप्ति होने पर योगी तन्मात्राओं के द्वारा पञ्च महाभूतों की उत्पत्ति और संहृति करने में तथा व्यूहाख्य संस्थानविशेष का निर्माण करने में समर्थ हो जाता है, क्योंकि वह

भूतों की मूलप्रकृति अर्थात् तन्मात्र पर विजय प्राप्त कर लेता है। सम्प्रति, भाष्यकार भूतों के '**अर्थवत्त्वाख्य**' रूपविषयक संयम की सिद्धि का प्रतिपादन करते हैं–'**यत्रेति**।' सत्य- संकल्पता का '**यत्रकामावसायित्व**' यह तान्त्रिक अर्थात् शास्त्रीय नाम है, क्योंकि पुराणों में भी ऐसा ही कहा गया है। योगी जैसा संकल्प करता है वैसा ही भूत के प्रकृतिभूत गुणात्मक तन्मात्रादियों का '**अवस्थान**' अर्थात् परिणामविशेष होता है। जिसने प्रयोजनरूप सम्बन्ध को जीत लिया है ऐसा योगी जिस-जिस प्रयोजन के रूप से जिस-जिस पदार्थ का संकल्प करता है, तत्तद् वस्तुएँ उस-उस प्रयोजन को ही सिद्ध करती हैं। जैसे विष को भी अमृत के प्रयोजन रूप से सोचकर खिलाता हुआ योगी मनुष्य को सुखी करता है।

शङ्का–उक्त प्रकार से विपर्यास की शक्ति प्राप्त होने पर यदि योगी जल को भी तेज के रूप में परिवर्तित करेगा तथा धर्म को भी अधर्म का रूप प्रदान करेगा तो अव्यवस्था ही उत्पन्न होगी?

समाधान–उक्त आशंका करके भाष्यकार उत्तर देते हैं–'**न च शक्तोऽपीति**।' (पदार्थ का विपर्यास करने में समर्थ होता हुआ भी) यत्रकामावसायित्वजयी पूर्व-पूर्व योगी के (शक्ति) व्यवहार के अनुसार ही (पदार्थों के विपर्यास का) व्यवहार करता है, अन्यथा दो तुल्य शक्ति वालों का विरोध होने से ये अपनी-अपनी शक्ति का प्रयोग ही नहीं कर सकेंगे। (दो तुल्य योगियों की अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार पदार्थ का विपर्यास करने पर जो विरोध की स्थिति उत्पन्न होगी उस) विरोध का ही भाष्यकार वर्णन करते हैं–'**अन्यस्येति**।' नवीन योगी द्वारा भूत-भौतिक-व्यवस्था में परिवर्तन करने पर पूर्वसिद्ध योगी के सत्यसंकल्पत्व का खण्डन होगा, क्योंकि पूर्ववर्ती योगियों का यथादृष्ट भूतों के विषय में यथेष्ट संकल्प बना रहता है–इस प्रकार वाक्यार्थ हुआ। इसमें श्रुतिवाक्य प्रमाण है–'**धाता यथापूर्वमकल्पयत्**' (ऋग्वेद १०/१९०/३) अर्थात् 'विधाता ने पहली सृष्टि के समान अगली सृष्टि में संकल्प किया।' अतः ऐसा समझना चाहिये कि अन्तर्यामी के द्वारा ही अपने नियम का पालन करने के लिये योगी उसी रूप में प्रेरित किया जाता है। भाष्यकार अष्टैश्वर्य को उपसंहृत करते हैं--'**इत्यष्टावैश्वर्याणीति**।' अणिमादि अष्ट सिद्धियों की संख्यापूर्ति के लिये ही भाष्यकार ने प्रकृत सूत्र के भाष्य में अणिमादि सिद्धियों के मध्य '**प्राकाम्य**' सिद्धि का अभिधान किया है। वस्तुतस्तु सूत्रकार को प्रकृत सूत्र में '**प्राकाम्य**' संज्ञक सिद्धि को अणिमादि सिद्धियों के मध्य परिगणित करना अभिप्रेत नहीं रहा है, क्योंकि '**तद्धर्मानभिघातः**' इस सूत्रांश द्वारा ही '**प्राकाम्याख्य**' सिद्धि का ग्रहण हो जाने से उसे पुनः अष्टसिद्धि में परिगणित करना पुनरुक्तिदोषयुक्त रहेगा। सूत्र के उत्तरांश '**कायसंपत्**' आदि का वैयासिक व्याख्यान सुगम है॥४५॥

पूर्व सूत्र में प्रयुक्त '**कायसम्पत्**' पद के व्याख्यानरूप में अगला सूत्र है–

योगसूत्रम्

[1]रूपलावण्यबलवज्र[2]संहननत्वानि [3]काय[4]संपत्॥४६॥

रूपलावण्य, बल और वज्र के समान सुदृढ़ अवयवविन्यास 'कायसम्पत्' है॥४६॥

व्यासभाष्यम्

दर्शनीयः कान्तिमानतिशयबलो वज्रसंहननश्चेति॥४६॥

योगी दर्शनीय चमक वाला, अतिशय बलशाली तथा वज्र के समान सुदृढ़ अंगविन्यास वाला हो जाता है॥४६॥

तत्त्ववैशारदी

कायसंपदमाह–रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसंपत्। वज्रस्येव संहननमवयवव्यूहो दृढो निबिडो यस्य स [5]तथोक्तः॥४६॥

सम्प्रति, सूत्रकार (भूतजयी को प्राप्त होने वाली) '**कायसिद्धि**' के प्रतिपादक सूत्र को रचते हैं–'**रूपेति**।' तत्त्ववैशारदीकार वज्रसंहनन का विग्रह करते हैं–'**वज्रस्य इव संहननम्, अवयवव्यूहो दृढो निबिडो यस्य सः**' अर्थात् वज्र के समान जिसकी अवयव-संरचना दृढ होती है उसे 'वज्रसंहनन' कहते हैं। **वज्रसंहनन** के भाव अर्थात् स्वभाव को '**वज्रसंहननत्व**' कहते हैं॥४६॥

योगवार्त्तिकम्

प्रसिद्धत्वात्सिद्धिद्वयविवेचनानपेक्षया केवलां कायसंपदं सूत्रकारो विवृणोति–रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसंपत्। वज्रस्येव संहननं प्रहारो यस्येति वज्रवन्निविडो दृढः संघातो यस्येति वा वज्रसंहननः। भाष्यं सुगमम्॥४६॥

प्रसिद्ध होने के कारण सिद्धिद्वय (अणिमादि अष्टैश्वर्य तथा तद्धर्मानभिघात) के प्रतिपादन (सूत्रांकन) की अपेक्षा न रहने से सूत्रकार केवल '**कायसंपत्**' को सूत्रांकित (उद्घाटित) करते हैं–'**रूपेति**।' वार्त्तिककार '**वज्रसंहनन**' पद का दो प्रकार से बहुब्रीहिसमासपरक विग्रह करते हैं–'**वज्रस्येव संहननं प्रहारो यस्येति, वज्रवन्निविडो दृढ**

---

1. **स्वरूप०, रूपता**–इति पाठान्तरे।
2. **संहननानि, संहननत्वं**–इति पाठान्तरे।
3. **च**–(**काय०**–प्राक्) उपलभ्यते।
4. **संपदः**–इति पाठान्तरम्।
5. क ख ग घ च छ ज झ त न–**तथोक्तः**, थ द ध–**तथा तस्य भावः तत्त्वमिति**।

संघातो यस्येति वा वज्रसंहननः' अर्थात् वज्र के समान है प्रहार जिसका अथवा वज्रवत् घनीभूत (निविड) दृढसंघात (शरीरगठन) है जिसका उसे '**वज्रसंहनन**' कहते हैं। (भूतजयी का यह '**वज्रसंहनन**' शारीरिक वैभव है)। भाष्य सुगम है॥४६॥

सम्प्रति संयमसाध्य अगली सिद्धि का प्रतिपादक सूत्र उपस्थित हो रहा है–

योगसूत्रम्

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः॥४७॥

(इन्द्रियों के) ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व–रूप में संयम करने से योगी को 'इन्द्रियजय' प्राप्त होता है॥४७॥

व्यासभाष्यम्

सामान्यविशेषात्मा शब्दादि[1]ग्राह्यः, तेष्विन्द्रियाणां वृत्तिर्ग्रहणम्। न च तत्सामान्य[2]मात्रग्रहणाकारम्, कथमनालोचितः [3]स विषयविशेष इन्द्रियेण मनसा [4]वानुव्यवसीयेतेति। स्वरूपं पुनः प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य सामान्यविशेषयोरयुतसिद्धावयवभेदा[5]नुगतः समूहो [6]द्रव्यमिन्द्रियम्। तेषां तृतीयं रूपमस्मितालक्षणोऽहंकारः। तस्य सामान्यस्येन्द्रियाणि विशेषाः। चतुर्थं रूपं व्यवसायात्मकाः प्रकाशक्रियास्थितिशीला गुणा येषामिन्द्रियाणि साहंकाराणि परिणामः। पञ्चमं रूपं गुणेषु [7]यदनुगतं [8]पुरुषार्थवत्त्वमिति। पञ्चस्वेतेष्विन्द्रियरूपेषु यथाक्रमं संयमः, तत्र तत्र जयं कृत्वा पञ्चमरूपजयाद् इन्द्रियजयः प्रादुर्भवति योगिनः॥४७॥

सामान्य और विशेषरूप शब्दादि 'ग्राह्य' कहलाते हैं। इन शब्दादि विषयों में इन्द्रियों का जो व्यापार (वृत्ति) है, उसे 'ग्रहण' कहते हैं। वह ग्रहणरूप इन्द्रियों की वृत्ति केवल (पदार्थगत) सामान्यमात्र को ही अपना विषय नहीं

---

1. क ग ब–**विषयः**, ख घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–**ग्राह्यः**।
2. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–**मात्र०**, ख ब–**मात्रे**।
3. क ख ग घ व छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–**सः**, ब–**स्व०**।
4. क ख च छ ज थ द ध न भ म–**वा**, झ त–**न**, ख घ प फ ब य र–**वा/न** नोपलभ्यते।
5. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–**अनुगतः समूहो द्रव्यं**, ब–**अनुगतं द्रव्यम्**।
6. छ थ–**परमाणुस्तस्मिन्स्वकार्यव्यवसायात्मकं** (**द्रव्यं**–पश्चात्) उपलभ्यते, क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र–**परमाणु...यात्मकं** नोपलभ्यते।
7. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न प फ ब भ म य र–**यत्**, द–**तत्**।
8. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब म र–**पुरुषार्थवत्त्वं**, भ य–**पुरुषार्थतत्त्वम्**।

बनाती है, क्योंकि इन्द्रिय के द्वारा अगृहीत वह ग्राह्यगत-विषयविशेष मन के द्वारा कैसे जाना जा सकता है? अर्थात् नहीं जाना जा सकता है। 'स्वरूप' यह है–प्रकाशशील बुद्धिसत्त्व के सामान्य और विशेषों के अपृथक्सिद्ध (अयुत-सिद्ध) अवयवों में अनुगत रहने वाला समूह 'इन्द्रिय' नामक द्रव्य है। इन्द्रियों का तीसरा रूप 'अस्मिता' लक्षण वाला अहंकार है। उस अस्मितारूप सामान्य की इन्द्रियाँ विशेष हैं। इन्द्रियों का चौथा रूप प्रकाश-क्रिया-स्थितिशील व्यवसायात्मक 'गुण' है, जिनका अहंकारसहित इन्द्रियाँ परिणाम (कार्य) हैं। पांचवाँ रूप है–गुणों में अनुगत रहने वाला 'पुरुषार्थसाधकत्व'। इन्द्रियों के इन पाँच रूपों में क्रमानुसार संयम और तत्तद् रूप पर विजय प्राप्त करके पाँचों रूपों में जय हो जाने से योगी को 'इन्द्रियजय' नाम की सिद्धि आविर्भूत होती है॥४७॥

तत्त्ववैशारदी

जितभूतस्य योगिन इन्द्रियजयोपायमाह–ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादि-न्द्रियजयः। ग्रहणं च स्वरूपं चास्मिता चान्वयश्चार्थवत्त्वं च, तेषु संयमस्तस्मादित्यर्थः। गृहीतिर्ग्रहणम्, तच्च ग्राह्याधीननिरूपणमिति। ग्राह्यं दर्शयति–सामान्यविशेषात्मेति। ग्राह्य-मुक्त्वा ग्रहणमाह–तेष्विति। वृत्तिरालोचनं विषयाकारा परिणतिरिति यावत्। ये त्वाहुः–सामान्यमात्रगोचरेन्द्रियवृत्तिरिति तान्प्रत्याह–न चेति। गृह्यत इति ग्रहणम्। [1]न सामान्य-मात्रगोचरं ग्रहणम्। बाह्येन्द्रियतन्त्रं हि मनो बाह्ये प्रवर्तते, अन्यथान्धबधिराद्यभावप्रसङ्गात्। तदिह यदि न विशेषविषयमिन्द्रियं तेनासावनालोचितो विशेष इति कथं मनसानुव्यवसीयेत? तस्मात्सामान्यविशेषविषयमिन्द्रियालोचनमिति। तदेतद्ग्रहणमिन्द्रियाणां प्रथमं रूपम्। द्वितीयं रूपमाह–स्वरूपं पुनरिति। अहङ्कारो हि सत्त्वभागेनात्मीयेनेन्द्रियाण्यजीजनत्। अतो यत्तत्र करणत्वं सामान्यं यच्च नियतरूपादिविषयत्वं विशेषस्तदुभयमपि प्रकाशात्मकमित्यर्थः। तेषां तृतीयं रूपमिति। अहङ्कारो हीन्द्रियाणां कारणमिति यत्रेन्द्रियाणि तत्र तेन भवितव्यमिति सर्वेन्द्रियसाधारण्यात्सामान्यमिन्द्रियाणामित्यर्थः। चतुर्थं रूपमिति। गुणानां हि द्वैरूप्यं [2]व्यव-सेयात्मकत्वं व्यवसायात्मकत्वं च। तत्र व्यवसेयात्मकतां ग्राह्यतामास्थाय पञ्च तन्मात्राणि भूतभौतिकानि [3]च [4]निर्मिमते, व्यवसायात्मकत्वं तु ग्रहणरूपमास्थाय साहङ्काराणीन्द्रियाणी-त्यर्थः। शेषं सुगमम्॥४७॥

---

1. ख ग घ च छ ज त न–न उपलभ्यते, क झ थ द ध–न नोपलभ्यते।
2. क ख ग थ द ध–व्यवसायात्मकत्वं व्यवसेयात्मकत्वम्, घ च छ झ न–व्यवसेयात्मकत्वं व्यवसायात्मकत्वम्, ज–व्यवसेयात्मकं व्यवसेयात्मकत्वम्, त–व्यवसेयात्मकत्वं व्यवसायात्मकम्।
3. थ द ध–च उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न–च नोपलभ्यते।
4. क ख त थ द ध–निर्मिमते, ग घ च छ ज झ न–निर्मिमीते।

सम्प्रति, भूतजयी योगी के **'इन्द्रियजय'** के उपाय को सूत्रकार बतलाते हैं– **'ग्रहणेति।'** इतरेतरद्वन्द्वसमास करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं–**ग्रहणं च स्वरूपं चास्मिता चान्वयः अर्थवत्त्वं च** (इति **ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वानि**) **तेषु** अर्थात् ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व में संयम करने से योगी को **'इन्द्रिय- जय'** प्राप्त होता है। जिससे विषय गृहीत होता है, उसे **'ग्रहण'** कहते हैं। और यह **'ग्रहण'** का निरूपण ग्राह्य-निरूपण के अधीन होता है, इसलिये भाष्यकार **'ग्राह्य'** का स्वरूप बतलाते हैं–**'सामान्यविशेषात्मेति।'** धर्मधर्मिरूप सामान्य-विशेष को **'ग्राह्य'** कहा जाता है। **'ग्राह्य'** को बतलाकर भाष्यकार **'ग्रहण'** का लक्षण करते हैं–**'तेष्विति।'** **'वृत्ति'** शब्द का अर्थ है–आलोचन अर्थात् विषयाकार परिणाम। इस प्रकार विषयों में इन्द्रियों की जो आलोचनरूप वृत्ति अर्थात् विषयाकार परिणति होती है, उसे **'ग्रहण'** कहते हैं। जो बौद्ध लोग यह मानते हैं–'इन्द्रियवृत्ति सामान्यमात्रविषयक होती है' अर्थात् शब्दत्वादि तथा घटत्वादि सामान्यधर्म ही इन्द्रियवृत्ति के विषय होते हैं और धर्मीभूत शब्दादि तथा घटादि विशेष इन्द्रियजन्य वृत्ति के विषय नहीं होते हैं, अपितु ये मनोमात्र ग्राह्य होते हैं, उनके प्रति भाष्यकार बतलाते हैं अर्थात् उनके मत का खण्डन करते हैं–**'न चेति।'** इन्द्रिय केवल सामान्यविषयक ही नहीं, अपितु सामान्य-विशेष उभयविषयक होती है। **'गृह्यत इति ग्रहणम्'** अर्थात् जिसके द्वारा ग्रहण किया जाता है, उसे **'ग्रहण'** (इन्द्रिय) कहते हैं। ग्रहण (इन्द्रिय) सामान्यमात्रविषयक नहीं होता है। बाह्येन्द्रिय के अधीन रहकर ही मन बाह्य विषय की ओर प्रवृत्त होता है, अर्थात् स्वतन्त्र नहीं, अन्यथा (बाह्येन्द्रियनिरपेक्ष मन की प्रवृत्ति मानने पर) अन्ध, बधिरादि के अभाव का (अनभिप्रेत, अव्यावहारिक) प्रसंग उपस्थित होगा। अर्थात् चक्षु-श्रोत्रादि बाह्येन्द्रिय के विना ही जब मनोमात्र से रूप, शब्दादि सर्वविषयक विशेष (व्यक्ति) का ज्ञान ही हो जायेगा तो व्यक्ति अन्ध, बधिर आदि नहीं कहा जा सकेगा)। इस स्थिति में यदि इन्द्रिय को घटादि विशेषविषयक नहीं माना जायेगा तो इन्द्रिय के अविषयभूत घटादिविशेष का मन से अनुव्यवसाय अर्थात् जिसको पौरुषेयबोध कहते हैं, वह कैसे होगा? अर्थात् पौरुषेयबोध नहीं हो सकेगा। अतः इन्द्रिय सामान्यविशेष उभयविषयक है, यह सिद्ध होता है। इस प्रकार इन्द्रियों का प्रथम रूप **'ग्रहण'** कहलाता है।

भाष्यकार इन्द्रियों के द्वितीय रूप की व्याख्या करते हैं–**'स्वरूपं पुनरिति।'** (प्रकाशरूप महत्तत्त्व का परिणाम जो अयुतसिद्ध अवयवरूप सात्त्विक अहंकार है, उसमें कार्यरूप से अनुगत जो सामान्य-विशेष का (कारणत्व और नियत रूपादि विषयत्व का) समूहरूप द्रव्यविशेष है, वह इन्द्रिय कहा जाता है। यही इन्द्रियों का **'स्वरूप'** संज्ञक द्वितीय धर्म है)। भाव यह है–(सत्त्वबहुल बुद्धि से जायमान)

अहंकार तत्त्व ने अपने सत्त्वांश से (सत्त्वांशप्रचुर से) इन्द्रियों की उत्पत्ति की है। अतः जहाँ करणत्वसामान्य तथा नियतरूपादिविषयत्वरूप विशेष है, वहाँ इन्द्रिय के उभयरूप (सामान्य तथा विशेष) भी प्रकाशात्मक होते हैं। (भाव यह है कि यदात्मक कारण होता है, तदात्मक कार्य होता है। अतः प्रकाशरूप बुद्धि के कार्य प्रकाशप्रचुर अहंकार की कार्यरूपा इन्द्रियाँ भी प्रकाशबहुला हैं। यही इन्द्रियों का '**स्वरूप**' नामक द्वितीय रूप है।

भाष्यकार इन्द्रियों के तृतीय रूप का प्रतिपादन करते हैं–'**तेषां तृतीयं रूपमिति**।' अहंकार इन्द्रियों का कारण है। इसलिये 'जहाँ इन्द्रियाँ हैं, वहाँ उनका कारण अहंकार अवश्य रहता है'–(इस व्याप्ति के अनुसार) सर्वेन्द्रियसाधारण (इन्द्रियानुगत) होने से अहंकार इन्द्रियों का सामान्य रूप है। यही अहंकार रूप '**अस्मिता**' इन्द्रियों का तृतीय रूप है।

इन्द्रियों के चतुर्थरूप का व्युत्पादन किया जा रहा है–'**चतुर्थं रूपमिति**।' गुण व्यवसायात्मक (ज्ञान) और व्यवसेयात्मक (ज्ञेय) रूप से दो प्रकार के हैं। इनमें से व्यवसेयात्मक ग्राह्यता को लेकर गुणों से पञ्चतन्मात्र, पृथिव्यादि पञ्चमहाभूत और घटादि भौतिक पदार्थ उत्पन्न होते हैं और व्यवसायात्मक ग्रहणरूपता को लेकर गुणों से अहंकारसहित इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। (अर्थात् व्यवसाय है अपर पर्याय जिसका ऐसे महत्तत्त्वाकार से परिणत जो प्रकाश, क्रिया और स्थिति-शील सत्त्वादि गुण हैं, जिनकी अहंकारसहित इन्द्रियाँ परिणाम हैं, वे सत्त्व-रजस्-तमस्-रूप तीनों गुण इन्द्रियों का '**अन्वय**' नामक चतुर्थ रूप कहा जाता है। शेष भाष्य सुगम है॥४७॥

बालप्रिया–

'**सामान्यमात्रग्रहणाकारम्**'–इसका विग्रह इस प्रकार है–**सामान्यमात्रेण ग्रहणमेवाऽऽकारः स्वभावो यस्य तत् सामान्यमात्रग्रहणाकारमिन्द्रियम्।**

'**ये त्वाहुः**'–इससे बौद्धों का मत उपन्यस्त किया गया है। बौद्धों का मत है कि विशेष मनोमात्रग्राह्य होता है, न कि इन्द्रियग्राह्य।

'**अन्धबधिराद्यभावप्रसंगात्**'–तात्पर्य यह है कि चक्षुरादि करण की अपेक्षा किये विना ही मन की बाह्यविषयक वृत्ति को स्वीकार किया जाय तो मन की सत्ता रहने से अन्धादि भी रूपादि का '**आलोचन**' रूप ज्ञान कर सकेंगे।

'**तदुभयमपि प्रकाशात्मकम्**'–भाव यह है कि प्रकाशात्मक बुद्धिसत्त्व के कार्यभूत अयुतसिद्ध अवयव वाले सात्त्विक '**अहंकार**' में अनुगत सामान्यविशेष की समूहरूप इन्द्रियाँ द्रव्य हैं, उभयरूप में ये इन्द्रियाँ प्रकाशात्मक हैं। इनमें से श्रोत्रत्वादि इन्द्रियों का '**सामान्य**' रूप है तथा शब्दादि परिणामभेद '**विशेष**' रूप है॥४७॥

योगवार्त्तिकम्

[1]ग्राह्यसंयमस्य सिद्धय उक्ताः। ग्रहणसंयमस्य सिद्धीराह—ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः। ग्रहणं च स्वरूपं चास्मिता चान्वयश्चार्थवत्त्वं च, तेषु संयमात्साक्षात्कारपर्यन्तात् तद्रूपाणामिन्द्रियाणां जयो भवतीत्यर्थः। ग्रहणं व्याचष्टे—सामान्येति। वृत्तिरालोचनं विषयाकारपरिणामविशेषः, चिन्ताऽवधारणाभिमानसंशयरूपादन्तःकरणानामसाधारणवृत्तिचतुष्काद्विलक्षणो दर्शन[2]स्पर्शननामा। यद्यपि सोऽपि स्मरणानुरोधेनान्तःकरणस्यैव तथाऽपि चक्षुराद्युपष्टम्भेनैव भवतीति कृत्वा दर्शनादिश्चक्षुरादीनामुच्यते। तथा चोक्तं साङ्ख्ये—

सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात्।
तस्मात्त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि॥ इति।

ग्राह्यविषयक संयम की सिद्धियाँ बताई गईं। अब ग्रहणविषयक संयम की सिद्धि को सूत्रकार बताते हैं—'**ग्रहणेति**।' इन्द्रियों के ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय तथा अर्थवत्त्व रूपों में साक्षात्कार होने तक संयम करने से तद्रूपात्मक इन्द्रियों को जीत लिया जाता है। भाष्यकार इन्द्रियों के प्रथम ग्रहणाख्य रूप की व्याख्या करते हैं—'**सामान्येति**।' '**वृत्ति**' शब्द का अर्थ आलोचन है, जो इन्द्रियों के विषयाकार परिणामविशेष हैं। अन्तःकरण की चिन्ता, अवधारण, अभिमान तथा संशय रूप चार प्रकार की असाधारणवृत्तियों से इन्द्रियों की दर्शन, स्पर्शन आदि नाम वाली वृत्तियाँ विलक्षण (भिन्न, पृथक्) हैं। यद्यपि इन्द्रियों की दर्शनादि नाम वाली '**आलोचन**' वृत्तियाँ भी स्मरणानुरोध से अन्तःकरण की ही हैं, तथापि चक्षुरादि की इन दर्शन, स्पर्शन आदि नाम वाली वृत्तियों का प्रेरक होने से ही उन्हें (दर्शनादि को) चक्षुरादि इन्द्रियों की वृत्तियाँ कहा गया है। जैसा कि सांख्यकारिका में कहा गया है—'**सान्तःकरणा...शेषाणि**' (३५) अर्थात् 'चूँकि अन्य दोनों अन्तःकरणों (मन एवं अहंकार) के साथ बुद्धि समस्त विषयों का अवगाहन (ज्ञान) करती है, इसलिये ये तीनों अन्तःकरण प्रधान (द्वारि) हैं, तथा अन्य (दस) करण अप्रधान (द्वार अर्थात् ज्ञान के गौण साधन) हैं।'

इन्द्रियों की '**आलोचन**' वृत्ति के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए वार्त्तिककार आगे कहते हैं—

योगवार्त्तिकम्

न त्वालोचनशब्दार्थो निर्विकल्पकं ज्ञानं चक्षुरादिमात्रवृत्त्येवेति कल्पनीयम्, एवं सति

---

1. क ख ग घ च—**ग्राह्यसंयमस्य सिद्धय उक्ताः। ग्रहणसंयमस्य सिद्धीराह** उपलभ्यते, छ—**ग्राह्य...राह** नोपलभ्यते।
2. क ख ग—**आदि०** (**स्पर्शन०**—पश्चात्) उपलभ्यते, घ च छ—**आदि०** नोपलभ्यते।

चक्षुरादिनैव वैशिष्ट्यस्यापि ग्रहणसम्भवात्, सर्ववृत्तीनां चित्तनिष्ठत्वस्य भाष्ये प्रोक्तत्वाच्च। ये तु बौद्धा विशेषस्य मनोमात्रस्य गोचरत्वमभ्युपगम्येन्द्रियवृत्तिं सामान्यमात्रविषयिणी-माहुस्तान् प्रत्याचष्टे—न चेति। न च तद् इन्द्रियं सामान्यमात्रेण ग्रहणमाकारो रूपं यस्य तथा भवतीत्यर्थः। तत्र हेतुः—कथमित्यादि। [1]स्वरूपमिति। [2]स विषयगतो विशेष इन्द्रियेणानालोचितः कथं मनसाऽनुव्यवसीयेत गृह्येत, मनसो बहिरस्वातन्त्र्यात्। अन्यथा चक्षुराद्य-गोचरार्थानां मनसा विशेषग्रहणप्रसङ्गादित्यर्थः।

'आलोचन' शब्द का अर्थ निर्विकल्पक ज्ञान नहीं है, अपितु इसे चक्षुरादि इन्द्रियों के वृत्तिरूप से ही समझना चाहिये। अर्थात् तत्तद् इन्द्रियों के व्यापार-सामान्य का ही समवेत नाम है—**'आलोचन'**। **'आलोचन'** शब्द का उक्त अर्थ करने पर ही चक्षुरादि के द्वारा दर्शनादि वृत्तियों का वैशिष्ट्य भी गृहीत हो सकेगा तथा भाष्य में सभी वृत्तियों की कथित चित्तनिष्ठता भी उपपन्न हो सकेगी। और जो बौद्ध लोग (वैभाषिक) पदार्थगत विशेष को मन का ही विषय मानकर इन्द्रियवृत्ति को सामान्यमात्रविषयिणी मानते हैं, उन बौद्धों के प्रति भाष्यकार कहते हैं—**'न चेति।'** इन्द्रियों की ग्रहणरूप वृत्ति केबल सामान्यविषयक नहीं है अर्थात् केवल धर्ममात्र को ही विषय करने वाली नहीं है, अपितु धर्मिरूप जो विशेष है तद्विषयक भी है। इसमें हेतु यह है—**'कथमित्यादि।'** आगे का भाष्य है—**'स्वरूपमिति।'** यदि चक्षुरादि इन्द्रियों को पदार्थगत विशेषविषयक न माना जाय तो इन्द्रिय के द्वारा अनालोचित अर्थात् इन्द्रिय के अविषयीभूत विषयगत विशेष का मन के द्वारा कैसे निश्चय किया जा सकेगा? क्योंकि मन बाहरी व्यापार में स्वतन्त्र नहीं है। अन्यथा चक्षुरादि इन्द्रियों के अविषयीभूत (अगोचरीभूत) पदार्थगत विशेष को भी मन के द्वारा गृहीत मानने का प्रसङ्ग आयेगा।

बालप्रिया—

'न च तद् इन्द्रियं सामान्यमात्रेण ग्रहणम्'—भाव यह है कि इन्द्रिय केवल सामान्य-विषयक ही नहीं, अपितु सामान्य-विशेष उभयविषयक है। क्योंकि बाह्य इन्द्रिय के अधीन ही मन बाह्य विषयों में प्रवृत्त होता है, स्वतन्त्र नहीं। अन्यथा अन्ध-बधिरादि के अभाव का प्रसङ्ग आयेगा। क्योंकि चक्षु, श्रोत्रादि बाह्य इन्द्रियों के विना ही जब मनोमात्र से रूप, शब्दादि सर्वविषयविशेष का ज्ञान ही हो जायेगा तो व्यक्ति अन्ध-बधिर किस कारण से कहा जायेगा? इसलिये यदि इन्द्रिय को घटादि-गत विशेषविषयक भी नहीं माना जायेगा तो इन्द्रिय के अविषय घटादिगत विशेष-रूप विषय का मन से अनुव्यवसायज्ञान जिसको पौरुषेय-बोध कहते हैं, कैसे होगा?

---

1. क छ—**स्वरूपमिति** उपलभ्यते, ख ग घ च—**स्वरूपमिति** नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च—**सः** उपलभ्यते, छ—**सः** नोपलभ्यते।

अतः यह मानना पड़ता है कि चक्षुरादि इन्द्रियाँ पदार्थगत सामान्य-विशेष उभय-विषय वाली होती हैं।

इन्द्रियों के '**स्वरूपाख्य**' रूप का विश्लेषण किया जा रहा है—

योगवार्त्तिकम्

इन्द्रियाणां द्वितीयं रूपमाह—स्वरूपमिति। प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य कार्या येऽयुतसिद्धा अवयवभेदाः सात्त्विकाहंकाररूपास्तेष्वनुगतः सामान्यविशेषरूपयोः समूहो द्रव्यमिन्द्रियमित्यर्थः। तत्र विशेषाः ग्रहणरूपा नीलपीताद्याकाराः परिणामभेदाः, सामान्यं च चक्षुष्ट्वादीति। ननु पूर्वसूत्रवदत्रापि स्वरूपं केवलं सामान्यमेवोचितम्, अन्यथा ग्रहणाख्यप्रथमरूपस्याप्यत्रैव प्रवेशापत्तेरिति चेत्? सत्यम्—सामान्यप्राधान्येनैव स्वरूपत्वमत्रापि विवक्षितम्, तथाऽपि भूतवदिन्द्रियस्यापि सामान्यविशेषाभ्यामत्यन्त[1]निषेधप्रतिषेधायैव समुदायो द्रव्यमित्युक्तम्।

सम्प्रति, भाष्यकार इन्द्रियों के द्वितीय स्वरूपाख्य रूप का निरूपण करते हैं— '**स्वरूपमिति।**' प्रकाशात्मक बुद्धिसत्त्व के जो अयुतसिद्धावयवभेद वाले सात्त्विक अहंकारप्रधान कार्य हैं, उनमें अनुगत रहने वाला सामान्यविशेषोभयरूपात्मक जो समूहरूप द्रव्य है, वह '**इन्द्रिय**' कहा जाता है। भाव यह है कि प्रकाशरूप बुद्धि का कार्य प्रकाशरूप अहंकार तथा प्रकाशरूप अहंकार का कार्य प्रकाशरूप इन्द्रिय, यही इन्द्रियों का '**स्वरूप**' नामक द्वितीय रूप है। इन्द्रियों के सामान्य और विशेष इन दो रूपों में ग्रहणरूप नील, पीताद्याकार परिणामभेद '**विशेष**' हैं तथा चक्षुष्ट्वादि '**सामान्य**' रूप हैं।

शङ्का—स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः (३/४४) इस पूर्ववर्ती सूत्र की भाँति यहाँ भी इन्द्रियों के द्वितीय '**स्वरूप**' रूप को सामान्यात्मक ही मानना औचित्यपूर्ण है, अन्यथा इन्द्रियों के प्रथम '**ग्रहणाख्य**' रूप के भी द्वितीय '**स्वरूपाख्य**' रूप में प्रविष्ट होने की आपत्ति आयेगी?

समाधान—पूर्वपक्षी का उक्त कथन उचित है, किन्तु द्रव्य के सामान्यरूप के प्राधान्य को ध्यान में रखकर ही यहाँ '**स्वरूप**' को इन्द्रियों का द्वितीय रूप कहा गया है, फिर भी भूत की तरह इन्द्रियाँ भी सामान्य-विशेष से अत्यन्त भिन्न नहीं हैं यह बतलाने के लिये अर्थात् इन्द्रियों में सामान्यविशेषोभयात्मकता के आत्यन्तिक निषेध का प्रतिषेध करने के लिये ही इन्द्रियों को सामान्य-विशेष का समुदायरूप '**द्रव्य**' कहा गया है।

सम्प्रति, इन्द्रियों के '**अस्मिताख्य**' रूप का विश्लेषण किया जा रहा है—

---

1. क ख ग घ—**भेदस्य**, च छ—**निषेध**०।

योगवार्त्तिकम्

तेषां तृतीयं रूपमिति। तेषामिन्द्रियाणां तृतीयं रूपम्. [1]अस्मिताशब्देनोक्तोऽहंकारः, तत्राभिमानाख्यवृत्तिभ्रमनिरासायास्मितालक्षण इति विशेषणम्। अस्मितावृत्तिक इत्यर्थः। ननु कथमहंकार इन्द्रियाणां रूपमित्याकाङ्क्षायामाह—तस्येति। यथा तन्मात्रस्य सामान्यस्य भूतानि विशेषा एवमहंकारस्य सामान्यस्य चक्षुरादीनि विशेषाः, कार्यत्वात्। अत इन्द्रियेष्वनुगततयाऽहंकार इन्द्रियाणां रूपं भूतानां तन्मात्रवदिति भावः।

भाष्यकार इन्द्रियों के तृतीय रूप का वर्णन करते हैं—'**तेषां तृतीयं रूपमिति।**' इन्द्रियों का तृतीय रूप '**अस्मिता**' शब्द से उक्त '**अहंकार**' है। अर्थात् इन्द्रियों का कारणभूत अहंकार इन्द्रियों का तृतीय '**अस्मिताख्य**' रूप है। कोई अभिमानाख्य वृत्ति को इन्द्रियों का तृतीय रूप समझने का भ्रम न करे, तदर्थ '**अस्मितालक्षणोऽहंकारः**' भाष्य में '**अस्मितालक्षणः**' यह विशेषण पद दिया गया है। '**अस्मितालक्षण**' पद का अर्थ '**अस्मितावृत्तिक**' है। अर्थात् अस्मितावृत्ति वाला अहंकार इन्द्रियों का '**अस्मिताख्य**' तृतीय रूप है।

शङ्का—अहंकार इन्द्रियों का रूप कैसे हो सकता है?

समाधान—ऐसी आकाङ्क्षा होने पर भाष्यकार कहते हैं—'**तस्येति।**' जिस प्रकार तन्मात्रसामान्य के पृथिव्यादि भूत विशेष रूप हैं उसी प्रकार अहंकारसामान्य के चक्षुरादि विशेष रूप हैं, क्योंकि भूत और इन्द्रियाँ अपने-अपने कारण तन्मात्र और अहंकार की कार्य हैं (और कार्य को कारण की विशेषावस्था कहा जाता है, जैसे मृत्तिका सामान्य के तत्तद् घट विशेष रूप हैं)। अतः इन्द्रियों में अनुगत रहने से अहंकार इन्द्रियों का सामान्यरूप उसी प्रकार है जिस प्रकार पृथिव्यादि भूतों में अनुगत रहने से तन्मात्र भूतों का सामान्यरूप माना जाता है।

सम्प्रति, इन्द्रियों के '**अन्वयाख्य**' रूप का विश्लेषण किया जा रहा है—

योगवार्त्तिकम्

इन्द्रियाणां चतुर्थं रूपमाह—चतुर्थमिति। महत्तत्त्वस्यापि चतुर्थरूपमध्ये प्रवेशाय व्यवसायात्मका इति गुणानां विशेषणम्। व्यवसायाख्यबुद्धिरूपेण परिणतास्तद्विशिष्टा इत्यर्थः। एतेन पूर्वोक्तभूतजयसूत्रेऽप्यन्वयाख्यचतुर्थरूपमध्ये महदहंकारयोः प्रवेश इत्युन्नेयम्, युक्तिसाम्यादिति। येषामिति। साहंकाराणि सान्तःकरणानि।

भाष्यकार इन्द्रियों के चतुर्थ रूप का निरूपण करते हैं—'**चतुर्थमिति।**' महत्तत्त्व को भी इन्द्रियों के चतुर्थ '**अन्वयाख्य**' रूप में परिगणित करने के लिये भाष्यकार ने गुणों के विशेषण रूप में '**व्यवसायात्मकाः**' पद का प्रयोग किया है। इस प्रकार व्यवसायाख्य

---

1. क ख ग घ च छ—**अवयव**०।

बुद्धि रूप से परिणत तद्विशिष्ट '**त्रिगुण**' इन्द्रियों का '**अन्वयाख्य**' रूप है। इससे पूर्वोक्त भूतजय के सूत्र में भी भूतों के अन्वयाख्य चतुर्थ रूप में समानयुक्ति से महत् और अहंकार का प्रवेश कर लेना चाहिये। वार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं– '**येषामिति**।' भाष्य में प्रयुक्त '**साहंकाराणि**' पद का अर्थ है–'**सान्तःकरणानि**। अन्तःकरण सहित इन्द्रियाँ गुणों का परिणाम हैं। अर्थात् गुण इन्द्रियों का अन्वयाख्य रूप हुआ।

सम्प्रति, इन्द्रियों के '**अर्थवत्त्व**' रूप का विश्लेषण किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

पञ्चमं रूपमाह–गुणेष्विति। इन्द्रियप्रकृतिगुणेष्वित्यर्थः। सूत्रवाक्यार्थं व्याचष्टे– पञ्चस्विति। यथाक्रमं ग्रहणादिक्रमेण संयमः। कार्य इति [1]शेषः। ततश्च वत्सानुसारिण्य इव गावोऽस्य संकल्पानुविधायिन्य इन्द्रियप्रकृतयो भवन्तीति शेषः॥४७॥

भाष्यकार इन्द्रियों के पञ्चम रूप का निरूपण करते हैं–'**गुणेष्विति**।' इन्द्रियों के प्रकृतिभूत गुणों में अनुगत जो पुरुषार्थवत्ता है, वही इन्द्रियों का अर्थवत्त्वाख्य पञ्चम रूप है। भाष्यकार सूत्रार्थ करते हैं–'**पञ्चस्विति**।' इन्द्रियों के इन ग्रहणादि रूपों में यथाक्रम संयम करना चाहिये। '**कार्यः**' यह सूत्रवाक्य का शेष है। इस प्रकार इन्द्रियजय से इन्द्रियाँ और उनके कारण (प्रकृति) रूप अहंकारादि तत्त्व उसी प्रकार इन्द्रियजयी के संकल्प का अनुसरण करते हैं जिस प्रकार गौएँ वत्स का अनुसरण करती हैं॥४७॥

सम्प्रति, इन्द्रियजय द्वारा प्राप्त सिद्धि का प्रतिपादक सूत्र इस प्रकार है–

योगसूत्रम्

ततो [2]मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च॥४८॥

'इन्द्रियजय' से मनोजवित्व, विकरणभाव तथा प्रधानजय सिद्ध होते हैं॥४८॥

व्यासभाष्यम्

कायस्यानुत्तमो गतिलाभो मनो[3]जवित्वम्। विदेहानामिन्द्रियाणामभिप्रेतदेश-कालविषयापेक्षो वृत्तिलाभो विकरणभावः। सर्वप्रकृतिविकारवशित्वं प्रधानजय

---

1. क ख ग घ–**ततश्च तत्र तत्र जयं कृत्वा पञ्चरूपजयात् सर्वरूपैरिन्द्रियजयस्तद्वशीकारो भवतीत्यर्थः** (**शेषः**–पश्चात्) उपलभ्यते, च छ–**ततश्च...भवतीत्यर्थः** नोपलभ्यते।
2. **मनोजवत्वं मनोजजवित्वं**–इति पाठान्तरे।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–**जवित्वं**, ब–**जवत्वम्**।

इति। एतास्तिस्रः सिद्धयो [1]मधुप्रतीका उच्यन्ते। एताश्च करण[2]पञ्चस्वरूपजया-दधिगम्यन्ते॥४८॥

शरीर को सर्वश्रेष्ठ गति की प्राप्ति होना 'मनोजवित्व' है। शरीर के बाहर स्थित (शरीररूप आश्रय के विना भी) इन्द्रियों का अभिलषित देश, काल तथा सूक्ष्म विषयों में भी वृत्तिलाभ होना 'विकरणभाव' कहलाता है। प्रकृति के यच्च-यावत् विकारों का स्वामित्व प्राप्त होना 'प्रधानजय' है। ये तीन सिद्धियाँ 'मधुप्रतीका' कही जाती हैं और ये पाँचों करणरूप इन्द्रियों के उक्त पाँच रूपों को जीतने से प्राप्त होती हैं॥४८॥

तत्त्ववैशारदी

पञ्चरूपेन्द्रियजयात्सिद्धीराह–ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च । विदेहानामिन्द्रियाणां करणभावो विकरणभावः। देशः काश्मीरादिः। कालोऽतीतादिः। विषयः सूक्ष्मादिः। [3]सान्वयेन्द्रियजयात्सर्वप्रकृतिविकारवशित्वं प्रधानजयः। ता एताः सिद्धयो मधुप्रतीका इत्युच्यन्ते योगशास्त्रनिष्णातैः। स्यादेतत्–इन्द्रियजयादिन्द्रियाणि सविषयाणि वश्यानि भवन्तु, प्रधानादीनां तत्कारणानां किमायातमित्यत आह–एताश्चेति। [4]करणाना-मिन्द्रियाणां पञ्च रूपाणि ग्रहणादीनि, तेषां जयात्। एतदुक्तं भवति–नेन्द्रियमात्रजयस्यैताः सिद्धयोऽपि तु पञ्चरूपस्य। तदन्तर्गतं च प्रधानादीति॥४८॥

इन्द्रिय के पाँच रूपों के जय से प्राप्त होने वाली सिद्धि को सूत्रकार बतलाते हैं--'**तत इति**।' '**विदेह**' अर्थात् शरीरनिरपेक्ष इन्द्रियों के करणत्व (करणभाव अर्थात् वृत्तिलाभ) को '**विकरणभाव**' कहते हैं। '**देश**' शब्द से काश्मीरादि का ग्रहण होता है। '**काल**' शब्द से अतीतादि को लिया जाता है। '**विषय**' शब्द से सूक्ष्मादि पदार्थों का संग्रह होता है। अर्थात् शरीरनिरपेक्ष विदेह इन्द्रियों की अभिलषित काश्मीरादि देश, अतीतादि काल तथा सूक्ष्मविषयक जो वृत्ति बनती है, उसे '**विकरणभाव**' नामक सिद्धि कहते हैं। '**अन्वय**' संज्ञक चतुर्थरूप सहित इन्द्रियजय होने से निखिल कारण और कार्य वश में हो जाते हैं। इसे ही '**प्रधानजय**' नामक सिद्धि कहते हैं। योग-शास्त्रज्ञों द्वारा ये तीनों सिद्धियाँ (मनोजवित्व, विकरणभाव तथा प्रधानवशित्व) '**मधुप्रतीका**' कही गई हैं।

---

1. क ख ग घ च ज त थ द ध न प फ ब भ म य र–**मधुप्रतीका उच्यन्ते**, छ झ–**मधुप्रतिकार उच्यते**।
2. क ख ग च छ ज झ त थ न भ–**पञ्चकस्वरूप**0, घ प फ य र–**पञ्चकरूप**0, द ध–**पञ्चरूप**0, ब म–**पञ्चस्वरूप**0।
3. क ख ग–**साधनेन्द्रिय**0, घ च छ ज झ त थ ध न–**सान्वयेन्द्रिय**0।
4. क घ च छ ज झ त थ द ध न–**करणानां**, ख ग–**कारणानाम्**।

शङ्का—इन्द्रियजय से विषयसहित इन्द्रियाँ ही योगी के अधीन हों, उनके कारणभूत प्रधानादि की वश्यता इन्द्रियजय की फलश्रुति कैसे हो सकती है? अर्थात् प्रधानजय को इन्द्रियजय का फल मानना युक्तियुक्त नहीं है।

समाधान—इस पर भाष्यकार बतलाते हैं—'**एताश्चेति**।' ये तीन प्रकार की सिद्धियाँ, चक्षुरादि के जो ग्रहणादि पाँच रूप हैं, उनके जय से प्राप्त होती हैं। अभिप्राय यह है—इन्द्रियमात्र के जय से ये सिद्धियाँ प्राप्त नहीं होती हैं, अपितु इन्द्रियों के पञ्च रूपों के जय से प्राप्त होती हैं और इन पाँच रूपों में प्रधानादि भी आते हैं। अतः '**इन्द्रियजय**' से जो '**प्रधानजय**' कहा गया है, वह युक्तियुक्त है॥४८॥

बालप्रिया—

'**मनोजवित्वम्**'—भाव यह है कि इन्द्रियजयी का शरीर भी मन की भाँति अनेक योजन अन्तरित (व्यवहित) देशपर्यन्त त्वरित पहुँच जाता है। इस प्रकार मन के समान शरीर का द्रुतगति वाला होना '**मनोजवित्व**' कहलाता है। '**मनसः जयः वेगः गतिः इति मनोजवः सोऽस्ति अस्येति मनोजवी, तस्य भावो मनोजवित्वम्**।'

'**विकरणभावः**'—भाव यह है कि शरीर की अपेक्षा न करके व्यापार करने में समर्थ इन्द्रियों से युक्त होना '**विकरणभाव**' है। योगी जिस देशादि में वृत्तिलाभ की इच्छा करता है, उसी देशादि में उसे यथेष्ट वृत्तिलाभ होता है। जैसे स्रुघ्न (आगरा) देश में रहकर ही पाटलिपुत्र के विष्णुशर्मा को देख लेता है। वहीं रहकर ही पाटलिपुत्र की आवाज सुन लेता है। '**विगतानि देहाद्दूरीभूतानि करणानि इन्द्रियाणि यस्य स योगी विकरणः तस्य भावः स्थितिः तथोक्तः विकरणभावः**'॥४८॥

योगवार्त्तिकम्

इन्द्रियजयात्सिद्धीराह—ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च। व्याचष्टे—कायस्येति। अनुत्तमो मनोवच्छीघ्रतरः कर्मेन्द्रियवृत्तिविजयाद् भवति। विकरणभावश्च स्वरूपमाह—विदेहानामिति। स्थूलदेहसंपर्करहितानामित्यर्थः। इन्द्रियाणामिति करणसामान्योपलक्षणम्। विकरणभावशब्दस्य योगार्थमाह—अभिप्रेतेति। अभिप्रेतकालदेशविषयापेक्षस्तदपरित्यागी यत्रैव देशादिषु वृत्तिलाभ इष्यते तत्रैव भवतीत्यर्थः। तथा च विकरणभावो विकीर्णतास्वभावो व्यापितेति यावत्। य एवंविधकरणभावोपपन्ना योगिनस्त एव स्थाने स्थाने विदेहा इत्युक्ताः। सर्वेति। सर्वासां व्यक्तिभेदेनानन्तानां भूतेन्द्रियप्रकृतीनां सत्त्वादिगुणानां तद्विकाराणां च सर्वेषां स्वेच्छयाऽनुविधानं प्रधानजय इत्यर्थः। ननु भूतप्रकृतिजयो भूतजयो वा कथमिन्द्रियजयादिति चेत्? न, भूतजयरूपपूर्वभूमिकायामेव तयोर्जितत्वेनोत्तरभूमिकायामेकीकृत्य सर्वजयकथनादिति। अत एव च प्रधानजयिनः पूर्वं स्थाने स्थाने प्रकृतिलया इत्युक्ताः। प्रकृत्या सहैकतां गता इति प्रकृतिलयाः प्रकृतिवशिनः। एतास्तिस्र इति। अत्र सिद्धिविशेषाणामेव मधुप्रतीकसंज्ञाऽवगमाद्योगभूमिचतुष्टयस्य पृथगेव पश्चाद्वक्ष्यमाणत्वाच्च योग-

भूमेर्मधुप्रतीकसंज्ञेति कस्यचिद्व्याख्यानमबोधमूलत्वादुपेक्षणीयम्। तत इति सौत्रं पदं व्याचष्टे—एताश्चेति। नन्विन्द्रियजये कथं प्रकृतिमहदहंकाराणां जय इति चेत्? न, इन्द्रियरूपेष्वन्तिमरूपत्रयत्वात्तेषामिति॥४८॥

सूत्रकार इन्द्रियजय से प्राप्त होने वाली सिद्धियों को सूत्रांकित करते हैं–'**तत इति**।' भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं–'**कायस्येति**।' (संयम द्वारा वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ संज्ञक) कर्मेन्द्रियों के वचन, आदान, विहरण, उत्सर्ग तथा आनन्दाख्य वृत्तियों पर विजय प्राप्त करने से शरीर को '**अनुत्तम**' अर्थात् मन की भाँति शीघ्रतर गति प्राप्त होती है। यही '**मनोजवित्व**' सिद्धि है। भाष्यकार '**विकरणभाव**' का स्वरूप प्रतिपादित करते हैं–'**विदेहानामिति**।' '**विदेह**' शब्द का अर्थ है–स्थूलदेह के सम्पर्क से रहित। '**इन्द्रिय**' शब्द करणसामान्य का उपलक्षक है। भाष्यकार '**विकरणभाव**' शब्द के यौगिक अर्थ को बतलाते हैं–'**अभिप्रेतेति**।' शरीरनिरपेक्ष इन्द्रियादि करणसामान्य को अभीष्ट काल, देश तथा विषय की अपेक्षा से कालादि का परित्याग किये विना जिस किसी देशादियों में वृत्तिलाभ की इच्छा होती है, उसी देशादि में वह वृत्तिलाभ करता है। इस प्रकार विकीर्णता अर्थात् व्यापिता के स्वभाव को '**विकरणभाव**' कहते हैं। इस प्रकार के करणभाव (विकरणभाव) को प्राप्त हुए योगियों को स्थान-स्थान पर शास्त्र में '**विदेह**' नाम से अभिहित किया गया है। वार्त्तिककार प्रधानजयसम्बन्धी आगे के भाष्य को उठाते हैं–'**सर्वेति**।' '**सर्वासाम्**' अर्थात् व्यक्तिभेद से असंख्येय भूतेन्द्रियों के कारणभूत (प्रकृतिभूत) सत्त्वादि गुणों और उनके निखिल कार्यों (विकारों) को स्वेच्छापूर्वक अनुशासित (आदेशित) करना '**प्रधानजय**' है।

शङ्का–इन्द्रियजय से कैसे भूतजय अथवा भूतप्रकृतिजय हो सकता है?

समाधान–ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि भूतजयरूप पूर्वभूमिका में ही भूत और उसकी प्रंकृति का जय हो जाता है, इसलिये उत्तरभूमिका में इन सभी को एकत्रित करके सभी का जय होता है, ऐसा बताया जा रहा है। अतः ये ही प्रधानजयी योगी लोग ग्रन्थ में यत्र-तत्र '**प्रकृतिलय**' शब्द से पीछे कहे गये हैं। '**प्रकृत्या सहैकतां गता इति प्रकृतिलयाः**'–इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रकृति के साथ एकता को प्राप्त हुए योगी '**प्रकृतिलय**' कहे जाते हैं। इस प्रकार प्रकृतिवशी को '**प्रकृतिलय**' कहते हैं। वार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–'**एतास्तिस्र इति**।' प्रस्तुत सन्दर्भ में मनोजवित्व, विकरणभाव तथा प्रधानजय–इन तीन सिद्धिविशेषों का '**मधुप्रतीका**' संज्ञा से ही अवबोध होने से तथा योगभूमिचतुष्टय में इनका पृथक्तया उल्लेख आगे किया जाने वाला होने से जो लोग योगभूमिसामान्य को ही '**मधुप्रतीका**' कहते हैं, उनका यह कथन भ्रमात्मक होने से उपेक्षणीय है। सूत्रस्थ '**ततः**' पद की व्याख्या भाष्यकार

करते हैं–'**एताश्चेति**।' ये तीन प्रकार की सिद्धियाँ चक्षुरादि इन्द्रियों के ग्रहणादि पाँच रूपों में जय से प्राप्त होती हैं।

शङ्का–इन्द्रियजय होने पर कैसे प्रकृति, महत् और अहंकार पर विजय प्राप्त होती है?

समाधान–ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि इन्द्रियों के पाँच रूपों में से अन्तिम तीन रूपों के जय से प्रकृति, महत् और अहंकार का भी जय हो जाता है॥४८॥

योगसूत्रम्

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावा[1]धिष्ठातृत्वं [2]सर्वज्ञातृत्वं [3]च॥४९॥

बुद्धि और पुरुष के अन्यत्व की ख्याति में ही प्रतिष्ठित योगी को सभी पदार्थों का स्वामित्व और सर्वज्ञत्व सिद्ध होता है॥४९॥

व्यासभाष्यम्

निर्धूतरजस्तमोमलस्य बुद्धिसत्त्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां वशीकारसंज्ञायां वर्तमानस्य सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्ररूपप्रतिष्ठस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वम्। [4]सर्वात्मानो [5]गुणा व्यवसायव्यवसेयात्मकाः स्वामिनं क्षेत्रज्ञं प्रत्यशेषदृश्यात्मत्वेनो[6]पस्थिता इत्यर्थः। सर्वज्ञातृत्वं [7]सर्वात्मनां गुणानां शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मत्वेन व्यवस्थितानामक्रमोपारूढं विवेकजं ज्ञानमित्यर्थ इति। एषा विशोका नाम सिद्धिः, यां प्राप्य योगी सर्वज्ञः क्षीणक्लेशबन्धनो वशी विहरति॥४९॥

राजस एवं तामस मलों से शून्य सत्त्वमयी बुद्धि के अत्यन्त निर्मल हो जाने पर उत्कृष्ट वशीकारसंज्ञक वैराग्य में स्थित बुद्धि और पुरुष के अन्यत्व की ख्यातिमात्र के रूप में प्रतिष्ठित योगी को सभी वस्तुओं का स्वामित्व प्राप्त होता है। अर्थात् ज्ञानात्मक और ज्ञेयात्मक सभी रूपों वाले गुण इस

---

1. **अधिकर्तृत्वं**–इति पाठान्तरम्।
2. **सर्वविज्ञातृत्वं**–इति पाठान्तरम्।
3. **च**–नोपलभ्यते।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–**सर्वात्मानः**, ब–**सर्वात्मना**।
5. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न प फ भ म य र–**गुणा व्यवसायव्यवसेयात्मकाः**, झ ब–**गुणा अध्यवसायात्मकताः**।
6. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म–**उपस्थिताः**, घ प फ र–**उपतिष्ठन्ते**, य–**उपस्थिताः/उपतिष्ठन्ते** नोपलभ्यते।
7. क ग घ च छ झ त थ द ध न प फ म य र–**सर्वात्मनां**, ख ज–**सर्वात्मना**, भ–**सर्वात्मानां**, ब–**सर्वात्मकानाम्**।

अधिकारी जीव के प्रति समस्त भोग्य पदार्थों के रूप में उपस्थित होते हैं और उसे सर्वज्ञता प्राप्त होती है। अर्थात् भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान धर्मों के रूप में स्थित सभी रूपों वाले गुणों का एक साथ विवेकज ज्ञान होता है। यह 'विशोका' नाम की सिद्धि है, जिसको प्राप्त करके योगी सर्वज्ञ, दग्धक्लेशबन्धन तथा स्वामी होकर विचरण करता है॥४८॥

तत्त्ववैशारदी

त एते ज्ञानक्रियारूपैश्वर्यहेतवः संयमाः साक्षात्पारम्पर्येण च स्वसिद्ध्युपसंहारसंपादितश्रद्धाद्वारेण यदर्थास्तस्याः सत्त्वपुरुषान्यताख्यातेरवान्तरविभूतीर्दर्शयति—सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च। निर्धूतरजस्तमोमलतया वैशारद्यम्। ततः परा वशीकारसंज्ञा। रजस्तमोभ्यामुपप्लुतं हि चित्तसत्त्वमवश्यमासीत्, तदुपशमे तु तद्वश्यं योगिनो वशिनः। तस्मिन्वश्ये योगिनः सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्ररूपप्रतिष्ठस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वम्। एतदेव विवृणोति—सर्वात्मान इति। व्यवसायव्यवसेयात्मानो जडप्रकाशरूपा इत्यर्थः। तदनेन क्रियैश्वर्यमुक्तम्। ज्ञानैश्वर्यमाह—सर्वज्ञातृत्वमिति। अस्या अपि द्विविधायाः सिद्धेर्वैराग्याय योगिजनप्रसिद्धां संज्ञामाह—एषा विशोकेति। क्लेशाश्च बन्धनानि च कर्माणि, तानि क्षीणानि यस्य स तथा॥४९॥

साक्षात् और स्वार्थविषयक संयम की सिद्धि से उत्पन्न होने वाली श्रद्धा के द्वारा परम्परया ज्ञानरूपसिद्धि और क्रियारूपसिद्धि के हेतुभूत संयम जिस प्रयोजन के लिये हैं, उस सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरूप मुख्यसिद्धि की अवान्तर सिद्धियों को सूत्रकार बतलाते हैं—'**सत्त्वेति**।' (मैत्र्यादि भावना से) चित्त के रजस् और तमस् रूप मलों के प्रक्षालित हो जाने से चैत्तिक निर्मलता (विशारदता) होती है, जिससे उत्कृष्टकोटिक '**वशीकार**' संज्ञक वैराग्य प्राप्त होता है। भाव यह है—रजोगुण एवं तमोगुण से युक्त चित्तसत्त्व किसी के वश में नहीं रहता है, किन्तु मल के प्रक्षालित होने पर '**वशीकार**' संज्ञक वैराग्य योगी के वश में हो जाता है। ऐसी वश्यता होने पर अर्थात् चित्त के वशीभूत होने पर 'सत्त्वपुरुषान्यताख्याति' (विवेकज्ञान) में प्रतिष्ठित योगी निखिल पदार्थों का अधिष्ठाता (स्वामी) बन जाता है। इसी बात का स्पष्टीकरण भाष्यकार करते हैं—'**सर्वात्मान इति**।' '**व्यवसायव्यवसेयात्म**' शब्द का अर्थ है—जड़प्रकाशरूप। अर्थात् जड़प्रकाशरूप जितने भी गुणमय पदार्थ हैं, वे सबके सब क्षेत्रज्ञरूपी स्वामी के प्रति सम्पूर्ण भोग्य तथा दृश्य के रूप में उपस्थित होते हैं। इस प्रकार क्रियैश्वर्य का प्रतिपादन किया गया। सम्प्रति, भाष्यकार ज्ञानैश्वर्य को बतलाते हैं—'**सर्वज्ञातृत्वमिति**।' (इस प्रकार विवेकज्ञानसम्पन्न योगी को भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् वस्तु के रूप में परिणत तीनों गुणों को लेकर एक साथ प्रादुर्भूत विवेकज्ञानजन्य सर्वज्ञता प्राप्त होती है)। इन दो प्रकार की सिद्धियों में भी

वैराग्योत्पादन के लिये योगिजनप्रसिद्ध संज्ञा को भाष्यकार बतलाते हैं–'**एषा विशोकेति**।' तत्त्ववैशारदीकार '**विशोका**' का विग्रह करते हैं–'**क्लेशाश्च बन्धनानि च कर्माणि, तानि क्षीणानि यस्य स तथा विशोका**' अर्थात् क्लेश और बन्धनकारी कर्म जिसके क्षीण हो चुके हैं, इस प्रकार की '**विशोका**' नाम की सिद्धि वाला योगी होता है। अर्थात् '**विशोका**' नामक सिद्धि को प्राप्त करके योगी सर्वज्ञ, अविद्यादि क्लेशों के बन्धन से रहित तथा सबको वश में करके सर्वज्ञ अप्रतिहत रूप से विचरण करता है॥४९॥

बालप्रिया–

'**संयमाः**'–अवतरणिका में प्रयुक्त इस पद का अन्वय '**यदर्थाः**' पद के साथ किया जाता है।

'**साक्षात्पारम्पर्येण**'–स्वार्थसंयमादि का साक्षात् प्रयोजन विवेकख्याति है और परम्परया वे (स्वार्थसंयमादि) अणिमादि सिद्धियों के जनक हैं। पारम्पर्य सिद्धि का व्याख्यान तत्त्ववैशारदीकार ने '**स्वसिद्ध्युपसंहार**' द्वारा किया है।

'**सर्वज्ञातृत्वम्**'–भाव यह है कि अतीत, अनागत तथा वर्तमान रूप से परिणत गुणों का युगपत् यथार्थसाक्षात्कार (विवेकज्ञान) होता है॥४९॥

योगवार्त्तिकम्

तदेवं ग्राह्यग्रहणसंयमयोः सिद्धिमुक्त्वा ग्रहीतृसंयमस्य सिद्धिमाह–सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च। मात्रशब्देन संयमरूपा ख्यातिर्लब्धा, तथा सत्त्वपुरुषान्यतासंयमस्य धर्मधर्म्यभेदात् तद्वतश्चित्तस्य सर्वभावेषु प्रकृतितत्कार्यपुरुषेष्वधिष्ठातृत्वं स्वेच्छया विनियोक्तृत्वं स्वदेह इव भवति, तथा प्रकृतिपुरुषादिसर्वज्ञातृत्वं च भवतीत्यर्थः। अत्रापि संयमः साक्षात्कारपर्यन्तो बोध्यः, संयमनिष्पत्तेरेव सिद्धिहेतुत्वात्। ननु परार्थात्स्वार्थसंयमादितिसूत्रोक्तसंयमतोऽस्य को भेदो येन तत्र पुरुषज्ञानं सिद्धिरत्रान्या सिद्धिरिति सिद्धिभेदः स्यात्? उच्यते–तत्र पौरुषेयप्रत्यये सुखाद्यनुभवरूपे परिच्छिन्न एव संयम उक्तो न त्वपरिच्छिन्ने पुरुषे, अत्र तु तेन संयमेन ज्ञाने परिपूर्णे पुरुषे बुद्धिविवेकसंयम उच्यत इति विशेष इति। ननु सत्त्वेति विशेषवचनमनुचितं गुणपुरुषान्यतेत्याद्येव वक्तुमु[1]चितमिति चेत्? न, रजस्तमोभ्यां पुरुषे साक्षादविवेकाभावाद् बुद्धिसत्त्वाविवेकद्वारैव देहेन्द्रियादिष्वविवेकात्, स्वप्नबाधिर्याद्यवस्थासु चेतने देहेन्द्रियादिविवेकस्य योगारम्भकाल एव बालकैरप्यवधृतत्वाच्चेति।

इस प्रकार '**ग्राह्य**' और '**ग्रहण**' विषयक संयमों की सिद्धि का प्रतिपादन करके सूत्रकार '**ग्रहीतृ**' विषयक संयम की सिद्धि को सूत्राङ्कित करते हैं–'**सत्त्वेति**।' (सूत्र में

---

1. क घ च छ–**उचितं**, ख ग–**युक्तम्**।

'संयम' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है तथापि) सूत्रस्थ **'मात्र'** शब्द से संयमरूपा ख्याति अर्थात् संयमसाध्य विवेकज्ञान गृहीत होता है। इस प्रकार **'सत्त्वपुरुषान्यताख्याति'** विषयक संयम का अर्थात् वृत्तिरूप धर्म और वृत्तिमान् रूप धर्मी का अभेद होने से सत्त्वपुरुषान्यतावृत्तिविशिष्ट चित्त की **'सर्वभाव'** अर्थात् प्रकृति और तत्कार्य पुरुषों में **'अधिष्ठातृत्व'** अर्थात् स्वदेह की भाँति स्वेच्छापूर्वक विनियोक्तृता (नियन्त्रिता) होती है तथा प्रकृति-पुरुषादि सभी (जड-चेतन) पदार्थों की ज्ञातृता होती है। अर्थात् सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमान् चित्त सभी पदार्थों का अधिष्ठाता तथा यथार्थ बोद्धा हो जाता है। प्रकृत सूत्र में भी प्रकृति-पुरुष के भेदज्ञानरूपसाक्षात्कारपर्यन्त संयम किया जाता है, ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि संयमनिष्पत्ति (जय) में ही सिद्धि का कारणत्व अन्तर्निगूढ है।

शङ्का—**'सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थात्स्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम्'** (४/३५) इस पूर्वोक्त सूत्र में कथित संयम का प्रकृत सूत्र के संयम से क्या अन्तर (भेद, पार्थक्य, वैशिष्ट्य) है, जिसके कारण पूर्वोक्त संयमजन्य **'पुरुषज्ञान'** सिद्धि का प्रकृत सूत्र की सिद्धि से अन्तर किया जा सके?

समाधान—वार्त्तिककार उत्तर देते हैं—पूर्व सूत्र (४/३५) में सुखाद्यनुभवरूप परिच्छिन्न (सीमित) पौरुषेयप्रत्यय में ही संयम करना बतलाया गया है, न कि अपरिच्छिन्न पुरुष में भी। जब कि प्रकृत सूत्र में पूर्वविषयक संयम से ज्ञात परिपूर्ण पुरुष में बुद्धि से भेदपरक संयम का अभिधान हुआ है। यही दोनों संयमों में अन्तर है। (फलतः सिद्धि में भी अन्तर आना स्वाभाविक है)।

शङ्का—सूत्र में **'सत्त्व'** इस पदविशेष का अभिधान न्यायपूर्ण नहीं है। सूत्र के प्रारम्भ में **'गुणपुरुषान्यता'** ऐसा कहना ही उचित प्रतीत होता है?

समाधान—उक्त शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि पुरुष में साक्षात् रूप से रजोगुण और तमोगुणनिबन्धनात्मिका अविवेकवृत्ति का अभाव ही रहता है। इसलिये सत्त्व-गुणप्रधान बुद्धि (बुद्धिसत्त्व) की अविवेकवृत्ति के द्वारा ही पुरुष को देह, इन्द्रियादि जड पदार्थों में आत्माभिमान होता है तथा स्वप्न, बधिर आदि अवस्थाओं में चेतन में देहेन्द्रियादि का पार्थक्य अर्थात् विवेकबोध योगाभ्यास के प्रारम्भकाल में ही बालकों को भी निश्चितरूप से हो जाता है।

योगवार्त्तिकम्

तदिदं सूत्रं व्याचष्टे—निर्धूतेति। परवैशारद्यं परमस्वच्छता अतिसूक्ष्मवस्तुप्रतिबिम्बोद्-ग्रहणसामर्थ्यमिति यावत्। परमवशीकारसंज्ञा च परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकार इत्युक्ता। रूपेण प्रतिष्ठस्य रूपप्रतिष्ठस्य। सर्वभावाधिष्ठातृत्वं विवृणोति—सर्वात्मान इति।

सर्वात्मान इत्यस्य विवरणं व्यवसायव्यवसेयात्मका इति। करणतद्विषयात्मका इत्यर्थः। अशेषदृश्येति। संकल्पमात्रेण पुरुषैः संयुक्ता असंयुक्ताश्चाशेषभोग्यवस्त्वाकारेण परिणता भूत्वोपतिष्ठन्ते योगिनम्। तत्र हेतुगर्भविशेषणम्—स्वामिनं क्षेत्रज्ञमिति। यतोऽसौ भोक्तृत्वात्प्रेरकोऽतस्तम् अयस्कान्तलोहवदुपतिष्ठन्त इत्यर्थः। [1]यद्वा यतोऽसौ स्वामी ईश्वरः क्षेत्रज्ञश्च परिणामक्षेत्राणि गुणादीनि प्रवर्त्तयति परिणामप्रकारैर्जानाति चेत्यर्थः। यद्यपि सर्वे पुरुषाः सर्वगुणानामविशेषेण स्वामिनस्तथाऽपि पापादिप्रतिबन्धात्सर्वे गुणाः [2]सर्वदा सर्वपुरुषान्न भोग्यत्वेनोपतिष्ठन्त इति भावः। तथा च श्रुतिः—स यदि पितृलोककामः संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्तीत्यादिरिति।

भाष्यकार प्रकृत सूत्र का विवरण करते हैं—'**निर्धूतेति**।' '**परवैशारद्य**' पद का अर्थ है—परम (पूर्ण) स्वच्छता। अर्थात् सूक्ष्मातिसूक्ष्म वस्तु के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने के सामर्थ्य को '**परवैशारद्य**' कहते हैं। तथा **परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः** (१/४०) सूत्र के द्वारा '**परमवशीकार**' संज्ञा पूर्व वर्णित है। (सत्त्वपुरुषान्यताख्यात्यात्मक) रूप से प्रतिष्ठित बुद्धिसत्त्व को '**रूपप्रतिष्ठ**' कहा गया है। भाष्यकार (सूत्र के मध्यम पद) '**सर्वभावाधिष्ठातृत्व**' का विश्लेषण (उद्‌घाटन) करते हैं—**सर्वात्मान इति**।' भाष्यकार ने स्वयं '**सर्वात्मानः**' पद को '**व्यवसायव्यवसेयात्मकाः**' पद के द्वारा विवृत किया है। अर्थात् इन्द्रियादि करण और उनके विषयभूत जितने भी गुणात्मक पदार्थ हैं, वे '**व्यवसायव्यवसेयात्मक**' शब्द से कथित हैं। वार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं—'**अशेषदृश्येति**।' व्यवसायव्यवसेयात्मक रूप से कथित ये त्रिगुणात्मक पदार्थ जो पुरुषों के साथ संयुक्त तथा असंयुक्त स्वभाव वाले हैं, वे अशेष भोग्यवस्तु के आकार से परिणत होकर योगी के संकल्पमात्र से उसके समीप उपस्थित होते हैं। योगी के समक्ष अशेष भोग्यपदार्थ के उपस्थित होने में भाष्यकार हेतुगर्भविशेषण देते हैं—'**स्वामिनं क्षेत्रज्ञमिति**।' चूँकि यह पुरुष भोक्ता होने से भोग्य का प्रेरक है, अतः जैसे लोह चुम्बक की ओर खिंचता जाता है, वैसे ही (विषयाकाराकारित बुद्ध्यादि) दृश्य पदार्थ भी पुरुष के सामने उपस्थित हो जाते हैं। अथवा इसकी व्याख्या ऐसे भी की जा सकती है—चूँकि यह स्वामिरूप पुरुष (आत्मा) ईश्वर तथा क्षेत्रज्ञरूप है, अतः वह परिणाम के स्थलीभूत सत्त्वादि गुणों को प्रवृत्त करता है तथा परिणाम की विधाओं (प्रकारों) के रूप से उन सत्त्वादि गुणों को जानता है। यद्यपि सभी पुरुष सभी सत्त्वादि गुणों के स्वामी हैं, तथापि पापादि रूप अवरोध (प्रतिबन्ध) के कारण सभी गुण सर्वदा सभी पुरुषों के प्रति भोग्यरूप से उपस्थित

1. क ग घ च छ—**यद्वा यतोऽसौ स्वामी ईश्वरः क्षेत्रज्ञश्च परिणामक्षेत्राणि गुणादीनि प्रवर्त्तयति परिणामप्रकारैर्जानाति चेत्यर्थः** उपलभ्यते, ख—**यद्वा...चेत्यर्थः** नोपलभ्यते।
2. क घ च छ—**सर्वदा सर्वपुरुषान्न**, ख—**न सर्वदा पुरुषान्**, ग—**सर्वदा पुरुषान्**।

नहीं होते हैं, ऐसा उक्त कथन का अभिप्राय है। ऐसी श्रुति भी है–'**स यदि... समुत्तिष्ठन्ति**' (छा.उप.८/२/१) अर्थात् 'यदि ब्रह्मन् (आत्मन्) पितृलोक की कामना करता है, तो उसके संकल्पमात्र से पितर लोग उपस्थित हो जाते हैं।'

सम्प्रति, सूत्र के अन्तिम अंश का विश्लेषण किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

क्रियैश्वर्यरूपां सिद्धिं व्याख्याय ज्ञानैश्वर्य[1]रूपां व्याचष्टे–सर्वज्ञातृत्वमिति। सर्वात्मनां सर्वपुरुषाणां बद्धमुक्तेश्वराणां शान्तादिरूपधर्मविशिष्टगुणानां चैकदैव ज्ञानं सर्वज्ञातृत्वमित्यर्थः। तस्य संज्ञा–विवेकजमिति। विवेकेन जायमानं यथाऽर्थसाक्षात्कार इति यावत्। [2]अथ वा प्रकृतिपुरुषविवेकाज्जायमानमित्यर्थः। सान्वयेयं संज्ञेति। [3]विशेषसंज्ञाया अन्वर्थतामाह–यां प्राप्येति। क्षीणक्लेशबन्धनत्वात् शोकशून्यतेति भावः॥४९॥

इस प्रकार क्रियैश्वर्यप्रधान सिद्धि का प्रतिपादन करके भाष्यकार सम्प्रति, ज्ञानैश्वर्यप्रधान सिद्धि का विवरण करते हैं–'**सर्वज्ञातृत्वमिति।**' '**सर्वात्मनाम्**' अर्थात् बद्ध, मुक्त तथा ईश्वररूप सभी पुरुषों का तथा शान्तादिरूप धर्मविशिष्ट सत्त्वादि गुणों का एक बार में उत्पन्न हुआ ज्ञान '**सर्वज्ञातृत्व**' कहलाता है। सर्वज्ञातृत्व का पर्याय है–'**विवेकजमिति।**' विवेक से उत्पन्न यथोचित (यथावत्) साक्षात्कार को '**विवेकज**' कहते हैं। अथवा ऐसा भी कहा जाता है कि प्रकृति-पुरुष के भेद से उत्पन्न ज्ञान '**विवेकज**' कहलाता है। और यह नामकरण सार्थक है। भाष्यकार '**विवेकज**' इस संज्ञाविशेष की सार्थकता को बतलाते हैं–'**यां प्राप्येति।**' अविद्यादि क्लेशबन्धन के क्षीण (नष्ट, आत्यन्तिक अतीतावस्थ) होने पर शोकशून्यता को प्राप्त योगी सर्वज्ञ हो जाता है, ऐसा वैयासिक कथन का अभिप्राय है॥४९॥

अगला सूत्र है–

योगसूत्रम्

तद्वैराग्यादपि दोष[4]बीजक्षये कैवल्यम्॥५०॥

पूर्वकथित सिद्धि के प्रति वैराग्य होने से दोष-बीजों का सर्वथा नाश होने पर (विदेह) 'कैवल्य' भी होता है॥५०॥

---

1. क ग घ च छ–**रूपां**, ख–**रूपाणाम्**।
2. क ग घ च छ–**अथ वा प्रकृतिपुरुषविवेकाज्जायमानमित्यर्थः** उपलभ्यते, ख–**अथवा...इत्यर्थः** नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ–**विशोक०**, च छ–**विशेष०**।
4. **बीजस्य**–इति पाठान्तरम्।

व्यासभाष्यम्

यदास्यैवं भवति क्लेशकर्मक्षये सत्त्वस्यायं [1]विवेकप्रत्ययो [2]धर्मः, सत्त्वं च हेयपक्षे न्यस्तं पुरुषश्चापरिणामी शुद्धोऽन्यः सत्त्वादिति। एवमस्य ततो विरज्यमानस्य यानि क्लेशबीजानि दग्धशालिबीजकल्पान्य[3]प्रसवसमर्थानि तानि सह मनसा प्रत्यस्तं गच्छन्ति। तेषु प्रलीनेषु पुरुषः पुनरिदं तापत्रयं न भुङ्क्ते। तदे[4]तेषां गुणानां मनसि कर्मक्लेशविपाकस्वरूपेणाभिव्यक्तानां चरितार्थानाम[5]प्रतिप्रसवे पुरुषस्यात्यन्तिको गुणवियोगः कैवल्यम्। [6]तदा स्वरूपप्रतिष्ठा चितिशक्तिरेव पुरुष [7]इति॥५०॥

जब योगी के क्लेश और कर्म क्षीण हो जाते हैं तब उसको ऐसा ज्ञान होता है कि यह विवेकख्याति भी सत्त्वगुण का ही धर्म है और सत्त्वगुण तो त्याज्य कोटि में न्यस्त है, (दूसरी ओर) पुरुष तो अपरिणामी, शुद्ध तथा सत्त्वगुण से सर्वथा भिन्न है। इस प्रकार उस विवेकख्याति से विरक्त हुए इस योगी के चित्त में स्थित जो क्लेशबीज हैं, वे दग्ध तण्डुल के सदृश अंकुर को उत्पन्न करने में असमर्थ होकर मन के साथ ही विलीन हो जाते हैं। उनके विलीन हो जाने पर पुरुष फिर इस त्रिविधताप का अनुभव नहीं करता है। तब मन में कर्म, क्लेश और विपाक (संस्कार) रूप से अभिव्यक्त होने वाले तथा कृतकृत्य हो चुके गुणों के लीन हो जाने पर पुरुष का गुणों से आत्यन्तिक वियोग अर्थात् कैवल्य हो जाता है। उस दशा में पुरुष अपने चैतन्य स्वरूप में स्थित रहता है॥५०॥

तत्त्ववैशारदी

संयमान्तराणां पुरुषार्थाभास[8]फलत्वाद्विवेकख्याति[9]संयमस्य पुरुषार्थतां दर्शयितुं विवेक-

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**विवेक०**, ब—**विवेकी**।
2. घ च द ध न प फ ब भ म य र—**धर्मः** उपलभ्यते, क ख ग छ ज झ त थ—**धर्मः** नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**अप्रसवसमर्थानि**, ब—**प्रसवासमर्थानि**।
4. क ग घ च छ ज झ त थं द ध न प फ भ म य र—**एतेषां**, ख ब—**एषाम्**।
5. क ख घ छ ज थ ध प ब य र—**प्रतिप्रसवे**, ग च द न फ भ म—**अप्रतिप्रसवे**, झ त—**प्रलयेऽप्रतिप्रसवे**।
6. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब म य र—**तदा स्वरूपप्रतिष्ठा चितिशक्तिरेव पुरुष इति** उपलभ्यते, भ—**तदा...इति** नोपलभ्यते।
7. छ त—**अयं सानन्दानुगतः सम्प्रज्ञातः समाधिर्विचारात्मकान्तःकरणत्यागाविति** (**इति**—पश्चात्) उपलभ्यते, क ख ग घ च ज झ थ द ध न प फ ब भ म—**अयं...इति** नोपलभ्यते।
8. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न—**फलत्वात्**, त—**फलवत्वात्**।
9. क ख ग—**संयमार्थतां**, घ च छ ज झ त थ द ध न—**संयमस्य पुरुषार्थताम्**।

ख्यातेः परवैराग्योपजननद्वारेण कैवल्यं फलमाह–तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्। यदास्य योगिनः क्लेशकर्मक्षयः [1]तदा एवं ज्ञानं भवति। किंभूतमित्याह–सत्त्वस्यायं विवेकप्रत्ययो धर्म इति शेषं तत्र तत्र व्याख्यातत्वात् सुगमम्॥५०॥

अन्यविषयक संयम वास्तविक पुरुषार्थ फल वाले न होकर पुरुषार्थाभास होने से विवेकख्यातिविषयक संयम से वास्तविक पुरुषार्थफलकत्व को दिखलाने के लिये परवैराग्य द्वारा विवेकख्याति कैवल्य का हेतु है, इसे पतञ्जलि सूत्रित करते हैं– '**तदिति**।' जब इस योगी के (अविद्यादि) क्लेश तथा (क्लेशजन्य) कर्म (धर्माधर्म) का क्षय (नाश) होता है, तब इस प्रकार का ज्ञान प्रादुर्भूत होता है। (योगी को) किस प्रकार का ज्ञान होता है? इसे भाष्यकार बतलाते हैं–'**सत्त्वस्यायं विवेकप्रत्ययो धर्म इति**।' अर्थात् प्रकृति-पुरुष-विषयिणी यह भेदज्ञानात्मिका वृत्ति बुद्धि का धर्म है, पुरुष का नहीं और वृत्तिमती यह बुद्धि अनात्म होने से हेयपक्ष में न्यस्त होती है। भाष्य की अवशिष्ट पंक्तियों में निहित सिद्धान्त यथास्थान व्याख्यात (प्रतिपादित) हो जाने से सरल है॥५०॥

बालप्रिया–

'**तद्वैराग्यादपि**'–इस सूत्रांश की व्याख्या भाष्य के '**सत्त्वस्याऽयं**' से लेकर '**सत्त्वादिति**' पर्यन्त वाक्य के द्वारा की गई है।

'**दोषबीजक्षये**'–इस सूत्रांश का विवरण भाष्य के '**एवं न भुङ्क्ते**' वाक्य में द्रष्टव्य है।

'**कैवल्यम्**'–सूत्र के इस अन्तिम पद के व्याख्यान के लिये अवशिष्ट भाष्य है॥५०॥

योगवार्त्तिकम्

सर्वसिद्धिमूर्द्धन्यं विवेकख्यातिरूपसंयमस्य परवैराग्यद्वारा मोक्षाख्यं सिद्ध्यन्तरमाह–**तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्।** अपिशब्दः कैवल्यमित्यनेनान्वेति। तथा च विवेकख्यातिनिष्ठात एव विवेकख्यातौ तस्या यथोक्तसिद्धौ च वैराग्ये सत्यसम्प्रज्ञातयोगेन दुःखदोषस्य बीजानामखिलवासनाकर्मणां चित्तेन सह लये सति पुरुषस्य कैवल्यं पुनर्गुणासंयोगरूपमपि भवतीत्यर्थः। वैराग्यकारणमाह–**यदेति**। क्लेशकर्मक्षयरूपकर्त्तव्यसमाधौ यदा योगिन एवं भवति एवं विचारो भवति। एवंशब्दार्थमाह–**सत्त्वस्येत्यादिना सत्त्वादीत्यन्तेन**। वैराग्यकारणमुक्त्वा कैवल्ये पुरुषार्थं प्रतिपादयति–**एवमस्येत्यादिना न भुङ्क्त इत्यन्तेन**। अत्र न भुङ्क्त इति वचनाद् भोगाभाव एव पुरुषार्थ इति स्मर्त्तव्यम्, दुःखाभावस्तु परम्परया पुरुषार्थ इति भावः। इदानीं सूत्रार्थं व्याचष्टे–**तदेतेषामिति**। तत् तदा यदेत्युक्तेनान्वयः, तदा परवैराग्यावस्थायां संस्काररूपाणां दुःखबीजगुणानां सत्त्वादिगुणस्थानां कार्यावस्थमनसि क्लेशादि-

1. न–तदा उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध–तदा नोपलभ्यते।

रूपेणाभिव्यक्तिस्वभावकानां चरितार्थानां समाप्तपुरुषार्थानां प्रतिप्रसवे मनसा सह लये सति पुरुषस्यात्यन्तिको गुणवियोगः कैवल्याख्यो भवतीत्यर्थः। मोक्षेण पुरुषस्य [1]परिणाममपाकरोति–तदेति॥५०॥

विवेकख्यातिरूप संयम परवैराग्य द्वारा (विवेकवृत्ति के प्रति हेयत्वजागरण द्वारा) समस्त सिद्धियों के शिरोमणिभूत मोक्षाख्य सिद्ध्यन्तर वाला होता है अर्थात् कैवल्य को प्राप्त कराने वाला होता है, ऐसा पतञ्जलि सूत्रांकित करते हैं–'**तदिति**।' अर्थक्रम की अपेक्षा पाठक्रम दुर्बल होता है–इस सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में वार्त्तिककार सूत्रगत पदों का अन्वय करते हुए कहते हैं–सूत्रगत '**अपि**' शब्द (सूत्र के व्यवहित) '**कैवल्यम्**' पद के साथ अन्वित होता है। (संयम द्वारा) विवेकख्याति के परिनिष्ठित होने पर ही विवेकख्याति तथा विवेकख्यातिजन्य सर्वभावाधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञातृत्व संज्ञक (१/४९) यथोक्त सिद्धि में परवैराग्य (**इयमपि हेयम्**–ऐसी जागृति) होने पर असम्प्रज्ञात योग के द्वारा दुःखदोष के हेतुभूत समस्त वासनाओं और कर्मों का चित्त के साथ लय हो जाता है। इस प्रकार कर्म-वासना का लय होने पर सत्त्वादि गुण के साथ पुनः संयोगाभावरूप कैवल्य भी (विवेकख्यातिजयी को) प्राप्त होता है, ऐसा सूत्रार्थ है। वैराग्य के कारण को बतलाते हुए भाष्यकार कहते हैं–'**यदेति**।' जब क्लेशक्षय और कर्मक्षयरूप कर्त्तव्य (पुरुषार्थ) के समधिगत होने पर योगी को '**एवं भवति**' इस प्रकार का विचार उत्पन्न होता है। किस प्रकार का विचार उत्पन्न होता है, उसे बतलाने के लिये भाष्यकार '**एवं**' शब्द का अर्थ करते हैं–'**सत्त्वस्येत्यादिना सत्त्वादीत्यन्तेन**।' (हेयत्वबुद्धिरूप) परवैराग्य के जागरण का कारण बतलाकर भाष्यकार '**कैवल्य**' पुरुषार्थरूप है, इसका प्रतिपादन करते हैं–'**एवमस्येत्यादिना न भुङ्क्त इत्यन्तेन**।' अर्थात् '**एवमस्य**' से लेकर '**न भुङ्क्ते**' यहाँ तक के भाष्य के द्वारा। यहाँ '**न भुङ्क्ते**' ऐसा कहने से भाष्यकार ने इस ओर स्मरण दिलाया है कि (कैवल्याख्य) पुरुषार्थ भोगाभावरूप ही है। इससे यह निकल आता है कि परोक्षरूप से दुःखाभाव (दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति) ही पुरुषार्थ है।

सम्प्रति, भाष्यकार सूत्र का अर्थ करते हैं–'**तदेतेषामिति**।' भाष्यगत '**तत्**' शब्द का अर्थ '**तदा**' है। पूर्वोल्लिखित '**यदा**' ('**यदास्य...सत्त्वादिति**' इस वाक्य) के साथ इस '**तदा**' वाचक '**तत्**' शब्द का अन्वय किया जाता है। अर्थात् '**विवेकख्याति**' के प्रति जब हेयत्वबुद्धिरूप परवैराग्य जागरित हो जाता है तब परवैराग्य की अवस्था में सत्त्वादि गुणस्थानीय दुःख के हेतुभूत संस्काररूप गुणों को कार्यावस्थ मन में क्लेशादिरूप से अभिव्यक्त स्वभाव वाली '**चरितार्थता**' प्राप्त होने पर पुरुषार्थशून्य

---

1. क ग घ च छ–**परिणामं**, ख–**परिणामप्रसंगम्**।

गुणों का '**प्रतिप्रसव**' अर्थात् मन के साथ लय होने पर पुरुष को मोक्षाख्य (कैवल्याख्य) आत्यन्तिक गुणवियोग प्राप्त होता है। '**पुरुष**' को मोक्ष प्राप्त होता है– ऐसा कहने से पुरुष के परिणाम का निराकरण किया जा रहा है। अर्थात् संसारदशा में पुरुष में प्रतीत होने वाली '**अहं सुखी**, '**अहं दुःखी**' इत्याकारिका परिणामवृत्ति भी मोक्षावस्था में समाप्त हो जाती है। इसी ओर भाष्यकार इंगित करते हैं–'**तदेति**' अर्थात् मोक्षावस्था में पुरुष अपने चैतन्यात्मक रूप में स्थित रहता है॥५०॥

योगसूत्रम्

स्थान्यु[1]पनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्॥५१॥

देवताओं के द्वारा सादर निमन्त्रित किये जाने पर आसक्ति और गर्व नहीं करना चाहिये, पुनः अनिष्ट प्रसङ्ग के कारण॥५१॥

व्यासभाष्यम्

चत्वारः खल्वमी योगिनः–[2]प्रथमकल्पिको मधुभूमिकः प्रज्ञाज्योतिरतिक्रान्तभावनीयश्चेति। तत्राभ्यासी प्रवृत्त[3]मात्रज्योतिः प्रथमः। [4]ऋतम्भरप्रज्ञो द्वितीयः। भूतेन्द्रियजयी तृतीयः सर्वेषु भावितेषु [5]भावनीयेषु कृतरक्षाबन्धः [6]कृतकर्तव्यसाधनादिमान्। चतुर्थो यस्त्वतिक्रान्तभावनीयः। तस्य चित्तप्रति[7]सर्ग एकोऽर्थः। सप्तविधा[8]स्य प्रान्तभूमिप्रज्ञा। तत्र मधुमतीं भूमिं साक्षात्कुर्वतो ब्राह्मणस्य स्थानिनो देवाः सत्त्व[9]विशुद्धिमनुपश्यन्तः स्थानैरुपनिमन्त्रयन्ते–भो इहास्यताम्, इह रम्यताम्, कमनीयोऽयं भोगः, कमनीयेयं कन्या, रसायनमिदं [10]जरामृत्यू बाधते

---

1. **उपमन्त्रणे, मन्त्रणे**–इति पाठान्तरे।
2. क ख ग घ च ज झ त थ ध प फ भ म य र–**प्रथम०**, छ द न ब–**प्राथम०**।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–**मात्र०** उपलभ्यते, ब–**मात्र०** नोपलभ्यते।
4. क ख ग घ च ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र–**ऋतम्भर०**, छ–**प्रातिभ०**।
5. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ य र–**भावनीयेषु** उपलभ्यते, म–**भावनीयेषु** नोपलभ्यते।
6. क ग घ छ प फ म य र–**कृतकर्तव्यसाधनादिमान्**, ख च ज झ त थ द ध भ–**कर्तव्यसाधनादिमान्ः**, न–**कृतकर्तव्यःसाधनादिमान्**, ब–**कर्तव्यतासाधनवान्**।
7. ब–**एव** (**सर्गः**–पश्चात्) उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–**एव** नोपलभ्यते।
8. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–**अस्य**, ब–**तस्य**।
9. क ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म–**विशुद्धिं**, ख घ प फ य र–**शुद्धिम्**।
10. क ख ग घ छ ज झ त थ द ध न प फ ब र–**जरामृत्युं**, च भ म य–**जरामृत्यू**।

वैहायसमिदं यानम्, अमी कल्पद्रुमाः, पुण्या मन्दाकिनी, सिद्धा महर्षयः, उत्तमा अनुकूला अप्सरसः, दिव्ये श्रोत्रचक्षुषी, वज्रोपमः कायः, स्वगुणैः सर्वमिदमुपार्जितमायुष्मता प्रतिपद्यताम् इदमक्षयमजरम[1]मरस्थानं देवानां प्रियमिति। एवमभिधीयमानः सङ्गदोषान्भावयेत्–घोरेषु संसाराङ्गारेषु पच्यमानेन मया जननमरणान्धकारे विपरिवर्तमानेन कथञ्चिदासादितः क्लेशतिमिरविनाशी योगप्रदीपः। तस्य चैते तृष्णायोनयो विषयवायवः प्रतिपक्षाः। स खल्वहं लब्धालोकः कथमनया विषयमृगतृष्णया [2]वञ्चितस्तस्यैव पुनः प्रदीप्तस्य संसाराग्नेरात्मानमिन्धनीकुर्यामिति। स्वस्ति वः स्वप्नोपमेभ्यः कृपणजनप्रार्थनीयेभ्यो विषयेभ्य इत्येवं निश्चितमतिः समाधिं भावयेत्। [3]सङ्गमकृत्वा स्मयमपि न कुर्यात्–एवमहं देवानामपि प्रार्थनीय इति। स्मयादयं सुस्थितंमन्यतया मृत्युना केशेषु गृहीतमिवात्मानं [4]न भावयिष्यति। तथा चास्य च्छिद्रान्तरप्रेक्षी नित्यं यत्नोपचर्य[5]प्रमादो लब्धविवरः क्लेशानुत्तम्भयिष्यति। ततः पुनरनिष्टप्रसङ्गः। एवमस्य सङ्गस्मयावकुर्वतो भावितोऽर्थो दृढी भविष्यति। भावनीयश्चार्थोऽभिमुखीभविष्यति॥५१॥

योगी चार प्रकार के होते हैं–प्रथमकल्पिक, मधुभूमिक, प्रज्ञाज्योति और अतिक्रान्तभवनीय। इनमें से 'प्रथमकल्पिक' (संज्ञक) अभ्यासी (योगी)वह है, जो अभी ज्ञानरूप ज्योति की ओर प्रवृत्त मात्र हुआ है। ऋतम्भरा-प्रज्ञावान् योगी द्वितीय (मधुभूमिक कहलाता) है। भूतेन्द्रियजय से सम्पन्न योगी तृतीय (प्रज्ञाज्याति कहलाता) है, जो समस्त साक्षात्कृत (परचित्तादिज्ञान) तथा साक्षात्करणीय (विशोकादि) विषयों में अच्युत (विषयों से प्रभावित न) रहने के लिये प्रबन्ध किये हुए और विहित साधनानुष्ठानादि से युक्त होता है। 'अतिक्रान्तभवनीय' नामक जो चौथा योगी है, उसके लिये चित्तविलय ही एकमात्र प्रयोजन (रह जाता) है। चतुर्थ योगी की सात प्रान्त रूपों वाली प्रज्ञा होती है। उन चार प्रकार के योगियों में मधुमती भूमि का साक्षात्कार कर लेने वाले योगी को स्वर्गादि लोकों के स्वामी देवता लोग उनकी बुद्धि-शुद्धि का परीक्षण करते हुए इस प्रकार निमन्त्रित करते हैं–हे योगी! यहाँ विराजिये! यहाँ रमण कीजिये! यह भोग अत्यन्त मनोहर है। यह तरुणी

---

1. क ख ग घ च ज झ त द ध प फ ब भ म य र–**अमर०**, छ थ न–**अमरम्**।
2. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र–**वञ्चितस्तस्य**, ख–**वञ्चितस्यैव**।
3. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न प फ ब भ म य र–**सङ्गमकृत्वा**, झ–**सङ्गमं कृत्वा**।
4. क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र–**न भावयिष्यति**, छ थ–**भावयति**।
5. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न प फ ब भ म य र–**प्रमादो लब्धविवरः क्लेशान्**, ज–**प्रमादोपलब्धविवरः क्लेशात्**।

अत्यन्त आकर्षक है। यह रसायन वार्धक्य और मरण को दूर रखता है। यह आकाशगामी विमान है। ये सब कल्पवृक्ष हैं। यह अत्यन्त पवित्र आकाश-गंगा है। ये सिद्ध लोग तथा महर्षिगण हैं। उत्तम तथा सब प्रकार से अनुकूल रहने वाली ये अप्सराएँ हैं। यहाँ रहने वाले के दिव्य कान तथा दिव्य नेत्र हो जाते हैं। शरीर वज्र के समान बलिष्ठ बन जाता है। आयुष्मन्! आपने अपनी तपस्या के गुणों से यह सब उपार्जित किया है। देवों को प्रिय लगने वाले अक्षय, अजर एवं अमर इस स्थान को आप स्वीकार करें। इस प्रकार देवों के कहने पर भोगों की आसक्ति के विषय में योगी दोषों की उद्भावना करे– 'भयंकर संसाररूपी अंगारों के मध्य भुनने वाले तथा जन्म-मरणरूपी अन्धकार में बार-बार भ्रमण करने वाले मुझसे किसी प्रकार अविद्यादि क्लेशान्धकार को मिटाने वाला योगरूपी दीपक प्राप्त किया गया है। तृष्णा से उत्पन्न होने वाले ये विषयरूपी वायु उस योगरूपी दीपक के विरोधी हैं। इतने दुःखों को भोगने वाला वही मैं योगज्ञानरूप प्रकाश को प्राप्त कर कैसे इस भोगरूपी मृगतृष्णा से ठगा जाकर फिर उस धधकती हुई संसाररूपी अग्नि में अपने आप को इन्धन बना डालूँ? आप लोगों का कल्याण हो। आपके स्वप्नतुल्य तथा अतितुच्छ पुरुषों के द्वारा प्रार्थनीय इन भोगों को नमस्कार है'–इस प्रकार अविचल मति वाला योगी समाधि की भावना करे। इस प्रकार भोगों के विषय में आसक्ति न करते हुए ऐसा सोच करके अभिमान भी न करे कि मैं तो इस प्रकार से देवताओं का भी प्रार्थनीय हो गया हूँ।' गर्व के कारण योगी अपने को सुस्थिर मानने के कारण अपने को मृत्यु के द्वारा पकड़े हुए बालों वाला न समझेगा। ऐसी अवस्था में इस योगी की कमजोरी का अन्वेषण करने वाला, निरन्तर महान् यत्न करने पर निवृत्त होने वाला प्रमाद लब्धावसर होकर (अविद्यादि समस्त) क्लेशों को आधार प्रदान करेगा। जिससे फिर अनभीष्ट (संसार-चक्र) की प्रसक्ति होगी। इस प्रकार आसक्ति और गर्व न करने वाले योगी के द्वारा साक्षात्कृत पदार्थ सुदृढ़ हो जायेगा और साक्षात्करणीय पदार्थ सामने आयेगा॥५१॥

तत्त्ववैशारदी

संप्रति कैवल्यसाधने प्रवृत्तस्य योगिनः प्रत्यूहसंभवे तन्निराकरणकारणमुपदिशति–स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसंगात्। स्थानानि येषां सन्ति ते स्थानिनो महेन्द्रादयः। तैरु[1]पनिमन्त्रणं तस्मिन्सङ्गश्च स्मयश्च [2]न कर्तव्यः, पुनरनिष्टप्रसङ्गात्। तत्र यं

1. क ख ग ज झ त–उपमन्त्रणं, घ च छ थ द ध न–उपनिमन्त्रणम्।
2. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न–न कर्तव्यः, झ–तयोरकरणमुपदिशति।

देवाः स्थानैरु[1]पमन्त्रयन्ते तं योगिनमेकं निर्धारयितुं यावन्तो योगिनः संभवन्ति तावत एवाह—चत्वार इति। तत्र प्रथमकल्पिकस्य स्वरूपमाह—तत्राभ्यासीति। प्रवृत्तमात्रं न पुनर्वशीकृतं ज्योतिर्ज्ञानं परचित्तादिविषयं यस्य स तथा। द्वितीयमाह—ऋतम्भरप्रज्ञ इति। यत्रेदमुक्तम्—ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा इति। स हि भूतेन्द्रियाणि जिगीषुः। तृतीयमाह—भूतेन्द्रियजयीति। तेन हि स्थूलादिसंयमेन ग्रहणादिसंयमेन च भूतेन्द्रियाणि जितानि। तमेवाह—[2]सर्वेष्विति। सर्वेषु भावितेषु निष्पादितेषु भूतेन्द्रियजयात्परचित्तादिज्ञानादिषु कृतरक्षाबन्धो यतस्तेभ्यो न च्यवते भावनीयेषु निष्पादनीयेषु विशोकादिषु परवैराग्यपर्यन्तेषु कर्तव्यसाधनवान्, पुरुषप्रयत्नस्य साधनविषयस्यैव साध्यनिष्पादकत्वात्। चतुर्थमाह—चतुर्थ इति। तस्य हि भगवतो जीवन्मुक्तस्य चरमदेहस्य चित्त[3]प्रतिसर्ग एकोऽर्थः।

तदेतेषु योगिषूपनिमन्त्रणविषयं योगिनमवधारयति—तत्र मधुमतीमिति। प्रथमकल्पिके तावन्महेन्द्रादीनां तत्प्राप्तिशङ्कैव नास्ति। तृतीयोऽपि तैर्नोपनिमन्त्रणीयः, भूतेन्द्रियवशित्वेनैव तत्प्राप्तेः। [4]चतुर्थेऽपि परवैराग्यसंपत्तेरासङ्ग[5]शङ्का दूरोत्सारितैवेति पारिशेष्याद् [6]द्वितीय एव ऋतम्भरप्रज्ञस्तदुपनिमन्त्रणविषय इति। वैहायसमाकाशगामि। अक्षयमविनाशि। अजरं सदाभिनवम्। स्मयकरणे दोषमाह—स्मयादयमिति। स्मयात्सुस्थितंमन्यो नानित्यतां भावयिष्यति, न तस्यां प्रणिधास्यतीत्यर्थः। सुगममन्यत्॥५१॥

सम्प्रति, कैवल्य-साधन में प्रवृत्त योगियों को जो विघ्न उपस्थित होते हैं, उनके निराकरण हेतु सूत्रकार उपदेश करते हैं—'**स्थानीति**।' जिनके स्वर्गलोकादि स्थान हैं, वे '**स्थानी**' कहलाते हैं और ये '**स्थानी**' महेन्द्रादि हैं। उनके द्वारा स्वर्गलोक में ले जाने के लिये प्रार्थना करने पर साधक को उसमें आसक्ति और गर्व नहीं करना चाहिये। (संग और स्मय न करने का हेतु यह है)—अन्यथा जन्म, मरणादि दुःखरूप अनिष्टप्राप्ति होना सम्भव रहता है। जिन योगियों को देवता लोग निमन्त्रित करते हैं, उनके स्वरूप का निर्धारण करने के लिये जितने प्रकार के योगी हो सकते हैं, उन सभी के बारे में भाष्यकार बतलाते हैं—'**चत्वार इति**।' योगी चार प्रकार के होते हैं—प्रथमकल्पिक, मधुभूमिक, प्रज्ञाज्योति तथा अतिक्रान्तभावनीय। उनमें से प्रथमकल्पिक योगी के स्वरूप को भाष्यकार बतलाते हैं—'**तत्राऽभ्यासीति**।' जिसको पर-

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न—**उपमन्त्रयन्ते**, द—**उपनिमन्त्रयन्ते**।
2. थ द ध—**सर्वेष्विति** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न—**सर्वेष्विति** नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न—**प्रतिसर्ग०**, ज—**सर्ग०**।
4. क ज—**चतुर्थः**, ख ग घ च छ झ त थ द ध न—**चतुर्थे**।
5. क ख ग घ च छ ज झ त न—**शंका**, थ द ध—**आशंका**।
6. क—**द्वितीय एव निमन्त्रणीयः**, ख ग घ च ज झ त थ द ध न—**द्वितीय एव**, छ—**द्वितीय एव नियन्त्रणीयः**।

चित्तादिविषयक ज्योति अर्थात् ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है, परन्तु ज्ञान को प्राप्त करने के लिये जो प्रयत्नशील रहता है, वह '**प्रथमकल्पिक**' योगी कहा जाता है। भाष्यकार द्वितीय '**मधुभूमिक**' योगी का स्वरूप बतलाते हैं–'**ऋतम्भरप्रज्ञ इति**।' जिसे समाधि द्वारा ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त है वह द्वितीय '**मधुभूमिक**' योगी कहा जाता है। यह भूतेन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने की इच्छा रखता है। भाष्यकार तृतीय '**प्रज्ञाज्योति**' योगी का स्वरूप बतलाते हैं–'**भूतेन्द्रियजयीति**।' तृतीय योगी भूतों के स्थूलादिविषयक संयम द्वारा और इन्द्रियों के ग्रहणादिविषयक संयम द्वारा भूतेन्द्रियों पर विजय प्राप्त करता है। इसी तथ्य को भाष्यकार बतलाते हैं–'**सर्वेष्विति**।' उक्त भूतेन्द्रिय के जय से निष्पादित सर्वपरचित्तादि में कर्तव्यहीन हो जाता है, क्योंकि प्राप्त ऐश्वर्यों से अब उसकी प्रच्युति नहीं होती है और वह विशोकादि से लेकर परवैराग्यपर्यन्त निष्पादनीय सिद्धियों के लिये प्रयत्नशील रहता है। क्योंकि साधनविषयक पुरुष का प्रयत्न ही साध्य को निष्पन्न करता है। चतुर्थ '**अतिक्रान्तभवनीय**' योगी के बारे में भाष्यकार बतलाते हैं–'**चतुर्थ इति**।' जो '**अतिक्रान्तभावनीय**' चतुर्थ योगी है, उसका केवल असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा '**चित्तप्रतिसर्ग**' अर्थात् चित्तविलय करना ही एक प्रयोजन अवशिष्ट रहता है। अन्य कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता है।

इन चार प्रकार के योगियों में से जिस योगी को देवता लोग उपनिमन्त्रित करते हैं, उसे भाष्यकार बतलाते हैं–'**तत्र मधुमतीमिति**।' जो '**प्रथमकल्पिक**' योगी है, उसको तो महेन्द्रादिकृत प्रार्थना की शंका ही नहीं रहती है। (क्योंकि अभी वह योगाभ्यास में प्रवृत्तमात्र होता है)। और जो तृतीय प्रकार का '**प्रज्ञाज्योति**' योगी होता है, वह देवतागण के प्रलोभन में आ ही नहीं सकता है (क्योंकि भूतेन्द्रियजयी होने से अणिमादि ऐश्वर्य उसे स्वतः प्राप्त रहते हैं)। और जो चतुर्थ प्रकार का '**अतिक्रान्तभावनीय**' योगी होता है, वह भी प्रलोभन में नहीं आ सकता है। (क्योंकि परवैराग्यसम्पन्न होने से उसकी स्वर्गीय भोग में स्पृहा ही नहीं होती है। अतः परिशेषात् द्वितीय ऋतम्भरप्रज्ञ '**मधुभूमिक**' योगी ही प्रलोभन का विषय होता है। देवगण किस प्रकार प्रलुब्धकारी वचनों द्वारा '**प्रज्ञाज्योति**' योगी को निमन्त्रित करते हैं, यह भाष्य में द्रष्टव्य है। तत्त्ववैशारदीकार निमन्त्रण-वाक्यों के दो-चार शब्दों का अर्थ बतलाते हैं–'**वैहायस**' शब्द का अर्थ है–आकाशगामी। '**अक्षय**' शब्द का अर्थ है–अविनाशी (नित्य) तथा '**अजर**' शब्द का अर्थ है–सदा युवा रहना। भाष्यकार अभिमान करने में दोष बतलाते हैं–'**स्मयादयमिति**।' वाह! मैं देवताओं द्वारा पूजा किया जा रहा हूँ, इस प्रकार अभिमान करने से अपने को कृतकृत्य मानता हुआ योगी स्वर्गादि पदार्थों में अनित्यत्वचिन्तन नहीं कर सकेगा। जिससे समाधि भी उसे प्राप्त न हो सकेगी। शेष भाष्य सुगम है॥५१॥

बालप्रिया–

तैरुपनिमन्त्रणम्'–इन्द्रादि देवताओं द्वारा स्वर्गादि लोक में ले जाने के लिये योगियों के प्रति की जाने वाली प्रार्थना 'उपनिमन्त्रण' पद का भावार्थ है।

'**तस्य चित्तप्रतिसर्ग एकोऽर्थः**'–सम्प्रज्ञातसमाधिनिष्ठ योगी के लिये असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा चित्त का विलय करने की एक ही कर्त्तव्यता शेष रह जाती है, यह इस वाक्यार्थ का भावार्थ है। जिज्ञासा है कि ऐसा क्यों? द्वितीय पाद के '**परिज्ञातं हेयं नाऽस्य पुनः परिज्ञेयम्**' वाक्य द्वारा इसका उत्तर दिया जा चुका है। योगी द्वारा सप्तविध प्रान्तभूमिप्रज्ञा निष्पादित हो गई रहती है। अतः उसके लिये कुछ भी करणीय शेष नहीं रहता है।

'**स्थानैरुपनिमन्त्रयन्ते**'–यहाँ '**स्थान**' शब्द से स्वर्गस्थानीय विमान, अप्सरा, कल्पद्रुमादि दिव्य वस्तुएँ उपलक्षित हैं। इस प्रकार प्रलुब्धकारी वस्तुओं के द्वारा देवगण योगी को ललचाते हैं॥५१॥

योगवार्त्तिकम्

कैवल्याख्यसिद्ध्यर्थिनो योगिनो यथोक्तवैराग्यवदेव साधनान्तरमाह, [1]अथ वा सम्प्रति कैवल्यप्रसङ्गतः कैवल्यसाधने प्रवृत्तस्य योगिनस्तत्प्रत्यूहसम्भवे तन्निराकरणप्रकारमाह–स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्। स्थानिनः स्वर्गादिलोकाधिकारिणो देवा इन्द्रादयः, तेषां [2]स्वर्लोके नयनाय योगिनो निमन्त्रणे सति तत्र सङ्ग[3]स्मयाकरणमुपायः। सङ्गे स्मये च का क्षतिस्तत्राह–पुनरनिष्टप्रसङ्गादिति। सङ्गस्मयाभ्यां पुनरपि संसारप्रसङ्गात्। सङ्गः [4]प्रीतिः, स्मयश्च देवानां प्रार्थनेनात्मनि कृतार्थताऽभिमान इत्यर्थः। तत्र यस्यां भूमिकायां स्थान्युपनिमन्त्रणं भवति तां वक्तुं योगिनां भूमिकाचतुष्टयमाह–चत्वार इति। प्रथमकल्पिकस्य स्वरूपमाह–तत्राभ्यासीति। प्रवृत्तमात्रं न तु निष्पन्नं ज्योतिर्ज्ञानं यस्य स तथा, सवितर्कादिरूपापरप्रत्यक्षवान् न तु ऋतम्भरप्रज्ञ इत्यर्थः। मधुभूमिकस्य स्वरूपमाह–ऋतम्भरेति। ऋतं सत्यमेव बिभर्त्तीति व्युत्पत्त्या परप्रत्यक्षमेव ऋतम्भरा प्रज्ञाऽत्र विवक्षिताः, सा च परिशेषात् निर्वितर्करूपा भूमिकैव, तदुत्तरभूमिकानां तृतीयादावेवान्तर्भावादिति। प्रज्ञाज्योतिषः स्वरूपमाह–भूतेति। ऋतम्भरप्रज्ञातोऽस्य विशेषमाह–सर्वेष्विति। सर्वेषु भावितेषूत्पादितेषु निर्वितर्कादियोगेषु कृतो रक्षारूपो बन्धो येन स तथा, तथा भावनीयेषूत्पादनीयेषु विशोकादिसिद्ध्यादिष्वसम्प्रज्ञातपर्यन्तेषु विहितसाधनवानित्यर्थः। अतिक्रान्तभावनीयस्य स्वरूपमाह–

---

1. क ग घ च छ–अथवा सम्प्रति कैवल्यप्रसङ्गतः कैवल्यसाधने प्रवृत्तस्य योगिनस्तत्प्रत्यूहसम्भवे तन्निराकरणप्रकारमाह उपलभ्यते, ख–अथवा...आह नोपलभ्यते।
2. क ग च छ–स्वर्लोके, ख–स्वर्गादिलोके, घ–स्वर्गलोके।
3. क ग च छ–स्मय०, ख घ–स्मययोः।
4. क ग घ च छ–प्रीतिः, ख–प्रतीतिः।

चतुर्थ इति। चित्तप्रतिसर्गोऽसम्प्रज्ञातसमाधिना चित्तविलयमात्रं कर्त्तव्यमवशिष्यत इत्यर्थः। प्रज्ञाज्योतिषोऽस्य विशेषमाह–सप्तविधेति। प्रज्ञा जातेति शेषः।

सूत्रकार कैवल्याख्य सिद्धि के इच्छुक योगी के लिये पूर्वोल्लिखित परवैराग्य साधन की ही भाँति एक अन्य साधन को बतलाते हैं। अथवा ऐसा भी कहा जा सकता है कि सम्प्रति, सूत्रकार कैवल्य का प्रसंग प्राप्त होने से उन विघ्नों के निराकरण की बात करते हैं जो कैवल्य-प्राप्ति का प्रयास करते समय उपस्थित होते हैं–'**स्थानीति**।' वार्त्तिककार सूत्रार्थ करते हैं–स्वर्गादि लोक के पदाधिकारी इन्द्रादि देवताओं को '**स्थानी**' कहते हैं। स्वर्गलोक में ले जाने के लिये इन्द्रादि देवों का 'निमंत्रण' योगी (मोक्षार्थी) को प्राप्त होने पर उस (निमंत्रण) के प्रति '**सङ्ग**' अर्थात् आसक्ति और '**स्मय**' अर्थात् अभिमान न करना (कैवल्यसिद्धि का अपर) उपाय है। **शङ्का**–देवों द्वारा उपनिमन्त्रित किये जाने पर यदि योगी सङ्ग और स्मय करता है, तो इसमें हानि क्या है?

समाधान–इस पर सूत्रकार कहते हैं–'**पुनरनिष्टप्रसङ्गादिति**।' (पूर्वोल्लिखित निमंत्रण के प्रति) मोक्षार्थी द्वारा सङ्ग और स्मय किये जाने से पुनः संसारापत्ति होगी अर्थात् संसार-प्राप्ति का प्रसङ्ग आयेगा। '**सङ्ग**' शब्द का अर्थ है–प्रीति (चाह) तथा '**स्मय**' शब्द का अर्थ है–देवों द्वारा प्रार्थना किये जाने से अपने में कृतकृत्यता का अभिमान करना। इस प्रकार सूत्र का अर्थ किया जाता है।

योग की जिस अवस्था में योगियों को देवों का निमन्त्रण प्राप्त होता है, उस अवस्था को बतलाने के लिये भाष्यकार योगियों की चार अवस्थाओं का प्रतिपादन करते हैं–'**चत्वार इति**।' भाष्यकार योगी की '**प्रथमकल्पिक**' अवस्था (भूमिका) को बतलाते हैं–'**तत्राभ्यासीति**।' वार्त्तिककार '**प्रवृत्तमात्रज्योतिः**' पद का (बहुब्रीहिसमास परक) विग्रह करते हैं–'**प्रवृत्तमात्रं न तु निष्पन्नं ज्योतिर्ज्ञानं यस्य स प्रवृत्तमात्रज्योतिः**' अर्थात् जिसे ज्ञान निष्पन्न नहीं हुआ है, ऐसा प्रवृत्तमात्रज्योति वाला योगी '**प्रथम-कल्पिक**' कहलाता है। अर्थात् सवितर्कादिरूप अपरप्रत्यक्ष वाले योगी को '**प्रथमकल्पिक**' कहते हैं, न कि ऋतम्भरप्रज्ञयोगी को '**प्रथमकल्पिक**' कहते हैं। भाष्यकार योगी की '**मधुभूमिक**' अवस्था (भूमिका) को बतलाते हैं–'**ऋतम्भरेति**।' '**ऋतं सत्यमेव बिभर्त्तीति ऋतम्भरा**' अर्थात् जो सत्य को धारण करती है–इस व्युत्पत्ति के अनुसार यहाँ पर-प्रत्यक्ष को ही ऋतम्भरा प्रज्ञा कहना अभिप्रेत है और यह ऋतम्भरा प्रज्ञा परिशेषा-नुमान से निर्वितर्करूपा भूमिका (निर्वितर्का समापत्ति) ही है, क्योंकि '**मधुभूमिक**' भूमिका के उत्तरवर्ती '**प्रज्ञाज्योति**' भूमिका वाले योगियों का सविचारादि संज्ञक तृतीयादि भूमिकाओं में ही अन्तर्भाव होता है। भाष्यकार योगी की '**प्रज्ञाज्योति**' अवस्था (भूमिका) का स्वरूप बतलाते हैं–'**भूतेति**।' ऋतम्भरप्रज्ञ मधुभूमिक योगी से

प्रज्ञाज्योतिमान् योगी के वैशिष्ट्य (अन्तर) को भाष्यकार बतलाते हैं–'**सर्वेष्विति**।' जो निर्वितर्कादि सभी निष्पादित योगों में '**कृतरक्षाबन्ध**' अर्थात् च्युतरहित सुदृढ़ स्थिति वाला होता है अर्थात् दृढाभ्यास के कारण निष्पादित निर्वितर्कादि योगों से कभी स्खलित नहीं होता है तथा निष्पादनीय (भावनीय, उत्पादनीय) असम्प्रज्ञात-पर्यन्त विशोकादि सिद्धियों में साधनरत रहता है अर्थात् विशोकादि सिद्धियों के प्राप्त्यर्थ अभ्यासरत रहता है, उसे '**प्रज्ञाज्योति**' योगी कहते हैं। भाष्यकार '**अतिक्रान्त-भवनीय**' भूमिका वाले योगी का स्वरूप बतलाते हैं–'**चतुर्थ इति**।' असम्प्रज्ञात समाधि के द्वारा '**चित्तप्रतिसर्ग**' अर्थात् चित्त का विलयमात्र करना जिसके लिये शेष रह जाता है, उसे '**अतिक्रान्तभवनीय**' योगी कहते हैं। '**प्रज्ञाज्योति**' योगी से '**अतिक्रान्त-भवनीय**' योगी का अन्तर (वैशिष्ट्य) बतलाते हुए भाष्यकार कहते हैं–'**सप्तविधेति**।' 'उत्पन्न होती हैं'–ऐसा वाक्यशेष है। अर्थात् चतुर्थ योगी को उक्त सात प्रकार की प्रज्ञाएँ उत्पन्न होती हैं।

सम्प्रति, उपनिमन्त्रणीय भूमिका को विश्लेषित किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

उक्तासु योगभूमिषु स्थान्युपनिमन्त्रणस्य भूमिमवधारयति–तत्रेति। प्रथमभूमिकायां तावन्महेन्द्रादीनामेतादृशानुग्रह एव न भवति, तृतीयचतुर्थभूमिकयोस्तु देवादय उपेक्षणीया एव भवन्ति, अतो मधुभूमिकायां द्वितीयायामेव निमन्त्रणं भवतीत्याशयः। साक्षात्कुर्वतः= स्वस्येयं मधुमती भूमिका जातेत्यनुभवतः। अनेन भूमिनिष्पत्तिरुक्ता। निष्पन्नमधुभूमिकस्येत्यर्थः। उपनिमन्त्रणप्रकारमाह–भो इहेत्यादिना देवानां प्रियमित्यन्तेन। सङ्गस्मयाकरणं व्याचष्टे–एवमभिधीयमान इति। सङ्गदोषान् विषय[1]प्रीतिजान्। दोषचिन्तनप्रकारमाह–घोरेष्वित्या-दिना कुर्यामित्यन्तेन। सङ्गं त्यक्त्वा यत् कर्त्तव्यं तदाह–स्वस्तीत्यादिना। भावयेत् कुर्यात्। स्मयं विवृण्वानस्तत्कारणदोषमाह–एवमहमिति। न भावयिष्यति [2]न चिन्तयिष्यति। यत्नोपचर्यः= यत्नप्रतीकार्यः। सङ्गस्मयाकरणस्य फलमाह–एवमस्येति॥५१॥

उपरिनिर्दिष्ट योग की चार भूमिकाओं में से स्वर्गादि लोक के अधिकारी इन्द्रादि देवों (स्थानी) द्वारा उपनिमन्त्रण के योग्य योगभूमि का निर्धारण भाष्यकार करते हैं–'**तत्रेति**'। प्रथम भूमिका ('**प्रथमकल्पिक**' अवस्था) वाले योगियों को महेन्द्रादि देवता लोग उक्त प्रकार का निमन्त्रण ही नहीं देते हैं और तृतीय '**प्रज्ञाज्योति**' तथा चतुर्थ '**अतिक्रान्तभवनीय**' भूमिका वाले दोनों प्रकार के योगियों की तो देवादि लोग उपेक्षा ही करते हैं। अतः द्वितीय '**मधुभूमिक**' योगियों को ही देवताओं का उप-

---

1. क ख ग–**प्रीतिजान् दोषान्**, घ च–**प्रीतिजान्**, छ–**प्रीतिज्ञान्**।
2. क ग घ च छ–**न चिन्तयिष्यति** उपलभ्यते, ख–**न चिन्तयिष्यति** नोपलभ्यते।

निमन्त्रण प्राप्त होता है, ऐसा भाष्यकार के कथन का अभिप्राय है। '**साक्षात्कुर्वतः**' पद का अर्थ है–यह '**मधुमती**' भूमि मुझे प्राप्त हो गई है, ऐसा जिसने अनुभव कर लियां है। इस प्रकार भाष्यकार ने '**साक्षात्कुर्वतः**' पद के द्वारा भूमि-निष्पत्ति का अभिधान किया है। अर्थात् लब्धमधुभूमिक योगी को ही देवताओं का निमंत्रण प्राप्त होता है। '**उपनिमन्त्रण**' का स्वरूप बतलाया जा रहा है–'**भो इहेत्यादिना देवानां प्रियमित्यन्तेन**।' भाष्यकार '**सङ्ग**' तथा '**स्मय**' की अकरणीयता का प्रतिपादन करते हैं–'**एवमभिधीयमानं इति**।' '**सङ्गदोष**' अर्थात् योगी भौतिक विषयों के प्रति होने वाली प्रीत्यात्मक बुद्धि (चाह) का मूल्यांकन करे। वैषयिक प्रीति के प्रति की जाने वाली दोषबुद्धि का प्रकार भाष्यकार बतलाते हैं–'**घोरेष्वित्यादिना कुर्यामित्यन्तेन**।' सुख-साधनों के प्रति चाह (प्रीति, संग) का परित्याग कर योगी को जो करना चाहिये, उसे भाष्यकार बतलाते हैं–'**स्वस्तीत्यादिना**।' '**भावयेत्**' पद का अर्थ है–करे। '**स्मय**' के स्वरूप का वर्णन करते हुए भाष्यकार '**स्मय**' के कारण उद्भावित दोषों का विश्लेषण करते हैं–'**एवमहमिति**।' '**न भावयिष्यति**' पद का अर्थ है–'**न चिन्तयिष्यति**' अर्थात् चिन्तन नहीं करेगा। '**यत्नोपचर्य**' पद का अर्थ है–'**यत्नप्रतीकार्य**' अर्थात् प्रयत्न द्वारा दूर की जा सकने वाली। भाष्यकार सङ्ग और स्मय न करने के फल को बतलाते हैं–'**एवमस्येति**।' इसका अर्थ पीछे द्रष्टव्य है॥५१॥

योगसूत्रम्

क्षणतत्क्रमयोः [1]संयमा[2]द्विवेकजं ज्ञानम्॥५२॥

'क्षण' और उसके 'क्रम' में संयम करने से विवेकज ज्ञान उत्पन्न होता है॥५२॥

व्यासभाष्यम्

यथापकर्षपर्यन्तं द्रव्यं परमाणुरेवं [3]परमापकर्षपर्यन्तः कालः क्षणः। यावता वा समयेन [4]चलितः परमाणुः पूर्वदेशं जह्यादुत्तरदेशमुपसंपद्येत स कालः क्षणः। [5]तत्प्रवाहाविच्छेदस्तु क्रमः। क्षणतत्क्रमयोर्नास्ति वस्तुसमाहार इति बुद्धि[6]समा-

---

1. **सम्बन्ध०**–(**संयमात्–प्राक्**) उपलभ्यते।
2. **विवेकजज्ञानं, विवेकज्ञानम्**–इति पाठान्तरे।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–**परमापकर्ष०**, ब–**अपकर्ष०**।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–**चलितः**, ब–**विचलितः**।
5. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–**तत्प्रवाहाविच्छेदस्तु क्रमः**, ब–**तस्य प्रवाहाविच्छेदभाविनः**।
6. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–**समाहारः**, ब–**समाहारात्**।

हारो मुहूर्ताहोरात्रादयः। स खल्वयं कालो वस्तुशून्योऽ[1]**पि बुद्धिनिर्माणः शब्द**[2]**ज्ञानानुपाती लौकिकानां व्युत्थितदर्शनानां वस्तुस्वरूप इवा**[3]**वभासते। क्षणस्तु वस्तु**[4]**पतितः** [5]**क्रमावलम्बी। क्रमश्च क्षणानन्तर्यात्मा। तं कालविदः काल इत्याचक्षते योगिनः। न च द्वौ क्षणौ सह भवतः, क्रमश्च न द्वयोः सहभुवोः, असंभवात्, पूर्वस्मादु**[6]**त्तरस्य भाविनो यदानन्तर्यं क्षणस्य स क्रमः। तस्माद्वर्तमान** [7]**एवैकः क्षणो न** [8]**पूर्वोत्तरक्षणाः सन्तीति। तस्मान्नास्ति तत्समाहारः। ये तु भूतभाविनः क्षणास्ते परिणामा**[9]**न्विता व्याख्येयाः। तेनैकेन क्षणेन कृत्स्नो लोकः परिणाममनुभवति। तत्क्षणोपारूढाः खल्वमी** [10]**सर्वे धर्माः। तयोः क्षणतत्क्रमयोः संयमात्तयोः साक्षात्करणम्। ततश्च विवेकजं ज्ञानं प्रादुर्भवति॥५२॥**

जैसे परमसूक्ष्मता की सीमा तक पहुँचा हुआ द्रव्य 'परमाणु' कहा जाता है, वैसे ही अत्यन्त सूक्ष्मता तक पहुँचा हुआ काल 'क्षण' कहा जाता है। अथवा एक परमाणु अपने स्थान से चलकर, 'पूर्वदेश' अर्थात् परमाणुमात्र परिमित स्थान को लांघकर, दूसरे स्थान पर जितने समय में पहुँचता है, उतना समय 'क्षण' कहा जाता है। इस प्रकार के क्षण की धारा का न टूटना ही तो उसका 'क्रम' कहा जाता है। क्षण और उसके क्रम का वस्तुरूप से समाहार (संग्रह) नहीं होता है। अतः मुहूर्त, अहोरात्र आदि बुद्धि द्वारा कल्पित समाहार ही होता है (अर्थात् वह वास्तविक नहीं होता है)। यह पूर्ववर्णित मुहूर्तादि काल वस्तुशून्य तथा बुद्धिकल्पित होने पर भी शब्द-ज्ञानानुपाती होने से चञ्चलमतिमान् लौकिक व्यक्तियों को वास्तविक सदृश प्रतीत होता है, किन्तु क्षण (काल्पनिक नहीं) वास्तविक (वस्तुकोटि में प्रविष्ट होता) है, अतः वह क्रम का आश्रय है और क्रम तो क्षणों का

---

1. क ख ग च छ ज थ ध न म—**अपि** उपलभ्यते, घ झ त द प फ ब भ य र—**अपि** नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**ज्ञान०**, ब—**धर्म०**।
3. द—**क्षणस्तु स्वरूप इव अवभासते** (**अवभासते**—पश्चात्) उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न प फ ब भ म य र—**क्षणस्तु...भासते** नोपलभ्यते।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**पतितः**, ब—**रूपः**।
5. क ख ग घ च छ ज थ द ध न प फ ब भ म य र—**क्रमावलम्बी**, झ त—**क्रमाद्बलवान्**।
6. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म य—**उत्तरस्य**, घ प फ र—**उत्तर०**।
7. क घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—**एवैकः**, ख—**चैकः**, ग—**एकैव**।
8. क ख ग घ च छ ज थ द ध न प फ ब भ म य र—**पूर्वोत्तर०**, झ त—**पूर्वे**।
9. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**अन्विता**, ब—**अस्तिता**।
10. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म—**सर्वे** उपलभ्यते, घ प फ य र—**सर्वे** नोपलभ्यते।

आनन्तर्यरूप है। उस क्षण को कालज्ञ योगिजन 'काल' कहते हैं। दो क्षण एक साथ नहीं रहते हैं, क्योंकि दो क्षणों की एक साथ स्थिति संभव नहीं है। इसलिये पहले वाले (क्षण)से बाद वाले (क्षण) का जो आनन्तर्य है, वही क्षण का क्रम है। अतः वर्तमान अवस्था वाला ही एक (वास्तविक) क्षण होता है, पूर्व अथवा उत्तरकालिक क्षण वर्तमान नहीं होते हैं अर्थात् वे विद्यमान नहीं रहते हैं। इसलिये क्षण और उनके क्रम में समाहाररूप मिलन भी नहीं होता है और जो वर्तमानातिरिक्त भूत तथा भावी क्षण हैं, वे परिणामरूप से वर्तमान क्षण में अन्वित रहते हैं–ऐसी व्याख्या कर लेनी चाहिये। अतः उस एक ही वर्तमान क्षण से संसार के समस्त पदार्थ परिणाम को प्राप्त होते हैं। और सभी धर्म उस एक ही क्षण में उपारूढ रहते हैं। अतः तथाकथित क्षण और उसके क्रम में संयम करने से उन क्षणों तथा क्रमों का साक्षात्कार होता है। फिर उनके साक्षात्कार के अनन्तर विवेकजन्य ज्ञान आविर्भूत होता है॥५२॥

सम्प्रति, तत्त्ववैशारदीकार पूर्वापर की संगति बैठाते हुए बृहद् अवतरणिका के साथ विवेकजज्ञानसिद्धिपरक सूत्र को अवतरित करते हुए उसकी व्याख्या करते हैं–

तत्त्ववैशारदी

उक्ता क्वचित्क्वचित्संयमात्सर्वज्ञता। सा च न निःशेषज्ञता, अपि तु प्रकारमात्रविवक्षया, यथा सर्वैर्व्यञ्जनैर्भुक्तमिति। अत्र हि यावन्तो व्यञ्जनप्रकारास्तैर्भुक्तमिति गम्यते, न तु निःशेषैरिति। अस्ति च निःशेषवचनः सर्वशब्दः, यथा–उपनीतमन्नं सर्वमशितं प्राशकेन इति। तत्र हि निःशेषमिति गम्यते। तदिह निःशेषज्ञतालक्षणस्य विवेकजज्ञानस्य साधनं संयममाह– क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्। क्षणपदार्थं निदर्शनपूर्वकमाह–यथेति। लोष्ठस्य हि प्रविभज्यमानस्य यस्मिन्नवयवेऽल्पत्वतारतम्यं व्यवतिष्ठते सोपकर्षपर्यन्तः परमाणु[1]र्यथा तथापकर्षपर्यन्तः कालः क्षणः, पूर्वापरभागविकलकालकलेति यावत्। तमेव क्षणं प्रकारान्तरेण दर्शयति–यावता वेति। परमाणुमात्रं देशम[2]तिक्रामेदित्यर्थः। क्रमपदार्थमाह–तत्प्रवाहेति। तत्पदेन क्षणः परामृश्यते। न चेदृशः क्रमो वास्तवः, किं तु काल्पनिकः, तस्य समाहाररूपस्यायुगपदु[3]पस्थितेषु वास्तवत्वेन विचारासहत्वादित्याह–क्षणतत्क्रमयोरिति। अयुगपद्भाविक्षणधर्मत्वात्क्रमस्य क्षणसमाहारस्यावास्तवत्वात्क्षणतत्क्रमयोरप्यवास्तवत्वं समाहारस्य। नैसर्गिकवैतण्डिकबुद्ध्यतिशयरहिता लौकिकाः प्रतिक्षणम् एव व्युत्थितदर्शना भ्रान्ता ये कालमीदृशं

---

1. क घ च छ ज झ त थ द न–**यथा तथा**, ख–**तथा**, ग ध–**यथा यथा**।
2. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न–**अतिक्रामेत्**, ज–**अतिक्रम्य**।
3. क ख ग घ च छ ज झ थ द ध न–**उपस्थितेषु**, त–**अवस्थितेषु**।

वास्तवमभिमन्यन्त इति। तत्किं क्षणोऽप्यवास्तवः? नेत्याह—क्षणस्त्विति। क्षणस्तु वस्तुपतितो वास्तव इत्यर्थः। क्रमस्यावलम्बनमवलम्बः, सोऽस्यास्तीति, क्रमेणावलम्ब्यते वैकल्पिकेनेत्यर्थः। क्रमस्य क्षणावलम्बनत्वे हेतुमाह—क्रमश्चेति। क्रमस्यावास्तवत्वे हेतुमाह—न चेति। चो हेत्वर्थे। यस्तु [1]वैजात्यात्सहभावमुपेयात्तं प्रत्याह—क्रमश्च [2]न द्वयोरिति। कस्मादसंभव इत्यत आह—पूर्वस्मादिति। उपसंहरति—तस्मादिति। तत्किमिदानीं शशविषाणायमाना एव पूर्वोत्तरक्षणाः? नेत्याह—ये त्विति। अन्विताः [3]साम्येन समन्वागता इत्यर्थः। उपसंहरति—तेनेति। वर्तमानस्यैवार्थक्रियासु स्वोचितासु सामर्थ्यादिति॥५२॥

किसी-किसी पदार्थविषयक संयम से उत्पन्न होने वाली सर्वज्ञता को (पीछे) कहा गया है, किन्तु वह पूर्ण सर्वज्ञता नहीं है। वह तो सर्वज्ञता के प्रकार (भेद) मात्र बतलाने की इच्छा से कहा गया है। जैसे 'सभी व्यञ्जनों के साथ खाया'—यहाँ व्यञ्जन के जितने प्रकार हैं, उन सबके साथ खाया, यह वाक्य का तात्पर्य है अर्थात् 'परोसे गए सभी व्यञ्जन खाये', न कि 'सम्पूर्ण व्यञ्जनों को खाया' यह अर्थ निकलता है। '**सर्व**' शब्द निःशेषवाची होता है, जैसे—'**उपनीतमन्नं सर्वमशितं प्राशकेन**' में 'सर्व' शब्द निःशेष अर्थ में प्रयुक्त है। सम्प्रति, सूत्रकार निःशेषज्ञता (पूर्णज्ञातृत्व) रूप विवेकजज्ञान के साधनीभूत संयम का स्वरूप बतलाते हैं—'**क्षणेति**।' भाष्यकार '**क्षण**' पदार्थ को निदर्शनपूर्वक बतलाते हैं—'**यथेति**।' जिस प्रकार मिट्टी के ढेले का विभाग करते जाने पर जिस अवयव में अल्पत्व की पराकाष्ठा होती है अर्थात् जो सर्वाधिक सूक्ष्म अविभाज्य अंश होता है, उसे '**परमाणु**' कहते हैं। उसी प्रकार काल की चरम सूक्ष्मता को प्राप्त हुआ काल का अविभाज्य अंश (सर्वाधिक सूक्ष्म अंश) '**क्षण**' कहलाता है। अर्थात् पूर्वापर भाग से रहित काल की कला को '**क्षण**' कहते हैं। भाष्यकार क्षण को प्रकारान्तर से प्रदर्शित करते हैं—'**यावता वेति**।' यहाँ पूर्वदेश के अतिक्रमणपूर्वक उत्तरदेश के ग्रहण की देशावधि परमाणुमात्र है। अर्थात् पूर्वदेश के परमाणुमात्र परिमित स्थान को लांघकर उत्तरदेश में पहुँचने की कालावधि को '**क्षण**' कहते हैं। सम्प्रति, भाष्यकार '**क्रम**' पदार्थ को बतलाते हैं—'**तत्प्रवाहेति**।' भाष्य में प्रयुक्त '**तत्**' पद से '**क्षण**' का ग्रहण होता है। अर्थात् क्षणों की उत्तरोत्तर भावरूप से जो अवस्थिति है, उसे '**क्रम**' कहते हैं। इस प्रकार का क्रम वास्तविक नहीं है, अपितु काल्पनिक है, क्योंकि एक काल में एक साथ उपस्थित न होने वाले क्षणों में क्षण-समाहाररूप क्रम के वास्तविक होने का विचार ही सहनीय नहीं है तो फिर क्षण-

---

1. क—**वैमात्यात्**, ख ग घ च छ ज झ त थ—**वैयात्यात्**, द ध न—**वैजात्यात्**।
2. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न—**न उपलभ्यते**, ज—**न नोपलभ्यते**।
3. क ख ग घ च छ ज झ न—**साम्येन**, त थ द ध—**सामान्येन**।

क्रम को वास्तविक मानने के सिद्धान्त का तो कहना ही क्या है, इसी तथ्य को लेकर भाष्यकार कहते हैं–'**क्षणतत्क्रमयोरिति**।' युगपत् उपस्थित न होना क्षणों का धर्म होने से तथा क्षणसमाहार के अवास्तविक होने से क्षण और उसके क्रम का समाहार (मुहूर्त, अहोरात्रादिरूप) भी अवास्तविक है। स्वाभाविंक तर्कपूर्ण बुद्धि-वैभव से रहित अर्थात् निरर्थक एवं दोषपूर्ण आलोचना करने वाले भ्रान्त व्यक्ति अवास्तविक (मुहूर्त, अहोरात्रादि) '**काल**' को वास्तविक मानते हैं।

शङ्का–तो क्या (मुहूर्तादिरूप कल्पितकाल की भाँति) '**क्षण**' भी अवास्तविक अर्थात् काल्पनिक है?

समाधान–उक्त शंका का निषेध करते हुए भाष्यकार कहते हैं–'**क्षणस्त्विति**।' क्षण '**वस्तुपतित**' अर्थात् वास्तविक है। (वह मुहूर्तादि काल की भाँति कल्पित नहीं है)। '**क्षण**' क्रम का अवलम्बन अर्थात् आश्रय है। अर्थात् क्षण वैकल्पिक क्रम से ठहरता है। '**क्रम**' क्षण के अधीन है। '**क्रम**' के क्षणाधीन होने में भाष्यकार हेतु उपन्यस्त करते हैं–'**क्रमश्चेति**।' '**क्रम**' क्षणों का पौर्वापर्य रूप है, अतः क्रम क्षणों के अधीन रहता है। भाष्यकार '**क्रम**' की अवास्तविकता में हेतु बतलाते हैं–'**न चेति**।' यहाँ '**च**' हेत्वर्थक है। पूर्वोत्तर के दोनों क्षण एक साथ नहीं रह सकते हैं, इसलिये '**क्रम**' अवास्तविक ही है। (भाव यह है कि पूर्वोत्तर क्षणों का आनन्तर्यरूप '**क्रम**' वस्तुभूत तभी माना जा सकता है जब वे दोनों क्षण एक साथ विद्यमान रहें। किन्तु वे एक साथ तो रहते नहीं हैं। अतः दो क्षणों की युगपत् स्थिति सम्भव न होने से क्षणाश्रित क्रम को काल्पनिक माना जाता है)। और जो लोग पूर्वोत्तर क्षणों की एक ही काल में हठपूर्वक स्थिति मानते हैं, उनके प्रति भाष्यकार का वक्तव्य है–'**क्रमश्च न द्वयोरिति**।' पूर्वोत्तर दोनों क्षणों का एक साथ रहना संभव न होने से उनका '**क्रम**' वास्तविक नहीं है। किस कारण से क्षणविशिष्ट क्रम की वास्तविकता असम्भव है, इस पर भाष्यकार बतलाते हैं–'**पूर्वस्मादिति**।' पहले वाले क्षण के बाद होने वाले भावी क्षण की जो निरन्तरता (आनन्तर्य) है, उसे ही '**क्रम**' कहा जाता है। (इस प्रकार क्षण-विशिष्ट क्रमव्यवहार किया जा सकता है)। भाष्यकार '**क्रम**' के स्वरूप को उपसंहृत करते हैं–'**तस्मादिति**।' अतः वर्तमानकालिक एक ही क्षण है। पूर्वोत्तर के क्षण नहीं होते हैं। इसलिये भूत और भावी क्षणों का सहभाव संभव नहीं होता है।

शङ्का–ऐसी स्थिति में क्या शशशृङ्ग के समान ही पूर्वोत्तर के क्षण तुच्छ हैं? अर्थात् शशशृङ्ग के अलीक होने के समान पूर्वपश्चाद्भावी क्षणों का भी मिथ्यात्व है?

समाधान–यह बात नहीं है, ऐसा भाष्यकार बतलाते हैं–'**ये त्विति**'। ये जो भूत तथा भावी क्षण हैं, वे साम्यपरिणामरूप से वर्तमान क्षण में अन्वित रहते हैं। अर्थात् भूत-भावी-क्षण शशविषाण की भाँति तुच्छ नहीं हैं, अपितु परिणामरूप से वर्तमान

क्षण से सम्बद्ध रहते हैं। भाष्यकार क्षणविशिष्ट क्रम की प्रतिपादित मान्यता को अर्थात् तद्विषयक संयमसाध्य सिद्धि को बतलाते हुए उपसंहार करते हैं—**'तेनेति।'** उस एक ही वर्तमान क्षण से लोकव्यवहार चल रहा है, क्योंकि वर्तमान क्षण में ही स्वोचित अर्थक्रिया को करने का सामर्थ्य है, किन्तु ऐसा सामर्थ्य भूत और भावी क्षणों में नहीं है। इस प्रकार '**क्षण**' और उसके '**क्रम**' में संयम करने से योगी को '**विवेकजज्ञान**' उत्पन्न होता है॥५२॥

बालप्रिया—

'**न चेदृशः क्रमो वास्तवः**'—उत्तरोत्तर भाव से क्षणों का व्यवधानरहित नैरन्तर्य '**क्रम**' कहलाता है। '**क्षण**' की भाँति उसके '**क्रम**' में वास्तविकता नहीं है। अपितु क्षण ही विकल्पवृत्ति के द्वारा मुहूर्त्त, अहोरात्रादि पद से व्यवहृत होता है। पारमार्थिक दृष्टि से क्षणातिरिक्त कोई भी मुहूर्त्तादि काल नहीं है—यह योगशास्त्र का सिद्धान्त है।

'**साम्येन समन्वागताः**'—तात्पर्य यह है कि भूत और भावी क्षण परिणामशील पदार्थों में अनुमित होते हैं, क्योंकि पदार्थगत जीर्णता किसी भी पदार्थ में सहसा (अकस्मात्) नहीं देखी जा सकती है। क्षणभेद से ही पदार्थ क्रमशः जीर्ण, जीर्णतर और जीर्णतम होता है। पदार्थ का यह अवस्थापरिणामघटित जीर्णत्व क्षणावलम्बी है। इस प्रकार वर्तमान क्षण के ही वास्तविक होने पर भी भूत और भावी क्षण अपनी पूर्वकालिक वर्तमानता और भविष्यत्कालिक वर्तमानता के दृष्टिबिन्दु से परिणामशील पदार्थ में साम्यरूप अर्थात् सामान्यरूप से अन्वित रहते हैं। पदार्थगत यह क्षणघटित परिणाम पीछे अतीतलक्षणपरिणाम और अनागतलक्षणपरिणाम के रूप से व्याख्यात हो चुका है। अतः वर्तमान क्षण की वास्तविकता का सिद्धान्त रहने पर भी वह परिणामवाद का बाधक नहीं, अपितु उसका पोषक ही है॥५२॥

योगवार्त्तिकम्

[1]सर्वज्ञत्वेऽपि वैराग्यान्मोक्ष इत्युक्तम्, यदि च रागस्तिष्ठति तदा तद्रागनिवृत्तये पूर्ववत्सर्वज्ञतासाधकं संयमान्तरमाह—क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्। विवेकात्पूर्वसूत्रोक्तात्सत्त्वपुरुषान्यताऽऽ[2]ख्याज्जायमानं विवेकजं ज्ञानम्, इतरव्यावृत्ततया सर्ववस्तूनामशेषविशेषैः साक्षात्करणमिति यावत्। तत् क्षणतत्क्रमयोः संयमादपि भवतीत्यर्थः। प्रतिक्षणं सर्वं वस्तु परिणमते; अतः क्षणेषु तत्क्रमेषु च संयमेन साक्षात्कारे सति सर्ववस्तूनां सर्वपरिणामतत्क्रमयोरपि ज्ञानात् सर्वस्य वस्तुनो विवेकेन ज्ञानं भवतीति भावः। यद्यप्यपिशब्दः सूत्रे नास्ति तथाऽपि ततश्च विवेकजं ज्ञानमित्यागामिभाष्यगम्यः।

1. क ग घ च छ—**सर्व०**, ख—**पूर्व०**।
2. क ग घ च छ—**आख्यात्**, ख—**प्रत्ययरूपाद्विवेकात्**।

(सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिजन्य) सर्वज्ञता के प्राप्त होने पर भी परवैराग्य से मोक्ष होता है, ऐसा कहा गया है और यदि सर्वज्ञता प्राप्त हो जाने पर भी (विषयों के प्रति) रागबुद्धि विद्यमान रहे तो उस राग की निवृत्ति के लिये पहले के समान पतञ्जलि सर्वज्ञता-साधक अपर संयम को सूत्राङ्कित करते हैं–'**क्षणेति**।' पूर्व सूत्र में उक्त सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिनामक विवेक से जायमान विवेकजज्ञान, इतरव्यावृत्ति द्वारा अर्थात् एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ से पृथक् करने की विधा (रीति) द्वारा, निखिल पदार्थों का अशेषविशेष के साथ साक्षात्कार होने में कारण होता है। इतरव्यावृत्तिरूप यह **विवेकजज्ञान 'क्षण'** और उसके '**क्रम**' में संयम करने से भी प्राप्त होता है, ऐसा सूत्रार्थ है। सभी जडात्मक वस्तुएँ क्षण-प्रतिक्षण परिणाम को प्राप्त होती हैं। अतः क्षणों में और उनके क्षणविशिष्ट क्रमों में संयम करने से उनका साक्षात्कार होने पर योगी को परिणामशील समस्त वस्तुओं के परिणाम और उनके क्रम का भी ज्ञान होता है और इस ज्ञान से सभी वस्तुओं का इतरव्यावृत्तिपरक भेदज्ञान होता है। यद्यपि सूत्र में '**अपि**' शब्द प्रयुक्त नहीं है तथापि '**ततश्च विवेकजं ज्ञानम्**' इस प्रकृत सूत्र के आगामी भाष्य द्वारा अप्यर्थ का बोध होता है।

सूत्रार्थ के पश्चात् वार्त्तिककार भाष्यार्थ प्रारम्भ करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

क्षणशब्दार्थं दृष्टान्तेन प्रतिपादयति–यथेति। यथा लोष्ठादेर्भिद्यमानस्य यस्मिन्नवयवे परिमाणापकर्षकाष्ठा सोऽपकर्षावधिः सत्त्वादिगुणविशेषः परमाणुः, एवंकालस्यापकर्षावधि-भूतोऽवयवविशेषः पूर्वापरांशशून्यः क्षण इत्यर्थः। क्षणस्य लक्षणान्तरमाह–यावता वेति। जह्यादित्यनेनैकं लक्षणम्, सम्पद्येतेति च लक्षणान्तरम्, अन्यथा वैयर्थ्यात् अवयविद्रव्यस्य देशत्यागो बहुक्षणेनापि कदाचिद्भवत्यवयवानां क्रमेण सञ्चारादित्युक्तम्–परमाणुरिति। अवयविनो देशस्य क्रिययाऽनेकक्षणेन जनितं देशत्यागादिकं व्यावर्त्तयितुं चलित इत्युक्तम्।

भाष्यकार दृष्टान्त के द्वारा '**क्षण**' शब्द के अर्थ का प्रतिपादन करते हैं–'**यथेति**।' (विभाग किये जाते हुए) भेद्य मृत्पिण्ड के जिस अवयव (इकाई) में परिमाणापकर्ष की पराकाष्ठा अर्थात् भेद्यावयवता का चरमोत्कर्ष निहित है, अपकर्ष (सौक्ष्म्य) का अवधिभूत वह सत्त्वादिगुणविशेष जिस प्रकार '**परमाणु**' कहलाता है, उसी प्रकार कालापकर्ष का अवधिभूत पूर्वापरांशशून्य अवयवविशेष '**क्षण**' कहलाता है। अर्थात् जिसका '**पूर्व**' और '**पर**' अंश की दृष्टि से विभाग न किया जा सके, उस काल को '**क्षण**' कहते हैं। भाष्यकार क्षण का दूसरा लक्षण करते हैं–'**यावता वेति**।' भाष्यकार ने '**जह्यात्**' (**यावता वा समयेन चलितः परमाणुः पूर्वदेशं जह्यात्**) वाक्यांश द्वारा '**क्षण**' का एक लक्षण किया है तथा '**सम्पद्येत**' (**उत्तरदेशमुपसंपद्येत**) वाक्यांश द्वारा '**क्षण**' का दूसरा लक्षण किया है। यदि वाक्य के उत्तरांश को क्षण का अन्य लक्षण न माना

जाय तो वाक्य का उत्तरार्द्ध व्यर्थ हो जायेगा। अवयविरूप द्रव्य के अवयवों का क्रमसञ्चार होता है इसलिये अवयविरूप द्रव्य का एक देश को छोड़ना कभी-कभी अनेक क्षणों में भी होता है। इसलिये भाष्यकार ने **'परमाणुरिति'** कहा है। एक देश में स्थित अवयवी का देशादित्याग अनेक क्षणविशिष्ट क्रिया के द्वारा होता है। अतः एकदेशस्थ परमाणु के स्वदेश के त्याग से संबंधित काल के **'क्षण'** होने की मान्यता का परित्याग (व्यावर्तन) करने के लिये भाष्यकार ने **'चलितः'** पद का प्रयोग किया है। (इस प्रकार वार्त्तिककार ने **'क्षण'** के लक्षण में **'परमाणु'** तथा **'चालित'** पद-प्रयोग की आवश्यकता पर प्रकाश डाला है)।

सम्प्रति, वार्त्तिककार वैशेषिक दर्शन के परिप्रेक्ष्य में **'परमाणु'** के स्वरूप का योगसम्मत मूल्यांकन करते हैं–

योगवार्त्तिकम्

अत्र दृष्टान्तादिना परसूत्रेण च साक्षादेवाचार्येण परमाणुवचनाद् वैशेषिकोक्तपरमाणवोऽप्यस्माभिरभ्युपगम्यन्ते। ते चास्मद्दर्शने गुणशब्दवाच्या इत्येव विशेषः। न चा[1]नेकात्मकपृथिव्यादिभूतपरमाणुरेवात्र वाक्ये परमाणुशब्दार्थो युक्तः, अत्र भूतरूपविशेषस्याप्रकृततया द्रव्यशब्दस्य विशेषपरत्वे प्रमाणाभावात्, सावयवस्य पृथिव्यादिपरमाणोर्निरवयवकाल[2]परमाणुदृष्टान्तानुपपत्तेश्च। न च प्रकृतैरणुपरिमाणासिद्धिः, परम्परया पृथिव्यादिभावापन्नानां गुणानां परिमाणाकाङ्क्षायां न्यायवैशेषिकसिद्धाणुपरिमाणस्यैव ग्रहणौचित्यात्, स्वशास्त्रानुक्ततया परोक्तमविरोधि चेति न्यायेन परोक्तपरिमाणस्यैवादर्त्तव्यत्वात्। न चास्मद्दर्शने गुणाख्यप्रकृतेर्विभुत्वमेवावगम्यत इति वाच्यम्, अन्तःकरणाकाशहेतुगुणानां विभुत्वेन तदुपपत्तेः, सर्वगुणानां विभुत्वे सत्याद्यपरिणामहेतुक्षोभसंयोगाद्यसम्भवादिति। तस्मात्सिद्धमणुपरिमाणा अपि गुणाः सन्तीति। तेषु पृथिवीत्वव्यञ्जकगन्धाद्यनङ्गीकारेणास्मत्सिद्धान्ते पृथिवीत्वादिकं नास्तीति विशेष इति।

प्रकृत सूत्र के भाष्य में दिये दृष्टान्तादि (में प्रयुक्त **'परमाणु'** शब्द) से तथा अग्रिम सूत्र के भाष्य में तो आचार्य द्वारा साक्षात् रूप से ही **'परमाणु'** शब्द का अभिधान होने से यह सिद्ध होता है कि वैशेषिक दर्शन में उक्त **'परमाणु'** को योगाचार्य भी स्वीकार करते हैं। किन्तु वैशेषिक दर्शन के परमाणु से योग दर्शन के परमाणु में अन्तर यह है कि योग दर्शन में ये परमाणु **'गुण'** शब्द से कहे जाते हैं। (**शङ्का**–अनेक अवयवात्मक पृथिव्यादिभूत के परमाणु को ही **'यथाऽपकर्षपर्यन्तं द्रव्यं परमाणुः'** इस वाक्य में परमाणु शब्द से कहा गया है अर्थात् इसे ही **'परमाणु'** शब्द

---

1. क ख ग च छ–**अनेकात्मक०**, घ–**अनेकालोकात्मक०**।
2. क–**परिमाणे**, ख ग घ च छ–**परमाणु०**।

का अर्थ मानना युक्तियुक्त है?

समाधान–)अनेक अवयवात्मक पृथिव्यादि भूत के परमाणु को प्रकृत में '**परमाणु**' शब्द का अर्थ मानना उचित नहीं है, क्योंकि भूतरूपविशेष के प्राकृत न होने से (अर्थात् '**परमाणु**' शब्द के सामान्यवाची होने से) द्रव्यरूप परमाणु को विशेषपरक (भूतपरक) मानने में कोई प्रमाण नहीं है तथा सावयव पृथिव्यादि परमाणु निरवयव काल तथा निरवयव परमाणु के दृष्टान्त भी नहीं बन सकते हैं।

शङ्का–किन्तु प्रकृति का अणुपरिमाण सिद्ध नहीं होता है?

समाधान–प्रकृति का अणुपरिमाण सिद्ध नहीं होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि परम्परया पृथिव्यादिभाव को प्राप्त हुए गुणों के परिमाण के विषय में आकांक्षा होने पर न्याय-वैशेषिक द्वारा सिद्ध पृथिव्यादि भूतों को ही अणु परिमाण वाला स्वीकार करना उचित है। क्योंकि '**स्वशास्त्रानुक्ततया परोक्तमविरोधि च**'–इस न्याय के अनुसार योगशास्त्र में पार्थिवभाव को प्राप्त हुए गुणों का परिमाण कथित न होने से तथा न्याय-वैशेषिक द्वारा स्वीकृत परिमाण का किसी प्रकार विरोध न होने से परोक्त परिमाण को स्वेच्छापूर्वक (आदर के साथ) मान लेना चाहिये।

शङ्का–योगदर्शन में तो गुणाख्य प्रकृति का विभुपरिमाण ही स्वीकृत है, फिर उसे अणुपरिमाण वाला मानना कैसे युक्तिसङ्गत हो सकता है?

समाधान–ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि अन्तःकरण और आकाश के हेतुभूत गुणों के विभु होने से गुणाख्य प्रकृति का विभुत्व उपपन्न (सिद्ध) हो जाता है, किन्तु सभी गुणों को विभु मानने पर आद्य परिणाम के हेतुभूत क्षोभ, संयोगादि असंभव हो जायेंगे। इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि गुण, अणुपरिमाण वाले भी होते हैं। किन्तु इन गुणों में पृथिवीत्वादि के अभिव्यञ्जक गन्धादि को न मानने पर योगमत में अणुपरिमाण वाले गुणों में पृथिवीत्वादि नहीं है (जब कि न्याय-वैशेषिक में पार्थिव अणु, जलीय अणु आदि को माना जाता है)–यही दोनों दर्शनों में पार्थक्य है।

'**क्षण**' के स्वरूप-निर्धारण के पश्चात् क्षणविशिष्ट '**क्रम**' के स्वरूप को निर्धारित किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

क्षणं व्याख्याय क्रमं व्याचष्टे–तत्प्रवाहेति। तेषां क्षणानां यः प्रवाह उत्तरोत्तरभावेनावस्थानम्, तस्याविरलता क्रम इत्यर्थः। इदानीं क्षणातिरिक्तः कालो नास्ति मुहूर्त्तादिरूपो महाकालपर्यन्त इति प्रसङ्गात्स्वशास्त्रसिद्धान्तमवधारयति–क्षणतत्क्रमयोरिति। क्षणेषु तत्क्रमेषु चाव्यवहितानन्तर्यरूपेषु वस्तुभूतः समाहारो मिलनं नास्ति; अतो मुहूर्त्ताहोरात्रादयो बुद्धिकल्पितसमाहार एवेत्यर्थः। नन्वेवं स्थूलकालाभावे कथं लोकानां तद्यथाऽर्थबुद्धिरिति? तत्र

विकल्पतया समाधत्ते–**स खल्वयमिति**। नन्वेवं क्षणोऽपि विकल्पमात्रो भवतु, कालव्यवहारा-विशेषात्क्षणव्यवहारस्य च परमाणुक्रियाऽऽदिभ्य एव सम्भवादिति? तत्राह–**क्षणस्त्विति**। क्षणाख्यस्तु कालो वस्तुकोटौ प्रविष्टः, यतः क्रमावलम्बी क्रमेण लक्ष्यत आश्रीयते, क्षणरूप-प्रतियोग्यनुयोगिघटितत्वात्क्रमस्येत्यर्थः। तत्र हेतुमाह–**क्रमश्चेति**। क्रमो ह्यानन्तर्यरूप इत्यर्थः। ननु यः क्षणो वस्तुभूतः स किंस्वरूप इत्याकाङ्क्षायामाह–**तं कालेति**। तस्य च कालस्य क्षणद्वयावस्थायिद्रव्यान्तरेभ्यो विभाग इति भावः। कालनित्यत्वश्रुतिस्मृतयश्च प्रवाहरूप-कालपराः। स च क्षणाख्यः कालः सत्त्वादीनां द्रव्यरूपः परिणामविशेष इति। बौद्धमताच्चा-स्माकमयं विशेषो यदस्माभिर्धर्मिग्राहकप्रमाणबलात् क्षण एवास्थिर इष्यते, क्षणस्थैर्यप्रत्यभि-ज्ञाऽऽद्यभावात्; न क्षणातिरिक्तः क्षणिकः पदार्थः कश्चिदिष्यते; तैस्तु क्षणमात्रस्थाय्येव पदार्थः सर्व इष्यत इति। तच्च स्थाने स्थाने निराकृतं कार्यकारणव्यवस्थाऽनुपपत्त्यादिभिरिति। तदस्मिन् शास्त्रे क्षण एव काल इति सिद्धान्तः। कालोऽत्र नाभ्युपगम्यत इति कस्यचित् प्रलापस्तु भाष्यार्थाविवेकमूल इति।

'**क्षण**' शब्द की व्याख्या करके भाष्यकार '**क्रम**' के विषय में बतलाते हैं–'**तत्प्रवा-हेति**।' क्षणों की उत्तरोत्तरभाव से जो अवस्थिति होती है, उसे '**प्रवाह**' कहते हैं और उस प्रवाह की अविरलता (निरन्तरता) को '**क्रम**' कहते हैं। अब भाष्यकार प्रसङ्गतः इस शास्त्रीय सिद्धान्त को निर्धारित कर रहे हैं कि क्षण से अतिरिक्त मुहूर्त्तादि से लेकर महाकालपर्यन्त काल है ही नहीं–'**क्षणतत्क्रमयोरिति**।' क्षणों में और क्षणों के अव्यवहित आनन्तर्यरूप क्रमों में वस्तुभूत अर्थात् वास्तविक समाहार अर्थात् मिलन नहीं होता है। अतः मुहूर्त, अहोरात्रादि स्थूल कालों का बुद्धिकल्पित समाहार ही होता है, वास्तविक नहीं।

शङ्का–यदि मुहूर्तादि स्थूल काल वास्तविक नही हैं, तो उनमें लौकिक पुरुषों को यथार्थबुद्धि कैसे होती है?

समाधान–भाष्यकार उक्त शंका का विकल्पपूर्वक समाधान करते हैं–'**स खल्वयमिति**।'

शङ्का–क्षण के विषय में भी काल का व्यवहार समान रूप से होने से उसे भी काल्पनिक (विकल्पमात्र) माना जाय, क्योंकि क्षणव्यवहार तो परमाणु-क्रिया (परमाणुसम्बन्धी क्रिया) से ही संभव हो सकता है?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**क्षणस्त्विति**।' '**क्षण**' संज्ञक काल वस्तुकोटि में प्रविष्ट होता है, क्योंकि क्षण क्रमाधार रूप से लक्षित होता है। अर्थात् क्षणरूप अनुयोगी और प्रतियोगी से घटित होने से क्षण '**क्रम**' का आश्रय है। '**क्रम**' क्षण के अधीन रहता है, इस विषय में भाष्यकार हेतु को उपन्यस्त करते हैं–'**क्रमश्चेति**।' '**क्रम**' क्षणों का आनन्तर्य रूप है। अर्थात् क्षणों के आनन्तर्य को '**क्रम**' कहते हैं।

शङ्का–जो क्षण वास्तविक है, उसका क्या स्वरूप है?

समाधान—ऐसी आकांक्षा होने पर भाष्यकार कहते हैं—'**तं कालेति**।' क्षणाख्य काल का द्विक्षणावस्थायी द्रव्यान्तर से विभाग किया जाता है (अर्थात् प्रथम क्षण द्वितीय क्षण से भिन्न होता है तथा एक क्षण तक अवस्थित रहकर क्षणाख्य काल नष्ट हो जाता है। इस प्रकार दो क्षणों का सहभाव संभव नहीं है) तथा काल की नित्यता को प्रतिपादित करने वाली श्रुति-स्मृतियाँ प्रवाहरूपकालपरक हैं। अर्थात् क्षणाख्य काल के नैरन्तर्य के आधार पर श्रुति-स्मृति-शास्त्रों में काल को नित्य बतलाया गया है, न कि तात्त्विकरूप से काल की नित्यता प्रतिपादित हुई है। और यह क्षणाख्य काल सत्त्वादि गुणों का द्रव्यरूप परिणामविशेष है। क्षण के विषय में बौद्धमत से हमारे मत में अन्तर यह है कि हम लोग (योगाचार्य) धर्मिग्राहक प्रमाण के बल से '**क्षण**' को ही अस्थिर मानते हैं, क्योंकि क्षणस्थैर्यसम्बन्धी प्रत्यभिज्ञा (**स एव अयं क्षणः**) आदि अनुभवों का अभाव रहता है। अर्थात् क्षण की स्थिरता सिद्ध करने वाला '**प्रत्यभिज्ञा**' ज्ञान देखने में नहीं आता है किन्तु हम योगाचार्य क्षणाख्य काल के अतिरिक्त किसी पदार्थ को क्षणिक नहीं मानते हैं। जब कि बौद्धजन सभी पदार्थों को क्षणमात्रस्थायी ही मानते हैं। कार्यकारणभाव की व्यवस्था सिद्ध न हो पाने से बौद्धों के इस मत का निराकरण ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर किया गया है। अतः योगशास्त्र का यह सिद्धान्त है कि एकमात्र क्षणाख्य काल है। और जिस किसी व्याख्याकार का ऐसा कहना है कि 'योगभाष्य में 'काल' को स्वीकार नहीं किया गया है'—तो उसका यह वक्तव्य (प्रलाप) भाष्यार्थ की अज्ञानता के कारण है। अर्थात् ऐसा वक्तव्य भाष्यविरुद्ध होने से अज्ञानतापूर्ण ही है।

'**क्षण**' के विषय में बौद्धमत से योगमत का अन्तर बतलाने के पश्चात् वार्त्तिककार वैशेषिकों की क्षणसम्बन्धी मान्यता का खण्डन करते हैं—

योगवार्त्तिकम्

यत्तु पूर्वदिशसंयोगाद्यवच्छिन्नः परमाणुक्रियाऽऽदिरेव क्षणः, कालस्तु तदतिरिक्तो नित्य इति वैशेषिका आहुः, तन्न—विशिष्टस्यातिरेकानतिरेकयोरुभयोरुभयतः पाशात्—अतिरेके स्व-सिद्धान्तविरोधात्, [1]अस्मन्मतप्रवेशाच्च, अस्माभिस्तादृशस्यैव गुणपरिणामस्य क्षणत्ववचनात्; अनतिरेके विशेषणविशेष्यतत्सम्बन्धानां त्रयाणामपि स्थिरत्वेन क्षणव्यवहारजनना[2]क्षमत्वात्।

---

1. क ग घ च छ—अस्मन्मतप्रवेशाच्च, अस्माभिस्तादृशस्यैव गुणपरिणामस्य क्षणत्ववचनात्, ख—अस्मदभिप्रेतस्य स्थिरपदार्थातिरेकस्य तावदपि क्षणे सिद्धेश्च।
2. ख—अस्मन्मते तु क्षणिकक्षणपूर्व एतयोः संबन्ध इत्यतो विशिष्टस्यानतिरेकेऽपि क्षणिकत्वमुपपद्यत इति। ननु द्वित्वावच्छिन्नौ तादृशपदार्थो क्षण इत्यभ्युपेयमिति चेत्तथापि द्वित्वावच्छिन्नानुयोगिकायाः घटाद्याकारतायाः क्षणिकत्वं दुर्निवारम्। न च द्वित्वावच्छिन्नस्वरूपमेव स इति वाच्यं प्रत्येकातिरिक्त-स्योभयाभावेन प्रत्येकस्यैव द्वित्वावच्छिन्नत्वात्। एको न द्वाविति प्रत्ययस्य तु एकत्वं न द्वित्वावच्छेदकं

पूर्वपक्ष: वैशेषिक मत—वैशेषिकों का यह जो कहना है कि पूर्वदेश के संयोगादि से अवच्छिन्न परमाणु की क्रियादि को ही क्षण कहते हैं और '**काल**' तो '**क्षण**' से भिन्न (अतिरिक्त)"नित्य' द्रव्य है।

उत्तरपक्ष: वैशेषिक मत का खण्डन—वैशेषिकों का यह मत ठीक नहीं है, क्योंकि विशिष्ट को अतिरेक (भिन्न) और अनतिरेक (अभिन्न) दोनों में से जो भी माना जाय, उभयतः पाशारज्जु पतित होगी। अर्थात् पूर्वदेशसंयोगाद्यवच्छिन्न परमाणु-क्रिया का क्षणत्वव्यवहार दोषावह सिद्ध होगा। उभयपाश को स्पष्ट करते हुए वार्त्तिककार कहते हैं—यदि विशिष्ट को अतिरिक्त माना जाय तो आपके '**विशिष्टः शुद्धान्नातिरिच्यते**' इस सिद्धान्त से विरोध होगा और हमारे योगमत में आपका प्रवेश हो जायेगा, क्योंकि हम लोग (योगाचार्य) इसी प्रकार के गुणपरिणाम को क्षण कहते हैं। (परमाणुक्रियाविशिष्ट काल शुद्धकाल से भिन्न है--विशिष्ट के अतिरेक पक्ष की स्थिति हुई और उसके अनतिरेक पक्ष की दोषावह स्थिति इस प्रकार है)—यदि परमाणुक्रियाविशिष्ट काल को शुद्ध काल से अभिन्न (अनतिरेक) माना जाय तो '**विशेषण**', '**विशेष्य**' और उनके परस्पर '**सम्बन्ध**'—इन तीनों के भी स्थिर हो जाने से उनमें क्षणव्यवहारजनन की क्षमता ही नहीं रहेगी।

'काल' की नित्यता के प्रवाद को बतलाते हुए वार्त्तिककार आगे कहते हैं—

योगवार्त्तिकम्

नित्यकालेऽपि च प्रमाणं नास्ति, इदानीमित्याद्यखिलव्यवहाराणां खण्डकालमात्रविषयकत्वात्, कार्यकारणभावादीनामपि क्षणघटितत्वादिति। एतेन नित्या [1]दिगप्यप्रामाणिकी व्याख्याता, सामान्यतो दिग्व्यवहाराभावात्, पूर्वादिव्यवहारस्य च पराभ्युपगतदिगुपाधिभिरेव सम्भवात्, सामान्यतः कालदिग्व्यवहारसत्त्वेऽप्याकाशादेव तदुपपत्तेश्च। अन्यथा पृथिवीजलतेजआदिभिरुपाधिभिर्देशाद्यतिरिक्तपदार्थः स्यादिति।

काल की नित्यता के विषय में कोई प्रमाण भी नहीं है, क्योंकि '**इदानीं**' (तदानीं) आदि रूप से काल के विषय में जिस-किसी प्रकार का जो व्यवहार किया जाता है, वह खण्डकालविषयक ही होता है और कार्यकारणभावादिसम्बन्ध भी क्षणघटित ही होता है। (स्पष्टीकरणार्थ—'**कार्योत्पत्त्यव्यवहितपूर्वक्षणवृत्तित्वं कारणत्वम्। कारणाव्यवहितोत्तरक्षणवृत्तित्वं कार्यत्वम्**')। इससे जो लोग (न्याय-वैशेषिक) दिक् को

इत्येव विषय इति दिक् (**अक्षमत्वात्**—पश्चात्) उपलभ्यते, क ग घ च छ—**अस्मन्मते...विषय इति दिक्** नोपलभ्यते।

1. ख ग घ च छ—**दिगप्यप्रामाणिकी व्याख्याता, सामान्यतो दिग्व्यवहाराभावात् पूर्वादिव्यवहारस्य च पराभ्युपगत॰** उपलभ्यते, क—**दिगप्य...गत॰** नोपलभ्यते।

नित्य मानते हैं, वह भी अप्रामाणिक सिद्ध (व्याख्यात) हो जाता है। क्योंकि सामान्यरूप से दिक् का व्यवहार नहीं हो सकता है और जो पूर्वादि दिक् का व्यवहार होता है वह अन्य (न्याय-वैशेषिक) दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत दिगुपाधियों द्वारा ही संभव हो सकता है। किञ्च सामान्यरूप से काल तथा दिक् के व्यवहार को मान भी लिया जाय तो ऐसा व्यवहार '**आकाश**' से ही उपपन्न (निष्पन्न) हो जाता है, अन्यथा पृथिवी, जल, तेज आदि की उपाधियों से देशादि उपाधियों को अतिरिक्त पदार्थ मानना पड़ेगा।

'**काल**' से '**दिक्**' का अन्तर बतलाते हुए वार्त्तिककार आगे कहते हैं—

योगवार्त्तिकम्

कालाच्च दिश्ययं विशेषः यत् कालः क्षणरूप इष्यते, दिक् तु सर्वथैव नेष्यत इति। [1]**शास्त्रे दिक्सामान्यव्यवहारस्तु पूर्वपश्चिमनियामकोपाध्यवच्छिन्नाकाशेन बोध्यः, स्थित्याधारत्वेन देशव्यवहारवदिति। अत एव श्रुत्यादिषु कुत्रचिताकाशाच्छ्रोत्रं क्वचिच्च दिशः श्रोत्रमिति वचनमन्योन्यमविरुद्धम्, दिगाकाशयोरेकत्वादिति दिक्।**

काल से दिशा में यह पार्थक्य (अन्तर) है कि योगाचार्यों द्वारा काल को तो क्षणरूप माना गया है, जब कि दिक् का सर्वथा ही निषेध किया गया है। और योगशास्त्र में दिशा का सामान्यरूप से जो व्यवहार किया जाता है, वह तो पूर्व-पश्चिम की नियामक उपाधि से अवच्छिन्न आकाश से ही सम्भव है—ऐसा जानना चाहिये। आकाश से दिग्व्यवहार उसी प्रकार किया जाता है जिस प्रकार स्थित्याधाररूप से देशव्यवहार किया जाता है। अत एव श्रुत्यादि शास्त्रों में कहीं-कहीं 'आकाश से श्रोत्र उत्पन्न होता है' और कहीं-कहीं 'दिक् से श्रोत्र उत्पन्न होता है'— ऐसे जो वचन मिलते हैं, वे परस्पर विरोधपूर्ण नहीं हैं, क्योंकि दिक् और आकाश में एकत्व है अर्थात् ये दोनों एकरूप हैं।

सम्प्रति, '**क्षण**' और तदाश्रित '**क्रम**' में '**समाहार**' की यथावत् स्थिति का विश्लेषण किया जा रहा है—

योगवार्त्तिकम्

क्षणतत्क्रमयोर्नास्ति वस्तुसमाहार इति यत्प्रागुक्तं तत् प्रपञ्चयति—न चेत्यादिना नास्ति तत्समाहार इत्यन्तेन। सहभावाभ्युपगमेऽपि क्रमो न सम्भवतीत्याह—क्रमश्चेति। असम्भवे हेतुमाह—पूर्वस्मादिति। तस्मात् [2]**सर्वदैव वर्त्तमानलक्षणः, स त्वेक एव क्षणस्तिष्ठति, न**

---

1. क ग घ च छ—**शास्त्रे दिक्सामान्यव्यवहारस्तु पूर्वपश्चिमनियामकोपाध्यवच्छिन्नाकाशेन बोध्यः स्थित्याधारत्वेन देशव्यवहारवदिति** उपलभ्यते, ख—**शास्त्रे...व्यवहारवदिति** नोपलभ्यते।
2. क ख ग—**सदा**, घ च छ—**सर्वदा**।

पूर्वोत्तरे क्षणा इत्यतो नास्ति तयोः क्षणतत्क्रमयोर्वास्तवं मिलनं मुहूर्त्तादिरूपमित्यर्थः। वक्ष्यमाणोपपादकमादौ वक्ति–ये त्वित्यादिना सर्वे धर्मा इत्यन्तेन। ये पुनर्भूतभाविनः क्षणास्ते सर्वेऽपि सर्ववस्तुपरिणामाधारा एकदैव वार्धकाद्यदर्शनतः क्षणपर्यायकालत्वेनैव परिणामहेतुत्वादित्युत्तरपादे क्षणप्रतियोगीत्याद्युत्तरसूत्रे व्याख्येयाः। तेन हेतुनै[1]केन क्षणेन कृत्स्नो लोकः परिणाममनुभवति प्राप्नोति यतस्तत्क्षणोपारूढाः एकैकक्षणोपारूढा धर्माः पदार्था इत्यर्थः। ततः किमित्यत आह–तयोः क्षणेति। ततश्चेति। ततश्च क्षणतत्क्रमसाक्षात्कारादखिलपरिणामतत्क्रमसाक्षात्कारद्वारा सर्ववस्तूनामन्योन्यव्यावृत्ततया स्वरूपावधारणं भवतीति सूत्रार्थ उक्तः॥५२॥

'**क्षण**' और उसके आनन्तर्यरूप '**क्रम**' में वस्तुसमाहार (वास्तविक मिलन) नहीं हो सकता है–इस पूर्वोक्त तथ्य का विशदीकरण भाष्यकार करते हैं–'**न चेत्यादिना नास्ति तत्समाहार इत्यन्तेन।**' पूर्वोत्तर के दो क्षण एक साथ नहीं रहते हैं और यदि (**तुष्यतुदुर्जनन्याय** से) पूर्वोत्तर क्षणों का सहभाव मान भी लिया जाय तो भी उनका क्रम संभव नहीं होता है, ऐसा भाष्यकार बतलाते हैं–'**क्रमश्चेति।**' भाष्यकार क्रम के असंभव होने में हेतु बतलाते हैं–'**पूर्वस्मादिति।**' इसलिये सर्वदा वर्तमानलक्षण वाला एक ही क्षण है और यह वर्तमानलक्षणक क्षण एकक्षणावस्थायी होता है। चूँकि पूर्वोत्तर क्षण नहीं होते हैं, इसलिये क्षण और उसके क्रम का मुहूर्त्तादिरूप वास्तविक मिलन नहीं होता है। आगे बतलाये जाने वाले तथ्य से पूर्व भाष्यकार यह कहते हैं–'**ये त्वित्यादिना सर्वे धर्मा इत्यन्तेन।**' ये जो भूत तथा भावी क्षण हैं, वे सभी वस्तुओं के परिणाम के आधारभूत होते हुए भी सहसा ही वार्द्धक्यादि अवस्था को प्रकट नहीं करते हैं। इसलिये ये क्षणघटित काल के रूप से ही परिणाम के हेतु होते हैं, ऐसा उत्तरपाद के '**क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः**' (४/३३) इस सूत्र में व्याख्येय है। उस एक ही आधारभूत वर्तमान क्षण से सम्पूर्ण लोक अर्थात् यच्च-यावत् सभी जड़ पदार्थ परिणाम को प्राप्त होते हैं, क्योंकि ये सभी जड़ पदार्थ एकैकक्षणोपारूढ धर्म वाले होते हैं।

शङ्का–इस प्रकार पूर्वप्रतिपादित विवेचन का प्रयोजन क्या है?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–'**तयोः क्षणेति।**' '**ततश्चेति।**' संयम द्वारा '**क्षण**' और उसके '**क्रम**' का साक्षात्कार होने से अखिल परिणाम और उनके क्रम के प्रत्यक्ष द्वारा योगी को समस्त वस्तुओं का पारस्परिक व्यावृत्तिपरक स्वरूपज्ञान होता है, ऐसा सूत्रार्थ है॥५२॥

बालप्रिया–

क्रमावलम्बी, क्रमावलक्षा–मिश्र-भिक्षुगत वैयासिक पाठभेद–वाचस्पति मिश्र ने

---

1. क ख ग घ–**एकैकेन**, च छ–**एकेन**।

भाष्यगत '**क्षणस्तु वस्तुपतितः क्रमावलम्बी**' इस वाक्यांश में '**क्रमावलम्बी**' पाठ को स्वीकार करते हुए उसकी व्याख्या इस प्रकार की है—'**क्रमस्यावलम्बनमवलम्बः सोऽस्यास्तीति (क्रमावलम्बी) क्रमेणावलम्ब्यते वैकल्पिकेनेत्यर्थः।**' वार्त्तिककार ने उपरिनिर्दिष्ट वाक्यांश में '**क्रमावलक्षा**' पाठ की परिकल्पना कर उसका ऐसा अर्थ किया है—'**क्षणाख्यस्तु कालः...क्रमेण लक्ष्यते आश्रीयते क्षणरूपप्रतियोग्यनुयोगिघटितत्वात्क्रमस्येत्यर्थः**'॥५२॥

संक्षिप्त वैयासिकी अवतरणिका के साथ अगला सूत्र उपस्थित हो रहा है—

व्यासभाष्यम्

तस्य विषयविशेष उपक्षिप्यते—

(सभी पदार्थों को अपना विषय बनाने वाले उस) विवेकजज्ञान के विषयविशेष को सूत्रकार उपन्यस्त करते हैं—

योगसूत्रम्

जातिलक्षण[1]देशैरन्यताऽ[2]नवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः॥५३॥

जाति, लक्षण और देश के द्वारा भिन्नत्व का निर्धारण न होने से दो समान पदार्थों की भिन्नता की प्रतीति उस विवेकजज्ञान से ही होती है॥५३॥

व्यासभाष्यम्

तुल्ययोर्देशलक्षणसारूप्ये जातिभेदोऽ[3]न्यताया हेतुर्गौरियं वडवेयमिति। [4]तुल्यदेशजातीयत्वे लक्षणम[5]न्यत्वकरं कालाक्षी गौः स्वस्तिमती गौरिति। द्वयोरामलकयोर्जातिलक्षण[6]सारूप्याद्दे[7]शभेदोऽन्यत्वकर इदं पूर्वमिदमुत्तरमिति। यदा तु पूर्वमामलकम[8]न्यव्यग्रस्य ज्ञातुरुत्तरदेश [9]उपावर्त्यते तदा तुल्य[10]देशत्वे पूर्वमेतदुत्तर-

---

1. **देश०**—इति पाठान्तरम्।
2. **अनवच्छेदे**—इति पाठान्तरम्।
3. क ख घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—**अन्यतायाः**, ग—**अन्यतायाम्**।
4. क ख ग घ च छ ज थ द ध न प फ ब भ म य र—**तुल्यदेश०**, झ त—**तत् सः**।
5. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**अन्यत्वकरं**, ब—**अन्यत्वावच्छेदकरम्**।
6. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**सारूप्यात्**, ब—**सारूप्ये**।
7. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—**देश०**, ज—**परं देश०**।
8. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—**अन्य०**, ज—**अति**।
9. क ख ग घ च झ त द प फ ब भ म य र—**उपावर्त्यते**, छ ज थ ध न—**उपावर्तते**।
10. क ख ग घ च छ ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—**देशत्वे**, थ—**देशत्वम्**।

मेतदिति [1]प्रविभागानुपपत्तिः। असंदिग्धेन च तत्त्वज्ञानेन भवितव्यमित्यत इदमुक्तं ततः प्रतिपत्तिर्विवेकजज्ञानादिति। कथम्? पूर्वामलकसहक्षणो देश उत्तरामलकसह[2]क्षणाद्देशाद्भिन्नः। ते चामलके स्वदेशक्षणानुभवभिन्ने। अन्यदेशक्षणानुभवस्तु तयोरन्यत्वे हेतुरिति। एतेन दृष्टान्तेन परमाणोस्तुल्य[3]जातिलक्षणदेशस्य पूर्वपरमाणुदेशसहक्षणसाक्षात्करणादु[4]त्तरस्य परमाणोस्तद्देशा[5]नुपपत्तावुत्तरस्य तद्देशा[6]नुभवो भिन्नः सहक्षणभेदात्तयोरीश्वरस्य योगिनोऽन्यत्वप्रत्ययो भवतीति। अपरे तु वर्णयन्ति—येऽन्त्या विशेषास्तेऽन्यताप्रत्ययं कुर्वन्तीति। तत्रापि देशलक्षणभेदो मूर्ति[7]व्यवधिजातिभेदश्चा[8]न्यत्वे हेतुः। क्षणभेदस्तु योगिबुद्धिगम्य एवेति। अत उक्तम्—मूर्तिव्यवधिजातिभेदाभावान्नास्ति मूलपृथक्त्वमिति वार्षगण्यः॥५ ३॥

दो समान पदार्थों में 'देश' और 'लक्षण' की समानता होने पर 'जाति'-भेद उनकी भिन्नता का हेतु (कारण) होता है, जैसे—'यह गाय है', 'यह वडवा है' इत्यादि। दो समान पदार्थों में 'जाति' तथा 'देश' की समानता होने पर उनके भेदज्ञान का कारण 'लक्षण' होता है, जैसे—'यह काली आँख वाली गाय है', 'यह स्वस्तिक चिह्न वाली गाय है' इत्यादि। दो समान आमलकों (आँवलों) में 'जाति' और 'लक्षण' की समानता होने पर उनके भेदज्ञान का कारण 'देश' होता है। जैसे—'यह पूर्वदेशवर्ती आँवला है' और 'यह उत्तर-देशवर्ती आँवला है' इत्यादि। किन्तु ज्ञाता पुरुष के अन्य विषय में आसक्त होने पर जब पूर्वदेशस्थ आँवले को उत्तरदेश में उठाकर रख दिया जाता है, तब दोनों आँवलों के एक देश में स्थित हो जाने पर 'यह आँवला पूर्व देश वाला है' और 'यह आँवला उत्तर देश वाला है'—ऐसा निर्णय करना संभव नहीं हो पाता है। ऐसी स्थिति में असंदिग्धज्ञान अर्थात् विवेकज्ञान के द्वारा ही ज्ञान हो सकता है। इसलिये यह कहा गया है कि उस विवेकज्ञान से ही इस प्रकार का बोध हो सकता है। कैसे? अर्थात् यह ज्ञान योगी को विवेकजज्ञान **से कैसे होता है?** (उत्तर है)—पूर्व आमलक के साथ एक क्षण वाला जो देश

---

1. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—**प्रविभाग०**, ख—**विभाग०**।
2. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न प ब भ म र—**क्षणात्**, घ फ य—**क्षण०**।
3. क ख ग घ च छ ज थ द ध प फ ब भ म य र—**जातिलक्षण०**, झ त न—**जातिक्षण०**।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**उत्तरस्य**, ब—**उत्तर०**।
5. क ग थ—**उपपत्तौ**, ख घ च छ ज झ त द ध न प फ भ म य र—**अनुपपत्तौ**, ब—**अपदृत्तौ**।
6. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र—**अनुभवः**, ब—**अनुभव०**।
7. क ख ग घ च छ ज झ त द ध न प फ ब भ म य र—**व्यवधि०** (उभयत्र) थ—**व्यवधिः** (उभयत्र)।
8. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न ब भ म—**अन्यत्वे**, प फ य र—**अन्यत्व०**।

है, वह उत्तर आमलक के साथ दूसरे क्षण वाले देश से भिन्न है। और वे दोनों आमलक अपने-अपने देश के सहित क्षण के अनुभव के कारण भिन्न हैं। वह क्षणविशिष्ट अनुभव ही उन दोनों आमलकों के भेदज्ञान में कारण है। इस दृष्टान्त से तुल्य जाति, लक्षण और देश वाले परमाणु का पूर्व परमाणु के देश के साथ वाले क्षणों का साक्षात्कार होने से उत्तरवर्ती परमाणु का वह (पूर्व) देश न होने से उस (उत्तर) देश का (क्षणों के साथ वाला) अनुभव भिन्न होता है। साथ वाले क्षणों का भेद होने से उन दोनों परमाणुओं की भिन्नता का ज्ञान विवेकज्ञानसम्पन्न योगी को होता है। दूसरे दार्शनिक ऐसा वर्णन करते हैं कि दो सूक्ष्म परमाणुओं का भेदज्ञान अन्त्य द्रव्य परमाणुओं में रहने वाले 'विशेष' पदार्थ के कारण होता है। उन परमाणुओं में भी देश एवं लक्षणभेद तथा मूर्तिव्यवधान और (जलत्वादि) जातिभेद ही उनके भेद में कारण हैं। (सबसे अधिक सूक्ष्म) क्षणभेद तो योगी की ही बुद्धि का विषय होता है। इसी से कहा गया है—'संस्थान, व्यवधान और जातिभेद का अभाव होने से मूलप्रकृति में पृथक्त्व नहीं होता है'—ऐसा वार्षगण्य का कथन है॥५३॥

तत्त्ववैशारदी

यद्यप्येतद्विवेकजं ज्ञानं निःशेषभावविषयमित्यग्रे वक्ष्यते, तथाप्यतिसूक्ष्मत्वात्प्रथमं तस्य विषयविशेष उपक्षिप्यते—जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः। लौकिकानां जातिभेदोऽन्यताया ज्ञापकहेतुः। तुल्या जातिर्गोत्वम्। तुल्यश्च देशः [1]पूर्वादिः। कालाक्षीस्वस्तिमत्योर्लक्षणभेदः परमिति। द्वयोरामलकयोस्तुल्यामलकत्वजातिः। [2]वर्तुलत्वादिलक्षणं तुल्यम्। देशभेदः परमिति। यदा तु योगिज्ञानं जिज्ञासुना केनचित्पूर्वामलकमन्यव्यग्रस्य योगिनो ज्ञातुरुत्तरदेश [3]उपावर्त्यते, उत्तरदेशमामलकं ततोऽपसार्य पिधाय वा तदा तुल्यदेशत्वे पूर्वमेतदुत्तरमेतदिति प्रविभागानुपपत्तिः प्राज्ञस्य लौकिकस्य त्रिप्रमाणीनिपुणस्य। असन्दिग्धेन च तत्त्व[4]ज्ञानेन भवितव्यम्, विवेकजज्ञानवतो योगिनः संदिग्धत्वानुपपत्तेः। अत उक्तं सूत्रकृता—ततः प्रतिपत्तिरिति। तत इति व्याचष्टे—विवेकजज्ञानादिति। क्षणतत्क्रमसंयमाज्जातं ज्ञानं कथमामलकं तुल्यजातिलक्षणदेशादामलकान्तराद्विवेचयतीति पृच्छति—कथमिति। उत्तरमाह—पूर्वेति। पूर्वामलकसहक्षणो देशः पूर्वामलकेनैकक्षणो देशः। तेन सह निरन्तरपरिणाम इति यावत्। उत्तरामलकसहक्षणाद्देशादुत्तरा-

1. क ग छ झ—**पूर्वत्वादिः**, ख घ च ज त थ द ध न—**पूर्वादिः**।
2. क ग थ द ध—**वर्तुलादि०**, ख घ च छ ज झ त न—**वर्तुलत्वादि०**।
3. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न—**उपावर्त्यते**, झ—**उपावर्तते**।
4. क ख ग ज झ त—**ज्ञानेन**, घ च छ थ द ध न—**तत्त्वज्ञानेन**।

मलकनिरन्तरपरिणामाद्भिन्नः। भवतु देशयोर्भेदः, किमायातमामलकभेदस्येत्यत आह–ते चामलके स्वदेशक्षणानुभवभिन्न इति। स्वदेशसहितो यः क्षणस्तस्यामलकस्य कालकला स्वदेशेन सहौत्तराधर्यरूपपरिणामलक्षिता सा स्वदेशक्षणः, तस्यानुभवः प्राप्तिर्वा ज्ञानं वा, तेन भिन्ने आमलके। ययोरामलकयोः पूर्वोत्तराभ्यां देशाभ्यामौत्तराधर्यपरिणामक्षण आसीत्तयोर्देशान्तरौत्तराधर्यपरिणाम[1]क्षणविशिष्टत्वमनुभवन्संयमी ते भिन्ने एव प्रत्येति, संप्रति तद्देशपरिणामेऽपि [2]पूर्व[3]भिन्नदेशपरिणामाद्विशिष्टस्य चैतद्देशपरिणामक्षणस्य संयमतः साक्षात्करणात्। तदिदमुक्तम्–अन्यदेशक्षणानुभवस्तु तयोरन्यत्वे हेतुरिति। अनेनैव निदर्शनेन लौकिकपरीक्षकसंवादादिना परमाणोरपीदृशस्य भेदो योगीश्वरबुद्धिगम्यः श्रद्धेय इत्याह–एतेनेति। अपरे तु वर्णयन्तीति। वर्णनमुदाहरति–य इति। वैशेषिका हि नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषा इत्याहुः। तथा हि–योगिनो मुक्तान् तुल्यजातिदेशकालान् व्यवधिरहितान्परस्परतो भेदेन प्रत्येकं तत्त्वेन [4]च प्रतिपद्यन्ते। तस्मादस्ति कश्चिदन्त्यो विशेष इति। तथा च स [5]एव नित्यानां परमाण्वादीनां द्रव्याणां भेदक इति। तदेतद्दूषयति–तत्रापीति। जातिदेशलक्षणान्युदाहृतानि। मूर्तिः संस्थानम्। [6]यदैकं विशुद्धावयवसंस्थानोपपन्नमपसार्य तस्मिन्नेव देशेऽन्यव्यग्रस्य द्रष्टुः कुत्सितावयवसन्निवेश [7]उपावर्तते तदा तस्य संस्थानभेदेन भेदप्रत्ययः। शरीरं वा मूर्तिः, [8]तत्संबन्धेनात्मनां संसारिणां मुक्तात्मनां वा भूतचरेण यादृशतादृशेन भेद इति सर्वत्र भेदप्रत्ययस्यान्यथासिद्धेर्नान्त्यविशेषकल्पना। व्यवधिर्भेदकारणम्। यथा कुशपुष्करद्वीपयोर्देशस्वरूपयोरिति। यतो जातिदेशादिभेदा लोकबुद्धिगम्या अत उक्तम्–क्षणभेदस्तु योगिबुद्धिगम्य एवेति। एवकारः क्षणभेदमवधारयति न योगिबुद्धिगम्यत्वम्। तेन भूतचरेण देहसंबन्धेन मुक्तात्मनामपि भेदो [9]योगिबुद्धिगम्य उन्नेय इति। यस्य तूक्ता भेदहेतवो न सन्ति तस्य प्रधानस्य [10]प्रभेदो नास्तीत्याचार्यो मेने, यस्मादूचे–कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् इति। तदाह–मूर्तिव्यवधीति। उक्तभेदहेतूपलक्षणमेतत्। जगन्मूलस्य प्रधानस्य पृथक्त्वं भेदो नास्तीत्यर्थः॥५३॥

---

1 क ख ग घ च छ झ त थ द ध न–**क्षण०**, ज–**लक्षण०**।

2. क ख ग घ च छ ज झ त न–**पूर्व०**, थ द ध–**पूर्वम्**।

3. क ख ग घ च छ ज झ त द ध न–**भिन्नदेश०** उपलभ्यते, थ–**भिन्नदेश०** नोपलभ्यते।

4. ख घ च छ ज झ त न–**च** उपलभ्यते, क ग थ द ध–**च** नोपलभ्यते।

5. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न–**एव**, द–**एषः**।

6. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध–**यथैकम्**, न–**यदैकम्**।

7. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध–**उपावर्त्यते**, न–**उपावर्तते**।

8. क ख ग घ च छ ज झ त न–**तत्**, थ द ध–**तत्तत्**।

9. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध–**योगिबुद्धिगम्य उन्नेय इति। यस्य तूक्ता भेदहेतवो न सन्ति तस्य प्रधानस्य प्रभेदः** उपलभ्यते, न–**योगिबुद्धि०..... प्रभेदः** नोपलभ्यते।

10. क ख ग घ च छ ज झ त–**भेदः**, थ द ध–**प्रभेदः**, न–**भेदः/प्रभेदः** नोपलभ्यते।

यद्यपि विवेकजन्यज्ञान सर्वपदार्थविषयक होता है, यह बात अग्रिम चौवनवें सूत्र में कही जायेगी, तथापि अतिगम्भीर विषय होने से विवेकजज्ञान के विषय-विशेष को सूत्रकार सर्वप्रथम उपन्यस्त करते हैं–**'जातीति।'** लौकिक पुरुषों को **'जातिभेद'** के कारण पदार्थों का भेदज्ञान होता है। 'गोत्वादि' तुल्य **'जाति'** है। 'पूर्वादि' तुल्य **'देश'** है। कालाक्षी तथा स्वस्तिमती आदि से **'लक्षण'** भेंद किया जाता है। जिन दो आमलकों (आँवलों) में 'आमलकत्व' जाति समान है और 'वर्तुलत्व' आदि लक्षण भी एक जैसा है, वहाँ देशभेद (पूर्वदेश अथवा उत्तरदेश) उनके भेद का कारण होता है। (जैसे यह पूर्वदेशस्थ आमलक है और वह उत्तरदेशस्थ आमलक है)। जिस समय किसी अन्य पदार्थ में ध्यान लगाये हुए योगी के विवेकजज्ञान की परीक्षा लेने के लिये कोई जिज्ञासु व्यक्ति पूर्वदेशस्थ आमलक को उत्तरदेश में रखे और उत्तरदेशस्थ आमलक को उसके स्थान से हटा कर पूर्व देश में रखे, अथवा ढक दे, तो दोनों आमलकों का तुल्य देश हो जाने से तीन प्रमाणों (प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम) के ज्ञाता लौकिक व्यक्ति द्वारा उन दो तुल्य आमलकों का भेद-निश्चय करना सम्भव नहीं रहता है कि यह पूर्वदेशस्थ आमलक है अथवा उत्तरदेशस्थ आमलक है? किन्तु विवेकज्ञानयुक्त योगी का ऐसे स्थल में भी सन्दिग्ध ज्ञान नहीं होता है। अतः सूत्रकार पतञ्जलि ने कहा है–**'ततः प्रतिपत्तिरिति।'** 'ततः' पद की व्याख्या है–**'विवेकजज्ञानादिति।'** अर्थात् ऐसे स्थल में उक्त विवेकजज्ञान से ही योगी को असंदिग्ध भेदज्ञान होता है।

शङ्का–**'क्षण'** तथा उसके **'क्रम'** में संयम करने से उत्पन्न हुआ विवेकजज्ञान कैसे एक आमलक का उसके तुल्य जाति, लक्षण और देश वाले दूसरे आमलक से भेद कर सकता है अर्थात् किस आधार पर उनके पृथक्त्व को निर्धारित किया जा सकता है?–इसी बात को भाष्यकार पूछते हैं–**'कथमिति।'**

समाधान–इस पर भाष्यकार उत्तर देते हैं–**'पूर्वेति।'** एक क्षणविशिष्ट पूर्व आमलक-सहित जो देश है, जिसका क्षणभेद से निरन्तर परिणाम चल रहा है, वह दूसरे क्षणविशिष्ट उत्तर आमलकसहित देश, जिसका निरन्तर परिणाम चल रहा है-से भिन्न है।

शङ्का–इस प्रकार दोनों देशों का भेद भले ही बन जाय, परन्तु दो तुल्य आमलकों का भेद कैसे सिद्ध हो सकता है?

समाधान–इस पर भाष्यकार कहते हैं–**'ते चामलके स्वदेशक्षणानुभवभिन्न इति।'** अपने देश के सहित आमलक की जो कालकला अर्थात् एक देशविशिष्ट आमलक का जो **'क्षण'** है वह अपने देश के सहित पूर्वापररूप परिणाम से लक्षित होता है। इसी को **'स्वदेशक्षण'** कहते हैं। ज्ञान से दोनों आमलकों (तुल्यजातिदेशलक्षणविशिष्ट

आँवलों) का भेद किया जाता है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं कि जिन दो आमलकों का पूर्व और उत्तर देश से उत्तराधर्यरूप परिणामक्षण था (परिणामविशिष्ट कालकला थी), उन दोनों आमलकों के क्षणविशिष्ट उत्तराधर्य- रूप देशान्तर का अनुभव करता हुआ योगी उन दोनों आमलकों को भिन्न ही समझता है। क्योंकि इस समय योगी; आमलक में तद्देशविशिष्ट परिणाम के रहने पर भी पूर्व भिन्नदेश के परिणाम से विशिष्ट और वर्तमान देश के परिणाम से युक्त क्षण का संयम द्वारा साक्षात्कार करता है। इसीलिये भाष्यकार कहते हैं–'**अन्यदेशक्षणानुभवस्तु तयोरन्यत्वे हेतुरिति**।' अर्थात् अन्य-अन्य देशों से सम्बन्धित क्षणों का बोध ही दोनों आँवलों की भिन्नता का बोधक होता है। लौकिक परीक्षक के संवादादि यथोक्त दृष्टान्त से ही परमाणुओं का भेद भी योगीश्वर को बुद्धिगम्य होता है। अर्थात् योगियों को परमाणुओं का भी भेद-निश्चय होता है। इसी तथ्य को भाष्यकार बतलाते हैं–'**एतेनेति**।' अर्थात् इस उक्त आमलक के स्थूल दृष्टान्त से समान जाति, लक्षण तथा देश वाले परमाणुओं का भेदज्ञान होने से पूर्व परमाणु के देश के साथ क्षण का साक्षात्कार करने से उत्तर परमाणु का पूर्व देश अनुपपन्न होने से एवं दोनों के साहित्यसम्पादक क्षण का भेद होने से उन दोनों परमाणुओं का भेदज्ञान ईश्वर तथा योगी को होता है।

(सम्प्रति, न्याय-वैशेषिक मत में स्वीकृत परमाणुओं के भेदक '**विशेष**' पदार्थ की मान्यता को अनुपयोगी सिद्ध करने के लिये सर्वप्रथम उनके मत को उपस्थित किया जा रहा है)–व्यासभाष्य है–'**अपरे तु वर्णयन्तीति**।' अर्थात् दूसरे न्याय-वैशेषिक लोग ऐसा कहते हैं। कैसा कहते हैं? उसे भाष्यकार वर्णित करते हैं–'**य इति**।'

पूर्वपक्ष–वैशेषिक लोग अन्त्य नित्य द्रव्यों अर्थात् अविभाज्य परमाणुओं में रहने वाले '**विशेष**' पदार्थ को मानते हैं। विषय का स्पष्टीकरण इस प्रकार है–योगिजन '**विशेष**' पदार्थ के द्वारा तुल्य जाति, देश और काल के व्यवधान से रहित मुक्त आत्माओं का भेद करते हैं। इसलिये कोई अन्त्य '**विशेष**' पदार्थ है, जो नित्य परमाणु आदि द्रव्यों का भेदक (व्यावर्तक) होता है।

उत्तरपक्ष–भाष्यकार इस मत में दोष को उपस्थापित करते हैं–'**तत्रापीति**।' अर्थात् उन परमाणुओं में भेदक तत्त्व '**विशेष**' को माने विना भी भेद-निश्चय हो सकता है। जाति, लक्षण और देश के द्वारा पदार्थों का विभाग होता है, इसके उदाहरण पीछे दिये जा चुके हैं। '**मूर्ति**' शब्द का अर्थ है–अवयवसंस्थानविशेष। अन्य व्यग्र पुरुष की परीक्षा लेने के लिये जब किसी विशुद्ध अवयवसंस्थानयुक्त पदार्थ को हटाकर उसके स्थान पर कुत्सित अवयवसंस्थानयुक्त पदार्थ को रख दिया जाय, तब अवयवसंस्थान रूप मूर्त्ति के भेद से (दो तुल्य) पदार्थों का भेद-निश्चय किया

जाता है। अथवा शरीर को '**मूर्त्ति**' कहते हैं। अतः जिस किसी प्रकार से होने वाले शरीर-सम्बन्ध के द्वारा संसारी और मुक्त आत्माओं का भेद-निश्चय किया जा सकता है। अतः सर्वत्र भेदज्ञान अन्य किसी प्रकार से हो जाता है, इसलिये (प्रलयकाल में पार्थिवादि नित्य परमाणुओं में रहने वाले) अन्त्य '**विशेष**' पदार्थ की कल्पना करना व्यर्थ है। '**व्यवधि**' अर्थात् व्यवधान भी (तुल्य पदार्थों के) भेद का कारण होता है। जैसे समानदेशत्व वाले कुशद्वीप और पुष्करद्वीप का भेदज्ञान व्यवधान के कारण होता है। चूँकि जाति, देशादि के भेद से पदार्थों का भेदज्ञान तो सर्वजनीन है अर्थात् जात्यादिकृत भेद तो लौकिक बुद्धि का विषय होता है, इसलिये भाष्यकार कहते हैं–'**क्षणभेदस्तु योगिबुद्धिगम्य एवेति**।' वाक्य में प्रयुक्त एवकार पद क्षणभेद का निश्चायक है, न कि योगिबुद्धिगम्यत्व का। अर्थात् क्षणभेद तो योगी की प्रज्ञा से जानने योग्य ही होता है–यह अर्थ है। इससे भूतकालिक देह-सम्बन्ध से मुक्त आत्माओं का भी भेद-निश्चय योगिबुद्धिगम्य होता है, ऐसा समझना चाहिये। अर्थात् क्षणभेद और मुक्त आत्माओं का भेद दोनों योगी द्वारा जानने योग्य होते हैं। और जिसमें भेद के उक्त हेतु नहीं हैं, उस प्रधान का प्रभेद नहीं होता है, ऐसा योगाचार्य मानते हैं। इसलिये कहा गया है–'**कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्**।' (यहाँ पर नष्ट और अनष्ट को जो प्रधान का परस्पर भेदक कहा गया है, वह उक्त जात्यादि की दृष्टि से नहीं है, क्योंकि वहाँ भेद का कारण जात्यादि है ही नहीं। किन्तु वह शास्त्रीय विवेक से अथवा योगबुद्धि से ही जाना जाता है)। इसलिये महर्षि वार्षगण्य ने कहा है–'**मूर्त्तिव्यवधीति**।' अर्थात् 'भेद के कारण मूर्त्ति, व्यवधान तथा जात्यादि का अभाव होने से जगत् के मूल-कारण प्रधान का भेद प्रतीत नहीं होता है।' ऊपर पदार्थों के परस्पर-भेद के जो हेतु कहे गये हैं, उन्हें उपलक्षणमात्र समझना चाहिये। अर्थात् इनसे अन्य भेदहेतुओं का भी संग्रह कर लेना चाहिये। वार्षगण्य के मत का तात्पर्य यह है कि जगत् के मूलकारण प्रधान में पृथक्त्व-भेद है ही नहीं॥५३॥

बालप्रिया–

'**तत्राऽपि**'–वाक्य का तात्पर्य यह है कि वैशेषिक मत में भी देशादि भेद से अन्यताप्रत्यय (भेदज्ञान) हो सकता है, अतः उनके अनुसार '**विशेष**' पदार्थ की कल्पना करना व्यर्थ है।

वैशेषिकमत–'विशेषो नित्यो नित्यद्रव्यवृत्तिः'–'विशेष' पदार्थ नित्य (अन्तिम भेदक धर्म) है, जो नित्य द्रव्यों में रहता है। यह केवल भेदप्रतीति (व्यावृत्तबुद्धि) का हेतु होता है। यह पृथिव्यादि भूतों के नित्य परमाणुओं में समवायसम्बन्ध से रहता है।

आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन में भी एक-एक विशेष समवायसम्बन्ध से रहता है।

'मूलपृथक्त्वम्'—इस शब्द का अर्थ है—मूल नित्य द्रव्यों में रहने वाला **'विशेष'** पदार्थ। इस प्रकार सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ यह हुआ—मूर्त्यादि नित्य द्रव्यों का भेदक धर्म है, अतः वैशेषिकोक्त नित्यद्रव्यवृत्ति **'विशेष'** को पृथक्तया मानने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि मूर्त्यादि भेद से अतिरिक्त भेदक तत्त्व का अभाव है॥५३॥

योगवार्त्तिकम्

उत्तरसूत्रमवतारयति—तस्येति। तस्य विवेकजज्ञानस्य सर्वविषयकस्य शिष्यव्युत्पादनाय एकमुदाहरणमुपन्यस्यत इत्यर्थः। जातिलक्षणदेशैरन्यताऽनवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः। [1]जातिलक्षणदेशैरन्यताऽनवच्छेदाद् भेदावधारणस्यासंभवात् ततो विवेकज्ञानादेव प्रतिपत्तिर्विवेकेन साक्षात्कारः पौरुषेयो भवतीत्यर्थः। तत्रादौ जात्याऽन्यताऽवच्छेदस्यासङ्कीर्णमुदाहरणमाह—तुल्ययोर्देशेति। कालभेदेन समानदेशस्थयोर्हि समानरूपयोर्गोगवययोर्भेदो जातिभेदादेवानुमातुं शक्यत इति। [2]अत्र वडवाशब्देनातिसारूप्याद् गवयो लक्षितः सारूप्याधिका वडवैवेति। लक्षणेनान्यत्वावच्छेदनस्यासंकीर्णोदाहरणमाह—तुल्यदेशेति। लक्षणमभिव्यक्तो धर्मभेदः। देशेनान्यत्वावच्छेदनस्यासंकीर्णोदाहरणमाह—द्वयोरिति। देशभेदप्रकारमाह—पूर्वमिदमुत्तरमितीति।

सम्प्रति, भाष्यकार अग्रिम सूत्र को अवतरित करते हैं—**'तस्येति।'** सर्वविषयक विवेकजज्ञान के विषय में शिष्य (मोक्षार्थी) को व्युत्पन्न (विश्वस्त) कराने के लिये पतञ्जलि एक उदाहरण को उपन्यस्त करते हैं। सूत्र है—**'जातीति।'** दो तुल्य पदार्थों का जाति, लक्षण तथा देश की दृष्टि से **'अन्यताऽवच्छेद'** अर्थात् भेद-निर्धारण करना सम्भव न रहने से उन जात्यादि तुल्य पदार्थों का **'ततः'** अर्थात् विवेकज्ञान से ही **'प्रतिपत्तिः'** अर्थात् विवेकात्मक प्रत्यक्षपरक पौरुषेयबोध होता है, ऐसा सूत्रार्थ है। सूत्र में निर्दिष्ट जात्यादि तीनों में से सर्वप्रथम जात्याधारित अन्यतावच्छेद के अमिश्रणत्व (असंकीर्णत्व) सम्बन्धी उदाहरण को भाष्यकार प्रस्तुत करते हैं—**'तुल्ययोर्देशेति।'** कालभेद से 'समानदेश' में स्थित 'समानरूप' वाले गो और गवय का भेद (पार्थक्य) **'जातिभेद'** से ही अनुमान करने के लिये शक्य होता है। (जैसे यह

---

1. क ग घ च छ—**जातिलक्षणदेशैरन्यताऽनवच्छेदात् भेदावधारणस्यासंभवात् ततो विवेकज्ञानादेव प्रतिपत्तिर्विवेकेन साक्षात्कारः पौरुषेयो भवतीत्यर्थः**, ख—**तुल्ययोस्तुल्यजातिलक्षणदेशयोर्वस्तुनोर्जात्यादिभिरन्यताऽवच्छेदाद्भेदावधारणस्यासमवायात्ततो क्षणतत्क्रमसंयमवन्तु।**
2. क ग घ च छ—**अत्र वडवाशब्देनातिसारूप्याद् गवयो लक्षितः सारूप्याधिका वडवैवेति**—उपलभ्यते, ख—**अत्र**...**वडवैवेति** नोपलभ्यते।

'गोत्व' जाति की है और यह **'गवयत्व'** जाति की है इत्यादि)। (भाष्य में **'गौरियं वडवेयम्'** द्वारा जात्यन्यतावच्छेदकरूप से गौ और वडवा को उपन्यस्त किया गया है तथा वार्त्तिक में **'गोगवययोर्भेदो जातिभेदात्'** द्वारा जात्यन्यतावच्छेदक रूप से गो और गवय को उदाहृत किया है, इसी के विषय में वार्त्तिककार का निवेदन है कि)– **'वडवा'** के साथ **'गवय'** का अतिसारूप्य होने से वार्त्तिक में **'गवय'** पद परिलक्षित हो रहा है, वस्तुतस्तु सारूप्याधिक्य से यह **'वडवा'** ही है। वार्त्तिककार के कथन का अभिप्राय यह है कि वडवा अथवा गवय दोनों में से किसी को भी **'गो'** के समानान्तर जातिभेद का दृष्टान्त माना जा सकता है। अब भाष्यकार लक्षणाधारित (रूपाधारित) अन्यतावच्छेद के अमिश्रणत्व (असंकीर्णत्व) सम्बन्धी उदाहरण को प्रस्तुत करते हैं–**'तुल्यदेशेति।'** यहाँ **'लक्षण'** शब्द का अर्थ अभिव्यक्त धर्मभेद है। दृष्टान्त में कालाक्षीत्व तथा स्वस्तिमतीत्व ये दो, गोव्यक्तियों को पृथक् करने वाले, अभिव्यक्त धर्मभेद हैं। इस प्रकार सूत्रगत **'लक्षण'** शब्द पदार्थगत **'धर्म'** की ओर इंगित करता है। अब भाष्यकार देशाधारित अन्यतावच्छेद के अमिश्रणत्व (असंकीर्णत्व) सम्बन्धी उदाहरण को प्रस्तुत करते हैं–**'द्वयोरिति।'** भाष्यकार देश-भेद के प्रकार को बतलाते हैं–**'पूर्वमिदमुत्तरमितीति।'** भाष्यार्थ पीछे द्रष्टव्य है।

सम्प्रति, सूत्र के उत्तरार्ध का विश्लेषण किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

इदानीं जात्यादिभिर्यत्रान्यताऽनुमानं न संभवति तादृशविवेकजज्ञानस्यासंकीर्णमुदाहरण-माह–यदा त्विति। यदा तु पूर्वदेशस्थितमामलकं विषयान्तरव्यग्रस्य ज्ञातुर्विवेकं करिष्यतो योगिन उत्तरस्मिन् देश उपावर्तते संबध्यते दैवादिना तदा द्वयोरामलकयोरेकदेशत्वे सति पूर्वदेशोपलक्षितमिदमुत्तरदेशोपलक्षितं चेदमिति विवेकानुपपत्तिः,आमलकयोर्जात्यादित्रिक-साम्यात्, असंदिग्धतत्त्वज्ञानं चोद्देश्यम् इत्यत उक्तं सूत्रकारेण ततो विवेकजज्ञानात्प्रति-पत्तिरितीत्यर्थः।

सम्प्रति, जहाँ जात्यादियों से दो तुल्य पदार्थों का अनुमित भेदज्ञान होना संभव नहीं रहता है, वहाँ विवेकजज्ञान से दो तुल्य पदार्थों का भेदज्ञान होता है, इस विषय में भाष्यकार उदाहरण प्रस्तुत करते हैं–**'यदा त्विति।'** जब अन्य विषय में दत्तावधान चित्त वाले योगी के ज्ञान की परीक्षा लेने के लिये पूर्वदेश में स्थित आमलक को तद्भिन्न उत्तरदेश में रख दिया जाता है, तब दैववशात् पूर्वोत्तर-देशवर्ती आमलकों का एक (तुल्य) देश हो जाने पर 'यह पूर्वदेशोपलक्षित आमलक है' और 'यह उत्तरदेशोपलक्षित आमलक है'–ऐसा भेद-निर्धारण अन्यव्य-ग्रवान् के लिये संभव नहीं रहता है, क्योंकि उन दोनों आमलकों में जाति, लक्षण और देश के भेद के नियामकत्रय की समानता रहती है। जब कि तत्त्वज्ञान को

संशयशून्य (असंदिग्ध) ही होना चाहिये, अतः सूत्रकार ने कहा है कि विवेकजज्ञान से ही ऐसे दो तुल्य पदार्थों का असन्दिग्ध भेदज्ञान होता है।

सम्प्रति, शंकोपस्थापनपूर्वक '**क्षण**' और तत्सम्बन्धी '**क्रम**' विषयक संयम का अतिदेश किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

ननु क्षणतत्क्रमयोः संयमात् कथमामलकयो[1]र्विवेकज्ञानमिति पृच्छति–कथमिति। उत्तरम्–पूर्वेति। आमलकस्य क्षणेन सह वर्त्तत इति आमलकसहक्षणः चैत्रसहोदर इतिवत्। एवंविधः पूर्वो देश आमलकान्तरेण सहक्षणादुत्तरदेशाद्भिन्नोऽतः स्वदेशक्षणप्राप्त्या ते आमलके भिन्ने, एकस्य एकदा विरुद्धदेशसंबन्धासंभवादिति। एवं तयोर्भेदं प्रसाध्यैकदेशसंबन्धदशायां विवेकग्रहणोपायमाह–अन्येति। अन्ययोर्भिन्नयोः पूर्वोत्तरदेशसंबन्ध[2]क्षणयोरनुभवः साक्षात्कारस्त्वामलकयोरन्यत्वे हेतुर्यथोक्तविवेकग्रहे कारणमित्यर्थः। अत्र चोदाहरणे क्षणसंयमादेव विवेकजज्ञानं दर्शितम्, एतदनुसारेण क्षणक्रमसंयमादपि विवेकजज्ञानस्योदाहरणमुन्नेयमिति भावः। तद्यथा द्वित्रिक्षणमात्रेण ज्येष्ठकनिष्ठयोर्ज्येष्ठकनिष्ठताविवेकज्ञानं क्षणक्रमसाक्षात्कारं विना न सम्भवति; अतः क्षणक्रमसंयमो [3]मूलकारणमिति।

शङ्का–क्षण तथा क्षणावलम्बी क्रम में संयम करने से (उत्पन्न विवेकज्ञान द्वारा) तुल्य जात्यादि वाले दो आमलकों का भेदज्ञान (पार्थक्य-बोध) कैसे हो सकता है? ऐसा पूर्वपक्षी पूछता है–'**कथमिति**।'

समाधान–उक्त शंका का भाष्यकार उत्तर देते हैं–'**पूर्वेति**।' वार्त्तिककार '**आमलकसहक्षणः**' इस समस्त पद का विग्रह करते हैं–'**आमलकस्य क्षणेन सह वर्त्तत इति**' अर्थात् आमलक की क्षण के साथ विद्यमानता। आमलक का क्षणयुक्त होना उसी प्रकार है जिस प्रकार चैत्र का उदरयुक्त होना। इस प्रकार पूर्वदेशवर्ती क्षणान्वित आमलक उत्तरदेशवर्ती क्षणयुक्त अपर आमलक (आमलकान्तर) से भिन्न होता है। इस प्रकार स्व-स्व क्षणान्वित देश में उपलब्ध होने से ये दोनों आमलक भिन्न-भिन्न हैं, क्योंकि एक आमलक का तुल्य क्षण में (युगपत्) पूर्वदेश के साथ-साथ उसके विरुद्ध उत्तरदेश के भी साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता है। इस प्रकार तुल्य जात्यादि वाले दो आमलकों में क्षणपरक भेद को सिद्ध कर दोनों के एक देश में होने की दशा में कैसे उनका भेदज्ञान होता है, उस उपाय का भाष्यकार प्रतिपादन करते हैं–'**अन्येति**।' पूर्वदेशक्षणान्वित आमलक और उत्तरदेशक्षणान्वित आमलक के रूप से दो भिन्न आमलकों का जो ज्ञान अर्थात् प्रत्यक्षानुभूति होती है, वही दो तुल्य

---

1. क ख घ–**विवेकज०**, ग च छ–**विवेक०**।
2. क ग घ–**लक्षणयोः**, ख च छ–**क्षणयोः**।
3. क च छ–**मूल०**, ख ग–**तत्र**, घ–**सूत्र०**।

आमलकों के अन्यत्वज्ञान में कारण होता है। इस प्रकार जाति, देश तथा काल की दृष्टि से दो तुल्य आमलकों के उदाहरण में क्षणसंयम से ही विवेकजज्ञान को प्रदर्शित किया गया है। इसी विधा से क्षण के क्रम में संयम करने से भी होने वाले तद्विषयक विवेकजज्ञान के उदाहरण की उद्भावना कर लेनी चाहिये। जैसे, दो-तीन क्षणमात्र से ज्येष्ठ और कनिष्ठ व्यक्तियों का ज्येष्ठता और कनिष्ठताविषयक विवेकज्ञान क्षणावलम्बित **'क्रम'** का साक्षात्कार किये विना सम्भव नहीं होता है। अतः क्षण और क्षणमूलक क्रमाधारित संयम ही विवेकजज्ञान का मूलकारण है।

आमलक के स्थूलविषयक संयम का सूक्ष्मविषयक संयम में अतिदेश किया जा रहा है–

योगवार्त्तिकम्

एतेनैव स्थूलदृष्टान्तेन परमसूक्ष्मेष्वपि क्षणतत्क्रमानुभवाद् विवेकज्ञानमनुमेयमित्याह– एतेनेति। तुल्यजातिलक्षणदेशस्य परमाणुसामान्यस्यान्योन्यम् अन्यत्वप्रत्ययो विवेकप्रत्ययः पूर्वशोः परमाणुदेशसाहित्यक्षणयोः साक्षात्करणाद् ईश्वरस्य प्रकृत्यादिप्रेरणमभीप्सोर्योगिनो भवतीत्यन्वयः। तत्र हेतुरुक्तः–उत्तरस्य परमाणोरित्यादिना। यत उत्तरस्य परमाणोः [1]पूर्वदेशानुपपत्त्योत्तरस्य स्वदेशप्राप्तिः पूर्वस्य स्वदेशप्राप्तितो भिन्ना, तयोः सहक्षणभेदात्साहित्यक्षणयोर्भिन्नत्वादित्यर्थः।

इस प्रकार स्थूल आमलक के दृष्टान्त से ही परम सूक्ष्म पदार्थों में भी क्षण और उसके क्रम का साक्षात्कार होने से सूक्ष्मविषयक विवेकज्ञान अनुमित होता है, ऐसा भाष्यकार बतलाते हैं–**'एतेनेति'।** तुल्य जाति, लक्षण और देश वाले परमाणु-सामान्य का परस्पर **'अन्यत्वप्रत्यय'** अर्थात् विवेकज्ञान–पहले वाले अर्थात् स्थानान्तर से पूर्व स्थिति वाले दो परमाणुओं के तत्तत् देशान्वित भिन्न-भिन्न क्षणों का साक्षात्कार–ऐश्वर्यसम्पन्न प्रकृत्यादिसञ्चालन की इच्छा वाले-योगी को होता है, ऐसा वाक्यान्वय किया जाता है। इसमें भाष्यकार हेतु देते हैं–**'उत्तरस्य परमाणोरित्यादिना।'** क्योंकि उत्तरदेशवर्ती परमाणु की पूर्वदेशवृत्तिता असंभव होने से उत्तरदेशवर्ती परमाणु की स्वदेश की प्राप्ति पूर्वदेशवर्ती परमाणु के स्वदेश की प्राप्ति से भिन्न है। अतः स्वस्वक्षणान्वय के पार्थक्य से (भविष्य में होने वाले) मिश्रित क्षणान्वित परमाणुओं में भी भिन्नत्व को स्थापित किया जाता है।

इस परिप्रेक्ष्य में वैशेषिकों के **'विशेष'** सिद्धान्त की मीमांसा की जा रही है–

योगवार्त्तिकम्

तदेवं जात्यादिभेदात् देशसंबन्धक्षणभेदाच्च तुल्ययोरन्यताप्रत्ययं प्रतिपाद्य परमतेऽप्येतत्समानमिति प्रतिपादयितुं तन्मतमाह–अपरे त्विति। अपरे वैशेषिका वदन्ति नित्यद्रव्य-

---

1. क ख घ च छ–पूर्व०, ग–सर्व०।

वृत्तयोऽन्त्या विशेषा इति। अन्त्याः प्रलयकालस्थाः। मुक्तेषु ह्यात्मसु सर्वेषु तुल्यजातिलक्षण-देशेष्वन्योन्यं विभाजकान्तरासंभवेन विशेषनामा [1]भेदकः कश्चन पदार्थोऽवश्यं वाच्यः, तथा च परमाण्वादिष्वपि स एवान्यताप्रत्ययं करोतीति तेषामाशयः। तत्रापीति। तन्मतेऽपि देशादीनां योगबुद्धिगम्यक्षणान्तानां भेदोऽप्यण्वादीनामन्यत्वे हेतुरस्त्येवेति समानमित्यर्थः। मूर्त्तिः संस्थानम्, व्यवधिः व्यवहितता, एतद् द्वयमधिकमत्रोक्तम्। अत इति। यतो मूर्त्तिव्य-वधिजात्यादिर्नित्यद्रव्येष्वप्यस्ति भेदकोऽतः परैरुक्तं [2]मूलपृथक्त्वं मूलेषु नित्यद्रव्येषु विशेष-पदार्थो नास्ति, मूर्त्तिव्यवधिजातिभ्यो भेदेनातिरेकेण पृथक्त्वस्याभावात् तैरेव पृथक्त्वव्-यवहारोपपत्तेरिति वार्षगण्य आचार्यो मन्यत इत्यर्थः। ननु वार्षगण्यमते मुक्तपुरुषेषु मूर्त्याद्यभावात्कथं विभागव्यवहारः स्यादिति चेत्? न; बद्धावस्थायां ये मूर्त्यादयः स्थितास्त एव मुक्त्यवस्थायामपि योगिभिर्गृह्यमाणा अन्योन्यभेद[3]व्यवहारं जनयन्तीत्यभ्युपगमसंभवात्। अन्यदेशादिरूपाणां तु परमाण्वादीनां प्रलये भेदव्यवहारः स्वगतसूक्ष्मकार्यभेदाद् यथोक्तक्षण-भेदादिभ्यश्चेति। अत्र वार्षगण्यमतस्याप्रतिषेधादिदमेव स्वमतमिति मन्तव्यम्॥५३॥

इस प्रकार जात्यादिभेद से तथा दैशिक क्षणभेद से दो तुल्य पदार्थों में भेदज्ञान की स्थापना करने के पश्चात् भाष्यकार 'परमत में भी यह तथ्य तुल्य है', यह बतलाने के लिये उनके एतत्सम्बन्धी मत को प्रतिपादित करते हैं—'**अपरे त्विति**।' वैशेषिक लोग ऐसा मानते हैं कि 'परमाणुरूप नित्य द्रव्यों में रहने वाले विशेष अन्त्य पदार्थ हैं।' यहाँ '**अन्त्य**' शब्द का अर्थ प्रलयकाल में स्थित रहने वाले '**विशेष**' पदार्थ से है। (भाव यह है कि प्रलयकाल में भी नित्य द्रव्यरूप तत्तत् परमाणुओं में रहने वाले पदार्थ का नाम '**विशेष**' है। यह असंख्येय है तथा एक परमाणु को दूसरे परमाणु से पृथक् करता है—ऐसा वैशेषिकों का सिद्धान्त है)। वैशेषिकों का कहना है कि तुल्य जाति, लक्षण तथा देश वाले समस्त मुक्तात्माओं में जिस प्रकार परस्पर विभाग करने वाला तत्त्व असम्भव होने से उनमें भेद करने वाला कोई '**विशेष**' नामक पदार्थ मानना अपरिहार्य है, उसी प्रकार परमाणुओं में भी यही '**विशेष**' नामक पदार्थ निहित है, जो उनका भेदज्ञान कराता है—यह वैशेषिक मत का सारांश है। वार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं—'**तत्रापीति**।' देशादि का योग-बुद्धिगम्य क्षणविशिष्ट भेद (अन्तर) वैशेषिक मत में भी परमाणुओं के अन्यत्व (व्यावर्त्तकत्व) का भी कारण है—ऐसी समानता तो है ही। '**मूर्त्ति**' शब्द का अर्थ संस्थान है और '**व्यवधि**' शब्द का अर्थ व्यवहितता है। ये दो ही यहाँ परमाणुओं की

---

1 क च छ—**भेदकः कश्चन**, ख ग घ—**कश्चन भेदकः**।

2. क ख घ च छ—**मूलपृथक्त्वं** उपलभ्यते, ग—**मूलपृथक्त्वं** नोपलभ्यते।

3. ख ग घ च छ—**व्यवहारं जनयन्तीत्यभ्युपगमसंभवात्। अन्यदेशादिरूपाणां तु परमाण्वादीनां प्रलये** उपलभ्यते, क—**व्यवहारं...प्रलये** नोपलभ्यते।

भिन्नता के हेतुरूप से अधिक कहे गये हैं क्योंकि परमाणुओं में संस्थानादि सर्वथा तुल्य नहीं होते हैं। जब कि वैशेषिक मत में मूर्ति और व्यवधि को परमाणुओं के अन्यत्व का प्रयोजक नहीं बतलाया गया है। आगे का भाष्य है–'**अत इति**।' चूँकि नित्य द्रव्य परमाणुओं में भी मूर्त्ति, व्यवधि, जात्यादिरूप भेदक (व्यावर्तक तत्त्व) होता है, अतः वैशेषिकों द्वारा प्रतिपादित मूलभूत नित्य द्रव्यों में '**विशेष**' संज्ञक पदार्थ है ही नहीं, क्योंकि मूर्ति, व्यवधि तथा जाति के अतिरिक्त परमाणुओं में किसी अन्य भेदक तत्त्व का सर्वथा अभाव रहता है और इन्हीं मूर्त्ति, व्यवधि तथा जाति से ही परमाणुगत पृथक्त्वव्यहार उपपन्न होता है–ऐसा वार्षगण्य आचार्य मानते हैं।

शङ्का–मुक्त पुरुषों में मूर्त्यादि का अभाव रहने से वार्षगण्यमतानुसार मुक्त पुरुषों में किस प्रकार भेदव्यवहार उपपन्न होगा?

समाधान–ऐसी बात नहीं है, क्योंकि बद्धावस्था में पुरुष में जो मूर्त्यादि (भेदक-तत्त्व) विद्यमान रहते हैं, वे ही उन पुरुषों की मुक्तावस्था में भी योगियों द्वारा ग्रहण (प्रत्यक्ष) के योग्य रहते हैं, जिससे योगिजन मुक्त पुरुषों में भी भेदव्यवहार करते हैं–ऐसा स्वीकार करना संभव है। प्रलयावस्था में अन्य देशादिरूप वाले परमाणुओं में भेदव्यवहार (भेदोपपत्ति) तत्तत् परमाणुगत सूक्ष्म कार्य के भेद से तथा पूर्वोल्लिखित क्षणभेदादि से निष्पन्न होता है। अतः वार्षगण्य मत में किसी प्रकार विरोध न होने से हम यौगिकों को भी यह मत मान्य है–ऐसा समझना चाहिये॥५३॥

अगला सूत्र है–

योगसूत्रम्

तारकं सर्वविषयं सर्वथा[1]विषयमक्रमं [2]चेति [3]विवेकजं ज्ञानम्॥५४॥

विवेकजज्ञान तारक, सर्वविषयक, सर्वथाविषयक तथा अक्रम होता है॥५४॥

व्यासभाष्यम्

तारकमिति स्वप्रतिभोत्थमनौपदेशिकमित्यर्थः। [4]सर्वविषयत्वान्नास्य किञ्चिद-

---

1. **विषयक्रमं**–इति पाठान्तरम्।
2. **चेति**–नोपलभ्यते।
3. **विवेकज०**–इति पाठान्तरम्।
4. क ख ग च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य–**सर्वविषयत्वात्**, घ ब र–**सर्वविषयम्**।

विषयीभूतमित्यर्थः। सर्वथाविषयमतीतानागतप्रत्युत्पन्नं [1]सर्वं [2]पर्यायैः सर्वथा जानातीत्यर्थः। [3]अक्रममित्येकक्षणोपारूढं सर्वं सर्वथा गृह्णातीत्यर्थः। एतद्विवेकजं ज्ञानं [4]परिपूर्णम्। अस्यैवांशो योगप्रदीपः, मधुमतीं भूमिमुपादाय यावदस्य परिसमाप्तिरिति॥५४॥

'तारक' शब्द का अर्थ है—विना किसी उपदेश के ही अपनी प्रतिभा से उत्पन्न ज्ञान। 'सर्वविषय' पद का अर्थ है—सभी पदार्थों को अपना विषय बनाने वाला होने से इस विवेकजज्ञान के लिये कोई भी पदार्थ अविषयीभूत नहीं रहता है। 'सर्वथाविषय' पद का अर्थ है—भूत, भावी तथा वर्तमान सभी पदार्थों को सभी रूपों से तत्त्वज्ञ जान लेता है। 'अक्रम' शब्द का अर्थ है—एक ही क्षण में उपस्थित सब को सब प्रकार से ग्रहण करता है। यह विवेकजन्य ज्ञान परिपूर्ण है। (क्योंकि) 'मधुमती' भूमिका से लेकर जहाँ तक इस (योगप्रदीप) की परिसमाप्ति होती है—वह (सब) योगप्रदीप इसी का अंश है॥५४॥

तत्त्ववैशारदी

तदेवं विषयैकदेशं [5]विवेकजज्ञानस्य दर्शयित्वा विवेकजं ज्ञानं लक्षयति—तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्। विवेकजं ज्ञानमिति लक्ष्यनिर्देशः। शेषं लक्षणम्। संसारसागरात्तारयतीति तारकम्। पूर्वस्मात्प्रातिभाद्विशेषयति—सर्वथाविषयमिति। पर्याया अवान्तरविशेषाः। अत एव विवेकजं ज्ञानं परिपूर्णम्। नास्य क्वचित्किञ्चित्कथञ्चित्कदाचिदगोचर इत्यर्थः। आस्तां तावज्ज्ञानान्तरम्, संप्रज्ञातोऽपि तावदस्यांशः, तस्मादतः परं [6]किं परिपूर्णमित्याह—अस्यैवांशो [7]योगप्रदीप इति। योगप्रदीपः संप्रज्ञातः। किमुपक्रमः किमवसानश्चासावित्याह—मधुमतीमिति। ऋतम्भरा प्रज्ञैव मधु, मोदकारणत्वात्। यथोक्तम्—प्रज्ञाप्रासादमारुह्येति, तद्वती [8]मधुमती तामुपादाय यावदस्य [9]परिसमाप्तिः

---

1. क—**सर्व०**, ख—**सर्वमय०**, ग घ च छ ज झ त थ द ध न प ब भ म य र—**सर्वं**, फ—**सर्व०/सर्वमय०/सर्वं** नोपलभ्यते।
2. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प भ भ म र—**पर्यायैः** उपलभ्यते, प य—**पर्यायैः** नोपलभ्यते।
3. क ख ग घ च छ ज त थ न प फ ब भ म य र—**अक्रमं**, झ द—**क्रमम्**।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ ब भ म य र—**परिपूर्णम्। अस्य**, द—**परिपूर्णस्य**।
5. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न—**विवेकज०**, ख—**विवेक**।
6. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न—**किम्** उपलभ्यते, ज—**किम्** नोपलभ्यते।
7. थ द ध—**योगप्रदीप इति** उपलभ्यते, क ख ग घ च छ ज झ त न—**योगप्रदीप इति** नोपलभ्यते।
8. क—**मधुमती मधुप्रदाया धियोऽवस्थायामुपादाय यावदस्य**, ख ग—**मधुमती धियोवस्था तामुपादाय यावदवस्था**, घ च त—**मधुमती धियोवस्था तामुपादाय यावदस्य**, छ—**मधुमती मधुप्रदायां धियोवस्थामुपादाय यावदवस्था**, ज झ थ द ध न—**मधुमती। तामुपादाय यावदस्य**।
9. क ख ग घ च छ ज त थ द ध न—**परिसमाप्तिः**, झ—**अपरिसमाप्तिः**।

सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा। अत एव विवेकजं ज्ञानं तारकं भवति, तदंशस्य योगप्रदीपस्य तारकत्वादिति॥५४॥

इस प्रकार सत्त्वपुरुषान्यताख्याति के विषयैकदेश (सर्वपदार्थविषयक विवेकजज्ञान के क्षणभेदरूप एक विषय) को बतलाकर सम्प्रति, सूत्रकार विवेकजज्ञान का लक्षण करते है–'**तारकमिति**।' सूत्र के '**विवेकजं ज्ञानम्**'–इस अंश से लक्ष्य का निर्देश किया गया है तथा सूत्र का अवशिष्ट अंश लक्षणपरक है। यह विवेकजज्ञान संसार सागर से पार लगाता है, इसलिये '**तारक**' कहलाता है। पूर्वोल्लिखित प्रातिभज्ञान से इस विवेकजज्ञान के अन्तर को सूचित करने के लिये सूत्रकार ने कहा है–'**सर्वथाविषयमिति**।' यहाँ '**पर्याय**' शब्द का अर्थ है–अवान्तरविशेष। वाक्यार्थ हुआ–विवेकजज्ञान से योगी भूत, भविष्य और वर्तमानरूप समस्त पदार्थों को उनके अवान्तरविशेषों के साथ जान लेता है। अत एव (अवान्तरभेदसहित त्रैकालिक पदार्थों के साक्षात्कार का हेतु होने से ही) यह विवेकजज्ञान '**परिपूर्ण**' कहलाता है। अर्थात् इस विवेकजज्ञान का कहीं भी, कुछ भी, किसी भी प्रकार से कभी भी कोई पदार्थ अविषय नहीं रहता है। अर्थात् सर्वत्र एवं सर्वदा प्रत्येक पदार्थ अपने सभी रूपों में साक्षात्कृत होता है। अन्य ज्ञानान्तरों की बात तो छोड़िये, सम्प्रज्ञात योग भी इसी ज्ञान का एक अंश है। अतः इससे अधिक और कौन सा परिपूर्ण ज्ञान हो सकता है? अर्थात् कोई दूसरा ज्ञान इससे अधिक नहीं है। इसीलिये भाष्यकार कहते हैं–'**अस्यैवांशो योगप्रदीप इति**।' '**योगप्रदीप**' शब्द का अर्थ है–सम्प्रज्ञात। यह योगप्रदीपरूप सम्प्रज्ञात कहाँ से प्रारम्भ होता है और कहाँ इसका अवसान होता है, इसे भाष्यकार बतलाते हैं–'**मधुमतीमिति**।' आनन्द का कारण होने से ऋतम्भरा प्रज्ञा को ही मधु कहा गया है। जैसा कि कथित है–'**प्रज्ञाप्रासादमारुह्येति**।' अर्थात् पर्वत-शिखर पर आरूढ व्यक्ति जैसे भूमि पर स्थित लोगों को बौना देखता है, वैसे ही निर्मल चित्त युक्त योगी प्रज्ञाप्रासादरूप शैलशिखर पर आरूढ होकर, स्वयं शोक-रहित होकर, अपने से भिन्न समस्त अज्ञजनों को शोक-सन्तप्त देखता है। ऐसी ज्ञानवती बुद्धि को '**मधुमती**' कहते हैं। अर्थात् ऋतम्भरा प्रज्ञा से युक्त यह बुद्धि '**मधुमती**' कहलाती है। इस '**मधुमती**' भूमि से प्रारम्भ करके सात प्रकार की प्रान्त-भूमिप्रज्ञा तक इस '**योगप्रदीप**' (सम्प्रज्ञातयोग) का अवसान होता है। अत एव विवेकजज्ञान को '**तारक**' (संसार से पार कराने वाला) कहते हैं, क्योंकि इसका अशभूत सम्प्रज्ञातरूप योगप्रदीप '**तारक**' होता है॥५४॥

बालप्रिया–

'**पूर्वस्मात्**'–इस शब्द से '**प्रातिभाद्वा सर्वम्**' सूत्र का स्मरण कराया गया है।

'**अत एव**'– इससे विवेकजज्ञान में अवान्तरविशेष के साथ त्रैकालिक पदार्थ-

साक्षात्कार की हेतुता उक्त हुई है॥५४॥

योगवार्त्तिकम्

विवेकजज्ञानस्यैकं विषयं प्रदर्श्येदानीं सहेतुकां विवेकजज्ञानस्य मोक्षोपयोगितामाह—तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्। इति शब्दो हेत्व[1]र्थे। यतो विवेकजं ज्ञानं सर्वविषयादिरूपम् अतः सर्वत्र दोषसाक्षात्कारेणोक्तवैराग्यद्वारा संसारतारकं भवतीत्यर्थः। एतेन विवेकजज्ञानस्येदं लक्षणं बोध्यम्। अत एवानेन लक्षणेन सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिजन्यसर्वज्ञताया अपि संग्रहात्तत्र सूत्रे [2]साऽपि विवेकजज्ञानशब्देन भाष्यकारैरुक्तेति। तत्र भाष्यकारः प्रत्येकं विशेषणानि व्याचक्षाणः तारकशब्दस्यार्थापत्तिलब्धमर्थमाहतारकमितीति। लौकिकसामग्रीं विनैव यथाऽर्थज्ञानसामर्थ्यं सत्त्वपुरुषान्यतासंयमक्षणतत्क्रमसंयमाभ्यामुद्बोधितं प्रतिभा, तदुत्थं स्वप्रतिभोत्थम्, तदेव हि संसारतारकं घटते; अतोऽर्थापत्त्या स्वप्रतिभोत्थमेव तारकशब्दार्थः। प्रतिभोत्थत्वे [3]हेतुमाह—अनौपदेशिकमिति न हि सर्वथा सर्वविषयकं ज्ञानं शाब्दं भवितुं युज्यते, शब्दस्य सामान्यमात्रविषयकत्वात्, परिच्छिन्नविषयकत्वाच्चेति सर्वविषयमित्यत्र सर्वशब्दोऽसङ्कुचित इत्याह—सर्वविषयमिति। सर्वविषयकत्ववचनादित्यर्थः। अतीतेति। अतीतादिरूपं सर्वमित्यनुवादोऽन्वयार्थः, पर्यायैः स्वगतविशेषैः सर्वथा निःशेषैः विषयीकरोतीत्यर्थः, नास्ति क्रमः पौर्वापर्यं यत्र ज्ञानं इत्यक्रमम्।

विवेकजज्ञान के एक विषय (व्यावर्त्तकरूप अवान्तर फल) का निरूपण करने के पश्चात् सूत्रकार सम्प्रति, विवेकजज्ञान की मोक्षोपयोगिता (मोक्षप्रदातृता) को हेतुसहित सूत्राङ्कित करते हैं—'**तारकमिति**।' सूत्र में प्रयुक्त '**इति**' शब्द हेत्वर्थक है। 'इति' को हेत्वर्थपरक मानने से सूत्र का अर्थ यह होता है—चूँकि विवेकजज्ञान सर्वविषयादिरूप वाला है, अतः वह सर्वत्र (सभी जडीय पदार्थों में परिणामित्वादि) दोष का साक्षात्कार कराते हुए परवैराग्य (रूप अवान्तर व्यापार) के द्वारा '**संसारतारक**' होता है। इससे ऐसा समझना चाहिये कि यह विवेकजज्ञान का लक्षण है। विवेकजज्ञान के इस लक्षण से सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिजन्य सर्वज्ञता का भी संग्रह हो जाता है। इसलिये विगत सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने '**सत्त्वपुरुषान्यताख्याति**' को '**विवेकजज्ञान**' शब्द से अभिहित किया है। (विगत सूत्र के भाष्य की पंक्ति है—'**असंदिग्धेन च तत्त्वज्ञानेन भवितव्यमित्यत इदमुक्तं ततः प्रतिपत्तिर्विवेकज्ञानादिति**')। सूत्रगत प्रत्येक विशेषणभूत पद की व्याख्या करने की इच्छा वाले भाष्यकार सर्वप्रथम '**तारक**' शब्द के अर्थापत्तिलभ्य अर्थ को बतलाते हैं—'**तारकमितीति**।' लौकिक सामग्री की अपेक्षा किये

1. क ख घ च छ—**अर्थे**, ग—**अर्थः**।
2. क ख घ च छ—**सा**, ग—**अस्या**।
3. क ख च छ—**हेतुं**, ग घ—**युक्तिम्**।

विना ही सत्त्वपुरुषान्यताविषयक संयम से तथा क्षणतत्क्रमविषयक संयम से समुद्भूत यथार्थ- ज्ञानसम्बन्धिनी क्षमता को **'प्रतिभा'** कहते हैं। प्रतिभा से प्रादुर्भूत ज्ञान **'स्वप्रतिभोत्थ'** कहलाता है। इस प्रतिभोत्थ ज्ञान में ही संसारतारकत्व घटित (संयोजित) होता है। इस प्रकार अर्थापत्ति द्वारा **'स्वप्रतिभोत्थ'** ही **'तारक'** शब्द का वाच्य है। भाष्यकार प्रतिभोत्थत्व में हेतु का उपन्यास करते हैं—**'अनौपदेशिकमिति।'** शाब्दज्ञान **'सर्वथा'** अर्थात् पूर्णरूप से निखिल तत्त्वविषयक ज्ञान नहीं हो सकता है, क्योंकि शाब्दज्ञान पदार्थगत सामान्यरूप को ही विषय करने वाला होता है तथा उसका विषयक्षेत्र भी सीमित (परिच्छिन्न) होता है, इसलिये सूत्र में **'सर्वविषयम्'** कहा है। यहाँ **'सर्व'** शब्द असङ्कुचित (व्यापक) अर्थ वाला है, ऐसा भाष्यकार बतलाते हैं—**'सर्वविषयमिति।'** विवेकजज्ञान को सर्वविषयक बतलाने से उसका कोई **'अविषय'** नहीं रहता है, इस ओर इंगित किया गया है। वार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं—**'अतीतेति।'** सूत्रगत **'सर्वथा'** शब्द के **'सर्व'** अंश को लेते हुए वार्त्तिककार कहते हैं—अतीतादिरूप विषय (विषयार्थ) वाला **'सर्व'** शब्द सूत्रगत **'सर्वविषयम्'** की कड़ी रूप से उसका अनुवादमात्र करता है। किन्तु सभी पदार्थों को तत्तद्वर्ती सभी विशेषों के साथ विषय बनाता है, इसलिये यह विवेकजज्ञान **'सर्वथाविषय'** वाला है। इस प्रकार विवेकजज्ञान के विशेषणभूत सूत्रगत **'सर्वविषयम्'** तथा **'सर्वथाविषयम्'** इन दो पदों का मौलिक अन्तर स्पष्ट हो जाता है। जिसमें पौर्वापर्यरूप क्रम परिलक्षित नहीं होता है, उस विवेकजज्ञान को **'अक्रम'** कहते हैं।

सूत्रगत प्रत्येक पद का अर्थ करने के पश्चात् वार्त्तिककार विवेकजज्ञान के वैशिष्ट्य को सामूहिक रूप से प्रतिपादित करते हैं—

योगवार्त्तिकम्

अक्रमान्तविशेषणैर्लब्धं वाक्यतात्पर्यार्थमाह—एकक्षणोपारूढमित्यादिना। आरोहोऽत्रार्थाद् **बुद्धिवृत्ताविति। विवेकजज्ञानस्याखिलसिद्धान्ते निर्वचनस्य बीजमाह—एतदिति।** परिपूर्णशब्दार्थं **स्वयं व्याचष्टे—अस्यैवांश इति। अस्यैव सूर्यतुल्यस्य विवेकजज्ञानस्यांशो योगप्रदीपः।** क **इत्याकाङ्क्षायामाह—मधुमतीति। स्थान्युपनिमन्त्रणसूत्रे ऋतम्भरप्रज्ञाऽऽख्यद्वितीयभूमौ योगी मधुभूमिक इत्युक्तम्, सैव च भूमिकाऽत्र मधुमतीति निर्दिष्टा, तामादाय सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञेति पूर्वोक्तं सम्प्रज्ञातसमाप्तिपर्यन्तभूमिकाजातं योगप्रदीप इत्यर्थः। ते हि भूमिव्यूहा विवेकजज्ञानविषयैकदेशप्रकाशकाः, अतोंऽशा इति भावः। ननु सवितर्कादिरूपास्तथा परिणामत्रयसंयमादिरूपाश्च याः सम्प्रज्ञातयोगभूमयः पूर्वोक्तास्ताः कथं योगप्रदीपतया विवेकजज्ञानांशतया च न निर्दिष्टा इति चेत्? न; योग[1]वह्निकणत्वेन तेषामत्यल्पत्वस्य विवक्षितत्वात्,**

1. क घ च छ—**वह्निकणत्वेन**, ख—**वह्निकत्वेन**, ग—**वह्निकरणत्वेन**

तेषामत्यल्पत्वस्य विवक्षितत्वात्, प्रकृष्टभूमितया योगप्रदीपानामासामंशत्वेनैव च [1]कणतुल्य-भूमीनामंशांशत्वमपि प्राप्तमिति भावः। विष्णुपुराणे च सर्वेषामेवेतरज्ञानानां प्रदीपतुल्यत्व-विवक्षया ब्रह्मविवेकज्ञानस्य सूर्यतुल्यत्वं प्रोक्तम्–

अन्धं तम इवाज्ञानं दीपवच्चेन्द्रियोद्भवम् ।
यथा सूर्यस्तथा ज्ञानं यद्विप्रर्षे ! विवेकजम् ॥ इति ॥

इन्द्रियोद्भवमित्यन्येषामपि ज्ञानानामुपलक्षणम्॥५४॥

(तारक से लेकर) अक्रमपर्यन्त विशेषणों से निकलने वाले वाक्य के तात्पर्यार्थ को भाष्यकार बतलाते हैं–'**एकक्षणोपारूढमित्यादिना**।' '**उपारूढ**' शब्द के विषय में वार्त्तिककार कहते हैं कि '**आरोह**' शब्द का अर्थ यहाँ बुद्धिवृत्ति है। अर्थात् योगी एक क्षण में बुद्धिवृत्ति में उपारूढ सर्वपदार्थ को सर्वप्रकार से ग्रहण करता है। विवेक-जज्ञान द्वारा अखिल विषयों का ज्ञान निष्पन्न होने से '**विवेकजज्ञान**' शब्द के अभिधान (निर्वचन) का कारण बतलाते हुए भाष्यकार कहते हैं–'**एतदिति**।' भाष्य-कार स्वयं '**परिपूर्ण**' शब्द का अर्थ करते हैं–'**अस्यैवांश इति**।' सूर्यतुल्य विवेकजज्ञान का ही अंशभूत यह योगप्रदीप है।

शङ्का–सूर्यतुल्य विवेकजज्ञान के अंशभूत योगप्रदीप का स्वरूप क्या है अर्थात् यह योगप्रदीप क्या है?

समाधान–ऐसी आकांक्षा होने पर भाष्यकार कहते हैं–'**मधुमतीति**।' '**स्थान्युपनिमन्त्रणे**' (३/५१) इस सूत्र में ऋतम्भरप्रज्ञासंज्ञक द्वितीय भूमिप्राप्त योगी को '**मधुभूमिक**' कहा गया है। वही द्वितीय भूमि यहाँ '**मधुमती**' नाम से निर्दिष्ट हुई है। इस '**मधुमती**' भूमिका को लेकर '**सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा**' (२/२७) इस पूर्ववर्ती सूत्र में सम्प्रज्ञात-समाप्तिपर्यन्त भूमिकासमूह को '**योगप्रदीप**' कहा गया है। सम्प्रज्ञात की ये भूमियाँ विवेकजज्ञान के (सर्व) विषय के एक देश को प्रकाशित करती हैं। ये सूर्यतुल्य विवेकजज्ञान की अंशभूत हैं।

शङ्का–सम्प्रज्ञात योग की वे भूमियाँ जो सवितर्कादि (१/१७) रूप वाली तथा परिणामत्रयसंयमादि (३/१६) रूप वाली कही गई हैं, वे '**योगप्रदीप**' रूप से तथा विवेकजज्ञान के अंशरूप से क्यों निर्दिष्ट नहीं हुई हैं?

समाधान–ऐसी बात नहीं है, क्योंकि वे सवितर्कादिरूप वाली तथा परिणामत्रय-संयमादिरूप वाली योगभूमियाँ योगवह्नि की कर्णिका रूप हैं, अतः उनमें अत्यल्पता (अत्यंशता) ही विवक्षित (अभिप्रेत) है। भाव यह है कि प्रकृष्टभूमिरूप से तथा इन योगप्रदीपों के अंशरूप से ही इन कणतुल्य भूमियों में अंशांशत्व भी स्वतः आ

---

1. क ख घ च छ–**कण०**, ग–**करण०**।

जाता है। अतः इनका पृथङ् निर्देश नहीं किया गया है। विष्णुपुराण में भी विवेकजज्ञान से भिन्न समस्त ज्ञानों के प्रदीपतुल्य होने से ब्रह्मविवेकज्ञान को सूर्यतुल्य कहा गया है–'**अन्धं तम...विवेकजम्**' (६/५/६२) अर्थात् 'हे विप्र! अज्ञान घनघोर अन्धकार की तरह है। विषयेन्द्रियजन्य ज्ञान प्रदीपतुल्य है। किन्तु विवेकजज्ञान सूर्य की तरह है। अर्थात् जैसे सूर्यालोक से समस्त वस्तुएँ नाम रूप को धारण करती हैं', वैसे विवेकजज्ञान से अखिल पदार्थ स्फुरित होते हैं।' वार्त्तिककार उद्धरणगत '**इन्द्रियोद्भव**' शब्द के अभिप्राय को स्पष्ट करते हैं–'**इन्द्रियोद्भव**' शब्द (प्रत्यक्षज्ञान से भिन्न) अनुमानादिजन्य सभी ज्ञानों का भी उपलक्षक है॥५४॥

सम्प्रति, वैयासिकी अवतरणिका के साथ अगला सूत्र उपस्थित हो रहा है–

व्यासभाष्यम्

प्राप्तविवेकजज्ञानस्याप्राप्तविवेकजज्ञानस्य वा–

विवेकजज्ञान को प्राप्त करने वाले अथवा उसे न प्राप्त करने वाले को (भी)–

योगसूत्रम्

सत्त्वपुरुषयोः [1]शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति॥५५॥

बुद्धिसत्त्व और पुरुष के शुद्धिसदृश हो जाने पर 'कैवल्य' होता है॥५५॥

व्यासभाष्यम्

यदा निर्धूतरजस्तमोमलं बुद्धिसत्त्वं [2]पुरुषस्यान्यताप्रतीतिमात्राधिकारं दग्धक्लेशबीजं भवति [3]तदा पुरुषस्य शुद्धिसारूप्यमिवापन्नं भवति, तदा पुरुषस्योपचरितभोगाभावः शुद्धिः। एतस्यामवस्थायां कैवल्यं भवतीश्वरस्यानीश्वरस्य वा विवेकजज्ञानभागिन इतरस्य वा। न हि दग्धक्लेशबीजस्य ज्ञाने पुनरपेक्षा काचिदस्ति। सत्त्वशुद्धिद्वारेणैतत्समाधिजमै[4]श्वर्यं ज्ञानं चोपक्रान्तम्। परमार्थतस्तु ज्ञानाद[5]दर्शनं निवर्तते। तस्मिन्निवृत्ते न सन्त्युत्तरे क्लेशाः। क्लेशाभावात्कर्म-

1. **शुद्ध्यात्मैक्यम्**–इति पाठान्तरम्
2. क ग च छ ज झ त थ द ध न भ म–**पुरुषस्यान्यताप्रतीतिमात्राधिकारं**, ख घ प फ य र–**पुरुषस्यान्यताप्रत्ययमात्राधिकारं**, ब–**पुरुषान्यताप्रत्ययमात्रम्**।
3. क ख ग घ च छ झ त थ द ध न प फ ब भ म य र–**तदा** उपलभ्यते, ज–**तदा** नोपलभ्यते।
4. घ प फ र–**च** (**ऐश्वर्य**–पश्चात्) उपलभ्यते, क ख ग च छ ज झ त थ द ध न ब भ म य–**च** नोपलभ्यते।
5. क ख ग घ च छ ज झ त थ ध न प फ ब भ म य र–**अदर्शनं**, द–**दर्शनम्**।

[1]विपाकाभावः। चरिताधिकाराश्चैतस्यामवस्थायां गुणा न पुरुषस्य [2]दृश्यत्वेन पुनरु[3]पतिष्ठन्ते। तत्पुरुषस्य [4]कैवल्यम्। तदा पुरुषः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली [5]भवति॥५५॥

इति श्रीपातञ्जले सांख्यप्रवचने योगशास्त्रे व्यासभाष्ये
विभूतिपादस्तृतीयः॥३॥

जिस समय रजोगुण एवं तमोगुणरूप मल से शून्य बुद्धिसत्त्व पुरुष को प्रकृति से पृथक् बोध कराने वाले ज्ञानमात्र से युक्त तथा दग्ध-क्लेशबीज वाला हो जाता है, उस समय वह पुरुषसदृश शुद्धि को प्राप्त सा हो जाता है। उस समय (जब बुद्धि पुरुष जैसी शुद्धता को प्राप्त कर लेती है) पुरुष में औपाधिक(व्यपदिष्ट) भोगों का अभाव होना ही पुरुष की शुद्धि है। इस अवस्था में (बुद्धि एवं पुरुष की शुद्धि की साम्यावस्था में) कैवल्य की प्राप्ति होती है, चाहे वह विवेकजन्य ज्ञान से सम्पन्न ईश्वर हो अथवा उस विवेकजन्य ज्ञान से विहीन अनीश्वर हो। दग्धक्लेशबीज (योगी) को ज्ञान की फिर कोई आवश्यकता नहीं रहती है। बुद्धिसत्त्व की शुद्धि के द्वारा (आनुषंगिक रूप से ही) यह समाधिजन्य ऐश्वर्य और ज्ञान कहे जाते हैं। वस्तुतः ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। अज्ञान के निवृत्त होने पर बाद में अविद्यादिजनित क्लेश नहीं होते हैं। क्लेशों के न होने से कर्म-फलों का अभाव होता है। इस अवस्था में कृतकृत्य गुण पुरुष के दृश्य रूप में फिर उपस्थित नहीं होते हैं। यही पुरुष का 'कैवल्य' है। इस समय पुरुष स्वरूपतः प्रकाशात्मक, निर्मल और केवली हो जाता है॥५५॥

——×××——

तत्त्ववैशारदी

तदेवं परम्परया कैवल्यस्य हेतून्सविभूतीन्संयमानुक्त्वा सत्त्वपुरुषान्यताज्ञानं साक्षात्कैवल्यसाधनमित्यत्र सूत्रमवतारयति–प्राप्तेति। विवेकजं ज्ञानं भवतु मा वा भूत्। सत्त्व-

---

1. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध प फ ब भ म य र–**विपाकाभावः**, न–**विपाकाभावात्**।
2. क ग च छ ज झ त थ द ध न भ म य–**दृश्यत्वेन पुनः**, ख घ प फ ब र–**पुनः दृश्यत्वेन**।
3. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध न प फ भ म य र–**उपतिष्ठन्ते**, ब–**आतिष्ठन्ते**।
4. छ थ–**चितिशक्तिरभोक्तृशक्तिरविवेकात्मिकायामस्मितायां स्थिताऽपि भिन्ना दृश्यते भोक्तृभावयुक्तत्वात् सास्मिता भवति** (**कैवल्यं**–पश्चात्) उपलभ्यते, क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र–**चिति...भवति** नोपलभ्यते।
5. छ थ–**अयं सास्मितः सम्प्रज्ञातः समाधिः सत्त्वपुरुषशुद्धिसाम्य आनन्दत्यागादित्यर्थः** (**भवति**–पश्चात्) उपलभ्यते, क ख ग घ च ज झ त द ध न प फ ब भ म य र–**अयं...इत्यर्थः** नोपलभ्यते।

पुरुषान्यताख्यातिस्तु कैवल्यप्रयोजिकेत्यर्थः। सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति। इतिः सूत्रसमाप्तौ। ईश्वरस्य पूर्वोक्तैः संयमैर्ज्ञानक्रियाशक्तिमतोऽनीश्वरस्य वा [1]समनन्तरोक्तेन संयमेन [2]विवेकजज्ञानभागिन इतरस्य वा[3]नुत्पन्नज्ञानस्य न विभूतिषु काचिदपेक्षास्तीत्याह–न हीति। ननु यद्यनपेक्षिता विभूतयः कैवल्ये, व्यर्थस्तर्हि तासामुपदेश इत्यत आह– सत्त्वशुद्धिद्वारेणेति। इत्थम्भूतलक्षणे तृतीया। नात्यन्तमहेतवः कैवल्ये विभूतयः किं तु न साक्षादित्यर्थः। ज्ञानं [4]विवेकजमुपक्रान्तम्। यच्च पारम्पर्येण कारणं तदौपचारिकं न [5]तु मुख्यम्। परमार्थतस्तु ख्यातिरेव मुख्यमित्यर्थः। ज्ञानादिति। प्रसंख्यानादित्यर्थः।

अत्रान्तरङ्गाण्यङ्गानि परिणामाः प्रपञ्चिताः।
संयमाद् [6]भूतिसंयोगस्तासु ज्ञानं विवेकजम् ॥

इति पदार्थसंग्रहः श्लोकः॥५५॥

इति श्रीवाचस्पतिमिश्रविरचितायां पातञ्जलयोगसूत्रभाष्यव्याख्यायां तत्त्ववैशारद्यां विभूतिपादस्तृतीयः॥३॥

इस प्रकार परम्परया कैवल्य के हेतुभूत विभूतिसहित संयमों को बतलाकर सम्प्रति, सत्त्वपुरुषान्यताज्ञान साक्षात् कैवल्य का साधन है, इस विषय मे भाष्यकार अवतरणिका द्वारा सूत्र को अवतरित करते हैं–'**प्राप्तेति**।' विवेकजज्ञान हो अथवा न हो सत्त्वपुरुषान्यताख्याति तो कैवल्य-प्राप्ति की प्रयोजिका होती है। सूत्र है–'**सत्त्वेति**।' सूत्र की समाप्ति में आया हुआ '**इति**' पद शास्त्र की समाप्ति का सूचक है। '**ईश्वर**' अर्थात् तत्-तत् पदार्थविषयक पूर्वोक्त संयमों द्वारा प्राप्त ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति से युक्त ऐश्वर्यवान् योगी को अथवा '**अनीश्वर**' अर्थात् अव्यवहित पूर्व सूत्र में कथित क्षणविषयक संयम से विवेकजज्ञान के भागी किन्तु सिद्धिरहित योगी को अथवा '**इतर**' व्यक्ति, अर्थात् जिसे ज्ञान ही उत्पन्न नहीं हुआ है, को कैवल्य-प्राप्ति के लिये विभूतियों की अपेक्षा नहीं रहती है, इसी तथ्य को भाष्यकार (सहेतु) बतलाते हैं– '**न हीति**।' ज्ञान होने पर जिसके समस्त क्लेशबीज क्षीण हो चुके हैं, ऐसे योगी को किसी चीज की अपेक्षा नहीं रहती है।

शङ्का–यदि कैवल्य-प्राप्ति में सिद्धियों की कोई उपयोगिता नहीं है, तो व्यर्थ में उनको क्यों बतलाया जा रहा है? अर्थात् विभूतियों का उपदेश व्यर्थ है?

---

1. क ग घ च छ ज झ त थ द ध न–**समनन्तर०**, ख–**अनन्तर०**।
2. क ख घ च छ ज झ त थ द ध न–**विवेकज०**, ग–**विवेक०**।
3. क ख ग छ ज–**उत्पन्न०**, घ ग घ च झ त थ द ध न–**अनुत्पन्न०**।
4. क ख ग घ च छ ज झ त थ द ध–**विवेकजम्**, न–**विवेकम्**।
5. क ख घ च छ ज झ त थ न–**तु** उपलभ्यते, ग थ द ध–**तु** नोपलभ्यते।
6. क ख ग झ त थ द ध न–**भूति०**, घ च छ ज–**भूत०**।

समाधान—इस पर भाष्यकार कहते हैं—'**सत्त्वशुद्धिद्वारेणेति**।' यहाँ परिचायक तृतीया है। कैवल्य के प्रति सिद्धियाँ अन्यथासिद्ध नहीं हैं, किन्तु परम्परया हेतु हैं अर्थात् साक्षात् हेतु नहीं हैं, यह बतलाना अभिप्रेत है। अर्थात् समाधिजन्य सिद्धिरूप ऐश्वर्य और विवेकजज्ञान दोनों बुद्धिसत्त्व की शुद्धि द्वारा कैवल्य के हेतु होते हैं। और जो विवेकयुक्त ज्ञान का परम्परया कारण होता है, वह गौण (औपचारिक) कारण कहा जाता है, न कि मुख्य। वास्तविक रूप से विवेकख्याति ही मुख्य कारण है। '**ज्ञानाददर्शनं निवर्त्तते**' में प्रयुक्त '**ज्ञान**' शब्द का अर्थ है—प्रसंख्यान। अर्थात् प्रसंख्यानाग्निरूप ज्ञान से अज्ञान को दग्ध किया जाता है।

तृतीय पाद के पदार्थों का संग्रहात्मक श्लोक इस प्रकार है—'**अत्र...विवेकजमिति**' 'अर्थात् तृतीय पाद में योग के अन्तरङ्ग साधन (धारणा, ध्यान तथा समाधि) तथा परिणामों को विस्तार से बतलाया गया है। संयम से विभूतिप्राप्ति तथा उन विभूतियों में विवेकजज्ञान को निरूपित किया गया है'॥५५॥

*इस प्रकार **वाचस्पतिमिश्र**विरचित पातञ्जलयोगसूत्रभाष्य की तत्त्व-*
वैशारदी** टीका पर लिखी गई **सपाठभेदबालप्रियाख्यहिन्दी
***व्याख्या** का यह तृतीय विभूतिपाद है॥३॥*

---------x x x-------

सम्प्रति, वार्त्तिककार स्वरचित विस्तृत अवतरणिका द्वारा अग्रिम सूत्र की वैयासिकी अवतरणिका को अवतरित करते हुए भाष्य की व्याख्या करते हैं—

योगवार्त्तिकम्

तदेवं संयमानां सिद्धिरूपा विभूतयोऽतीतानागतज्ञानाद्या विवेकज[1]ज्ञानान्ता ज्ञान-क्रियैश्वर्यरूपा विस्तरेणोक्ताः। तत्रायं संशयः—किमेतासां विभूतीनामनन्तरमेव मोक्षो भवति; आहोस्विदेतद्व्यतिरेकेणापीति? तत्र निर्णायकतयोत्तरसूत्रमवतारयति—प्राप्तविवेकेति। सूत्रेण सहान्वयः। विवेकजज्ञानाख्योत्तमसिद्ध्य[2]नपेक्षयैव सुतरामितरसिद्ध्यनपेक्षा कैवल्य इति भाष्याशयः। सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्। बुद्धिसत्त्वस्य पुरुषेण सह समाना यदा शुद्धिर्वक्ष्यमाणरूपा विवेकसाक्षात्काराद्भवति तदैव मोक्षो न तत्र सिद्ध्यपेक्षेत्यर्थः। क्वचि-दितिशब्दः सूत्रान्ते तिष्ठति, स च हानोपायव्यूहसमाप्तिसूचनार्थः। शुद्धिसाम्यं हेतुतः स्वरूपतश्च व्याचष्टे—यदेति। निर्द्धूतो रजस्तमोद्रव्यरूपो मलो यस्य तत्तथा, अत एव विवेक-ख्यातिमात्रेऽधिकारः कर्त्तव्यता यस्य न तु सिद्ध्यादौ तत्तथा, ततश्च दग्धान्यनागतक्लेश-रूपाणि विपाकाख्यसंसारबीजानि यत्र तत्तथा, एवं यदा बुद्धिसत्त्वं भवति तदा शुद्ध्या पुरुषस्य स्वरूपमिव तद् भवति। अनेन शुद्धिसाम्ये हेतुरुक्तः। बुद्धेर्दुःखाद्यात्मकत्वान्नात्यन्तं

---

1. क ख घ च छ—ज्ञानान्ताः, ग—ज्ञानानाम्।
2. क च छ—अनपेक्षया, ख—अनपेक्षतया, ग घ—अपेक्षया।

शुद्धिसाम्यं कदाऽपीत्येतत्प्रतिपादनायेवशब्दप्रयोगः। यस्मिन्नंशे साम्यं तदाह—पुरुषस्येति। बुद्धिधर्मत्वात्पुरुष उपचरितमात्रस्य प्रत्यय[1]विशेषाख्यभोगस्याभावः पुरुषस्य शुद्धिः, [2]बुद्धेरपि जीवन्मुक्तदशायां विवेकित्वेन तादृशो भोगो नास्तीति शुद्धिसाम्यमित्यर्थः। अत्र साक्षितामात्ररूपभोगव्यावर्त्तनायोपचरितेत्युक्तम्, पुरुषस्य प्रत्ययाविशेषरूप एव हि भोग उपचरितः, अविवेकस्योपाधिधर्मत्वात्। चिदवसानतारूपस्तु सांख्यसूत्रोक्तो भोगः स्वत इति। तथा च साक्षी [3]निरभिमानः। एवं च चित्तस्य निरभिमानत्वमेव मोक्षहेतुर्नैश्वर्यादिकमिति पर्यवसितोऽर्थः।

एतस्यामिति। एतस्यां शुद्धिसाम्यावस्थायां जातायां प्रारब्धप्रतिबन्धनिवृत्त्यनन्तरं कैवल्यं भवति; ईश्वरानीश्वरादिसाधारण्येनेत्यर्थः। स्वतन्त्रज्ञानक्रियाशक्तिमानत्रेश्वरः। ज्ञाने पुनरिति। ज्ञानान्तरे काऽप्यपेक्षा नास्तीत्यर्थः। ननु विवेकसाक्षात्कारहेतौ तत्संयमे सत्यवश्यमेव सार्वज्ञ्यादिकं भविष्यति, तत्कथमनीश्वरस्य वेत्युच्यत इति चेत्? न; संयमे सत्यपि कामनां विना सिद्ध्यनुत्पत्तेः [4]यागे सत्यपि स्वर्गानुत्पत्तिवत्। किं च यमनियमाद्यङ्गवैगुण्यादपि सिद्ध्यनियमः, तादृशाङ्गवैगुण्येऽप्यभिमाननिवृत्त्याख्यदृष्टद्वारा कदाचिन्मोक्षः सम्भवत्येवेति। ननु चेत् कैवल्ये सिद्ध्यपेक्षा नास्ति तर्हि किमर्थं मोक्षाख्यहानस्योपायमध्ये सिद्धीनां कथनमित्याशङ्कायामाह—सत्त्वशुद्धिद्वारेणेति। सत्त्वस्य बुद्धिसत्त्वस्य शुद्धिर्वैराग्यादि, तद्द्वारेण; मोक्षोपयोगितयेति शेषः। ऐश्वर्यं क्रियाशक्तिरणिमादि, ज्ञानं विवेकज्ञानान्तमुपक्रान्तं प्रोक्तं सूत्रजातेन, परमार्थतस्तु सत्त्वपुरुषान्यताज्ञानादेवाज्ञाननिवृत्त्यादिदृष्टद्वारा कैवल्यमित्यर्थः। अत्र चरिताधिकारा इत्यादिना कैवल्यस्वरूपमुक्तम्। कैवल्ये पुरुषार्थमाह—तदेति। तदा सुखदुःखमोहात्मकसत्त्वादिगुणादर्शने चित्तज्योतिर्वियोगात् स्वरूपमात्रज्योतिरतो दुःखादिप्रतिबिम्बरूपमलरहितः सन् केवली भवति केवलेषु मुक्तेषु नित्यमुक्त ईश्वरे वाऽविभागं गच्छतीत्यर्थः। तथा च दुःखभोगनिवृत्तिरेव पुरुषार्थ इति। व्याख्यातानि हानोपायस्य विवेकख्यातेः साधनानि योगस्य चाङ्गानि यमादीनि ससिद्धीनि॥५५॥

इति श्रीपातञ्जलभाष्यवार्त्तिके श्रीविज्ञानभिक्षुनिर्मिते

विभूतिपादस्तृतीयः॥३॥

इस प्रकार अतीतानागतादिज्ञान से लेकर विवेकजज्ञानपर्यन्त ज्ञानैश्वर्यरूप तथा क्रियैश्वर्यरूप संयमसाध्य सिद्धियाँ विस्तारपूर्वक प्रतिपादित हुईं।

शङ्का—प्रश्न है कि इन सिद्धियों के पश्चात् ही मोक्ष प्राप्त होता है अथवा इनके बिना भी मोक्ष प्राप्त होता है?

---

1. क च छ—**विशेष०**, ख ग घ—**अविशेष०**।
2. क—**धर्मत्वात्** (**बुद्धेः**—पश्चात्) उपलभ्यते, ख ग घ च छ—**धर्मत्वात्** नोपलभ्यते।
3. क—**निरभिमाने**, ख ग घ च छ—**निरभिमानः**।
4. क घ—**योगे**, ख ग च छ—**यागे**।

समाधान–उक्त शंका के निर्णायक रूप से भाष्यकार अग्रिम सूत्र को अवतरित करते हैं--'**प्राप्तविवेकेति**।' इस भाष्यांश का सूत्र के साथ अन्वय किया जाता है। भाष्य का आशय यह है कि विवेकजज्ञानसंज्ञक उत्तम सिद्धि के विना ही इतरसिद्धिनिरपेक्ष, कैवल्य प्राप्त होता है। सूत्र है–'**सत्त्वेति**।' विवेकसाक्षात्कार से जब पुरुष के साथ-साथ बुद्धिसत्त्व की समान रूप से वक्ष्यमाण शुद्धि हो जाती है, तभी मोक्ष प्राप्त होता है। इसमें सिद्ध्यन्तर की अपेक्षा नहीं रहती है, ऐसा सूत्र का भाव है। योगसूत्र के संस्करण में सूत्र के अन्त में '**इति**' पाठ मिलता है, जो '**हानोपाय**' संज्ञक व्यूह की समाप्ति की सूचना प्रदान करता है। भाष्यकार हेतुतः और स्वरूपतः बुद्धि के पुरुष-सदृश शुद्धिसाम्य को बतलाते हैं–'**यदेति**।' जिसका रजस्तमोद्रव्यरूप मल धुल चुका है, अत एव सिद्ध्यादि नहीं अपितु विवेकख्यातिरूप कर्त्तव्य ही शेष रह गया है तथा अनागतक्लेशरूप विपाकाख्य संसारबीज दग्ध हो चुके हैं–एवंविध जब बुद्धिसत्त्व होता है, तब शुद्धि के कारण बुद्धिसत्त्व पुरुष के स्वरूप के समान हो जाता है। इस वाक्य के द्वारा भाष्यकार ने बुद्धि-पुरुष के शुद्धि- साम्य को अभिहित किया है। दुःखाद्यात्मक होने से बुद्धिसत्त्व का आत्यन्तिक (पूर्ण) रूप से शुद्धिसाम्य कदापि नहीं हो सकता है, यह सूचित करने के लिये भाष्यकार ने '**इव**' शब्द का प्रयोग किया है। बुद्धिसत्त्व का पुरुष के साथ जिस अंश में साम्य है, उसे भाष्यकार बतलाते हैं–'**पुरुषस्येति**।' बुद्धिसत्त्व का धर्म होने के कारण पुरुष में उपचरितमात्र (प्रतिफलितमात्र) '**प्रत्ययविशेष**' संज्ञक भोग का अभाव होना पुरुष की शुद्धि है और जीवन्मुक्त दशा में बुद्धि को भी विवेकज्ञान होने से इस प्रकार का भोग नहीं होता है, यह बुद्धिगत शुद्धि है। पुरुष में निहित साक्षितामात्ररूप भोग की व्यावृत्ति कराने के लिये अर्थात् साक्षिरूप से पुरुष में जो भोग्यता है, उससे पृथक् कराने के लिये भाष्यकार ने '**उपचरित**' पद का प्रयोग किया है। पुरुष में '**प्रत्ययाविशेष**' रूप भोग ही औपचारिक है, क्योंकि '**अविवेक**' पुरुष के उपाधिभूत बुद्धिसत्त्व का धर्म है। सांख्यसूत्र में कथित चिदवसानतारूप भोग पुरुष में स्वाभाविक है। अतः जिस प्रकार साक्षिपुरुष निरभिमान (अभिमानशून्य) होता है, उसी प्रकार चित्तसत्त्व का निरभिमान होना ही मोक्ष का कारण है, न कि ऐश्वर्यादि मोक्ष का कारण है–भाष्य का ऐसा पर्यवसित अर्थ है।

वार्त्तिककार आगे के भाष्य को उठाते हैं–'**एतस्यामिति**।' इस प्रकार बुद्धि-पुरुष के शुद्धिसाम्य की पूर्वोल्लिखित अवस्था प्राप्त होने पर प्रारब्धरूप प्रतिबन्ध की निवृत्ति के अनन्तर ईश्वर और अनीश्वर दोनों को साधारणरूप से कैवल्य प्राप्त होता है। यहाँ भाष्य में स्वतन्त्र ज्ञानक्रियाशक्तिमान् को '**ईश्वर**' कहा गया है। आगे

का भाष्य है–'**ज्ञाने पुनरिति।**' भाव यह है कि ज्ञान होने पर दग्ध क्लेशबीज वाले योगी को किसी ज्ञानान्तर की अपेक्षा नहीं रहती है।

शङ्का–विवेकसाक्षात्कार के प्रति तद्विषयक संयम अवश्यंभावी रूप से कारण है, अतः इस स्थिति में विवेकजयी को सार्वज्ञ्यादि सिद्धियाँ अवश्य प्राप्त होंगी, तो फिर भाष्य में '**अनीश्वरस्य वा**' ऐसा कैसे कहा गया है? अर्थात् '**अनीश्वर**' को भी मोक्ष प्राप्त होता है–भाष्यकार ने कैसे कहा है?

समाधान–उक्त शंका का समाधान करते हुए वार्त्तिककार कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है, क्योंकि विवेकज्ञानविषयक संयम किये जाने पर भी आकांक्षा (कामना) के विना साधक को सार्वज्ञ्यादि सिद्धि की उत्पत्ति उसी प्रकार नहीं होती है जिस प्रकार यज्ञ करने पर भी, इच्छा के विना यज्ञकर्त्ता को स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती है। किञ्च यम-नियमादि योगानुष्ठान के वैगुण्य (न्यूनता) से भी सिद्धि-प्राप्ति में नियम नहीं रहता है और कभी-कभी अङ्ग-वैगुण्य होने पर भी अभिमाननिवृत्ति-संज्ञक दृष्टद्वार से मोक्ष प्राप्त हो ही जाता है।

शङ्का–यदि कैवल्य-प्राप्ति में सिद्धि की अपेक्षा (उपयोगिता) नहीं है, तो फिर मोक्षाख्य '**हान**' के उपाय के मध्य में सिद्धियों को क्यों प्रतिपादित (वर्णित) किया गया है?

समाधान–ऐसी आशंका होने पर भाष्यकार कहते हैं–'**सत्त्वशुद्धिद्वारेणेति।**' सिद्धियों के प्रति वैराग्यभाव ही बुद्धिसत्त्व की शुद्धि है। इस प्रकार बुद्धिसत्त्व की शुद्धि द्वारा सिद्धियाँ मोक्ष के प्रति उपयोगी होने से मोक्षाख्य '**हान**' के उपाय के प्रकरण में सिद्धियों का प्रतिपादन न्यायसंगत है। अणिमादि क्रियाशक्ति को ऐश्वर्य कहा गया है तथा अनेक सूत्रजात (योगसूत्र ३/५३, ५४) द्वारा विवेकज्ञानपर्यन्त को ज्ञान कहा गया है। पारमार्थिकरूप से अज्ञाननिवृत्ति द्वारा सत्त्वपुरुषान्यताज्ञान से ही कैवल्य की प्राप्ति होती है। भाष्य में '**चरिताधिकार**' इत्यादि वाक्य द्वारा कैवल्य का स्वरूप बतलाया गया है। सम्प्रति, भाष्यकार '**कैवल्य**' पुरुषार्थ रूप है, इसका प्रतिपादन करते हैं–'**तदेति।**' सुख-दुःख-मोहरूप सत्त्वादि गुण के न दिखलाई पड़ने पर अर्थात् अज्ञान के निवृत्त हो जाने पर बुद्धिसत्त्व की '**वृत्त्याख्य**' ज्योति का वियोग हो जाने से अर्थात् बुद्धि के साथ पुरुष का '**प्रतिबिम्बाख्य सम्बन्ध**' समाप्त हो जाने से पुरुष स्वरूपात्मक ज्योति में प्रतिष्ठित होता है अर्थात् चिदात्मक ज्योति वाला हो जाता है। इस प्रकार '**दुःखादिप्रतिबिम्बरूप**' मल से रहित हुआ पुरुष '**केवली**' होता है। अर्थात् केवल मुक्तों में अथवा नित्यमुक्त ईश्वर में '**अविभाग**' को प्राप्त होता है। इस प्रकार दुःखात्मक भोग की निवृत्ति ही '**पुरुषार्थ**' है। प्रकृत पाद को उपसंहृत करते हुए

वार्त्तिककार कहते हैं कि हानोपायरूप विवेकख्याति के साधनों की तथा योग के यमादि अङ्गों की सिद्धिसहित व्याख्या की गई है॥५५॥

इस प्रकार ***श्रीविज्ञानभिक्षुनिर्मित*** *श्रीपातञ्जलभाष्य**वार्त्तिक***
पर लिखी गई ***सपाठभेदबालप्रियाख्यहिन्दी*** *व्याख्या*
का यह तृतीय विभूतिपाद है॥३॥